प्राचीन भारत
का
साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
(Literary and Cultural History of Ancient India)

प्रो. निरजनसिंह 'योगमणि'
एम ए (हिन्दी व संस्कृत)

रिसर्च पब्लिकेशन्स
त्रिपोलिया, जयपुर-2

TOPICS FOR STUDY

1 वैदिक साहित्य—संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं सूत्र-ग्रन्थ — 20 अंक

2 पौराणिक, आधुनिक तथा शास्त्रीय साहित्य — 20 अंक

(क) पौराणिक साहित्य

(ख) आधुनिक साहित्य

(ग) शास्त्रीय साहित्य—(i) दार्शनिक साहित्य (ii) धर्मशास्त्र (iii) अर्थशास्त्र (iv) अलंकारशास्त्र (v) आयुर्वेद (vi) वैज्ञानिक साहित्य (vii) ज्योतिष (viii) तन्त्र एवं (ix) गणित।

3 प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास — 20 अंक

(i) ऋग्वेद काल से 400 ई पू तक का प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास।

(ii) मौर्य काल से 12वीं शताब्दी ई तक के ऐतिहासिक अवशेषों का इतिहास।

(iii) भारत के औपनिवेशिक तथा सांस्कृतिक विस्तार का इतिहास।

Published by Research Publications, Tripolia, Jaipur–2
Printed at S L Printers Jaipur

भूमिका

देववाणी संस्कृत में प्राचीन भारत का समस्त साहित्य सृजित हुआ है। साहित्यिक इतिहास की परिधि 3000 ई पू से आज तक व्यापक है परन्तु प्राचीन भारत का साहित्य 3000 ई पू से 1783 ई तक ही सीमित रहा है। समग्र प्राचीन साहित्य वैदिक एव लौकिक संस्कृत में अनेकमुखी रहा है। वैदिक साहित्य ऋग्वेद से प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद नामक संहिताओ की रचना हुई। संहिता-काल के उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थों का युग प्रारम्भ हुआ। ऋग्वेद के ऐतरेय एव कौषीतकी, यजुर्वेद के तैत्तिरीय तथा शतपथ, सामवेद का छान्दोग्य तथा अथर्ववेद का गोपथ प्रमुख ब्राह्मण ग्रन्थ मान्य हैं। वेद के इसी क्रम मे आरण्यकों की रचना हुई। आरण्यकों के पश्चात् उपनिषद् युग का सूत्रपात हुआ। इस युग मे मुख्यत ब्रह्मविद्या के संकेतक ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, कौषीतकी, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर तथा बृहदारण्यक नामक बारह उपनिषदों की रचना हुई। लौकिक संस्कृत मे रामायण तथा महाभारत को क्रमश प्रथम और द्वितीय स्थान मिला। इन ग्रन्थों के पश्चात् संस्कृत साहित्य साहित्यिक विधापरक तथा शास्त्रीय साहित्य के रूपों मे विकसित हुआ। साहित्यिक विधाओ मे नाटक, महाकाव्य, गीतिकाव्य, गद्य-साहित्य, आख्यान साहित्य आदि का विकास हुआ। नाटक के क्षेत्र मे भास, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, विशाखदत्त आदि नाटककारों ने महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रस्तुत कीं। कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' विश्व-साहित्य के अनुपम नाटकों मे से एक है। अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष जैसे महाकवियों ने क्रमश 'बुद्धचरित', 'रघुवश', 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपालवधम्' तथा 'नैषधचरित' की रचना करके महाकाव्य के जगत का विस्तार किया। गीतिकाव्य के क्षेत्र मे कालिदास के 'मेघदूत' ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। गद्य साहित्य के क्षेत्र मे बाणभट्ट की 'कादम्बरी', सुबन्धु की 'वासवदत्ता' तथा दण्डी का 'दशकुमारचरित' नामक विश्व-विश्रुत ग्रन्थ लिखे गए। 'पचतन्त्र' आख्यान साहित्य का विश्व-विख्यात ग्रन्थ है। संस्कृत का शास्त्रीय साहित्य दर्शन, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, अलकार शास्त्र, विज्ञान, ज्योतिष, तन्त्र तथा गणित प्रभृति के रूप मे भी समादरणीय रहा है। दर्शन-जगत मे सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त षड्दर्शन के रूप मे और चार्वाक, बौद्ध तथा जैन नास्तिक दर्शन के रूप मे ख्यात रहे हैं। 'मनुस्मृति' जैसे ग्रन्थ धर्मशास्त्र के रूप मे तथा कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' अर्थशास्त्र के रूप मे प्रसिद्ध रहा है। अलकार शास्त्र के क्षेत्र मे भरत का 'नाट्यशास्त्र', भामह का 'काव्यालकार', वामन का 'काव्यालकार-सूत्र', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक', अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती', कुन्तक का 'वक्रोक्ति जीवित', मम्मट का 'काव्यप्रकाश', क्षेमेन्द्र का 'औचित्य-विचार-चर्चा', विश्वनाथ का 'साहित्य दर्पण', जगन्नाथ का 'रसगगाधर'

इत्यादि ग्रन्थ प्रसिद्ध रहे हैं। पौराणिक विज्ञान, 'वेदाग ज्योतिष', 'रुद्रयामल तन्त्र', जैसे ग्रन्थ भी शास्त्रीय साहित्य के गौरव के परिचायक रहे हैं।

प्राचीन भारत का सास्कृतिक इतिहास वैदिक युग से भक्ति आन्दोलन तक चलता है। वैदिक सस्कृति के परिचायक वेद, ब्राह्मण, आरण्यक एव उपनिषद् जैसा साहित्य रहा। पौराणिक सस्कृति या महाकाव्ययुगीन सस्कृति के आधार पुराण, रामायण तथा महाभारत नामक ग्रन्थ रहे है। बौद्ध सस्कृति त्रिपिटक साहित्य पर तथा जैन सस्कृति आचारांगसूत्र', जैसे ग्रन्थो के आधार पर जानने योग्य है। भक्तिकालीन सस्कृति को जानने के लिए शकराचार्य का 'विवेकचूडामणि' एव 'शारीरिकभाष्य', रामानुज का 'श्रीभाष्य' तथा वल्लभाचाय का 'अणुभाष्य' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। प्राचीन भारत की सस्कृति के इतिहास को स्पष्ट करने का श्रेय 'रुद्रदामन' जैसे शिलालेखो को भी है। भारतीय सस्कृति के प्राणभूत ग्रन्थो को विदेशी भाषाओ मे अनूदित भी किया गया। ये ग्रन्थ भारतीय सस्कृति के प्रसार के प्रबल प्रमाण रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक मे वैदिक, पौराणिक, शास्त्रीय तथा आधुनिक साहित्य एव सांस्कृतिक इतिहास का तलस्पर्शी ज्ञानाकन करने का प्रयास किया गया है। ऐतिहासिक सन्दर्भो का उल्लेख करते समय निष्कप-स्वरूप तथ्यो के प्रतिपादन पर बल दिया गया है। सस्कृत साहित्य के इतिहास की प्रवृत्तियो अथवा विशेपताओ को यथास्थान उल्लिखित करना प्रस्तुत पुस्तक की एक नई दिशा है। हिन्दी साहित्य में जो प्रवृत्तिगत इतिहास लेखन की पणाली विकसित हुई, वह परीक्षा की दृष्टि से सस्कृत साहित्य मे भी सदैव वांछित रही है। प्रस्तुत पुस्तक उसी कमी की प्रतिपूर्ति का एक प्रयास है। विषय का प्रतिपादन करने के लिए प्रामाणिक तथ्यो को यथास्थान देने का प्रयास किया गया है। सांस्कृतिक इतिहास को स्पष्ट करने के लिए सस्कृति के इतिहास की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करके सांस्कृतिक इतिहास का पथ निर्मित कर दिया गया है। विभिन्न विद्वानो द्वारा मतो को परीक्षित करके आवश्यक निष्कर्ष भी प्रस्तुत किए गए है। यद्यपि सस्कृत साहित्य को समस्त विधाओ का विवेचन 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' शीर्षकीय पुस्तक मे ही सम्भव है, तथापि निर्धारित अध्यायो को आधार बनाकर प्रस्तुत पुस्तक मे अद्यतन् साहित्यिक एव सांस्कृतिक जानकारियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखन मे जिन सन्दर्भ-ग्रन्थो की सहायता ली गई है, मैं उनके लेखको के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस पुस्तक के सशोधन हेतु विद्वानो के सुझाव आमन्त्रित हैं। जो सुझाव यथासमय प्राप्त होगे, उनको यथाविधि स्वीकार किया जाएगा।

निरजनसिंह

अनुक्रमणिका

साहित्यिक इतिहास

1

प्राचीन भारत का साहित्यिक एवं सॉस्कृतिक इतिहास : एक परिचय

(Literary and Cultural History of Ancient India An Introduction)

भारतीय इतिहास और सस्कृति का आधार अत्यधिक प्राचीन है। देश की सामाजिक सस्थाएँ इसी प्राचीनता के योग से पल्लवित और पुष्पित हुई है। इनके विकासक्रम का इतिहास सहस्रो वर्षों का है जिनमे अनेक सामाजिक तत्त्वो का योग है। वैदिक युग से ही भारत की सभ्यता और सस्कृति उन्नत रही है। भारतीय सस्कृति की अक्षुण्णता बनी हुई है, यद्यपि इस बीच अनेकानेक विदेशियो के अभियान हुए जिन्होने देश को पदाक्रान्त किया और अपना शासन स्थापित किया। विभिन्न शताब्दियो मे होने वाले परिवर्तन और परिवर्द्धन हिन्दू सस्कृति के अग बन गए, किन्तु भारतीय समाज और सस्कृति का आधार तत्व वही बना रहा जो वैदिक युग मे था। भारतीय सस्कृति का मूल आधार धार्मिक प्रवृत्ति है जिससे मनुष्य का सारा जीवन प्रभावित होता रहता है।[1]

शताब्दियो से भारतवर्ष का इतिहास बहुत अशो तक विभिन्न जातियो और सम्प्रदायो के पारस्परिक सघर्ष का इतिहास रहा है। पर आज भारत मे एक राष्ट्रीयता की भावना के उद्बोधन और पुष्टि के लिए समस्त भारतीय सम्प्रदायो मे एकसूत्रात्मा के रूप मे व्याप्त भारतीय सस्कृति के महत्त्व और व्यापकता के साथ-साथ स्वरूप और विकास को भी समझना आवश्यक है।

भारतीय सस्कृति के विकास मे अनेक सांस्कृतिक उपधाराओ का योग रहने पर भी उसके प्रधान स्वरूप को बनाने मे निस्सन्देह वैदिक विचारधारा का अत्यधिक भाग रहा है। उसमे "यत प्रवृत्तिर्भूताना येन सर्वमिद ततम्" के अनुसार सारे विश्वप्रपच के विभिन्न व्यापारो और दृश्यो मे एकसूत्रात्मकता को बतलाने वाली "तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत" के अनुसार समस्त प्राणियो मे एकात्म-दर्शन करने वाली, और "रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययो" के अनुसार

1 डॉ जयशकर मिश्र प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ 2 से 6

हमारे देश मे प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रवृत्तियो तथा विशेषताओं की प्रधानता दृष्टिगोचर होती रही है, होती है। अत हमे 1784 ई से आधुनिकता का श्रीगणेश मानकर प्राचीन भारत का समय 3 हजार ई पू से लेकर 1783 ई तक ही मानना पडेगा।

साहित्यिक इतिहास का सम्बन्ध साहित्यिक कृतियो के सन्दर्भो से रहा करता है। जब कोई साहित्यिक कृति काव्यात्मक सौंदय से सवलित होकर किसी विशेष युग का प्रतिनिधित्व करती है, तो उसका साहित्यिक इतिहास स्वयमेव निर्मित होता हुआ भी विद्वानो को अन्य कृतियो के साथ तुलनात्मक ऐतिहासिक सन्दर्भ प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया करता है। परन्तु जब साहित्यिक कृतियो मे विभिन्न युगो की सस्कृति के विकास को भी प्रस्तुत किया जाता है तो उसे अन्य साधन के आधार के रूप मे गिना जाता है तथा अन्य बाह्य उपकरणो—शिलालेख, सिक्के आदि के आधार पर सस्कृति का विश्लेषण किया जाता है। इसीलिए प्राचीन भारत के साहित्य के इतिहास को साहित्यिक इतिहास तथा सांस्कृतिक इतिहास के रूप मे विभाजित किया गया है।

साहित्यिक इतिहास

सस्कृत हमारी प्राचीन भाषा है। सस्कृत सम्पर्क-भाषा होने के साथ-साथ साहित्य की भाषा के रूप मे समादृत रही है। अत प्राचीन भारत का साहित्यिक इतिहास प्रमुखत सस्कृत साहित्य का ही इतिहास है। सस्कृत भाषा वैदिक तथा लौकिक सस्कृत के रूप मे प्रचलित रही है। वैदिक सस्कृत मे वैदिक साहित्य का प्रणयन हुआ तथा लौकिक सस्कृत मे पौराणिक, शास्त्रीय तथा काव्य-महाकाव्यादि की रचना हुई। यहाँ मुख्यत प्राचीन भारत के अथवा सस्कृत के प्राचीन साहित्य की परम्परा को सूचित करना ही हमारा प्रयोजन है।

वैदिक साहित्य

वैदिक सस्कृत मे प्रणीत ईश्वरत्व-प्राप्त ऋषियो के साहित्य को वैदिक साहित्य कहा जाता है। वैदिक साहित्य की समय-सीमा सामान्यत 3000 ई पू से लेकर 1000 ई पू तक है। वैदिक साहित्य को मुख्यत चार भागो मे बाँटा जाता है—1 सहिता, 2 ब्राह्मण, 3 आरण्यक एव उपनिषद् तथा 4 वेदाग साहित्य।

1 सहिता—सकलित अथवा सग्रहीत ग्रन्थ को 'सहिता' नाम से जाना जाता है। वेद-मन्त्र विभिन्न ऋषियो की परम्परा मे प्रचलित रहते हुए इधर-उधर बिखरे हुए थे। विभिन्न ऋषियो ने यत्र-तत्र विकीर्ण मन्त्रो का सकलन करके सहिताओ का निर्माण किया। प्रमुख सहिताएँ चार है—1 ऋग्वेद, 2 यजुर्वेद, 3 सामवेद तथा 4 अथर्ववेद।

जिस सहिता मे ऋचाओ अर्थात् पद्य या मन्त्रो का सकलन है, उसे ऋग्वेद के नाम से जाना जाता है। प्राचीनकाल मे ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ थी—1 शाकल, 2 बाष्कल, 3 आश्वलायन, 4 शाखायन तथा 5 माण्डूक्य। आगे चलकर

बाह्य जगत् तथा आभ्यन्तर जगत् मे परस्पर अविरोधात्मक अद्वैत या ऐक्य को दर्शाने वाली जो आध्यात्मिकता पाई जाती है, या अन्धकार पर प्रकाश की, मृत्यु पर अमृत्व की और असत्य पर सत्य की विजय का जो अविचल आशावाद या आत्म-विश्वास पाया जाता है और अन्त में विरुद्ध परिस्थितियो मे भी न टूटनेवाला जो लचीलापन विद्यमान है, वह सब बहुत कुछ वैदिक विचारधारा की ही देन है। सहस्रो वर्षों के व्यतीत होने पर भी वह आज तक वैदिक सस्कृति के रग मे रगी हुई है। यहाँ तक कि आज भी भारतीय आर्य (हिन्दू) धर्म मे धार्मिक कृत्यो और सस्कारो मे वैदिक मन्त्रो का प्रयोग किया जाता है। आज भी विवाह की वही पद्धति है, जो सहस्रो वर्ष पूर्व भारत मे प्रचलित थी।

वैदिक धर्म, विशेषकर वैदिक कर्मकाण्ड का प्रधान उपलम्भ यजुर्वेद है।[1]

प्राचीन भारत (3000 ई पू से 1783 ई तक)

प्राचीन भारत की कालावधि के विषय मे इदमित्थ कुछ नही कहा जा सकता। ऋग्वेद को विश्व का प्राचीनतम साहित्य मानकर अद्य-पर्यन्त पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है। परन्तु ऋग्वेद का रचना-काल अब भी निश्चयात्मकता के साथ प्रस्तुत नही किया जा सका है। मैक्समूलर जैसे विकासवादी सिद्धान्तप्रिय वेद-विचारको ने ऋग्वेद को कम से कम 1200 वर्ष ईसा पूर्व रचित अवश्य माना है। विभिन्न विद्वानो द्वारा प्रतिपादित वेदो के रचना काल का अनुशीलन करने पर यह निश्चय हो जाता है कि वेद दो हजार वर्ष ईसा पूर्व मे प्रणीत हो चुके थे। अत ऋग्वेद के रचना-काल की पूर्व सीमा कम से कम तीन हजार वर्ष ई पू मानी जा सकती है।

इतिहास मे प्राचीन भारत की समय-सीमा सिन्धुघाटी की सभ्यता से लेकर अर्थात् 4000 वर्ष ईसा पूर्व से लेकर 10वी शताब्दी पर्यन्त स्वीकार की जाती है। 10वी शताब्दी से लेकर 18वी शताब्दी के मध्यपर्यन्त मध्यकाल स्वीकारा गया है। आधुनिक काल 18वी शताब्दी के मध्य से लेकर अद्यपर्यन्त स्वीकार किया जाता है। परन्तु सस्कृत साहित्य के इतिहासकारो ने गणित तथा तन्त्र जैसे शास्त्रीय साहित्य को प्राचीन भारत की देन मानकर तथा 1784 ई मे सर विलियम जोन्स की सफल चेष्टाओ से 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' नामक शिक्षण-सस्था की कलकत्ता मे स्थापना के आधार पर नवजागरण को आधुनिक मानकर प्राचीन भारत को 1783 ई पर्यन्त ही स्वीकार किया गया है।[2]

काल-निर्धारण के लिए आदि, मध्य तथा अन्त नामक काल-त्रिभेद की मान्यता है। यदि सस्कृत साहित्य के इतिहास को तीन भागो मे विभाजित किया जाए तो 3000 ई पू से 600 ई पू तक आदिकाल, 600 ई पू से 1783 ई तक मध्य काल तथा 1784 ई से आज तक आधुनिक काल माना जा सकता है।

1 वैदिक साहित्य—यजुर्वेद डॉ मगलदेव शास्त्री, पृष्ठ 16
2 डॉ हीरालाल शुक्ल आधुनिक सस्कृत-साहित्य की भूमिका।

हमारे देश मे प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रवृत्तियो तथा विशेषताओ की प्रधानता दृष्टिगोचर होती रही है, होनी है। अत हमे 1784 ई से आधुनिकता का श्रीगणेश मानकर प्राचीन भारत का समय 3 हजार ई पू से लेकर 1783 ई तक ही मानना पडेगा।

साहित्यिक इतिहास का सम्बन्ध साहित्यिक कृतियो के सन्दर्भो मे रहा करता है। जब कोई साहित्यिक कृति काव्यात्मक सौंदर्य से सवलित होकर किसी विशेष युग का प्रतिनिधित्व करती है, तो उसका साहित्यिक इतिहास स्वयमेव निर्मित होता हुआ भी विद्वानो को अन्य कृतियो के साथ तुलनात्मक ऐतिहासिक सन्दर्भ प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया करता है। परन्तु जब साहित्यिक कृतियो मे विभिन्न युगो की सस्कृति के विकास को भी प्रस्तुत किया जाता है तो उसे अन्य साधन के आधार के रूप मे गिना जाता है तथा अन्य वाह्य उपकरणो—शिलालेख, सिक्के आदि के आधार पर सस्कृति का विश्लेषण किया जाता है। इसीलिए प्राचीन भारत के साहित्य के इतिहास को साहित्यिक इतिहास तथा सांस्कृतिक इतिहास के रूप मे विभाजित किया गया है।

साहित्यिक इतिहास

सस्कृत हमारी प्राचीन भाषा है। सस्कृत सम्पर्क-भाषा होने के साथ-साथ साहित्य की भाषा के रूप मे समादृत रही है। अत प्राचीन भारत का साहित्यिक इतिहास प्रमुखत सस्कृत साहित्य का ही इतिहास है। सस्कृत भाषा वैदिक तथा लौकिक सस्कृत के रूप मे प्रचलित रही है। वैदिक सस्कृत मे वैदिक साहित्य का प्रणयन हुआ तथा लौकिक सस्कृत मे पौराणिक, शास्त्रीय तथा काव्य-महाकाव्यादि की रचना हुई। यहाँ मुख्यत प्राचीन भारत के अथवा सस्कृत के प्राचीन साहित्य की परम्परा को सूचित करना ही हमारा प्रयोजन है।

वैदिक साहित्य

वैदिक सस्कृत मे प्रणीत ईश्वरत्व-प्राप्त ऋषियो के साहित्य को वैदिक साहित्य कहा जाता है। वैदिक साहित्य की समय-सीमा सामान्यत 3000 ई पू से लेकर 1000 ई पू तक है। वैदिक साहित्य को मुख्यत चार भागो मे बाँटा जाता है—1 सहिता, 2 ब्राह्मण, 3 आरण्यक एव उपनिषद् तथा 4 वेदाग साहित्य।

1 सहिता—सकलित अथवा सग्रहीत ग्रन्थ को 'सहिता' नाम से जाना जाता है। वेद-मन्त्र विभिन्न ऋषियो की परम्परा मे प्रचलित रहते हुए इधर-उधर बिखरे हुए थे। विभिन्न ऋषियो ने यत्र-तत्र विकीर्ण मन्त्रो का सकलन करके सहिताओ का निर्माण किया। प्रमुख सहिताएँ चार हैं—1 ऋग्वेद, 2 यजुर्वेद, 3 सामवेद तथा 4 अथर्ववेद।

जिस सहिता मे ऋचाओ अर्थात् पद्य या मन्त्रो का सकलन है, उसे ऋग्वेद के नाम से जाना जाता है। प्राचीनकाल मे ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ थी—1 शाकल, 2 वाष्कल, 3 आश्वलायन, 4 शाखायन तथा 5 माण्डूक्य। आगे चलकर

ऋग्वेद की 27 शाखाएँ विकसित हुई। ऋग्वेद सहिता के रचनाकारो मे शाखायन, वाष्कलि, कुपीतक, आश्वलि प्रभृति ऋषि शिष्य-परम्परा के रूप मे प्रसिद्ध है। इस सहिता मे 10 मण्डल, 85 अनुवाक तथा 10589 तक मन्त्र उपलब्ध होते है। इस सहिता का रचना-काल 3000 ई पू के लगभग माना जाता है।

यजुर्वेद सहिता मे 'यजुष' या गद्य की प्रधानता है। इस सहिता के 'कृष्ण' तथा 'शुक्ल' नामक दो भाग हैं। कृष्ण यजुर्वेद की 'तैत्तिरीय,' 'मैत्रायणी तथा कठ' शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेद मे काण्व' तथा 'वाजसनेय' शाखाओ को गिना जाता है। प्रस्तुत सहिता मे चालीस अध्याय हैं। चालीसवाँ अध्याय 'ईशावास्य' उपनिषद् के रूप मे प्रसिद्ध है। 'यजुर्वेद सहिता' के रचनाकारो मे कण्व याज्ञवल्क्य, वैशम्पायन, आत्रेय आदि ऋषि प्रमुख हैं। इस सहिता का रचनाकाल 2500 ई पू है।

सामवेद सहिता मे 'साम' या गीति-तत्त्व की प्रधानता है। इस सहिता की तीन शाखाएँ—कौथुम, जैमिनीय तथा राणायणीय है। सामवेद सहिता के प्रणेताओ मे जैमिनि, कुथुमी, राणायण जैसे ऋषियो का योगदान है। इस सहिता का रचना-काल 2500 ई पू स्वीकार किया जाता है। सामवेद मे गीतो की प्रधानता है।

अथर्ववेद सहिता के प्रधान प्रणेता 'अथर्वन्' ही थे। अथर्वा तथा अगिरस ने इस सहिता को विश्व-विदित बनाया। वेद की इस चौथी सहिता मे 20 अध्याय हैं। आयुर्वेद तथा तन्त्रादि से प्रस्तुत सहिता का प्रगाढ सम्बन्ध है। इस सहिता का निर्माण-काल 2000 ई पू मान्य है।

सहिता-साहित्य कण्ठ-साहित्य के रूप मे विकसित रहा था। परन्तु कालान्तर मे भोजपत्र पर लिखने की परम्परा विकसित हुई तथा विभिन्न सहिताओ का भाषा-तत्त्व तथा वर्ण्य विषय के आधार पर सकलन करके उन्हें चार वेदो—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का रूप प्रदान किया। समस्त सहिता साहित्य विभिन्न युगो मे प्रणीत होने के कारण वैदिक भाषा के विभिन्न रूपो मे विकसित हुआ। इसीलिए वैदिक सस्कृत के शब्दो के विभिन्न रूप मिलते है। सहिता साहित्य भारत वर्ष का ही नही, अपितु विश्व का प्राचीनतम साहित्य है।

2 ब्राह्मण—वेदो की रचना के उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। ब्रह्म या विस्तृत भाव को स्वय मे सयोजित करने वाला अथवा यज्ञ की प्रधानता से परिपूर्ण वैदिक साहित्य को ब्राह्मण साहित्य के नाम से जाना जाता है। सहिता-साहित्य के यज्ञ-भाग को ब्राह्मणो मे विस्तार दिया गया है। ब्राह्मणो का सम्बन्ध चारो वेदो से रहा है। ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रणयन 2000 ई पू के लगभग माना जाता है।

ऋग्वेद से दो ब्राह्मणो का सम्बन्ध है। प्रथम ब्राह्मण ऐतरेय तथा दूसरा कौषीतकी। 'इतरा' नामक शूद्रा के पुत्र महीदास ने ऐतरेय ब्राह्मण की रचना की। कुषीतक नामक ऋषि की शिष्य-परम्परा मे 'कौषीतकी' ब्राह्मण की रचना हुई। इन

दोनो ब्राह्मणो मे यज्ञ-विधान की चर्चा के अतिरिक्त सृष्टि-रचना तथा इतिहास-भूगोल से सम्बद्ध जानकारी भी प्रस्तुत की गई है।

यजुर्वेद की कृष्ण शाखा से सम्बद्ध 'तैत्तिरीय' ब्राह्मण है तथा शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण 'शतपथ' है। 'तैत्तिरीय' का सम्बन्ध वर्णाश्रम धर्म से है तथा 'शतपथ' का सम्बन्ध विभिन्न आख्यानो एव उपाख्यानो के साथ-साथ यज्ञ-विधान तथा विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओ से है। 'शतपथ' एक अभूतपूर्व ब्राह्मण है।

सामवेद की कौथुमीय संहिता या शाखा के पाँच ब्राह्मण है—1 ताण्ड्य, 2 षड्विंश, 3 अद्भुत, 4 मन्त्र तथा 5 छान्दोग्य। सामवेद की दूसरी शाखा 'जैमिनीय' से 'जैमिनीय ब्राह्मण' तथा 'जैमिनीयम उपनिषद् ब्राह्मण' विकसित हुए। इन ब्राह्मणो का इतिहास तथा धर्मशास्त्र की दृष्टि से व्यापक महत्त्व है। राणायणीय संहिता का कोई ब्राह्मण नही है।

अथर्ववेद से सम्बद्ध एकमात्र ब्राह्मण 'गोपथ' है। यह ब्राह्मण ग्रन्थ होने पर भी वेदान्त से सम्बद्ध है। इस ब्राह्मण का यज्ञ और ब्रह्मविद्या नामक दोनो ही तत्त्वो की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

(i) आरण्यक—अरण्य या वन मे रचित तथा पठित होने की परम्परा के कारण वनप्रस्थियो से सम्बद्ध कर्मों का प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थो को आरण्यक ग्रन्थ कहा गया। जहाँ ब्राह्मणग्रन्थ गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यो का प्रतिपादन करने मे व्यस्त रहे, वहाँ आरण्यको ने वनप्रस्थियो के धर्म की विवेचना की।

ऋग्वेद से सम्बद्ध आरण्यक 'ऐतरेय' तथा कौषीतकी है। पूर्व वर्णित इन्ही नामो वाले ब्राह्मण ग्रन्थो की परम्परा मे जो शिष्य-परम्परा कार्य कर रही थी, उसी परम्परा मे इन आरण्यको का प्रणयन हुआ। इन आरण्यको मे सृष्टि के गूढ तत्त्व को भी स्पष्ट किया है। यजुर्वेद के आरण्यको मे 'तैत्तिरीय' तथा 'शतपथ' हैं। सामवेद से सम्बद्ध आरण्यक 'जैमिनीयोपनिषद् आरण्यक' तथा 'छान्दोग्यारण्यक' है। इन आरण्यको मे उपनिषद्-तत्त्व की भी पर्याप्त चर्चा है। अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नही है। आरण्यको का रचना-काल 1500 ई पू तक माना जाता है।

(ii) उपनिषद्—आरण्यको मे उपनिषद्-तत्त्व पर्याप्त प्रवेश पा चुका था। इसीलिए आरण्यको और उपनिषदो को एक दूसरे के निकट पाया जाता है। आध्यात्म-विद्या से पूर्ण ग्रन्थो को उपनिषद् कहा जाता है। प्रमुख तथा प्रामाणिक उपनिषद् बारह हैं, जिन पर शकराचार्य तथा रामानुजाचार्य जैसे वेदान्तविदो के भाष्य उपलब्ध हैं। बारह उपनिषदो के नाम इस प्रकार हैं—1. ईशावास्य, 2 केनोपनिषद्, 3 कठोपनिषद्, 4 प्रश्नोपनिषद्, 5 मुण्डकोपनिषद्, 6. माण्डूक्योपनिषद्, 7 तैत्तिरीयोपनिषद्, 8 ऐतरेयोपनिषद्, 9 छान्दोग्योपनिषद्, 10 बृहदारण्यकोपनिषद्, 11 कौषीतकी उपनिषद् तथा 12 श्वेताश्वतरोपनिषद्।

'ऐतरेय' तथा 'कौषीतकी' उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं। यजुर्वेद से जुडे हुए उपनिषद् बृहदारण्यकोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् तैत्तिरीयोपनिषद्, ईशावास्य तथा कठोपनिषद् हैं। 'केनोपनिषद्' तथा 'छान्दोग्योपनिषद्' का सम्बन्ध सामवेद से

ऋग्वेद की 27 शाखाएँ विकसित हुई। ऋग्वेद सहिता के रचनाकारो मे शाखायन, वाष्कलि, कुपीतक, आश्वलि प्रभृति ऋषि शिष्य-परम्परा के रूप मे प्रसिद्ध है। इस सहिता मे 10 मण्डल, 85 अनुवाक तथा 10589 नक मन्त्र उपलब्ध होते है। इस सहिता का रचना-काल 3000 ई पू के लगभग माना जाता है।

यजुर्वेद सहिता मे 'यजुष' या गद्य की प्रधानता है। इस सहिता के 'कृष्ण' तथा 'शुक्ल' नामक दो भाग है। कृष्ण यजुर्वेद की 'तैत्तितीय,' 'मैत्रायणी तथा कठ' शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेद मे 'काण्व' तथा 'वाजमनेय' शाखाओ को गिना जाता है। प्रस्तुत सहिता मे चालीस अध्याय है। चालीसवाँ अध्याय 'ईशावास्य' उपनिषद् के रूप मे प्रसिद्ध है। 'यजुर्वेद सहिता' के रचनाकारो मे कण्व याज्ञवल्क्य, वैशम्पायन, आत्रेय आदि ऋषि प्रमुख हैं। इस सहिता का रचनाकाल 2000 ई पू है।

सामवेद सहिता मे 'साम' या गीति-तत्त्व की प्रधानता है। इस सहिता की तीन शाखाएँ—कौथुम, जैमिनीय तथा राणायणीय हैं। सामवेद सहिता के प्रणेताओ मे जैमिनि, कुथुमी, राणायण जैसे ऋषियो का योगदान है। इस सहिता का रचना-काल 2500 ई पू स्वीकार किया जाता है। सामवेद मे गीतो की प्रधानता है।

अथर्ववेद सहिता के प्रधान प्रणेता 'अथर्वन्' ही थे। अथर्वा तथा अगिरस ने इस सहिता को विश्व-विदित बनाया। वेद की इस चौथी सहिता मे 20 अध्याय है। आयुर्वेद तथा तन्त्रादि से प्रस्तुत सहिता का प्रगाढ सम्बन्ध है। इस सहिता का निर्माण-काल 2000 ई पू मान्य है।

सहिता-साहित्य कण्ठ-साहित्य के रूप मे विकसित रहा था। परन्तु कालान्तर मे भोजपत्र पर लिखने की परम्परा विकसित हुई तथा विभिन्न सहिताओ का भाषा-तत्त्व तथा वर्ण्य विषय के आधार पर सकलन करके उन्हें चार वेदो—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का रूप प्रदान किया। समस्त सहिता साहित्य विभिन्न युगो मे प्रणीत होने के कारण वैदिक भाषा के विभिन्न रूपो मे विकसित हुआ। इसीलिए वैदिक सस्कृत के शब्दो के विभिन्न रूप मिलते है। सहिता साहित्य भारत वर्ष का ही नही, अपितु विश्व का प्राचीनतम साहित्य है।

2 ब्राह्मण—वेदो की रचना के उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। ब्रह्म या विस्तृत भाव को स्वय मे सयोजित करने वाला अथवा यज्ञ की प्रधानता से परिपूर्ण वैदिक साहित्य को ब्राह्मण साहित्य के नाम से जाना जाता है। सहिता-साहित्य के यज्ञ-भाग को ब्राह्मणो मे विस्तार दिया गया है। ब्राह्मणो का सम्बन्ध चारो वेदो से रहा है। ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रणयन 2000 ई पू के लगभग माना जाता है।

ऋग्वेद से दो ब्राह्मणो का सम्बन्ध है। प्रथम ब्राह्मण ऐतरेय तथा दूसरा कौषीतकी। 'इतरा' नामक शूद्रा के पुत्र महीदास ने ऐतरेय ब्राह्मण की रचना की। कुपीतक नामक ऋषि की शिष्य-परम्परा मे 'कौपीतकी' ब्राह्मण की रचना हुई। इन

दोनो ब्राह्मणो मे यज्ञ-विधान की चर्चा के अतिरिक्त सृष्टि-रचना तथा इतिहास-भूगोल से सम्बद्ध जानकारी भी प्रस्तुत की गई है।

यजुर्वेद की कृष्ण शाखा से सम्बद्ध 'तैत्तिरीय' ब्राह्मण है तथा शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण 'शतपथ' है। 'तैत्तिरीय' का सम्बन्ध वर्णाश्रम धर्म मे है तथा 'शतपथ' का सम्बन्ध विभिन्न आख्यानो एव उपाख्यानो के साथ-साथ यज्ञ-विधान तथा विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओ से है। 'शतपथ' एक अभूतपूर्व ब्राह्मण है।

सामवेद की कौथुमीय सहिता या शाखा के पाँच ब्राह्मण है—1 ताण्ड्य, 2. षड्विंश, 3 अद्भुत, 4 मन्त्र तथा 5 छान्दोग्य। सामवेद की दूसरी शाखा 'जैमिनीय' से 'जैमिनीय ब्राह्मण' तथा 'जैमिनीयम उपनिषद् ब्राह्मण' विकसित हुए। इन ब्राह्मणो का इतिहास तथा धर्मशास्त्र की दृष्टि से व्यापक महत्त्व है। राणायणीय सहिता का कोई ब्राह्मण नही है।

अथर्ववेद से सम्बद्ध एकमात्र ब्राह्मण 'गोपथ' है। यह ब्राह्मण ग्रन्थ होने पर भी वेदान्त से सम्बद्ध है। इस ब्राह्मण का यज्ञ और ब्रह्मविद्या नामक दोनो ही तत्त्वो की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

(i) आरण्यक—अरण्य या वन मे रचित तथा पठित होने की परम्परा के कारण वनप्रस्थितयो से सम्बद्ध कर्मो का प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थो को आरण्यक ग्रन्थ कहा गया। जहाँ ब्राह्मणग्रन्थ गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यो का प्रतिपादन करने मे व्यस्त रहे, वहाँ आरण्यको ने वनप्रस्थियो के धर्म की विवेचना की।

ऋग्वेद से सम्बद्ध आरण्यक 'ऐतरेय' तथा कौषीतकी है। पूर्व वर्णित इन्ही नामो वाले ब्राह्मण ग्रन्थो की परम्परा मे जो शिष्य-परम्परा कार्य कर रही थी, उसी परम्परा मे इन आरण्यको का प्रणयन हुआ। इन आरण्यको मे सृष्टि के गूढ तत्त्व को भी स्पष्ट किया है। यजुर्वेद के आरण्यको मे 'तैत्तिरीय' तथा 'शतपथ' है। सामवेद से सम्बद्ध आरण्यक 'जैमिनीयोपनिषद् आरण्यक' तथा 'छान्दोग्यारण्यक' है। इन आरण्यको मे उपनिषद्-तत्त्व की भी पर्याप्त चर्चा है। अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नही है। आरण्यको का रचना-काल 1500 ई पू तक माना जाता है।

(ii) उपनिषद्—आरण्यको मे उपनिषद्-तत्त्व पर्याप्त प्रवेश पा चुका था। इसीलिए आरण्यको और उपनिषदो को एक दूसरे के निकट पाया जाता है। आध्यात्म-विद्या से पूर्ण ग्रन्थो को उपनिषद् कहा जाता है। प्रमुख तथा प्रामाणिक उपनिषद् बारह हैं, जिन पर शकराचार्य तथा रामानुजाचार्य जैसे वेदान्तविदो के भाष्य उपलब्ध हैं। बारह उपनिषदो के नाम इस प्रकार हैं—1 ईशावास्य, 2 केनोपनिषद्, 3 कठोपनिषद्, 4 प्रश्नोपनिषद्, 5 मुण्डकोपनिषद्, 6. माण्डूक्योपनिषद्, 7 तैत्तिरीयोपनिषद्, 8 ऐतरेयोपनिषद्, 9 छान्दोग्योपनिषद्, 10 बृहदारण्यकोपनिषद्, 11 कौषीतकी उपनिषद् तथा 12 श्वेताश्वतरोपनिषद्।

'ऐतरेय' तथा 'कौषीतकी' उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं। यजुर्वेद से जुडे हुए उपनिषद् बृहदारण्यकोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद् तैत्तिरीयोपनिषद्, ईशावास्य तथा कठोपनिषद् हैं। 'केनोपनिषद्' तथा 'छान्दोग्योपनिषद्' का सम्बन्ध सामवेद से

है। 'प्रश्न', 'मुण्डक' तथा 'माण्डूक्य' उपनिपद् अथर्ववेद के समय के साथ सम्पृक्त है।

उपनिपद् के प्रणेताओ मे पूर्व वर्णित शिष्य-परम्परा मे और भी अधिक विकास हुआ। उपनिपदो को वेदो के अन्तिम भागो मे अवस्थित देखने के कारण उन्हे वेदान्त' भी कहा गया है। उपनिपदो को ब्रह्मविद्या का समुद्र माना जाता है। उपनिपदो का रचना-काल 1000 वर्ष ई पू स्वीकार किया जा सकता है।

वेदाग साहित्य—वेद के अगो को जानने के लिए जिस साहित्य की रचना हुई, उसे वेदाग साहित्य के नाम से जाना जाता है। वैदिक साहित्य के मम को स्पष्ट करने का श्रेय वेदांग साहित्य को ही है। वेद के 6 अग है—1 शिक्षा, 2 कल्प, 3 व्याकरण, 4 निरुक्त 5 छन्द तथा 6 ज्योतिप। वैदिक साहित्य का महत्त्व वेदो के रहस्य को प्रतिपादन करने या समझाने से है। स्वर-ज्ञान को 'शिक्षा' कहते है। 'पाणिनीय शिक्षा' स्वर-ज्ञान को सूचित करने वाला ग्रन्थ है। सूत्र ग्रन्थो को 'कल्प' के अन्तर्गत रखा गया है। आश्वलायन, शाखायन तथा आपस्तम्ब जैसे सूत्रग्रन्थ 'कल्पसूत्रो' के रूप मे प्रसिद्ध हैं। सूत्र ग्रन्थो को गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र तथा धर्मसूत्र नामक रूपो मे विभाजित किया गया है। प्रातिशाख्य ग्रन्थ वैदिक व्याकरण से सम्बद्ध ग्रन्थ है। आचार्य यास्क का 'निरुक्तम्' एक निरुक्त ग्रन्थ है। निरुक्त के माध्यम से वेदार्थ का ज्ञान कराया जाता है। 'छन्दोऽनुशासन, ग्रन्थ में गायत्री, उष्णिक, जगती जैसे वैदिक छन्दो के लक्षणो एव स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। वेदाग ज्योतिप' मे ज्योतिप-तत्त्व का वर्णन है।

आज वेदांग साहित्य से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ उपलब्ध नही होते। वेदाग साहित्य मे सूत्रग्रन्थो का विकास सर्वाधिक हुआ। सूत्रग्रन्थो का रचना-काल 600 ईसा पूर्व माना गया है। 'कल्प' के अतिरिक्त अन्य वेदागो का विकास मुख्यत लौकिक सस्कृत के युग मे ही हुआ।

लौकिक साहित्य—जब वैदिक सस्कृत देववाणी या ऋपियो के साहित्य की भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित थी, तब जन-समाज मे जिस सस्कृत भापा को व्यवहृत किया जा रहा था, उसी को अपेक्षाकृत शुद्ध रूप मे साहित्य मे प्रयोग करके लौकिक सस्कृत का स्वरूप प्रदान किया गया। लौकिक सस्कृत मे सबसे पहले आदि कवि वाल्मीकि ने 'रामायण' की रचना की। रामायण के पश्चात् महाभारत तथा पुराण एव स्मृति-ग्रन्थो का प्रणयन लौकिक भापा मे ही हुआ। कालान्तर मे लौकिक सस्कृत ही साहित्यिक भापा के रूप मे प्रतिष्ठित रही। छठी शताब्दी ईसा पूर्व आचार्य पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' नामक व्याकरण-ग्रन्थ लिखकर सस्कृत भापा को सुव्यवस्थित कर दिया था। लौकिक सस्कृत अब सस्कृत के नाम से जानी जाती है। लौकिक सस्कृत साहित्य का इतिहास सुविस्तृत है।

1 पौराणिक महाकाव्य—लौकिक सस्कृत मे पाणिनि से पूर्व की रचनाएँ पौराणिक प्रतिमानो को लेकर अवतीर्ण हुई। भापा और पुराण-प्रथित सिद्धान्तो को अपनाने के कारण पौराणिक महाकाव्यो का स्वरूप चरित-काव्य के रूप मे

विकसित हुआ। इसीलिए 'रामायण' तथा 'महाभारत' को पौराणिक महाकाव्यों के रूप मे जाना जाता है। 'रामायण' तथा 'महाभारत' नामक ग्रन्थों को पौराणिक महाकाव्यों के रूप मे सम्मान मिला है। 'रामायण' के प्रणेता आदिकवि वाल्मीकि थे। भाषा-तत्त्व के आधार पर रामायण का रचना-काल छठी शताब्दी ईसा पूर्व सिद्ध होता है। रामायण सात सर्गों मे एक महाकाव्योचित रामकथा को लेकर रची गई है। इस महाकाव्य मे आदर्श पात्रो का निरूपण, प्रकृति-प्रेम का चित्रण, भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन तथा भाषा-शैली का सहज सुन्दर रूप एवं प्रवाह देखा जाता है।

'महाभारत' एक धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा पौराणिक महाकाव्य के रूप मे लिखा हुआ एक विशाल ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचयिता कृष्णद्वैपायन वेद व्यास माने जाते है। प्रारम्भ मे इसे 'जय' काव्य कहा गया तथा कालान्तर मे वैशम्पायन तथा शौनक जैसे ऋषियो के सहयोग से इसे 'महाभारत' का स्वरूप मिला, महाभारत का रचना-काल पचम शताब्दी ईसा पूर्व है। इस ग्रन्थ मे अठारह पर्व हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ कौरवो तथा पाण्डवो के राज्य-विभाजन को लेकर होने वाले महायुद्ध की कथा का सागोपाग चित्रण प्रस्तुत करता है।

2 पुराण—सर्ग, प्रतिसर्ग, वश, मन्वन्तर तथा वश्यानुचरित नामक लक्षणो से युक्त ग्रन्थो को 'पुराण' नाम से अभिहित किया है। पुराण-साहित्य के अन्तर्गत मुख्यत अष्टादश पुराणो को गिना जाता है। अठारह पुराणो के नाम इस प्रकार हैं—1 ब्रह्म, 2 पद्म, 3 विष्णु, 4 शिव, 5 भागवत, 6 नारद, 7 मार्कण्डेय, 8 अग्नि, 9 भविष्य, 10 ब्रह्मवैवर्त, 11 लिंग, 12 वराह, 13 स्कन्द, 14 वामन, 15 कूर्म, 16 मत्स्य, 17 गरुड तथा 18 ब्रह्माण्ड। पुराणो के सर्वाधिक प्रसिद्ध रचयिता के रूप मे कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का नाम उल्लेखनीय है। वस्तुत पुराणो की रचना शौनक, सूत, पराशर, नारद, तथा अनेकानेक वेदव्यासो के सरक्षण मे हुई है। पुराणो के रचना-काल की पूर्व सीमा 500 ई पू तथा अपर सीमा बारहवी शताब्दी तक है। पुराणो ने परवर्ती सस्कृत साहित्य को नही, अपितु हिन्दी तमिल, बगाल आदि विभिन्न भाषाओ के साहित्य को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है।

3 शास्त्रीय साहित्य—प्राचीन भारत मे सस्कृत भाषा मे ही कारिका तथा सूत्रशैली के माध्यम से शास्त्रीय साहित्य की रचना हुई। शिक्षा विशेष को शास्त्र कहा जाता है। शास्त्रीय साहित्य का विकास विभिन्न रूपो मे हुआ, जिसका यहाँ सक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है।

दार्शनिक साहित्य—सहज ज्ञान की विवेचना का नाम दर्शन है। भारतीय षड्दर्शन के अतिरिक्त चार्वाक, बौद्ध तथा जैन जैसे दर्शन भी अपना-अपना यथेष्ठ महत्त्व रखते है। वेदो का समर्थन करने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाए तथा वेद विरोधी दर्शनो को नास्तिक दर्शन कहा गया। 'आस्तिको वेद समर्थक' तथा 'नास्तिको वेद निन्दक' सिद्धान्त के आधार पर साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक,

मीमासा तथा वेदान्त षड्दर्शन आस्तिक दर्शन के रूप मे प्रख्यात हैं तथा चार्वाक, बौद्ध एव जैन दर्शन वेद-विरोधी दर्शन होने के कारण नास्तिक दर्शन कहलाते हैं।

'सांख्य' एक प्राचीनतम दर्शन है। सांख्य प्रणेता के रूप मे महर्षि कपिल का नाम आदरणीय है। कपिल का 'सांख्यसूत्र' सांख्य दर्शन का आधार है। कपिल के स्थितिकाल के विषय मे निश्चयत कुछ नही कहा जा सकता। फिर भी 'सांख्य-सूत्र' पांचवी शती ईसा पूर्व की रचना अवश्य है। सांख्य दर्शन के विकासकर्त्ता के रूप मे ईश्वर कृष्ण को पर्याप्त महत्त्व मिला है। ईश्वर कृष्ण का स्थितिकाल चौथी शताब्दी है। इनका 'सांख्यकारिका' ग्रन्थ सांख्य दर्शन का विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य माठर की 'माठरवृत्ति' भी सांख्य दर्शन का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। माठराचार्य का समय छठी शताब्दी निश्चित है।

पतजलि का 'योगसूत्र' योगदर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। पतजलि का स्थिति-काल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी मान्य है। योग से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है परन्तु वे सभी ग्रन्थ आज अप्राप्य हैं। सांख्य दर्शन की भांति योग दर्शन भी स्वभाववादी दर्शन है, परन्तु दोनो की विकास-प्रक्रिया भिन्न है।

महर्षि गौतम द्वारा प्रतिपादित न्याय-सिद्धान्त 'न्यायदर्शन' के रूप मे मान्य है। दूसरी शताब्दी मे अक्षपाद गौतम ने 'न्यायसूत्र' नामक प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना की। न्याय दर्शन के विकास मे उद्योतकर (7वी शती) का 'न्यायवार्तिक' विशेष रूप से प्रसिद्ध है। नवम् शताब्दी मे आचार्य धर्मोत्तर ने 'न्यायबिन्दु टीका' नामक ग्रन्थ की रचना करके तथा दशम शताब्दी मे आचार्य जयन्त भट्ट ने 'न्याय-मजरी' लिखकर न्यायदर्शन का विकास किया। बौद्ध दार्शनिक दिङनाग तथा धर्मकीर्ति ने क्रमश छठी तथा सातवी शताब्दी मे बौद्ध न्याय के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। बौद्ध दार्शनिको तथा नैयायिको की खण्डन-मण्डन परम्परा के कारण न्यायदर्शन का अभूतपूर्व विकास हुआ।

महर्षि कणाद् वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक के रूप मे विख्यात हैं। महर्षि कणाद् का समय चौथी शती ई पू निश्चित है। कणाद् का 'वैशेषिक सूत्र' वैशेषिक दर्शन का मूल आधार माना जाता है। आचार्य प्रशस्तपाद ने चौथी शताब्दी मे 'पदार्थ-धर्म-सग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के ऊपर दसवी शताब्दी मे उदयनाचार्य ने किरणावली' तथा श्रीधराचार्य ने 'न्याय-कदली' नामक टीका लिखी वैशेषिक दर्शन परमाणुवादी दर्शन है।

मीमासा दर्शन के सूत्रपात का श्रेय आचार्य जैमिनि को हैं। इनके 'मीमासा सूत्र' नामक ग्रन्थ का रचना-काल 550 ई पूर्व है। शबर स्वामी का 'शाबर भाष्य' मीमांसा दर्शन का एक पुनरुद्धारक ग्रन्थ है। 'शाबर भाष्य' पर कुमारिल ने सातवी शताब्दी मे प्रामाणिक टीका की। कुमारिल का मत भाट्टमत के नाम से प्रसिद्ध है। 'शाबर भाष्य' के दूसरे टीकाकार प्रभाकर हुए। प्रभाकर का मत गुरुमत नाम से जाना जाता है। मुरारि 'शाबर भाष्य' के तीसरे प्रसिद्ध टीकाकार हुए। मुरारि के मत को मुरारिमत के रूप मे जाना जाता है। मीमासा दर्शन मे आद्योपान्त कर्मकाण्ड की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

आचार्य बादरायण का 'ब्रह्मसूत्र' वेदान्त दर्शन के रूप में विख्यात है। बादरायण का स्थितिकाल चौथी शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। अनेक विद्वानो ने कृष्णद्वैपायन को ही बादरायण मान लिया है। बारह उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र को 'प्रस्थानत्रयी' के नाम से जाना जाता है। प्रस्थानत्रयी मूल वेदान्त है। शकराचार्य (788–820 ई) तथा रामानुजाचार्य (1037–1137 ई) ने वेदान्त को क्रमश अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद के रूप मे विकसित किया। वेदान्त दर्शन मे ब्रह्मविद्या का सर्वाधिक तर्कपूर्ण विवेचन मिलता है।

नास्तिक दर्शनो मे चार्वाक दर्शन सर्वाधिक प्राचीन है। चार्वाक दर्शन के आदि विचारक आचार्य बृहस्पति हुए है। आचार्य बृहस्पति का समय 600 ई पू तो मानना ही पडता है। भौतिक रस-चार्वाक को महत्त्व देने के कारण भौतिकवादी दार्शनिको को चार्वाक नाम दिया गया। चार्वाक दर्शन का एक नाम 'लोकायत' भी है। चार्वाक दर्शन मे 'खाओ पीओ मौज करो' सिद्धान्त की अनुपालना हुई है।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे गौतम बुद्ध ने बौद्ध दर्शन का सूत्रपात किया। उनके अनुयायियो द्वारा लिखित 'धम्मपद' बौद्ध दर्शन का महान् ग्रन्थ है। बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय हैं—1 वैभाषिक, 2 सौत्रान्तिक, 3 योगाचार तथा 4 कोश, शून्यवाद या माध्यमिक। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे आचार्य वसुमित्र ने 'अभिधर्म' नामक ग्रन्थ की रचना की। छठी शताब्दी मे योगाचारवादी आचार्य दिङ्नाग हुए। आप बौद्ध न्याय के जनक के रूप मे प्रतिष्ठित है। दूसरी शताब्दी मे नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' लिखकर शून्यवाद की प्रतिष्ठापना की। बौद्ध दर्शन के अन्य आचार्यो मे आचार्य धर्मकीर्ति, आचार्य असग, आचार्य स्थिरमति प्रभृति उल्लेखनीय हैं। बौद्ध दर्शन क्षणिकवाद तथा दुःखवाद को लेकर विकसित हुआ है।

महावीर स्वामी ने छठी शताब्दी ईसा पूर्व मे जैन दर्शन का प्रवर्तन किया। इस दर्शन को विकसित करने वाले आचार्यों मे स्वयभु तथा उमास्वामि का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। स्वयभु का 'पउमचरिउ' अथवा 'पद्मचरित' नामक ग्रन्थ आठवी शताब्दी की देन है। जैन दर्शन के आगमिक ग्रन्थो के रूप मे 'आचारांगसूत्र', 'सूत्रकृतांग' तथा 'दृष्टिवाद' आदि महत्वपूर्ण हैं। जैन दर्शन ने जीवात्मा को स्वीकार करके कैवल्य का स्वरूप स्पष्ट किया है।

प्राचीन भारत का दर्शन विश्व दर्शन के क्षेत्र मे अद्वितीय माना गया है। भारतीय दार्शनिक साहित्य का विकास भौतिकवादी तथा आध्यात्मवादी, ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी, वेदवादी एव वेद विरोधवादी रूपो मे हुआ।

धर्मशास्त्र—धर्म के दस लक्षण माने गए है तथा उनसे सम्बद्ध धर्मांश का वर्णनकर्ता शास्त्र धर्मशास्त्र के नाम से जाना जाता है। अब स्मृति-ग्रन्थो को ही धर्मशास्त्र के रूप मे माना जाता है। अठारह स्मृतियो का क्रम इस प्रकार है—

1 मनुस्मृति, 2 याज्ञवल्क्य स्मृति, 3 अत्रि स्मृति, 4 विष्णु स्मृति, 5 हारीत स्मृति, 6 उशनस् स्मृति, 7 अगिरा स्मृति, 8 यम स्मृति, 9 कात्यायन स्मृति, 10 बृहस्पति स्मृति, 11 पराशर स्मृति, 12 व्यास स्मृति, 13 दक्ष स्मृति,

14 गौतम स्मृति, 15 वशिष्ठ स्मृति, 16 नारद स्मृति, 17 भृगु स्मृति तथा 18 आपस्तम्ब स्मृति। स्मृति ग्रन्थो के नाम पुरातन ऋषि-परम्परा के आधार पर निश्चित हुए है। स्मृति ग्रन्थो का निर्माण-काल दो सौ वर्ष ईसा पूर्व से लेकर कम से कम चौथी शताब्दी तक माना जाता है। धर्मशास्त्र मे धर्म के विविध लक्षणो तथा रहस्यो का सरल एव स्पष्ट वर्णन हुआ है।

अर्थशास्त्र—अर्थ या धन पर शासन-व्यवस्था को केन्द्रित करने वाले राजनीतिशास्त्र को ही अर्थशास्त्र नाम दिया गया है। वैदिक काल मे शकर ने 'वैशालाक्ष' नामक अर्थशास्त्र की रचना की। महाभारत का अनुशासन पर्व एक सुव्यवस्थित अर्थशास्त्र ही है। 325 ई पू मे विष्णु गुप्त या कौटिल्य ने 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' की रचना की। कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु था। उसे चाणक्य नाम से भी जाना जाता है। दशम् शताब्दी मे आचार्य सोमदेव ने 'नीतिवाक्यामृत' नामक ग्रन्थ की रचना की। एकादश शती मे धारा नरेश भोज ने 'युक्तिकल्पतरु' तथा चण्डेश्वर ने 'नीतिरत्नाकर' तथा 'नीतिप्रकाशिका' नामक ग्रन्थो की रचना की। द्वादश शती मे आचार्य हेमचन्द्र ने 'लघ्वर्हन्नीति' नामक अर्थशास्त्रीय कृति प्रस्तुत की।

अलकारशास्त्र—काव्य शास्त्र या साहित्यशास्त्र को अलकारशास्त्र कहा गया है। प्राचीन भारत के अलकार शास्त्र मे छ सम्प्रदाय प्रसिद्ध रहे हैं—1 रस सम्प्रदाय, 2 ध्वनि-सम्प्रदाय, 3 अलकार-सम्प्रदाय, 4 रीति-सम्प्रदाय, 5 वक्रोक्ति-सम्प्रदाय तथा 6 औचित्य सम्प्रदाय।

आचार्य भरत ने दूसरी शताब्दी मे 'भरत नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना करके रस-सम्प्रदाय का सूत्रपात किया। रस-सम्प्रदाय के प्रामाणिक विचारको मे दशम् शताब्दी मे आविर्भूत आचार्य अभिनवगुप्त का नाम चिरस्मरणीय है। आचार्य अभिनव ने 'अभिनवभारती' नामक रस-सिद्धान्तपरक ग्रन्थ की रचना की। दशम् शताब्दी मे ही आचार्य धनञ्जय के 'दशरूपक' ग्रन्थ का प्रणयन हुआ। एकादश शताब्दी मे आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' लिखा। बारहवी शताब्दी मे आचार्य रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की। 14वी शताब्दी मे आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' नामक रसवादी लक्षण ग्रन्थ को प्रणीत किया। सत्रहवी शती मे आचार्य जगन्नाथ ने 'रसगगाधर' नामक ग्रन्थ लिखा। रस ग्यारह माने गए हैं—शृ गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त, भक्ति तथा वात्सल्य। रसवादी अलकारशास्त्र मे रस को काव्य की आत्मा माना गया है।

नवम् शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ की रचना करके ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। दशम् शताब्दी मे आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' अथवा 'ध्वन्यालोकलोचन' नामक ग्रन्थ लिखकर ध्वनि-सम्प्रदाय को विकसित किया। ग्यारहवी शताब्दी मे आचार्य मम्मट ने ध्वनिविरोध आचार्यों के मतो का खण्डन करने के लिए ध्वनिवादी ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' की रचना

की । 14वीं शताब्दी में कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में तथा सत्रहवीं शताब्दी में आचार्य जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में ध्वनि-तत्त्व पर प्रकाश डाला । ध्वनिवादियों ने ध्वनि-संख्या का विस्तार 10 हजार 455 ध्वनि-भेदों के रूप में किया है ।

छठी शताब्दी में आचार्य भामह ने 'काव्यालंकार' नामक अलंकारवादी ग्रन्थ की रचना की । सातवीं शती के प्रारम्भ में आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' नामक ग्रन्थ प्रणीत किया । आठवीं शताब्दी में आचार्य उद्भट 'काव्यालंकार सारसंग्रह' ग्रन्थ अलंकारों के वैज्ञानिक विवेचन की दिशा को आविर्भूत करने वाला सिद्ध हुआ । आचार्य रुद्रट ने नवम् शती में अनेक नवीन अलंकारों की उद्भावना के सूचक 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ प्रणीत किया । 11वीं शताब्दी में अग्निपुराण नामक ग्रन्थ का प्रणयन हुआ । बारहवीं शताब्दी में आचार्य रुय्यक ने 'अलंकार सर्वस्व' नामक अभूतपूर्व अलंकारवादी ग्रन्थ लिखा । तेरहवीं शताब्दी में आचार्य जयदेव ने 'चन्द्रलोक' की रचना की । सत्रहवीं शताब्दी में आचार्य अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ लिखा । अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना है तथा अलंकारों के स्वरूप को अत्यन्त विस्तृत कर दिया है । अलंकार शास्त्र के सभी आचार्यों ने अलंकारों का विवेचन किया है ।

अष्टम शताब्दी में आचार्य वामन ने रीति-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया । इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यलंकार सूत्र' है । रीति-तत्त्व का विवेचन अलंकारवादी आचार्य दण्डी ने भी किया है । वैदर्भी, गौडी तथा पाँचाली रीतियों को आचार्य कुन्तक (11वीं शताब्दी) ने सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा मध्यममार्ग का रूप देकर रीति तत्त्व को नया रूप प्रदान किया । 11वीं शताब्दी में आचार्य भोजराज ने 'शृंगारप्रकाश' तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक ग्रन्थों की रचना की । सरस्वतीकण्ठाभरण' में रीति-तत्त्व पर प्रकाश डाला गया है 'रीति' पद-रचना का नाम है । रीति-सम्प्रदाय में रीति को काव्य की आत्मा माना गया है ।

दशम् शताब्दी में कुन्तकाचार्य ने 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक ग्रन्थ लिखकर वक्रोक्ति सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया । कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा सिद्ध करके अलंकार शास्त्र को एक अनोखी देन दी । कुन्तक से पूर्व छठी शताब्दी में आचार्य भामह ने वक्रोक्ति के महत्त्व पर प्रकाश डाला । अष्टम शताब्दी में आचार्य वामन ने वक्रोक्ति के विषय में विचार किया था । दशम् शताब्दी में आचार्य अभिनव गुप्त ने वक्रोक्ति-तत्त्व की मीमांसा की । कुन्तक के पश्चात् 'वक्रोक्ति' केवल एक शब्दालंकार के रूप में शेष रही ।

एकादश शती के उत्तरार्द्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' नामक ग्रन्थ लिखकर औचित्य-सम्प्रदाय को प्रवर्तित किया । आचार्य भरत ने दूसरी शताब्दी में औचित्य-तत्त्व पर विचार किया था । नवम् शताब्दी में आचार्य आनन्दवर्धन ने रस के परिपाक के लिए औचित्य-तत्त्व का महत्त्व प्रतिपादित किया

था। काव्य के दोषो के परिहार के रूप मे औचित्य-तत्त्व की चर्चा प्राय सभी आचार्यो ने की हैं।

वैज्ञानिक साहित्य—क्रमबद्ध ज्ञान के साहित्य को वैज्ञानिक साहित्य कहा गया है। 500 ई पू से लेकर सत्रहवी शताब्दी तक वैज्ञानिक साहित्य का प्रणयन होता रहा। परन्तु आजकल रत्नपरीक्षा, वास्तुविद्या, अश्वशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र आदि वैज्ञानिक साहित्य या तो उल्लेख के रूप मे अथवा अर्वाचीन रूप में प्राप्त होता है। 11वी शताब्दी के ग्रन्थ 'अग्निपुराण' मे तथा अनेक पुराणो मे वैज्ञानिक साहित्य के सकेत भरे पडे हैं।

आयुर्वेद—आयुर्वेद का श्रीगणेश अथववेद के 'अथर्वन्' भाग से होता है। वैदिक काल मे आचार्य धन्वन्तरि के गुरु भास्कर ने आयुर्वेद-सहिता' की रचना की। आचार्य धन्वन्तरि ने 'चिकित्सा रसायनशास्त्र' लिखकर आयुर्वेद को प्रतिष्ठित रूप प्रदान किया। च्यवन ऋषि ने 'जीवदान' नामक आयुर्वेदिक ग्रन्थ लिखा। ये सभी आचार्य छठी शताब्दी ई पू से पूर्व के हैं। प्रथम शताब्दी मे चरक-सम्प्रदाय के 'चरक' नामधारी आचार्य ने 'चरक-सहिता' की रचना की। चौथी शताब्दी मे आचार्य नागार्जुन के 'रसरत्नाकर', 'आरोग्यमजरी', 'रसकच्छपुट' जैसे आयुर्वेदिक ग्रन्थो ने आयुर्वेद को एक सर्वथा नवीन रूप दे डाला। वैदिक तथा पौराणिक काल मे आयुर्वेद के शकर, नारद, भारद्वाज, सुश्रुत आदि आचार्य हुए है, जिनका उल्लेख 'चरक-सहिता' नामक ग्रन्थ मे किया गया है। ग्यारहवी शताब्दी मे वैद्यक शास्त्र के कोश के रूप मे सुरेश्वर का शब्द-प्रदीप' सामने आया। तेरहवी शताब्दी मे आचार्य नरहरि ने 'राजनिघण्टु' नामक शब्दकोश का प्रणयन किया। आयुर्वेद के क्षेत्र मे 'अश्वशास्त्र', 'गजशास्त्र' आदि पशु-चिकित्सा से सम्बन्धित ग्रन्थ सम्मान्य रहे है।

ज्योतिष—नक्षत्र-ग्रह विद्या का नाम ज्योतिष है। चारो वेदो मे ज्योतिष-तत्त्व विद्यमान है। आचार्य लगभ ने 500 ई पू मे 'वेदांग ज्योतिप' नाम से पहले प्रामाणिक ज्योतिप ग्रन्थ की रचना की। 300 ई पू जैन ज्योतिष के क्षेत्र मे 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' तथा 'ज्योतिपकरण्डक' नामक ग्रन्थो की रचना हुई। पाँचवी शताब्दी में आचार्य आर्यभट्ट ने 'आर्यभट्टीय' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। आचार्य कल्याण ने छठी शतब्दी में ज्योतिष के 'सारावली' ग्रन्थ को लिखकर मध्ययुगीन ज्योतिप साहित्य का सूत्रपात किया। आचार्य वराहमिहिर ने 'बृहज्जातक' नामक ग्रन्थ की रचना पाँचवी शताब्दी मे की थी। इस दृष्टि से वराहमिहिर कल्याणवर्मा के पूर्ववर्ती सिद्ध होते है। ब्रह्मगुप्त का 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' छठी शताब्दी की ज्योतिप कृति है। बारहवी शताब्दी में भास्कराचार्य ने 'सिद्धान्त शिरोमणि' ग्रन्थ लिखकर आयुर्वेद को विश्वव्यापी बना दिया। 13वी शताब्दी में पद्मप्रभुसूरि ने 'भुवनदीपक' नामक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की। सोलहवी शताब्दी मे आचार्य रगनाथ ने 'गूढार्थप्रकाशिका' तथा नारायण पण्डित ने 'मुहूर्तमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ प्रणीत किया। 17वी शताब्दी में आचार्य कमलाकर ने 'सिद्धान्त विवेक नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। 1731 ई में पण्डितराज जगन्नाथ ने 'सिद्धान्त सम्राट' नामक ज्योतिपीय

ग्रन्थ की रचना की । 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 20वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे लोकमान्य तिलक तथा डॉ गोरखप्रसाद जैसे विद्वानो के प्रयासो से भारतीय ज्योतिष को आधुनिक रूप मिला तथा भारतीय ज्योतिष साहित्य को समूचे विश्व मे सम्मान मिला है ।

तन्त्र साहित्य—ज्ञान विस्तार तथा विघ्न-विनाशक विद्या को 'तन्त्र' के रूप मे जाना जाता है । तन्त्र का श्रीगणेश अथर्ववेद से होता है । पौराणिक काल मे 'वराहीतन्त्र' की रचना हुई । पाँचवी शताब्दी मे आचार्य आर्यभट्ट ने 'तन्त्रग्रन्थ' की रचना की । तन्त्रग्रन्थो मे 'रुद्रयामल तन्त्र' महत्त्वपूर्ण है । दशम् शताब्दी मे आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रवार्तिक' नामक ग्रन्थ प्रणीत किया । तन्त्र साहित्य मुख्यत शैवागम से सम्बद्ध है ।

गणित-साहित्य—गणित-साहित्य का प्रामाणिक श्रीगणेश 500 ई पू में आचार्य लगध के 'वेदांगज्योतिष' नामक ग्रन्थ से होता है । प्रारम्भ मे गणित ज्योतिष का ही एक अग था । वेद, ब्राह्मण रामायण तथा महाभारत मे गणित की बहुत कुछ जानकारी के सकेत प्राप्त होते है । पाँचवी शताब्दी मे आचार्य आर्यभट्ट ने 'आर्यष्टशत' नामक गणितग्रन्थ की रचना की । नवी शताब्दी मे आचार्य महावीर ने 'गणितसार सग्रह' नामक गणितीय कृति प्रस्तुत की । 11वी शताब्दी मे आचार्य भास्कर ने 'लीलावती' नामक गणित ग्रन्थ लिखा । प्राचीन भारत के वैदिक काल मे गणित का पर्याप्त विकास था, ऐसे सकेत पुराणो मे मिलते हैं ।

गान्धर्वशास्त्र—नृत्य एव सगीत शास्त्र को गान्धर्ववेद के नाम से जाना जाता है । दूसरी शताब्दी मे आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की । किन्ही वृद्ध भरत का 'नाट्यवेदागम' एक गान्धर्वशास्त्रीय ग्रन्थ है । नन्दिकेश्वर ने 'भरतार्णव' ग्रन्थ लिखा । 'नाट्यार्णव' ग्रन्थ 'भरतार्णव' का ही अश माना जाता है । 12वी शताब्दी मे शार्ङ्गदेव ने 'सगीत रत्नाकर' नामक महत्त्वपूर्ण गान्धर्वशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की । 17वी शताब्दी मे आचार्य सोमनाथ ने 'सगीतदर्पण' नामक ग्रन्थ लिखा ।

व्याकरणशास्त्र—वैदिक युग के प्रातिशाख्य ग्रन्थो के अतिरिक्त आचार्य पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' व्याकरण का प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ है । पाणिनि का स्थिति काल 500 ई पू माना जाता है । 300 ई पू मे आचार्य कात्यायन ने अष्टाध्यायी से सम्बद्ध वार्तिक लिखा । ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी में पतजलि ने 'महाभाष्य' नामक व्याकरणिक ग्रन्थ की रचना की । सातवी शताब्दी मे आचार्य भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' नामक व्याकरणिक ग्रन्थ लिखा । बारहवी शताब्दी मे आचार्य हेमचन्द्र ने 'शब्दानुशासन' नामक ग्रन्थ लिखा । 17वी शताब्दी में आचार्य वरदराज ने 'सिद्धान्त कौमुदी' नामक ग्रन्थ की रचना की । आज सिद्धान्त कौमुदी सर्वाधिक प्रचलित व्याकरणिक ग्रन्थ है । 17वी शताब्दी में आचार्य मार्कण्डेय ने 'प्राकृतसर्वस्व' तथा रामतर्क वागीश ने 'प्राकृत कल्पतरु' नामक प्राकृत व्याकरण के ग्रन्थो का प्रणयन किया ।

साहित्यिक विधाओं के ग्रन्थ

संस्कृत साहित्य महाकाव्य, गीति काव्य चम्पू काव्य, ऐतिहासिक काव्य, नाटक, गद्य साहित्य तथा आख्यान साहित्य के रूप मे भी विशेषत विकसित हुआ। प्राचीन भारत मे अनेक राजाओ ने साहित्य-सृजन को प्रोत्साहन दिया। प्राचीन भारत के साहित्यिक विधा परक साहित्य का पर्याप्त विस्तार है, जिसे यहाँ सक्षिप्तत प्रस्तुत किया जा रहा है।

महाकाव्य—सर्गबद्ध विशद् काव्य को महाकाव्य कहा जाता है। प्रथम शताब्दी मे अश्वघोष ने 'बुद्धचरित्र' तथा 'सौन्दरानन्द' नामक महाकाव्य की रचना की। चौथी शताब्दी में कालीदास ने 'रघुवश' तथा 'कुमारसम्भव' नामक सुप्रसिद्ध महाकाव्यो का प्रणयन किया। सातवी शताब्दी के प्रथम चरण मे भारवि ने 'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्य लिखा। भट्टि का 'रावण वध' भी सातवी शदी मे रचा गया। कुमारदास का 'जानकीहरण' महाकाव्य प्रख्यात है। कुमारदास भट्टि के समकालीन थे माघ ने आठवी शती के प्रारम्भ मे 'शिशुपालवधम्' नामक महाकाव्य की रचना की। रत्नाकर ने नवम् शताब्दी मे 'हरविजय' नामक महाकाव्य प्रणीत किया। 11वी शताब्दी मे आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'दशावतार चरित्र नामक पौराणिक महाकाव्य की रचना की। श्रीहर्ष का 'नैषध चरित' बारहवी शताब्दी की देन है। कनिष्क, विक्रमादित्य तथा विजयपाल जैसे राजाओ ने महाकाव्यो का विकास कराने मे पर्याप्त योगदान दिया।

गीतिकाव्य—हृदय की निश्छल अभिव्यक्ति काव्य के क्षेत्र मे गीतिकाव्य कहलाती है। पूर्वापर प्रसगमुक्ति ही गीतिकाव्य का आधार है। चौथी शताब्दी मे कालिदास ने ऋतुसहार' मेघदूत' तथा 'शृ गारशतक' नामक गीति काव्यो की रचना की। चौथी शती मे अर्थात् कालिदास के समकालीन 'घटकर्पर' उपाधिमान कवि ने 'घटकर्पर' गीतिकाव्य प्रणीत किया। हाल की 'गाथासप्तशती' एक सुन्दर गीतिकाव्य है। हाल का स्थितिकाल प्रथमशती निर्धारित किया गया है।[1] 7वी शताब्दी मे आचार्य भर्तृहरि ने 'नीतिशतक', 'शृ गारशतक' तथा 'वैराग्यशतक' नामक गीतिकाव्यत्रय की रचना की। आठवी शताब्दी मे आचार्य अमरूक ने 'अमरूकशतक' की रचना की। 11वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे 'विक्रमांकदेवचरित' महाकाव्य के प्रणेता बिल्हण ने 'चौरपचाशिका' नामक गीतिकाव्य लिखा। धोयी का 'पवनदूत' बारहवी शताब्दी की रचना है। बारहवी शताब्दी मे आचार्य गोवर्धन ने 'आर्यासप्तशती' नामक ग्रन्थ लिखा। बारहवी शताब्दी मे ही जयदेव ने 'गीतगोविन्द' नामक भक्तिपरक गीतिकाव्य की रचना की। 17वी शताब्दी में पण्डितराज जगन्नाथ ने छ गीतिकाव्य रचे। इनके गीतिकाव्यो के नाम इस प्रकार है—1 'गगालहरी', 2 'सुधालहरी', 3 'अमृतलहरी', 4 'करुणालहरी', 5 'लक्ष्मीलहरी', तथा 6 'भामिनी विलास'।

1 Indian Review, Dec 1909

चम्पूकाव्य—गद्यपद्यमय काव्य को चम्पू काव्य कहते है।[1] त्रिविक्रम भट्ट ने 10वी शती में 'नलचम्पू' की रचना की। दशम शताब्दी में सोमदेव ने 'यशस्तिलकचम्पू' नामक चम्पू काव्य की रचना की। 'यशस्तिलक चम्पू' में अवन्ति के राजा यशोधरा का वर्णन है। दशम शताब्दी के प्रारम्भ मे अथवा 970 ई में हरिश्चन्द्र ने 'जीवनधर चम्पू' की रचना की। 11वी शताब्दी में धारानरेश भोज ने 'रामायण चम्पू' की स्थापना की। सेड्ढल ने 11वी शताब्दी में प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के राजा मलयवाहन और नागराज की कन्या उदयसुन्दरी के विवाह को लक्ष्य करके 'उदयसुन्दरी कथा' चम्पू की रचना की। 16वी शताब्दी में रानी तिरुमलाम्बा ने 'वरदाम्बिका परिणय चम्पू' की रचना की।

ऐतिहासिक काव्य—इतिहास प्रसिद्ध कथा को लेकर लिखे गए काव्य ऐतिहासिक काव्य कहलाते है। सातवी शताब्दी मे आचार्य बाणभट्ट ने 'हर्षचरित नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना की। कन्नौज नरेश हर्ष का 'हर्षचरित' मे काव्यात्मक वृत्त प्राप्त होता है। आठवी शताब्दी मे वाक्पतिराज ने कन्नौज के राजा यशोवर्मा की विजय से सम्बद्ध 'गौडवहो नामक ऐतिहासिक काव्य की रचना की। कश्मीर निवासी विल्हण कवि ने 'विक्रमांकदेवचरित' नामक इतिहास तथ्यपूर्ण काव्य लिखा। विक्रमादित्य चालुक्यवंशी राजा थे। बारहवी शताब्दी मे कल्हण ने 'राजतरंगिणी' की रचना की। 'राजतरंगिणी' मे आदिकाल से लेकर 1151 ई तक के कश्मीर नरेशो के राज्य का वर्णन किया था। 12वी शताब्दी मे आचार्य हेमचन्द्र ने 'कुमारपालचरित' नामक काव्य की रचना की। दिल्ली सम्राट पृथ्वीराज के आश्रय मे जयानक कवि ने 'पृथ्वीराजचरित' नामक काव्य प्रणीत किया। इन ऐतिहासिक काव्यो के अतिरिक्त कुछ अन्य इतिहासपरक काव्य भी प्रणीत किये गये।

नाटक—दृश्य काव्य की विशद् विधा को नाटक कहा जाता है। संस्कृत साहित्य मे सबसे पहले नाटककार के रूप मे भास का नाम उल्लेखनीय है। भास ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मे उत्पन्न हुए। उन्होने रामायण तथा महाभारत को आधार बनाकर अनेक प्रकार के नाटको की रचना की। उनके प्रसिद्ध नाटक 'अभिषेक,' 'प्रतिमा,' 'बालचरित', 'चारुदत्त', 'स्वप्नवासवदत्ता', 'दूतवाक्य', 'कर्णभार', 'दूतघटोत्कच', 'उरुभंग,' 'मध्यम व्यायोग', 'पंचरात्र', इत्यादि हैं। तृतीय शताब्दी ई पू मे शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' नामक प्रकरण की रचना की। प्रथम शताब्दी मे अश्वघोष ने 'शारिपुत्र प्रकरण' लिखा। चौथी शताब्दी मे कालिदास ने मालविकाग्निमित्रम्', 'विक्रमोर्वशीयम्' तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', नामक तीन नाटको की रचना की। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटको की गणना मे आता है। पाँचवी शताब्दी मे विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक प्रणीत किया। सातवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे कन्नौज नरेश हर्ष ने 'प्रियदर्शिका',

1 साहित्य दर्पण, 6/336-'गद्यपद्यमयकाव्य चम्पूरित्यभिधीयते।'

'रत्नावली', तथा 'नागानन्द' नामक नाटकत्रय की रचना की। महाकवि भवभूति ने 'मालती माधव', 'महावीर चरित' तथा 'उत्तररामचरित' नामक नाटको की रचना की। 'उत्तर-रामचरित' भवभूति की कीर्ति का केन्द्र सिद्ध हुआ है। सातवी शताब्दी मे नारायणभट्ट का 'वेणीसहार' नाटक भी प्रसिद्ध हुआ। आठवी शताब्दी मे मुरारि ने 'अनर्घराघव नाटक की रचना की। नवम् शताब्दी मे अनगहृष का 'तापसवत्सराज-चरित' नामक नाटक प्रणीत हुआ। नवी शताब्दी मे दामोदरमिश्र ने 'हनुमन्नाटक की रचना की। दशम् शताब्दी मे राजशेखर ने 'बालरामायण तथा 'कर्पूरमजरी' नामक नाटको की रचना की। दशम् शताब्दी मे ही क्षेमेश्वर का 'चण्डकौशिक' नाटक रचा गया। सस्कृत के नाटको मे निम्नवर्ग के पात्रो की भाषा प्राकृत रही है।

गद्य साहित्य—वैदिक युगीन गद्य के उपरान्त नाटको मे गद्य को स्थान मिला। परन्तु गद्य-साहित्य के विकास का श्रेय दण्डी, सुबन्धु, बाण जैसे गद्य-साहित्यकारो को है। छठी शताब्दी मे दण्डी ने 'दशकुमारचरित' ग्रन्थ की रचना की। छठी शताब्दी मे ही सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' नामक गद्य-साहित्य की अनुपम कृति प्रस्तुत की। सातवी शताब्दी मे बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' नामक कथा साहित्य की रचना की। उक्त तीनो ही गद्यकारो ने अपनी कृतियो को काव्य-तत्त्व से सुसज्जित किया है।

आख्यान-साहित्य—नीतिकथापरक तथा लोककथापरक साहित्य को 'आख्यान-साहित्य' कहा जाता है। नीतिकथापरक ग्रन्थो मे विष्णु शर्मा का 'पचतन्त्र' 300 ई के आस-पास लिखा गया। 'पचतन्त्र' एक रोचक तथा सुप्रसिद्ध कथाग्रन्थ है। 14वी शताब्दी मे नारायण पण्डित ने 'हितोपदेश' नीतिकथा की रचना की। आठवी शताब्दी मे नेपाल के बुद्धिस्वामी ने 'बृहत्कथा' नामक लोककथा की रचना की। 11वी शताब्दी मे क्षेमेन्द्र ने 'बृहत्कथामजरी' नामक आख्यान लिखा। ग्यारहवी शताब्दी मे सोमदेव ने 'कथासरित्सागर नामक सुप्रसिद्ध लोककथासाहित्य लिखा। बारहवी शताब्दी मे शिवदास ने 'वेतालपचविंशतिका' नामक आख्यान-साहित्य प्रस्तुत किया। इसमे न्यायप्रिय विक्रमादित्य की 25 कहानियाँ सग्रहित हैं। बारहवी शताब्दी मे ही 'सिंहासनद्वात्रिंशतिका' आख्यान ग्रन्थ लिखा गया। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य आख्यान ग्रन्थो की रचना हुई।

सांस्कृतिक इतिहास

प्राचीन भारत मे सस्कृति के विभिन्न रूप विकसित हुए। विभिन्न परिस्थितियो मे विकसित होने वाले सांस्कृतिक प्रतिमानो को ही सांस्कृतिक इतिहास का आधार माना जाता है। विभिन्न जातियो तथा विभिन्न विचारधाराओ के टकराव एव समन्वय के फलस्वरूप सस्कृति का इतिहास अग्रसर होता है। प्राचीन भारत वैदिक युग से पूर्व ही पारम्भ हो जाता है, परन्तु यहाँ वैदिक सस्कृति से ही सांस्कृतिक इतिहास का निर्देश करना हमारा प्रयोजन है। फिर भी इतना तो कहना ही होगा कि वैदिक सस्कृति पर प्राग्वैदिक सस्कृति के निवृत्तिमार्ग का स्पष्ट प्रभाव है।

ऋग्वैदिक संस्कृति—ऋग्वैदिक संस्कृति 3000 ईसा पूर्व से प्रचलित हुई। उस युग की संस्कृति को जानने का प्रमुख आधार ऋग्वेद है। ऋग्वैदिक संस्कृति मे यज्ञ-सम्पादन की प्रधानता रही। ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टाओ ने इन्द्र, वरुण, रुद्र, विष्णु, सूर्य या सविता, अग्नि, पर्जन्य आदि देवताओ के स्तवन का प्रमुख आधार यज्ञ ही माना। यज्ञ को विस्तृत अर्थ में ग्रहण करके समस्त सृष्टि की रचना का कारण यज्ञ ही बताया गया।[1] ऋग्वैदिक दार्शनिक अनुचिन्तन उस युग की संस्कृति की महानता का द्योतक है। ऋग्वैदिक संस्कृति में अद्वैतवाद, बहुदेववाद तथा एकेश्वरवाद जैसी परिष्कृत विचारधाराएँ विद्यमान हैं। ऋग्वेद का धार्मिक जीवन नैतिक मूल्यों से परिपूर्ण है। द्यूत-क्रीडा को घोर पाप सिद्ध किया गया। विभूतियो या सम्मान्य व्यक्तियो के सम्मान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

ऋग्वैदिक समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों के अतिरिक्त एक अन्त्य या दास वर्ण भी था। तद्युग में ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ नामक आश्रमो को पर्याप्त सम्मान मिला। वानप्रस्थ तथा सन्यास नामक आश्रमो को मान्यता नही मिली थी। ऋग्वैदिक युग में स्त्रियो को पर्याप्त सम्मान मिला। गृहिणी घर की स्वामिनी हो जाती थी। स्त्रियो को उच्च शिक्षा प्राप्त करने तथा स्वतन्त्रत. पति-वरण करने की सुविधाएँ या अधिकार मिले हुए थे। ऋग्वैदिक काल मे सात्त्विक भोजन को महत्त्व दिया गया, परन्तु भोजन में मांस को भी स्थान दिया गया। सोमरस आर्यों का प्रिय पेय था। उस युग के व्यक्ति सूती वस्त्रो से परिचित थे तथा मृगचर्म एव वल्कल वस्त्रो को पहनने की प्रथा प्रचलित थी। ऋग्वैदिक काल की स्त्रियाँ रुक्म तथा निष्क नामक आभूषणो को धारण करती थी। आमोद-प्रमोद की दृष्टि से दुन्दुभि तथा कर्करी वाण जैसे वाद्य प्रचलित थे। तत्कालीन समाज में राज-व्यवस्था का भी अस्तित्व था। उस युग में राष्ट्रीयता की भावना भी विकसित हो चुकी थी। तत्कालीन समाज में कृषि, पशु पालन आदि कार्यों के साथ-साथ वस्त्र बनाना, चमडे का सामान तैयार करना, स्वर्णाभूषण बनाना आदि धन्धे भी प्रचलित थे। ऋग्वैदिक समाज चिकित्सा की विशेष सुविधाओ से लाभान्वित था। भौगोलिक ज्ञान की दृष्टि से उसे नदियो, पर्वतो तथा समुद्रो का ज्ञान था। ज्योतिष के क्षेत्र में भी तत्कालीन समाज आगे बढा हुआ था। उस युग की काव्य-कला का उत्कर्ष तो इस रूप में देखा जा सकता है कि 'पुरुष' या चैतन्य तत्त्व को सम्पूर्ण समाज के रूप में मानवीकृत किया गया।

अज्ञात तथा रहस्यमय शक्ति के प्रति ऋग्वैदिक ऋषियो की जिज्ञासापूर्ण धारणा यह सिद्ध कर देती है कि तत्कालीन समाज कोई आखेट युग नही था। वह युग हजारो वर्षो की सभ्यता और संस्कृति के विकास को स्पष्टत सूचित करता है।

उत्तर वैदिक संस्कृति—ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण व आरण्यक ग्रन्थ तथा उपनिषदो एव सूत्रग्रन्थो की रचना हुई। तीन सहस्र ई पू से लेकर 1000 ई तक का काल उत्तर वैदिक संस्कृति से जोडा जाता

1 ऋग्वेद, 10/90/1—16

है। यदि सूत्र ग्रन्थो का रचना काल 600 ई पू तक हुआ तो यह स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक सस्कृति की अपर सीमा 600 ई पू तक माननी पडेगी।

उत्तर वैदिक सस्कृति मे दार्शनिक अनुचिन्तन और भी विकसित हुआ। सम्पूर्ण समाज को गृहस्थ धर्म के रहस्यो से अवगत कराने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थो ने अभूतपूर्व कार्य किया। यज्ञ के क्षेत्र को इतना विस्तार दिया गया कि ईश्वर को भी यज्ञ का ही रूप सिद्ध कर दिया गया। यज्ञ के विधि-विधानो का सर्वाधिक विकास सूत्रकाल की देन है।

आरण्यक ग्रन्थो मे वानप्रस्थियो के कर्मो का विवेचन करके ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थाश्रम नामक दो आश्रमो के अतिरिक्त वानप्रस्थ आश्रम की सस्थापना कर दी गई। वानप्रस्थ के सन्दर्भ मे विचार करते समय यहाँ तक कह दिया गया कि ज्ञान का प्रसार करना वानप्रस्थियो के पर्यटन का मूल विषय है।

उपनिषदो के युग मे ब्रह्म चिन्तन चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ईश्वर का ही रूप माना जाने लगा। इस युग मे सन्यास आश्रम को भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अत ऋग्वैदिक युग के पश्चात् चारो आश्रमो को स्थान मिला। उत्तर वैदिक युग मे सस्कृति इतनी विकसित हुई कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा साहित्य पर आच्छादित हो गई। पठन-पाठन को इतना महत्त्व दिया गया कि गुरु तथा शिष्य के सम्बन्धो को पवित्र करने के साथ-साथ गुरु को ईश्वरीय ज्ञान का साक्षात् केन्द्र सिद्ध कर दिया। 'अधिकारीवाद' की परम्परा भी इस समय विकसित हो चुकी थी। अमरता की भावना का चरम विकास भी इसी युग की देन है।

उत्तर वैदिक युग मे देवताओ के स्वरूप में भी विकास हुआ। विष्णु को सूर्य देवता का रूप न मानकर एक स्वतन्त्र देव माना जाने लगा तथा रुद्र को शिव का साक्षात् स्वरूप स्वीकार किया जाने लगा। उत्तर वैदिक युग में वैवाहिक स्थिति भी परिवर्तित हुई। बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। महर्षि याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी तथा कात्यायनी नामक दो पत्नियाँ थी। मनु की अनेक पत्नियाँ थी। उत्तर वैदिक सस्कृति में शिक्षा की दृष्टि से कुछ उदारता अपनाई गई। वेद पढने के अधिकारी शूद्र भी माने गए तथा स्त्रियाँ भी। गाय को अवध्य माना गया तथा अहिंसा पर बल दिया गया। उत्तर वैदिक सस्कृति में जहाँ एक ओर कर्मकाण्ड का बोलबाला हुआ वहाँ दूसरी ओर आध्यात्म-चिन्तन भी विकसित हुआ।

वैदिक युगोत्तर सस्कृति—उत्तर वैदिक साहित्य का युग कम से कम 600 ई. पू तक चलता रहा। उसी समय रामायण नामक महाकाव्य का भी उदय हुआ। सूत्र ग्रन्थो मे महाभारत का उल्लेख है, अत 'जय' काव्य के रूप मे ही नही, अपितु महाभारत के रूप में भी 'महाभारत' नामक पौराणिक महाकाव्य 400 ई पू में ही उदित हो चुका था। पुराणो का प्राथमिक रूप भी उत्तर वैदिक युग में ही उदित हो गया था। अत वैदिक युगोत्तर सस्कृति का एक पक्ष महाकाव्यकालीन तथा प्रथम पौराणिक युगीन सस्कृति के रूप में है। वैदिक युगोत्तर सस्कृति में ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ही बौद्ध तथा जैन सस्कृतियो का भी उदय हुआ। इसलिए

वैदिक युगोत्तर सस्कृति दो रूपो में विकसित हुई। प्रथम को महाकाव्य तथा पौराणिक सस्कृति के रूप में तथा द्वितीय को बौद्ध तथा जैन सस्कृति के रूप में जाना जाता है। उक्त दोनो सस्कृति-भेदो का मूल रूप ईसा पूर्व 600 से लेकर ईसा पूर्व 400 तक स्वीकार किया जाता है।

महाकाव्यकालीन एव पौराणिक युगीन सस्कृति—रामायण तथा महाभारत नामक पौराणिक महाकाव्य क्रमश 600 ईसा पूर्व तथा 400 ईसा पूर्व तक वृहदाकारता को प्राप्त कर चुके थे। इसी अवधि में पुराणो का भी विकास होने लगा था। तत्कालीन समाज का सांस्कृतिक इतिहास विभिन्न रूपो में विकसित हुआ, जिसे यहाँ सक्षिप्तत प्रस्तुत किया जा रहा है।

रामायण काल में वैदिक सस्कृति के विकास के लिए एक सुदृढ राजनीतिक व्यवस्था की गई। केन्द्रीय शक्ति के निर्माण के लिए राजसूय तथा अश्वमेघ यज्ञ किए जाते थे। आर्य तथा राक्षस सस्कृति के टकराव के कारण केन्द्रीय शक्ति के निर्माण की महती आवश्यकता पर बल दिया गया। कर्म, भक्ति तथा ज्ञान मार्ग तीनो ही प्रधानता पा चुके थे। अवतारवाद की भावना भी विकसित हो चुकी थी। रामायण काल में आदर्श भ्रातृत्व को पारिवारिक तथा सामाजिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रबल प्रयास किया गया। एक नारी व्रत की प्रथा भी बहु-पत्नी रखने या बहु-विवाह प्रथा के विरोध में आदर्शता प्राप्त कर चुकी थी। राम का सीता के प्रति प्रेम एक पत्नी व्रत का ही उदाहरण है। वर्णाश्रम धर्म को जोरो से लागू रखने का भी समर्थन किया गया। तत्कालीन समाज में आर्थिक, धार्मिक एव राजनीतिक दृष्टियो से भी आदर्शता को प्रधानता दी गई। मूलत रामायण युगीन सस्कृति का प्राण धर्म था।

महाभारत काल में सस्कृति का प्राण धर्म न रहकर राष्ट्र कर्म बन गया। महाभारतकाल के चरित्र नायक श्री कृष्ण राष्ट्र कर्म की भावना से ओत-प्रोत होकर ही तानाशाही के विरोध में सघर्षरत रहे। राजा लोग बहु-विवाह को राजनीतिक महत्त्व देते रहे। केन्द्रीय शक्ति के निर्माण के लिए राजसूय यज्ञ की परम्परा पूर्ववत् विकसित रही। स्त्रियो के प्रति किंचित् उदार दृष्टिकोण होने पर भी स्त्रियो का शोषण होता रहा। आध्यात्म विद्या प्राप्त करने का अधिकार स्त्रियो तथा शूद्रो को भी था। महाभारत काल में अवतारवाद की भावना प्रबलता प्राप्त करती चली गई। वर्ण-धर्म को सुविस्तृत रूप देने तथा आश्रम-धर्म को अतिशय नियमबद्ध करने का श्रेय भी महाभारत युग को ही है। 400 ईसा पूर्व के महाभारत में नास्तिकता को आडे हाथो लेकर आस्तिकता का पूर्ण समर्थन किया गया।

अठारह पुराणो का मूल रूप 400 ईसा पूर्व मे ही बन चुका था। पुराणो मे अवतारवाद को इतना प्रबल स्वरूप प्रदान किया गया कि भक्ति मार्ग को कर्म तथा ज्ञान मार्ग की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक एव लोकप्रिय स्वरूप प्रदान किया गया। वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था का पुरजोर समर्थन किया गया। भक्ति योग को इतना व्यापक बना दिया गया कि ज्ञानमार्गी शकर तथा कर्मयोगी विष्णु को आदिशक्ति

का स्वरूप देकर शैव एव वैष्णव सम्प्रदायो का प्रचलन हो गया। पुराण-प्रभावित समाज मे सस्कृति को मुख्यत पुरुष को दृष्टिगत रखकर ही प्रस्तुत किया गया। स्त्री को पराधीन रखने की परम्परा का सूत्रपात पुराण-युग मे ही हुआ। पौराणिक युग मे वैदिक युगीन गूढ तत्त्वो का लौकिक धरातल पर इतना विस्तार हुआ कि सम्पूर्ण समाज को कर्मकाण्ड तथा भक्ति-प्रपच मे बाँध दिया गया। सांस्कृतिक विकास के लिए राजनीतिक केन्द्रीयकरण तथा आर्थिक उत्थान को अत्यन्त आवश्यक माना गया। राजकुलो मे विवाह-प्रथा स्वयवर पर आधारित रही। पुराणो के वशानुचरित से यह स्पष्ट है कि पुराण-युग मे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्गो की ही प्रधानता रही। मूर्ति-पूजा के विकास का श्रेय भी पौराणिक युग को है।

यथार्थत रामायण तथा महाभारतकाल मे जो सांस्कृतिक विकास हुआ, उस पर भी पौराणिक सस्कृति की स्पष्ट छाया अकित रही। इसीलिए रामायण तथा महाभारत को पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। महाकाव्य-युगीन तथा पौराणिक-युगीन सस्कृति एक सुदीर्घ परम्परा मे विकसित होने के कारण विविध मुखी है। पौराणिक युगीन तथा महाकाव्यकालीन सस्कृति के विकास मे काव्यात्मक कल्पनाओ का जो योगदान रहा, उन्ही के फलस्वरूप ईश्वर के असाधारण रूपो का विकास हुआ।

बौद्ध तथा जैन युगीन सस्कृति—ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे ब्राह्मणवाद के विरोध मे गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी के सरक्षण मे क्रमश बौद्ध तथा जैन नामक अनीश्वरवादी सस्कृतियो का विकास हुआ। ईश्वरवादिता को आधार बनाकर अनेक आडम्बरो का विकास हो चला था तथा जाति-पाँति के बन्धन अत्यधिक जटिल बन चुके थे। अत सिद्धार्थ तथा वर्धमान ने राजघरानो का त्याग करके 'बोधि' एव 'केवल ज्ञान' को प्राप्त करके क्रमश बौद्ध तथा जैन सस्कृति एव धर्म का सूत्रपात किया। तत्कालीन राजाओ के सरक्षण मे बौद्ध एव जैन धर्म पर्याप्त विकसित हुए। ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर 400 ईसा पूर्व तक बौद्ध तथा जैन सस्कृतियाँ भारतवर्ष मे अपने पैर पूरी तरह से जमा चुकी थी।

बौद्ध सस्कृति के विकास मे बौद्ध धर्म के साहित्य का विशिष्ट महत्त्व है। बौद्ध धर्म का प्रतिष्ठित ग्रन्थ 'धम्मपद' बौद्ध सस्कृति के नैतिक मूल्यो को उजागर करने हेतु एक अद्वितीय आधार है। गौतम बुद्ध ने चार आर्य सत्यो को प्रतिपादित किया—1 दुख है, 2 दुख का कारण है, 3 दुख से मुक्ति सम्भव है तथा 4 दुख से मुक्ति के उपाय हैं। दुख की सिद्धि के लिए पाँच उपादान—विज्ञान, रूप, वेदना, सज्ञा तथा सस्कार को प्रतिपादित किया गया है। दुख का मूल तृष्णा को बताया गया। दुख से मुक्ति की सम्भावना तृष्णा-त्याग के रूप मे की गई। चौथे आर्य सत्य को साकार करने के लिए अष्टांगिक योग मार्ग को प्रतिपादित किया गया। अष्टांग योग मे सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि को स्थान दिया गया। बौद्ध सस्कृति मे जीव को विज्ञान-प्रवृत्तियो का सग्रह बताया गया तथा ससार

को स्वभाव या प्रकृति की रचना। इसी कारण से किसी स्थिर तत्त्व को स्वीकार न करके क्षणिकवाद को महत्त्व देकर दुःख, त्याग तथा वैराग्य नामक तत्त्वों को सांस्कृतिक इतिहास में उजागर कर दिया। बौद्ध धर्म व दर्शन में 'निर्वाण' को व्यक्ति की मुक्ति का स्वरूप स्वीकार किया गया। सभी जीवधारियों के प्रति करुणा या सहानुभूति ही बौद्ध संस्कृति की महत्त्वपूर्ण देन है।

जैन संस्कृति छठी शताब्दी ईसा पूर्व में प्रारम्भ होती है। महावीर या वर्धमान तथा अन्य तीर्थंकरों की विचारधारा को 'आचारांग सूत्र' जैसे धर्म ग्रन्थों में प्रस्तुत किया गया है। जैन संस्कृति में बौद्ध संस्कृति की भाँति अनीश्वरवाद को माना गया है। परन्तु जैन दर्शन जीवात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके कैवल्य की स्थिति में उसकी मुक्ति मानकर भी उसकी समाप्ति को स्वीकार नहीं करता। जैन संस्कृति में जीव को चतुर्दश गुणों से विभूषित बताया गया है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र को 'त्रिरत्न' के नाम से पुकारा गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को 'पंच अणुव्रत' के नाम से अभिहित किया गया है। दिशाओं में मर्यादागत भ्रमण, प्रयोजनहीन या पाप-उत्पादक वस्तुओं का परित्याग तथा भोग्य पदार्थों की मात्रा को सीमित करना नामक तीन व्रतों को 'त्रिगुण व्रत' नाम दिया गया। पौराणिक धर्म लक्षणों के समान्तर दश धर्म लक्षणों को भी स्वीकार किया गया। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम मार्जव, उत्तम शौच उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम आकिंचन, उत्तम ब्रह्मचर्य तथा उत्तम त्याग नामक दश धर्म-लक्षण हैं। अहिंसा को प्रबलतम रूप में प्रस्तुत करना जैन संस्कृति की विश्व को महानतम देन है।

बौद्ध तथा जैन संस्कृति कर्मकाण्ड का विरोध करने के लिए विकसित हुई। जाति-पाँति के भेदभाव को दूर करने के लिए सम्पूर्ण मानव समाज को मानव-जाति का ही प्रसार बताया गया। रहस्यपूर्ण ईश्वर जैसे तत्त्व का निषेध करके प्रत्यक्ष सम्यक् कर्मवादी दृष्टिकोण का प्रसार करके भारतीय संस्कृति में अनेकान्तवाद-स्याद्वाद नामक एक नया अध्याय जोड़ा गया।

भारत का औपनिवेशिक एवं सांस्कृतिक विस्तार—भारतवर्ष की जो राजनीतिक शक्तियाँ भारत से बाहर शासन स्थापित कर सकीं तथा अपनी शाखा विशेषों को बाहर ही राज्य करने दिया, उसी स्थिति एवं प्रवृत्ति को 'उपनिवेशवाद' कहा गया। प्रकृति प्रेमी तथा पर्यटन प्रिय आर्यों को अपनी संस्कृति का प्रसार करने का राजनीतिक महत्त्व भी जान पड़ा। इसलिए वैदिक युग में जहाँ तक पृथ्वी तथा द्युलोक का विस्तार है, वहीं तक सभी प्राणियों के हित की कामना की गई। इसी सांस्कृतिक उदारता ने अनुकूल परिस्थिति पाकर भारतीय संस्कृति को विश्व-व्यापक बना दिया।

ऋग्वैदिक संस्कृति देव, आर्य तथा आर्येत्तर जातियों की संस्कृति का समन्वित रूप है। निरन्तर संघर्षरत रहने वाले आर्यों ने विरक्ति का अनुभव किया तथा उत्तर वैदिक युग से सम्पूर्ण विश्व के वातावरण को शान्तिपूर्ण देखने की कामना

की ।[1] संस्कृति के प्रचार-प्रसार की प्रवृत्ति वैदिक युग से ही विकसित थी, इसलिए वैदिक संस्कृति का सर्वाधिक विकास हुआ। प्रचार की इसी प्रवृत्ति को बौद्धों तथा जैनों ने भी अपनाया।

लंका में बौद्ध संस्कृति को प्रचारित करने का सर्वाधिक श्रेय तीसरी शताब्दी ई० पू० में सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र तथा उसकी पुत्री संघमित्रा को है। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि हिन्द एशिया के देशों में अशोक के शासन-काल से ही संस्कृति का प्रचार प्रारम्भ हो गया। शकारि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र पर अधिकार करके वहाँ के कबीलों और मुखियों को हिन्द एशिया के द्वीप-समूहों में बसने के लिए बाध्य करके भारतीय संस्कृति के प्रसार में सहायता प्रदान की। बौद्ध भिक्षुओं ने दुर्गम यात्राएँ करके चीन, तिब्बत तथा नेपाल में बौद्ध संस्कृति का प्रचार किया। शिव नामक देवता की पूजा पश्चिमी एशिया के देशों में ही नहीं, अपितु अफ्रीका महाद्वीप तक में होती रही है, ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं। प्राचीनकाल में खुरासान, ईरान, ईराक, मासुल तथा सीरिया की सीमा तक बौद्ध धर्म का प्रचार था। प्राचीन युग में अफगानिस्तान को गन्धर्वदेश, बर्मा को ब्रह्म देश, जावा को यवद्वीप, सुमात्रा को सुवर्ण द्वीप कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति वृहत्तर भारत नामक राष्ट्र के स्वरूप को उजागर करके प्रतिष्ठित थी। सीरिया में 17 से 22 फीट ऊँची देव मूर्तियों की प्रतिष्ठापना यही सिद्ध करती है कि पश्चिमी एशिया में भारतीय संस्कृति प्रचलित थी। मध्य एशिया में भारत के प्रमुख उपनिवेश काशगर, यारकन्द, खुतन आदि में विद्यमान थे। प्राचीन भारत के साहित्य को चीनी, अरबी, फारसी आदि भाषाओं में अनूदित करके विदेशों में भारतीय संस्कृति को अपनाया गया।

भारतीय संस्कृति के प्रचार और प्रसार के प्रमाण भारतीय कला के अवशेषों के रूप में विदेशों में विद्यमान हैं। मध्य एशिया में भारतीय मूर्तिकला तथा वास्तुकला के उदाहरण फरात के ऊपरी भाग में बड़ी-बड़ी देवमूर्तियों तथा देव मन्दिरों के रूप में प्राप्त हुए हैं। भारतीय संस्कृति का समन्वयवादी दृष्टिकोण संस्कृति के प्रचार-प्रसार में विशेष सहायक हुआ। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि भारतीय संस्कृति पर विदेशी संस्कृतियों का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है, जिसके फलस्वरूप समन्वयवादी धारणा और भी व्यापक बनी। विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप यूनानी, हूण, शक, तुर्क आदि जातियों की संस्कृति का थोड़ा-बहुत प्रभाव भारतीय संस्कृति के ऊपर अवश्यमेव पड़ा है।

---

1 यजुर्वेद, 36/18

2 वैदिक साहित्य

(Vedic Literature)

वेद ससार का प्राचीनतम साहित्य है। 'वेद' शब्द ज्ञानार्थक 'विद्' धातु मे 'घञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका मे 'वेद' शब्द का स्पष्टीकरण निम्न रूप से किया है—
"विन्दन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति अथवा विदन्ते, लभन्ते विन्दन्ति विचारयन्ति, सर्वे मनुष्य सत्यविद्या मैर्येषु वा तथा विद्वामश्च भवन्ति ते वेदा ।"
अत वेद का मूल रूप निम्न है—

1 वेद सत्यविद्या है, 2 वेद ज्ञानियो का विषय है तथा 3 वेद सभी मनुष्यो के लिए उपयोगी हैं।

उपर्युक्त तीनो तथ्य जिस साहित्य मे परिपक्व रूप मे प्राप्त किए गए, पुराने आचार्यों ने उसी साहित्य को वैदिक साहित्य के नाम से अभिहित किया। हमे यहाँ यह विस्मृत नही करना चाहिए कि वैदिक साहित्य मे वैदिक सस्कृत भाषा ही दृष्टव्य है। अत इन्ही कतिपय गिने-चुने आधारो को लेकर वैदिक साहित्य को अधोलिखित रूपो मे विकसित किया गया है—

1 सहिता-साहित्य, 2 ब्राह्मण साहित्य,
3 आरण्यक साहित्य, 4 उपनिषद् साहित्य।

वेदों का रचना-काल—वैदिक साहित्य के विवेचन से पूर्व उसके रचना-काल के सन्दर्भ मे जान लेना आवश्यक है। यद्यपि वेदो के प्रणयन के विषय मे इदमित्थम् कुछ नही कहा जा सकता, तथापि कुछ मान्यताओ पर प्रकाश डालकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। वेदो के रचना-काल को निर्धारित करने के लिए प्रमुख मत निम्न हैं—

वेदो का अपौरुषेयत्व—भारतीय मत के आधार पर वेद ईश्वरीय कृति हैं—ईश्वरकृत है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त मे भी इसी मत की पुष्टि दृष्टव्य है

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ऋग्वेद, 10/90/9

मनुस्मृति मे ईश्वर द्वारा वेदो का ज्ञान अग्नि, वायु, सूर्य तथा अङ्गिरा को दिए जाने का वर्णन है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु सामलक्षणम् ।। मनुस्मृति, 1/23
अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरस कवि ।। वही 2/151

महर्षि दयानन्द ने वेदो को ईश्वरकृत मानकर उन्हे उतना ही प्राचीन सिद्ध किया है, जितनी कि यह सृष्टि प्राचीन है। उनके अनुसार ईश्वर ने मनुष्यो के कल्याणार्थ वेद को ऋषियो के हृदय मे प्रकाशित किया था। 'सत्यार्थ प्रकाश' मे इसका युक्तियुक्त प्रतिपादन किया गया है।

मैक्समूलर का मत—मैक्समूलर का सिद्धान्त विकासवादी है। उसने वैदिक साहित्य को चार भागो–छन्द, मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र मे वर्गीकृत किया है। वे अपने मत को सिद्ध करने के लिए यह मान कर चले है कि गौतम बुद्ध के उद्भव के समय वैदिक साहित्य लिखा जा चुका था। अत वैदिक साहित्य 600 ई पू प्रणीत हो चुका था। यदि सूत्रो की रचना 600 ई पू स्वीकार किया जाए तो उससे 200 वर्ष पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थो की रचना हो चुकी होगी। अत ब्राह्मण, आरण्यको तथा उपनिषदो का रचना-काल 800 ई पू निर्धारित किया जा सकता है। मैक्समूलर ने वेदो को मन्त्र तथा छन्द नामक दो भागो मे विभाजित करके दोनो के विकास के लिए क्रमश दो-दो सौ वर्षो का समय देकर यह सिद्ध किया है कि वेदो का रचना-काल 1200 ई पू से लेकर 1000 ई पू तक स्वीकार किया है। मैक्समूलर का मत केवल अनुमान पर आधारित है।

कुछ अन्य मत—मैक्डोनल ने भाषा-विज्ञान के आधार पर वेदो की रचनावधि 1300 ई पू स्वीकार की है। डॉ आर जी भण्डारकर ने यजुर्वेद के 40वें अध्याय मे प्रयुक्त 'असूर्या' शब्द को लेकर वेदो का सम्बन्ध असीरिया (मेसोपोटामिया) से जोडा है। इतिहास के अनुसार असीरिया के असुर 2500 ई पू भारत मे आए थे। अत यजुर्वेद से पूर्व रचित तथा विकसित ऋग्वेद का रचनाकाल 6000 ई पू रहा होगा। जर्मनी के विद्वान् जैकोबी तथा भारतीय विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ऋग्वेद का रचना-काल क्रमश 4500 ई पू तथा 6500 ई पू सिद्ध किया है। उक्त दोनो विद्वानो के मतो का आधार ज्योतिषी गणना है। नारायणराव भवनराव पावगी ने भूगर्भशास्त्र के आधार पर ऋग्वेद का रचना-काल 9000 ई पू स्वीकार किया है। कुछ सनातनी विद्वानो ने वेदो का रचना काल लाखो वर्ष पुराना माना है।

वस्तुत वेद सभी मानवो के कल्याण हेतु रचे गए है। जिस व्यक्ति का हृदय समस्त समाज के कल्याण के लिए चिंतन मनन करके ज्ञान की अभिव्यक्ति करता है, वही वेद-रचना है। गीता मे कहा गया है कि सिद्ध पुरुष के हृदय मे सम्पूर्ण मानव-समाज प्रतिबिम्बित हो जाता है तथा समस्त मानव-समाज मे वह सिद्ध पुरुष चरित्रत प्रतिबिम्बित होने लगता है। अत वह सिद्ध पुरुष सर्वत्र समदर्शी होने के कारण ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है—

सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शन ।। गीता, 6/29

ऐसा ईश्वर-स्वरूप व्यक्ति जब अपने अनुभूत ज्ञान की अभिव्यक्ति करता है तो वह ज्ञान-रचना सर्वजीवहिताय होती है । हमारे यहाँ इसीलिए वेदो को ईश्वरकृत कहा गया है ।

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त मे 'पुरुष' शब्द चेतना का वाचक है । ज्ञान का सम्बन्ध अन्तश्चेतना से ही है । अत 'ऋषियो मन्त्रद्रष्टार' जैसी उक्तियो के आधार पर यह स्वत सिद्ध हो जाता है कि वेद ऋषियो की अन्तश्चेतना से व्यक्त हुए हैं । इसलिए उन्हे 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—अर्थात् ईश्वर का ज्ञाता ईश्वर ही हो जाता है, जैसे सिद्धान्तो के आधार पर वेद पुरुषो की रचना न होकर अपौरुषेयत्व प्राप्त सिद्ध पुरुषो किंवा ऋषियो की रचना है । वेदो के अवलोकन से भी यही बात सुस्पष्ट है । वेदो का अनुशीलन करने पर वेद के प्रणेताओ के निर्धारण हेतु निम्नलिखित तथ्य ध्यान देने योग्य हैं—

1 वेदो की सूक्त-विभाजन विभिन्न ऋषियो के नामो की स्पष्ट सूचना देता है । वेदो मे वशिष्ट, विश्वामित्र, जमदग्नि जैसे मन्त्रदृष्टाओ का स्पष्ट उल्लेख है ।

2 वेदो की भाषा वैदिक सस्कृत है । वैदिक सस्कृत मे शब्दो के रूप अनेक प्रकार के पाए जाते हैं । इसका ज्वलन्त प्रमाण यास्कीय निरुक्त है जो यह सिद्ध कर देता है कि वेद विभिन्न युगो के अनेक ऋषियो द्वारा रचित हैं ।

3 वेदो के अन्तिम भाग वेदान्त या उपनिषद् के रूप मे प्रसिद्ध हैं । उपनिषदो मे निवृत्तिमार्ग की प्रधानता है तथा वेदो मे प्रवृत्तिमार्ग की । अत निवृत्ति-मार्गी द्रविडो तथा प्रवृत्तिमार्गी आर्यों के योग से ही वेदो की रचना हुई है । इस आधार पर विभिन्न सस्कृतियो के विभिन्न ऋषियो की सूचना स्वत मिल जाती है ।

4 वेदो की रूपक शैली[1] भी यह स्पष्ट करती है कि वेदो मे इन्द्र एक प्रतापशाली देवता भी है तथा वह एक राजा भी है । 'इन्द्र' एक उपाधि[2] है । अत ऐसे राजवशो मे अनेक राजकवियो का होना स्वत सिद्ध है । अत वेदो के प्रणेता अनेक युगो के अनेक कवि ही हैं ।

5 वेदो की रचनावधि प्रागैतिहासिक ही मानी गई है । इतिहास पूर्व काल वैदिक सस्कृत भाषा का ही युग था । अत उस समय के क्रान्तदर्शी विद्वानो—अर्थात् कवियो ने समसामयिक भाषा मे ही काव्य-रचना की । प्रत्येक कवि अपने समय की भाषा मे ही साहित्य-सर्जन करता है । इसलिए वेद भी तत्कालीन कवियो द्वारा वैदिक सस्कृत मे ही रचे गए, अत वे इन सिद्ध कवियो के ही उद्गार हैं ।

6 सत्य-विद्या सहज ज्ञान का विषय होने के कारण ईश्वरकृत ही मानी जाती है । इसीलिए तो 'वेद' को ब्रह्म वाक्य, 'होली बाइबिल' को वर्डस् ऑफ गॉड

1 देखिए, आचार्य बलदेव उपाध्यायकृत पुराण विमर्श की भूमिका
2 वाचस्पति गैरोला सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ 229 के आधार पर

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रय ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजु सामलक्षणम् ।। मनुस्मृति, 1/23
अध्यापयामास पितृक् शिशुराङ्गिरस कवि ।। वही 2/151

महर्षि दयानन्द ने वेदो को ईश्वरकृत मानकर उन्हे उतना ही प्राचीन सिद्ध किया है, जितनी कि यह सृष्टि प्राचीन है। उनके अनुसार ईश्वर ने मनुष्यो के कल्याणार्थ वेद को ऋषियो के हृदय मे प्रकाशित किया था। 'सत्यार्थ प्रकाश' मे इसका युक्तियुक्त प्रतिपादन किया गया है।

मैक्समूलर का मत—मैक्समूलर का सिद्धान्त विकासवादी है। उसने वैदिक साहित्य को चार भागो—छन्द, मन्त्र, ब्राह्मण और सूत्र मे वर्गीकृत किया है। वे अपने मत को सिद्ध करने के लिए यह मान कर चले है कि गौतम बुद्ध के उद्भव के समय वैदिक साहित्य लिखा जा चुका था। अत वैदिक साहित्य 600 ई पू प्रणीत हो चुका था। यदि सूत्रो की रचना 600 ई पू स्वीकार किया जाए तो उससे 200 वर्ष पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थो की रचना हो चुकी होगी। अत ब्राह्मण, आरण्यको तथा उपनिषदो का रचना-काल 800 ई पू निर्धारित किया जा सकता है। मैक्समूलर ने वेदो को मन्त्र तथा छन्द नामक दो भागो मे विभाजित करके दोनो के विकास के लिए क्रमश दो-दो सौ वर्षो का समय देकर यह सिद्ध किया है कि वेदो का रचना-काल 1200 ई पू से लेकर 1000 ई पू तक स्वीकार किया है। मैक्समूलर का मत केवल अनुमान पर आधारित है।

कुछ अन्य मत—मैक्डोनल ने भाषा-विज्ञान के आधार पर वेदो की रचनावधि 1300 ई पू स्वीकार की है। डॉ आर जी भण्डारकर ने यजुर्वेद के 40वें अध्याय मे प्रयुक्त 'असूर्न' शब्द को लेकर वेदो का सम्बन्ध असीरिया (मेसोपोटामिया) से जोडा है। इतिहास के अनुसार असीरिया के असुर 2500 ई पू भारत मे आए थे। अत यजुर्वेद से पूर्व रचित तथा विकसित ऋग्वेद का रचनाकाल 6000 ई पू रहा होगा। जर्मनी के विद्वान् जैकोबी तथा भारतीय विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ऋग्वेद का रचना-काल क्रमश 4500 ई पू तथा 6500 ई पू सिद्ध किया है। उक्त दोनो विद्वानो के मतो का आधार ज्योतिषी गणना है। नारायणराव भवनराव पावगी ने भूगर्भशास्त्र के आधार पर ऋग्वेद का रचना-काल 9000 ई पू स्वीकार किया है। कुछ सनातनी विद्वानो ने वेदो का रचना काल लाखो वर्ष पुराना माना है।

वस्तुत वेद सभी मानवो के कल्याण हेतु रचे गए है। जिस व्यक्ति का हृदय समस्त समाज के कल्याण के लिए चिन्तन मनन करके ज्ञान की अभिव्यक्ति करता है, वही वेद-रचना है। गीता मे कहा गया है कि सिद्ध पुरुष के हृदय मे सम्पूर्ण मानव-समाज प्रतिबिम्बित हो जाता है तथा समस्त मानव-समाज मे वह सिद्ध पुरुष चरित्रगत प्रतिबिम्बित होने लगता है। अत वह सिद्ध पुरुष सर्वत्र समदर्शी होने के कारण ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ॥ गीता, 6/29

ऐसा ईश्वर-स्वरूप व्यक्ति जब अपने अनुभूत ज्ञान की अभिव्यक्ति करता है तो वह ज्ञान-रचना सर्वजीवहिताय होती है । हमारे यहाँ इसीलिए वेदो को ईश्वरकृत कहा गया है ।

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त मे 'पुरुष' शब्द चेतना का वाचक है । ज्ञान का सम्बन्ध अन्तश्चेतना से ही है । अत 'ऋषियो मन्त्रद्रष्टार' जैसी उक्तियो के आधार पर यह स्वत सिद्ध हो जाता है कि वेद ऋषियो की अन्तश्चेतना से व्यक्त हुए हैं । इसलिए उन्हे 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—अर्थात् ईश्वर का ज्ञाता ईश्वर ही हो जाता है, जैसे सिद्धान्तो के आधार पर वेद पुरुषो की रचना न होकर अपौरुषेयत्व प्राप्त सिद्ध पुरुषो किंवा ऋषियो की रचना है । वेदो के अवलोकन से भी यही बात सुस्पष्ट है । वेदो का अनुशीलन करने पर वेद के प्रणेताओ के निर्धारण हेतु निम्नलिखित तथ्य ध्यान देने योग्य हैं—

1 वेदो की सूक्त-विभाजन विभिन्न ऋषियो के नामो की स्पष्ट सूचना देता है । वेदो मे वशिष्ट, विश्वामित्र, जमदग्नि जैसे मन्त्रदृष्टाओ का स्पष्ट उल्लेख है ।

2 वेदो की भाषा वैदिक सस्कृत है । वैदिक सस्कृत मे शब्दो के रूप अनेक प्रकार के पाए जाते हैं । इसका ज्वलन्त प्रमाण यास्कीय निरुक्त है जो यह सिद्ध कर देता है कि वेद विभिन्न युगो के अनेक ऋषियो द्वारा रचित है ।

3 वेदो के अन्तिम भाग वेदान्त या उपनिषद् के रूप मे प्रसिद्ध हैं । उपनिषदो मे निवृत्तिमार्ग की प्रधानता है तथा वेदो मे प्रवृत्तिमार्ग की । अत निवृत्ति-मार्गी द्रविडो तथा प्रवृत्तिमार्गी आर्यों के योग से ही वेदो की रचना हुई है । इस आधार पर विभिन्न सस्कृतियो के विभिन्न ऋषियो की सूचना स्वत मिल जाती है ।

4 वेदो की रूपक शैली[1] भी यह स्पष्ट करती है कि वेदो मे इन्द्र एक प्रतापशाली देवता भी है तथा वह एक राजा भी है । 'इन्द्र' एक उपाधि[2] है । अत ऐसे राजवशो मे अनेक राजकवियो का होना स्वत सिद्ध है । अत वेदो के प्रणेता अनेक युगो के अनेक कवि ही है ।

5 वेदो की रचनावधि प्रागैतिहासिक ही मानी गई है । इतिहास पूर्व काल वैदिक सस्कृत भाषा का ही युग था । अत उस समय के कान्तदर्शी विद्वानो—अर्थात् कवियो ने समसामयिक भाषा मे ही काव्य-रचना की । प्रत्येक कवि अपने समय की भाषा मे ही साहित्य-सर्जन करता है । इसलिए वेद भी तत्कालीन कवियो द्वारा वैदिक सस्कृत मे ही रचे गए, अत वे इन सिद्ध कवियो के ही उद्गार हैं ।

6 सत्य-विद्या सहज ज्ञान का विषय होने के कारण ईश्वरकृत ही मानी जाती है । इसीलिए तो 'वेद' को ब्रह्म वाक्य, 'होली बाइबिल' को वर्डस् ऑफ गॉड

1 देखिए, आचार्य बलदेव उपाध्यायकृत पुराण विमर्श की भूमिका
2 वाचस्पति गैरोला सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ 229 के आधार पर

तथा 'कुरान शरीफ' को कलामुल्लाह माना जाता है। सत्य और अनन्त ज्ञान ही ब्रह्म है—'सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म' (तैतिरीयोपनिषद्)। अत जब प्रथम शताब्दी पूर्व तथा छठी शताब्दी मे प्रचलित क्रमश ईसाई एव इस्लाम धर्मों के मूल धर्म ग्रन्थ ईश्वरकृत कहे जा सकते है तो 'वेद' को ब्रह्मकृत कहना स्वाभाविक और तर्क नगत है। परन्तु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म ग्रन्थ महापुरुषो द्वारा विभिन्न परिवेशो को दृष्टिगत रखकर ही प्रणीत किए गए है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'वेद' अनेक क्रान्तदर्शी विद्वानो की ईश्वरीय प्रतिभा की अभिव्यक्ति हैं। ये विद्वान् विभिन्न युगो मे अपने नाम की-यश की परवाह किए बिना जन-कल्याणार्थ सहज ज्ञान को वेद के रूप मे अभिव्यक्त करते रहे। वस्तुत 'वेद' सहज ज्ञान या सत्य विद्या के रूप मे होकर भी रस-साहित्य है और रस अभिव्यक्ति होने के कारण अनिर्वचनीय और ब्रह्मानन्द सहोदर होता है—

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्दचिन्मय ।
वेदान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मानन्द सहोदर ॥ —साहित्य दर्पण

अत अब 'वेद' की अभिव्यक्ति का ईश्वरकृत कहने का मर्म मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ मे स्वत स्पष्ट हो गया। अब हम वेदो की रचनावधि की सक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।

वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ वेदो का रचना-काल गौतम बुद्ध के जन्म से पूर्व ही स्वीकार करते है। वस्तुत आधुनिक खोजो के आधार पर पृथ्वी की रचना का इतिहास अरबो वर्ष पुराना सिद्ध किया जा रहा है और साथ ही साथ ज्योतिष के आधार पर जैकोबी तथा लोकमान्य तिलक जैसे विद्वानो ने 'वेद' का रचना-काल 4500 ई पू तथा 6500 ई पू तक सिद्ध किया है, तो ऐसा अनुमान करना स्वाभाविक हो जाता है कि आर्यो और द्रविडो के समन्वय के उपरान्त वेदो को सगृहीत करके सहिताओ के रूप मे प्रस्तुत किया गया होगा। आर्यों और द्रविडो का समन्वय एशिया माइनर मे प्राप्त 1400 ई पू के शिलालेखो से स्पष्ट है। यथार्थत यह समन्वय-साधन तथा वेद मन्त्रो का सग्रहण किसी अल्पावधि की देन नही कहा जा सकता। अत वेद सहिताओ का प्रणयन-काल कम-से-कम 2000 ई पू. समझना चाहिए। 'सिन्धु' शब्द का भाषा वैज्ञानिक विवेचन करने पर पता चलता है कि यह शब्द वैदिक सस्कृत मे द्रविड अथवा ऑस्ट्रिक जातियो के भाषा-भाषी लोगो की भाषा का है।[1] तब तो हमे यह स्वीकार करना ही चाहिए कि प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर अग्रसर होने वाले द्रविड वैदिक सस्कृत के पूर्व काल मे भी सहज ज्ञान से सम्बद्ध 'वेद' को अपनी भाषा मे व्यक्त करते होगे। (अत वेद रचना कब से प्रारम्भ हुई, इसका निर्धारण उसी भाँति अनिर्वचनीय है, जिस प्रकार कि प्रथम सृष्टि का निर्धारण अकथ्य और अनिर्वचनीय है।)

1 डॉ भोलानाथ तिवाडी हिन्दी भाषा, हिन्दी की व्युत्पत्ति (प्रकरण)

संहिता
(Samhita)

वेद की चार संहिताएँ विश्व-विदित है। ऋग्वेद संहिता वेद की प्राचीनतम संहिता स्वीकार की गई है। अन्य तीन संहिताएँ—यजुर्वेद, समावेद तथा अथर्ववेद है। उक्त संहिताओं पर विचार करने से पूर्व हमे 'संहिता' शब्द पर विचार कर लेना चाहिए। आचार्य पाणिनि ने संहिता के सन्दर्भ मे लिखा है—'पर सन्निकर्ष संहिता।'[1]—अर्थात् जिसमे पदो के अन्त का दूसरे पदो के आदि से मिलान किया जाता है, उसे संहिता कहते हैं। कुछ विद्वान् पदो की मूल प्रकृति[2] को ही 'संहिता' के नाम से पुकारते हैं। वस्तुत विभिन्न मन्त्रो का युक्ति-युक्त संग्रह ही संहिता है। सूक्तो, अध्यायो, काण्डो अथवा वर्गो मे विभाजित मन्त्रो का संकलन ही संहिता है। पहले लेखन-पद्धति का विकास न होने के कारण विभिन्न सूक्त या मन्त्र-समूह बिखरे हुए ही थे। कालान्तर मे ऐसे मन्त्रो को यथाक्रम संगृहीत किया गया तथा संग्रह करने के कारण उन्हें संहिता नाम दिया गया।

1. ऋग्वेद-संहिता

'ऋच्' का अर्थ है—पद्य अथवा मन्त्र। व्युत्पत्ति के आधार पर 'ऋच्' स्तवन का मननीयकरण—है आधार है—ऋच्यते स्तूयते अनया इति ऋच्। अत 'ऋच्' मन्त्र का पर्याय है। 'मन्त्र' शब्द 'मन्' धातु मे 'ष्ट्रन' प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न हुआ है। 'मन्त्र' शब्द के स्पष्टीकरणार्थ महर्षि दयानन्द ने लिखा है—मन्यते (विचार्यंते) ईश्वरादेशो येन स मन्त्र अर्थात् जिसके माध्यम से ईशाज्ञा का ज्ञान होता है, वही मन्त्र है। मन्त्र का अर्थ है गुह्य या रहस्यमय कथन। सामान्यत किसी देवता की स्तुति या प्रशंसा मे प्रयुक्त होने वाले अर्थ का स्मरण कराने वाले पद्यमय वाक्य को मन्त्र कहते हैं। ऋग्वेद-संहिता मन्त्रो या ऋचाओं का संग्रह है।

यह समस्त वैदिक साहित्य विश्व का प्राचीनतम साहित्य है और ऋच्-संहिता अथवा ऋग्वेद इस साहित्य का सबसे प्राचीन, विशाल एवं सर्वमान्य ग्रन्थ। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की सम्पूर्ण प्रेरणा इसी से मिलती है। भारतीय आर्यों ने अपने जीवन के प्रभाव मे किस प्रकार समाज का विकास किया, धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, कला और साहित्य की क्या प्रगति की और उसके द्वारा मानव-हित मे क्या योगदान दिया, इन सबका मूल स्रोत एकमात्र यही पुस्तक है। इसमे न केवल हमारे समाज की सांस्कृतिक निधि सुरक्षित है, अपितु मानवता के विकास के इतिहास मे भी इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। इस प्राचीनतम ग्रन्थ मे सहस्त्रो वर्षों का जो इतिहास भरा पड़ा है और ज्ञान की जो अखण्ड ज्योति जगमगा रही है वह मानवमात्र को कल्याण-पथ पर अग्रसर करने के लिए आज भी आवश्यक है। इसी से मैक्समूलर ने इसके सम्बन्ध मे कहा था—

1 अष्टाध्यायी, 1/4/109
2 'पदप्रकृति संहिता' —ऋक्प्रातिशाख्य

यावत् स्थास्यन्ति गिरय सरितश्च महीतले ।
तावदृग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

अर्थात् जब तक इस भूतल पर नदियाँ और पर्वत रहेंगे, तब तक लोगो में ऋग्वेद की महिमा बनी रहेगी ।[1]

ऋग्वेद की ऋचाओ मे प्रधानत देवताओ की स्तुतियाँ सग्रहीत हैं। पातजल-महाभाष्य के अनुसार, किसी समय इस वेद की 21 शाखाएँ थी—'एकविंशतिधाबाह्वृच्यम्' । परन्तु ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ प्रमुख मानी जाती है—एतेषा शाखा पच विधा भवन्ति। ये पाँचो शाखाएँ—शाकला, बाष्कला, आश्वलायना, शांखायना और माण्डूकेया हैं । इन पाँचो शाखाओ का नामकरण विभिन्न ऋषियो के शिष्य—सम्प्रदाय की परम्परा के फलस्वरूप हुआ है। अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से अथवा व्याख्यानो के प्रक्रम के कारण ऋग्वेद की विभिन्न शाखाएँ प्रचलित रही हैं, जिनकी सख्या 27 तक गिनायी गयी हैं—

1 मुद्गल शाखा, 2 गालव शाखा, 3 शालीय शाखा, 4 वात्स्य शाखा, 5 शैशिरि शाखा, 6 बोध्य शाखा, 7 अग्निमाठर शाखा, 8 पराशर शाखा, 9 जातू कर्ण्य शाखा, 10 आश्वलायन शाखा, 11 शखायन शाखा, 12 कौषीतिकी शाखा, 13 महाकौषीतिकी शाखा, 14 शाम्ब्य शाखा, 15 माण्डूकेय शाखा, 16 ब्रह् वृच शाखा, 17 पैङ्ग्य शाखा, 18 उद्दालक शाखा, 19 शतबलाक्ष शाखा, 20 गज शाखा, 21, 22 व 23 बाष्कलि भारद्वाज की शाखाएँ, 24 ऐतरेय शाखा, 25 वशिष्ठ शाखा, 26 सुलभ शाखा तथा 27 शौनक शाखा ।

वस्तुत ऋग्वेद की पाँच शाखाओ को भी इन 27 शाखाओ मे स्थान मिला है, परन्तु वर्तमान मे विवेच्य सहिता के रूप मे शाकल सहिता ही उपलब्ध है। ऋग्वेद की उपलब्ध शाकल शाखा का विभाजन दो रूपो मे मिलता है। एक विभाग के अनुसार, समस्त ग्रन्थ मे 8 अष्टक, 64 अध्याय और 2,006 वर्ग तथा बालखिल्य सूक्तो के वर्ग मिलाकर 2,024 वर्ग हैं। प्रत्येक अध्याय मे कई वर्ग हैं और एक वर्ग मे सामान्यत 5 मन्त्र होते हैं। दूसरे विभाग के अनुसार, जिसका प्रचलन अधिक है, समूचे ग्रन्थ मे 10 मण्डल, 85 अनुवाक और प्रत्येक अनुवाक मे कई सूक्तो का सग्रह है। सूक्तो की कुल सख्या 1,017 और बालखिल्य के 11 सूक्तो को मिलाकर 1,028 है। सूक्त मे एक से लेकर 85 तक और सामान्यत 10 मन्त्र होते हैं। मन्त्रो की सख्या 10,472 और शौनक ऋषि की अनुक्रमणी के अनुसार 10,528 हैं, यद्यपि ऋग्वेद के दशम मण्डल के 114वें सूक्त के 8वें मन्त्र मे इस वेद के मन्त्रो की सख्या 15,000 कही गयी है—"सहस्त्रधा पचदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित तत् ।"[2] वेदज्ञो के अनुसार प्रस्तुत सहिता मे मन्त्रो की सख्या 10,467 से लेकर 10,589 तक मिलती है। मन्त्रो की रचना छन्दो मे है। ये

1-2 वैदिक साहित्य ऋग्वेद डॉ रामधन शर्मा शास्त्री, पृ 5-6

सभी छन्द वैदिक हैं और प्राय 60 के लगभग हैं, किन्तु इनमे से गायत्री, उष्णिक्, त्रिष्टुप्, अनुष्टप बृहती, पंक्ति और जगती विशेष प्रसिद्ध है। शेष छन्द इन्ही के भेद-प्रभेद हैं। मन्त्रो के द्रष्टा ऋषि, ऋषिपुत्र, ऋषिका या स्वयभू है, जिनकी सख्या 300 के लगभग हैं। किन्तु इनमे गृत्समद, विश्वमित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज वसिष्ठ, कण्व और अगिरस अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रथम, सातवें और दसवे मण्डल मे से प्रत्येक के मन्त्रद्रष्टा ऋषि एक से अधिक है। द्वितीय मण्डल के गृत्समद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, पचम के अत्रि, छठे के भरद्वाज, सप्तम के वसिष्ठ और उनका परिवार तथा अष्टम के कण्व और उनके वशज हैं। ये ऋषि बहुधा ब्राह्मण होते थे, किन्तु कुछ राजर्षि भी हुए हैं यथा कवष, आरुण वैतहव्य, मान्धाता, यावनाश्व, सुदास् पैजवन आदि। कहा जाता है कि दसवे मण्डल के 46वे सूक्त के दृष्टा वत्सप्रिभालन्दन वैश्य थे और उसी मण्डल के 175वे सूत्र के दृष्टा ऊर्ध्वग्रावा शूद्र थे। कुछ मन्त्रो की द्रष्टा स्त्रियाँ भी हैं—यथा जुहू, शची, घोषा, लोमशा, लोपामुद्रा, विश्वावारा, आदि।[1]

शाकल सहिता के सन्दर्भ मे यह प्रसिद्ध है कि पजाब के मद्र राज्य या क्षेत्र की राजधानी शाकल नगरी थी। यही शाकल्य या देवमित्र नामक वेदविद् का प्रादुर्भाव हुआ। शाकल्य ने 'शाकल सहिता' का सूत्रपात् किया और तदनन्तर उनकी शिष्य-परम्परा मे उक्त सहिता 'शाकल सहिताएँ' नाम से विख्यात हुईं। ऋग्वेद का मूल विषय दिव्य शक्ति की स्तुति करना है। परन्तु हमे यहाँ यह न भूलना चाहिए कि वह दिव्य शक्ति मूलत एक ही शक्ति के विभिन्न रूपो मे दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद मे मुख्यत अधोलिखित दिव्य शक्तियो का स्तवन किया गया है—

1 इन्द्र, 2. हिरण्यगर्भ, 3 वरुण, 4 रुद्र, 5 मरुत् 6. अग्नि, 7 पृथ्वी, 8 उषस्, 9 पुरुष 10 पितृ, 11 रात्रि, 12 यम, 13 पर्जन्य, 14 सोम, 15 अश्विनौ, 16 विष्णु 17 नदी इत्यादि।

वैदिक साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित डॉ रामधन शर्मा शास्त्री ने ऋग्वेद के देव-वर्णन को सक्षेप मे निम्नानुसार व्यक्त किया है—

ऋग्वेद मे देवताओ की स्तुतियाँ सगृहीत है। यास्क के अनुसार, देवता का 'अर्थ है,' लोको मे भ्रमण करने वाला, प्रकाशित होने वाला अथवा भोज्य आदि सारे पदार्थों को देने वाला—देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा। वैदिक आर्यों का विश्वास था कि इन्द्र, अग्नि, सूर्य, आदि प्राकृतिक तत्त्वो मे अद्भुत शक्ति, ऐश्वर्य और प्रभुता है और उन्हीं के द्वारा सृष्टि का समस्त क्रियाकलाप सचालित होता है। अत उन्होने प्रकृति के इन तत्त्वो को चेतन शक्तिमय देवता मानकर इनकी उपासना की। बृहद्देवता और यास्क के निरुक्त, आदि ग्रन्थो मे देवताओ के स्वरूप के सम्बन्ध मे विशेष रूप से विचार किया गया है। यास्क ने तीन प्रकार के देवता माने हैं—पृथ्वीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय। पृथ्वीस्थानीय प्रधान देवता अग्नि

1 वैदिक साहित्य ऋग्वेद डॉ रामधन शर्मा शास्त्री, पृ 5–6

है, अन्तरिक्षस्थानीय वायु तथा इन्द्र है और द्युस्थानीय सूर्य है। वेदो मे इन्द्र की अनेक रूपो और नामो से स्तुति की गयी है। ऋग्वेद के एक मन्त्र से पता चलता है कि पृथ्वी स्थानीय 11, अन्तरिक्षस्थानीय 11 और द्युस्थानीय 11, सब मिलाकर 33 देवता हैं—

ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ।
अप्सु क्षितो महिनैकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिम जुषध्वम् ॥ 1 139 11 11

ऋग्वेद के अन्य कई स्थानो, यजुर्वेद की तैत्तिरीय सहिता और शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मणो मे भी 33 देवो का उल्लेख है। किन्तु ऋग्वेद मे दो स्थान पर 3,339 देवताओ का कथन है——

त्रीणि शता त्रीसहस्राण्यग्नि त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
3 9 9 तथा 10 52 6

इस विषय मे सायण का कहना है कि देवता तो 33 ही हैं परन्तु देवो की विशाल महिमा बतलाने के लिए 3,339 देवो का उल्लेख किया गया है।

पृथ्वीस्थानीय देवताओ मे अग्नि, सोम, पृथ्वी, नदी, समुद्र आदि, अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओ मे इन्द्र, वरुण, रुद्र मरुत्, और द्युस्थानीय देवताओ मे द्यौ, सूर्य, पूषा, विष्णु, अश्विन्, उषस् तथा चन्द्र प्रधान है। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे पदार्थो का भी देवता-रूप मे वर्णन किया गया है, जिनका प्रकृति के नियम अथवा मूर्तिमान पदार्थो से साक्षात् सम्बन्ध नही है, जैसे श्रद्धा, मन्यु, धातृ अदिति, आदि। यास्क के अनुसार, कई पदार्थ ऐसे भी है, जो देवता नही है, किन्तु देवताओ के समान उनकी स्तुति की गयी है, यथा ऋभु, अप्सरा, गन्धर्व, गो, औषधि, आदि। इस प्रकार, ऋग्वेद मे कुल मिलाकर 79 देवताओ की स्तुति और प्रार्थनाएँ हैं। जिस सूक्त के ऊपर जिस देवता का नाम लिखा रहता है, उस सूक्त मे उसी देवता का प्रतिपादन और स्तवन है। किन्तु जहाँ जल, औषधि, आदि की स्तुति की गयी है, वहाँ जल, आदि वर्णनीय है और उनके अधिष्ठाता देवता स्तवनीय हैं। आर्य लोग प्रत्येक जड पदार्थ का एक अधिष्ठाता देवता मानते थे। इसीलिए उन्होने जड की स्तुति चेतन की भाँति की है।

देवो मे इन्द्र और अग्नि प्रधान देवता है। केवल इन दोनो के सम्बध मे जितने मन्त्र हैं, उतने अन्य किसी के सम्बन्ध मे नही हैं। इन्द्र अन्तरिक्ष का देवता है और वह वैदिक युग का जातीय देवता माना गया है। इसके लिए 250 के लगभग सूक्त हैं। इसका सम्बन्ध वर्षा से है। वर्षा से ही अन्न और धन-धान्य की वृद्धि होती है, इसीलिए अनेक प्रकार से इन्द्र की स्तुति की गयी है। मन्त्रो मे उसे परमात्मा, आत्मा, वीर, विद्युत, आदि, कहा गया है। वह अत्यन्त शक्तिशाली, मेघो का सचालक, वज्रधारी और असुरसहारक है। वृत्र नामक असुर के साथ इन्द्र के द्वन्द्वयुद्धो का बडा ही सुन्दर और विशुद्ध वर्णन किया गया है। इस सम्बन्ध मे विद्वानो ने नाना प्रकार की कल्पनाएँ की है। यास्क के अनुसार, वृत्र, का अभिप्राय

मेघ से है और इन्द्र इन मेघों को प्रेरित कर वर्षा करता है। पाश्चात्य विद्वान् वृत्र को अवर्षण का (अर्थात् वर्षा को रोकने वाला) देवता मानते हैं और इन्द्र को मेघस्थ विद्युत्, जो वृत्र को मार कर जल प्रवाहित करता है।

अग्नि की बड़ी महिमा गाई गई है। उसे 'ज्योतिरमृत मर्त्येषु' अर्थात् मरण धर्मवाले प्राणियों मे प्रकाश कहा गया है। वह विश्व में पुष्प शक्ति, धनविजयी, ज्ञानोत्पादक, शरीररक्षक, रोहिताश्व, सुवर्णवीर्य, सप्तर्षि और सब देवों का मुख है। उसी के सहारे यज्ञ मे अन्य देवों को बुलाया जाता है और उन्हे हवि पहुँचाई जाती है। अग्नि के कई रूप माने गए हैं। गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि तो प्रसिद्ध है ही। इन्द्र और अग्नि के अनन्तर सोम के सम्बन्ध मे सबसे अधिक मन्त्र हैं, नवम् मण्डल मे केवल सोम की ही स्तुति है अत रचना की दृष्टि से उसमे एकता है। आर्य लोग सोम के अत्यन्त अनुरागी थे। अत उसकी स्तुति और प्रशसा में उन्होंने अनेक मन्त्रों की रचना की है। सोम को ओषधीश, चन्द्र, अमृत, पवमान, आदि कहा गया है। द्यौ कदाचित् देवताओं में सबसे प्राचीन है। इससे अभिप्राय अन्तरिक्ष और पृथ्वी से है। कई मन्त्रो मे इन दोनो को विश्व का माता-पिता कहा गया हैं। सूर्य आकाश का देवता है। कर्म भेद से इसके पाँच रूप हैं— मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन् और विष्णु। यह अन्धकार का नाशक, प्रकाश का दाता, अन्न की वृद्धि करने वाला, प्राणियों में जीवन-शक्ति का सचार करने वाला और बुद्धि को प्रेरित करने वाला है। उषा इसकी अग्रगामिनी है। यह प्रात काल की देवी है और वैदिक देवताओं में प्रधान स्त्री देवता है। वरुण भौतिक और आध्यात्मिक जगत् का नियामक देवता है, अत उसका भी बड़ा महत्त्व है। उसी के शासन से पृथ्वी और अन्तरिक्ष पृथक्-पृथक् अवस्थित है। उसी के प्रताप से सूर्य और चन्द्रमा प्रकाश पाते हैं। यही श्वासवायु है। इसी से वर्षा होती है, नदियाँ बहती हैं और समुद्रो में नदियों के द्वारा जल भरे जाने पर भी वह सीमा का अतिक्रमण नही करता।

ऋग्वेद में अनेक देवताओं की पृथक्-पृथक् स्तुति और प्रशसा देख कर कुछ विचारकों का मत है कि तत्कालीन ऋषियों को परमात्मा का ज्ञान नही था। उनकी पहुँच देवों तक ही थी, प्राकृतिक शक्तियों में अद्भुत शक्ति देख कर वे उन्हे ही चेतन शक्ति-वाले देवता समझते थे। किन्तु यह धारणा निराधार है। यह देवता-रहस्य न समझने का परिणाम है। ऋग्वेद के एक मन्त्र मे उल्लेख है— 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्'। अर्थात् देवों की शक्ति एक ही है, दो नही। ऋषियों ने जिन प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति व प्रशसा की है, उनके स्थूल रूप की नहीं की है, प्रत्युत उनकी शासिका या अधिष्ठात्री चेतन शक्ति की है। इस चेतन शक्ति को वे परमात्मा से पृथक् या स्वतन्त्र नही मानते थे—परमात्मरूप ही मानते थे। भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप मे उसी परमात्मा की विविध शक्तियों और गुणों का वर्णन है। जो लोग देवताओं की अनेकता मे विश्वास नही करते, वे तो इन सब नामों का अर्थ परब्रह्मवाचक ही लगाते हैं, किन्तु अनेक देवताओं को मानने वाले भी

इन सब को परमात्मपरक ही समझते है और कहते है कि ये सभी देवता और समस्त सृष्टि परमात्मा की ही विभूति है। यास्क ने इसी बात को कितनी सुन्दरता से कहा है—

> महाभाग्याद् देवतायाँ एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
> एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।।

अर्थात् इस ब्रह्माण्ड की जड मे एक ही देवशक्ति विद्यमान है, जिसे परमात्मा कहते हैं। उसी एक की नाना रूपो मे स्तुति की गई है। नियन्ता एक है, इसी मूल सत्ता के विकास सारे देव है। ऋग्वेद मे इस बात के अनेकानेक प्रमाण मिलेंगे।

ऋग्वेद मे कुछ कथानकीय सकेत और ऋग्वेद का महत्त्व

यद्यपि ऋग्वेद दिव्य शक्तियो के स्तवन का केन्द्र है, परन्तु इसमे रहस्य को खोजने की अनुपम जिज्ञासा भी देखते ही बनती है। 'पुरुष' तथा 'नासदीय' सूक्त रहस्यात्मकता के अबाध समुद्र कहे जा सकते है। इसके 'विष्णु' सूक्त मे सूर्य को त्रिविक्रम सिद्ध करके वामनावतार की ओर स्पष्ट सकेत कर दिया गया है। जिस प्रकार से सूर्य तीन पहर मे समस्त ब्रह्माण्ड को अपनी किरणो के माध्यम से माप देता है—पार कर लेता है, उसी प्रकार ईशावतार वामन ने ब्रह्माण्ड को तीन अगो मे ही नाप लिया था। ऋग्वेद के 'रुद्र' सूक्त मे रुद्र को नित्य युवक, भेसजविद अघोर कोपनशील, अतिस्तुत्य देव आदि के रूप मे चित्रित करके पौराणिक शकर—महादेव के व्यक्तित्व के विकास हेतु मार्ग प्रशस्त कर दिया गया है। देवराज इन्द्र के भव्य व्यक्तित्व को उजागर करने के लिए उसे वृत्रहन्ता, शम्बर नाशक अपनी माता की माँग के सिन्दूर को धोने वाला सिद्ध किया गया है। पुरूखा-उर्वशी, मनु-इडा आदि नाम भी विशद् कथानकीय सकेतो के स्पष्ट परिचायक है

डॉ रामधन शर्मा शास्त्री ने लिखा है

ऋषियो ने अपने चारो ओर जो-कुछ देखा, उसके प्रति उन्होने अपने विचार इन मन्त्रो मे व्यक्त किए हैं। प्रकृति की प्राय सभी वस्तुएँ उनकी काव्यमयी प्रतिभा का विषय बन सकी है। देवस्तुति के साथ-साथ व्याज-रूप से सृष्टि के अनेक रहस्यो और तत्त्वो का उद्घाटन उनमे किया गया है। सृष्टि विज्ञान के विषय मे नासदीय सूक्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। लोकमान्य तिलक का कहना है कि नासदीय सूक्त मे इन ऋषियो की जितनी स्वाधीन और उच्चतम चिन्ता है, उतनी आज तक मनुष्य-जाति नही कर सकी। इसमे कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ मे सूक्ष्म अथवा स्थूल, व्यक्त या अव्यक्त कुछ भी नही था, मृत्यु या अमृत्यु मे कोई भेद नही था। एक अकेला शुद्ध सनातन ब्रह्म था, जो बिना प्राणवायु के ही अपनी शक्ति से श्वास लेता था। उसी की सकल्प-शक्ति से पीछे समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई। पुरुष-सूक्त मे ईश्वर और उसकी महिमा का वर्णन किया गया है।

व्याख्याकारो ने विषय की दृष्टि से ऋग्वेद के मन्त्रो का तीन काण्डो मे विभाजन किया है—कर्म, उपासना और ज्ञान। चाहे किसी भी विषय के मन्त्र हो, प्राय

सभी को इन्ही तीनो मे से किसी एक के अन्तर्गत माना गया है। कर्मकाण्ड के मन्त्रो का सम्बन्ध यज्ञो से है और उन्ही के अनुसार उनकी व्याख्या की गई है। उपासना काण्ड मे देवताओ की स्तुतियाँ और प्रार्थना के मन्त्र आते हैं और ज्ञान-काण्ड मे सृष्टिक्रम का विशद तथा रहस्यमय वर्णन है। कर्म, उपासना और ज्ञान के इन्ही तत्त्वो को लेकर परवर्ती आचार्यों और धर्मोपदेष्टाओ ने अनेक ग्रन्थो का निर्माण किया।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी ऋग्वेद का बडा महत्त्व है। उसमे प्राय अनेक ऐसे विषयो की चर्चा है, जिनका मानव-जीवन के साथ साक्षात् सम्बन्ध है और जिनमे उन समय के लोगो के आचार-विचार, रहन सहन, नीति, सदाचार तथा सामाजिक परम्परा का अच्छा परिचय मिलता है। दशम मण्डल के प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णो का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि हमारे देश की प्रसिद्ध सामाजिक वर्ण-व्यवस्था उतनी ही प्राचीन है, जितना ऋग्वेद किन्तु उस समय वर्णभेद का आधार गुण-कर्म था, न कि जन्म। उस समय समाज मे आज-जैसी कट्टरता और भेदभाव भी न था। वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण यत्र-तत्र पाए जाते हैं और अन्तर्जातीय विवाह तथा भोज के भी पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। साधारण मनुष्य का जीवन ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, इन चार आश्रमो मे विभक्त था और आचार-विचार, धर्म, उपासना, नीति, सदाचार, आदि के नियम सबके लिए प्राय समान थे।

ऋग्वेद से हमे आर्य जीवन और सस्कृति के बारे मे प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है। हमे पता चलता है कि शासन-व्यवस्था का भी विकास हो गया था और वह पर्याप्त समुन्नत थी। राष्ट्र की रक्षा और सगठन मे सारी प्रजा सहयोग देती थी। उस समय चार प्रकार की सस्थाएँ थी—समिति, सभा, सेना और विदथ। राज्य का रूप जनतन्त्र था। राष्ट्रपति या प्रधान शासक का प्रजा-द्वारा निर्वाचन होता था और अन्यायी शासक को प्रजा पदच्युत कर सकती थी। प्रजा मे राष्ट्र के उदय, सगठन और समुत्थान की चेतना प्रबुद्ध थी। 'यतेमहि स्वराज्ये'—आओ हम स्वराज्य के लिए प्रयत्न करें, 'उपसर्प मातर-भूमि'—मातृभूमि की सेवा करें, न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा—बिना स्वय परिश्रम किए देवो की मैत्री प्राप्त नही हो सकती, आदि वेदवाक्यो मे हमे प्रारम्भिक राष्ट्र-जागरण की प्रभाती सुनाई पडती है।

डॉ रामधन शर्मा शास्त्री के ही शब्दो मे, ऋग्वेद मे स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, ससार और युद्ध मे प्रवृत्ति, ऋषियो की प्रतिद्वन्द्विता, कन्यादान के साथ वस्त्रालकार का दान, विवाह-काल मे वर-वधू का वेष, अन्त्येष्टि-क्रिया, आदि अनेक धार्मिक और गृह्यकर्मों का उल्लेख है। सूर्यग्रहण, सौर और चन्द्र सवत्सर, नदियो का भौगोलिक विवरण, देश-भ्रमण, आदि अनेक वैज्ञानिक विषयो की भी चर्चा है। इस प्रकार, आर्यो के समस्त आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अभ्युन्य का ज्ञान हम ऋग्वेद मे मिलता है। दृष्टादृष्ट सभी विषयो का प्रतिपादन करने मे

ऋग्वेद को ही प्रमाण माना ज ता है। वैदिक ऋषियो की सबसे बडी विशेषता उनका धार्मिक और सदाचारमय जीवन था। उनका आदर्श उच्च और महान् था। उनका कहना था--सुगा ऋतस्य पन्था' 8-31-13--अर्थात् धर्म का मार्ग सुख से गमन करने योग्य है, 'सत्यस्य नाव सुकृतमपीपरन्' 9-73-1—अर्थात् सत्य की नाव ही धर्मात्मा को पार लगाती है। आर्यों का विश्वास था कि देवता हमारे आचरण की देख-भाल करते हैं और कर्त्तव्य से च्युत होने पर हमे दण्ड देते है तथा सन्मार्ग पर चलने मे हमारी सहायता करते है। इन्ही विचारो और सस्कारो के कारण वे जीवन मे नैतिकता और सदाचार पर विशेष बल देते थे।

साहित्यिक दृष्टि मे भी ऋग्वेद का बडा महत्त्व है। इसमे उच्च कोटि का काव्य पाया ज ना है और काव्य के सभी रूपो का बीज मिलता है। वैदिक ऋषियो की काव्याभिरुचि का इसी से पता चलता है कि उन्होने वाणी की शक्ति को बडा महत्त्व दिया था। अनेक मन्त्रो मे वाणी की महिमा का वर्णन है।

सक्षेप मे, यह ग्रन्थ-रत्न सभी विद्याओ का मूल है। इसलिए राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा मे कहा है

नमोऽस्तु तस्यै श्रुतय यां दुहन्ति पदे पदे।
ऋषय शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति ॥

अर्थात् उस श्रुति देवी या वेद-विद्या को नमस्कार है, जिसे पद-पद पर ऋषि और शास्त्रप्रणेता आचार्य तथा कविगण अपनी-अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार दूहते है।

2 यजुर्वेद सहिता

समस्त वैदिक साहित्य मे यजुर्वेद अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मनुष्य-जीवन के विकास की ज्ञान, कर्म और उपासना, ये तीन सीढियाँ है। इसमे कर्म की सीढी या कर्मकाण्ड का प्रतिपादन विशेषत यजुर्वेद ही करता है। यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड मे अन्य वेद भी अपना-अपना स्थान रखते हैं, तथापि उसका प्रधान आधार यजुर्वेद ही कहा जा सकता है। 'यजुष' शब्द का अर्थ है—पूजा एव यज्ञ। यजुर्वेद मे कर्मकाण्ड की प्रधानता है।

सुप्रसिद्ध वैदिक ग्रन्थ निरुक्त मे ऋग्वेद आदि से सम्बन्ध रखने वाले ऋत्विजो का वर्णन करते हुए कहा है यज्ञस्य मात्रा विमिमीत एक । अध्वर्यु । अध्वर्युरध्वरयु । अध्वर युनक्ति। अध्वरस्य नेता। इसका अभिप्राय यही है कि यज्ञ की सही इतिकर्त्तव्यता को यजुर्वेद ही बतलाता है। इसीलिए यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले ऋत्विक अध्वर्यु को ही यज्ञ को चलाने वाला या नेता कहा जाता है।

यजुर्वेद के दो भाग

यजुर्वेद के दो भाग हैं--कृष्ण एव शुक्ल। कृष्ण भाग मे छन्दोबद्ध मन्त्रो तथा गद्यात्मक विनियोगो के दर्शन होते हैं। शुक्ल यजुर्वेद मे उक्त दोनो ही तत्त्वो का अभाव है। यहाँ हमे यजुर्वेद की शाखाओ या सहिताओ पर विचार कर लेना चाहिए।

(1) कृष्ण यजुर्वेद—इसकी तीन सहिताएँ प्रसिद्ध है--

(1) तैत्तिरीय, (2) मैत्रायणी, और (3) कठ

(i) तैत्तिरीय शाखा--तैत्तिरीय सहिता के विषय मे यह प्रसिद्ध है कि वैशम्पायन ऋषि ने एक बार रुष्ट होकर अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से कहा कि शिष्य, तुम गुरु से अधीत विद्या का वमन कर दो। आज्ञाकारी शिष्य याज्ञवल्क्य ने वेद विद्या वमन कर दिया। गुरुजी की आज्ञा पाकर कुछ अन्य शिष्यो ने उस वेद विद्या को तित्तिर बनकर चुग लिया। इसीलिए उस वेद विद्या को 'तैत्तिरीय सहिता' के नाम से पुकारा गया। वस्तुत यह एक रूपक है। भला, वेद विद्या भी वमन का विषय हो सकती है ? कदापि नही। वस्तुत वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य की अन्तर्मुखी वृत्ति से क्रुद्ध होकर उन्हे उभयमुखी रूप मे तरण-तारण रूप मे चारित्रिक उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए कहा। याज्ञवल्क्य ने उस वेद विद्या का प्रसार किया, वही गृहीत ज्ञान का वमन है तथा वैशम्पायन के अन्य शिष्यो ने उस विद्या को सगृहीत और सम्पादित करके तित्तिर-वृत्ति का परिचय दिया। इसीलिए उसे 'तैत्तिरीय सहिता' नाम से अभिहित किया गया। यह शाखा आचार की प्रधानता से परिपूर्ण है।

(ii) मैत्रायणी शाखा--इस शाखा का सम्बन्ध अध्यात्म विद्या के गूढतम तत्त्वो से है। इसकी सात उपशाखाएँ भी स्वीकार की गई हैं--मानव, दुन्दुभ, आत्रेय, वाराह, हरिद्रवेय, श्याम और शामानयीय।

(iii) कठ शाखा--कठ लोगो या मनीषियो की शाखा को 'काठक सहिता' नाम भी दिया गया है। यह सहिता औपनिषदिक तत्त्वो से परिपूर्ण दिखलाई पडती है। इस शाखा का सम्बन्ध कठोपनिषद् से जोडा जाता है।

(2) शुक्ल यजुर्वेद--शुक्ल यजुर्वेद मे गद्य की प्रधानता है। इसकी दो सहिताएँ प्रसिद्ध हैं--काण्व तथा वाजसनेय। इन दोनो शाखाओ या सहिताओ मे वाजसनेय शाखा ही अधिक प्रसिद्ध है। इस शाखा का नामकरण वाजसेनी के पुत्र (याज्ञवल्क्य) के नाम पर ही हुआ है। सूर्य के द्वारा याज्ञवल्क्य ऋषि को दिन मे ज्ञान प्राप्त होने के फलस्वरूप प्रस्तुत यजुर्वेद को शुक्ल यजुर्वेद कहा गया। वस्तुत शुक्ल यजुर्वेद मे राष्ट्र को धवलित करने के लिए जिस आचार-सहिता का विधान दिखलाई पडता है, उसी के कारण इसे शुक्ल यजुर्वेद नाम से पुकारा गया है। कण्व ऋषि की शिष्य-परम्परा मे जिस शाखा का अभ्युदय और अभ्युत्थान हुआ, उसे 'काण्व सहिता' नाम से अभिहित किया गया है।

आधुनिक यजुर्वेद मे चालीस अध्याय हैं। इन अध्यायो मे अधिकाँश अध्यायो का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है। यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय ईशावास्योपनिषद् के रूप मे प्राप्त होता है।

यजुर्वेद सहिता पर डॉ मगलदेव शास्त्री का विवेचन

यजुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय--वैदिक मन्त्रो की व्याख्या के तीन परम्परागत सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। निरुक्त, आदि प्राचीन वैदिक ग्रन्थो के आधार पर ऐसा कहा जाता है कि प्राय प्रत्येक मन्त्र की व्याख्या आधिभौतिक, आधिदैविक (या अधियज्ञ) और आध्यात्मिक दृष्टि से की जा सकती है। वास्तव मे, मनुष्य के मानसिक विकास के साथ-साथ प्रकृति के प्रत्येक व्यापार मे उपर्युक्त तीनो दृष्टियो का क्रमश आविर्भाव होना स्वाभाविक है।

ऐसा होने पर भी यजुर्वेद की व्याख्या प्राय अधियज्ञ की ही दृष्टि से प्राचीन भाष्यकारो ने की है। 'यजु'—इस शब्द पर विचार करने से भी इसी बात की पुष्टि होती है। 'यजु' और 'यज्ञ', इन दोनो का सम्बन्ध एक ही 'यज्' धातु से है। यजुर्वेद क मन्त्रो का अावान्तर-क्रम भी अधिकतर याज्ञिक परम्परा के आधार पर दर्शपूर्णमासेष्टि, पिण्ड-पितृयज्ञ, अग्न्याधेय, आदि याज्ञिय कर्मों के क्रम के अनुसार ही रखा गया है। केवल दो-तीन अध्यायो का, विशेष कर अन्तिम 40वें अध्याय का, सम्बन्ध साक्षात कर्मकाण्ड से न होकर उपनिषत्काण्ड या आत्म ज्ञान से है।/ शतपथब्राह्मण, उवट, आदि प्राचीन टीकाकारो का भी यही मत है। इन सब कारणो से यही कहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि यजुर्वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अधियज्ञ ही है, और अन्त मे अधियज्ञ-दृष्टि के ही द्वारा परमात्मदर्शन या परमपद की प्राप्ति का वह प्रतिपादन करता है।

अधियज्ञ-दृष्टि का स्वरूप और विकास—अधियज्ञ (या याज्ञिक या आधिवैदिक) दृष्टि को ठीक-ठाक समझने के लिए वैदिक, कर्मकाण्ड के विकास को समझने की आवश्यकता है। जैसा ऊपर कहा है, 'यज्ञ' और 'यजु' दोनो शब्दो का विकास 'यज् देवपूजा सगतिकरण दानेषु'—इस धातु से हुआ है। वास्तव मे, देखा जाए, तो देवपूजा, सगतिकरण और दान, इन तीन अर्थो मे याज्ञिक दृष्टि या वैदिक कर्मकाण्ड के विकास का पूरा इतिहास आ जाता है—

' तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
' तदेव शुक्र तद् ब्रह्म ताऽआप स प्रजापति ॥ (यजु 32 1)

अर्थात् अग्नि, आदित्य, वायु, आदि विभिन्न देवता उसी एक परमात्मतत्व की विभूतियाँ हैं—इत्यादि वचनो के अनुसार समस्त विश्व-प्रपच के सचालक परमात्मा की ही विभिन्न विभूतियो को वैदिक धर्म की परिभाषा मे तत्-तद् देवता के नाम से पुकारा जाता था। अग्नि, आदित्य, इन्द्र, वरुण आदि देवताओ की पूजा, स्तुति या गुणगान ही यज्ञ या वैदिक कर्मकाण्ड का प्रारम्भिक स्वरूप था।

उन्ही देवताओ के साथ 'सगतिकरण' या सान्निध्य की भावना से, अन्य कर्मकाण्डो के समान ही, याज्ञिक कर्मकाण्ड के विकास का प्रारम्भ हुआ। मनुष्य अपने आराध्य देवता की केवल स्तुति से ही सन्तुष्ट न होकर, अन्य इष्ट मित्रादि के समान ही, स्वभावत उसका 'आवाहन' सान्निध्य या साक्षात्कार भी चाहता है।

आवाहन के अनन्तर अपने आराध्य का विभिन्न पदार्थों के द्वारा सत्कार किया जाता है। यही 'दान है, यही 'इदमग्नैये इद न मम' की भावना का मूल है। इसी भावना के आधार पर अधियज्ञ-दृष्टि या याज्ञिक कर्मकाण्ड का पूर्ण विकास हुआ था।

" वैदिक देवताओ के कल्याणोन्मुख उत्कृष्ट आदर्श स्वरूप को ध्यान मे रख कर ही स्वभावत मरणधर्मा, अनृत और अज्ञान से अभिभूत, लघु स्वार्थो और आपात-रमणीय ऐन्द्रिक प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर पारस्परिक सघर्ष के भावो से

पराभूत दुर्बल मनुष्य, अपने को दैवी सम्पत्ति से समन्वित करने की अभिलाषा से, मानो अपने को देवतुल्य बनाने के लिए, या आधुनिक परिभाषा में, समष्टि के साथ सामञ्जस्य की स्थापना के द्वारा अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के उद्देश्य से ही वैदिक धर्माचरण मे प्रवृत्त होता था।

इसी मौलिक उद्देश्य के आधार पर स्वभाव से इन्द्रियपरायण, अशान्त और चचल-चित्त मनुष्य को उदात्त, शान्त, सयत और दृढव्रती बनाने की दृष्टि से अत्यन्त कठिन अनुशासन, सयम और नियमन के भावो से ओतप्रोत वैदिक कर्मकाण्ड की नीव हमारे पूर्वजो ने डाली थी।

वैदिक धर्मो के लिए जीवन का लक्ष्य यही है कि वह उन्नति-विरोधिनी भावनाओ और शक्तियो पर विजय प्राप्त करता हुआ आत्मा का उत्तरोत्तर विकास करे—

उद्वय तमसस्परि स्व पश्यन्त उत्तरम्।
देव देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ (यजु 20 21)

अर्थात् अज्ञान से प्रकाश की ओर बढते हुए हम अपने को उत्तरोत्तर समुन्नत करें—आदि वैदिक वचनो का स्पष्टत यही अभिप्राय है। इस तरह उत्तरोत्तर समुन्नति करते हुए आत्मा के पूर्णविश्वास का लक्ष्य ही, वास्तव मे स्वर्ग है, यही 'स्वराज्य' या 'अमृतत्व' है। इसी को वैदिक मन्त्रो मे 'ज्योतिर्मय लोक' कहा गया है।

इसीलिए, वैदिक धर्माचरण के लक्ष्य को हृदयगम करने के लिए निम्नलिखित मौलिक तथ्यो को मानना आवश्यक हो जाता है—

(1) मनुष्य स्वभाव से ही अपूर्ण, दुर्बलचित्त और लघु स्वभाव से ग्रस्त है।
(2) दैवी शक्तियो या देवताओ का स्वरूप इससे विपरीत है।
(3) मनुष्य के जीवन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओ पर विजय प्राप्त करता हुआ दैवी सम्पत्ति के सम्पादनार्थ या अपने पूर्ण विकास के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे।
(4) सारे विश्व-प्रपच की सचालक उस महाशक्ति या महात्मा की, जिसकी विभूतियाँ ही विभिन्न देवता हैं, लीला का एकमात्र अभिप्राय प्राणिमात्र और विशेषत मनुष्य के पूर्ण विकास मे है और इसीलिए बाह्य और अभ्यन्तर (भौतिक और आध्यात्मिक) सृष्टि के मूल मे ऋत और सत्य का साम्राज्य है।

वैदिक उदात्त भावनाएँ—वैदिक धर्माचरण के उपर्युक्त मौलिक आधारो के कारण ही अन्य वेदो के समान यजुर्वेद भी, जिसका स्पष्टत वैदिक कर्मकाण्ड से घनिष्ठ सम्बन्ध है, ऐसी उदात्त भावनाओ से ओत-प्रोत है, जो ससार के किसी भी अन्य वाङ्मय या सस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त अभूतपूर्व है। ससार के नीरसप्राय अन्य कर्मकाण्डो मे तो ऐसे उदात्त विचार प्राय देखने को भी नही मिलेंगे। यहाँ हम उन्ही उदात्त भावनाओ का कुछ दिग्दर्शन कराना चाहते हैं।

का रहस्य उनमे निहित है । आशा है, हम भारतवासी अपने इस अमूल्य दाय के विशाल महत्त्व को समझ कर उसके कर्त्तव्य का पालन करेंगे ।

ओ मा मा सत्योक्ति परिपातु विश्वत ।

3. सामवेद संहिता

'साम' सुन्दर और सुखकर वचन का नाम है । 'सत्य वदेत प्रिय वदेत' सिद्धान्त सामवेद मे पूरी तरह से देखा जा सकता है । 'साम' के माध्यम से देवताओ को प्रसन्न किया जाता है तथा विघ्नो का विनाश किया जाता है—समयति सन्तोपयति देवान् अनेन इति सामन् अथवा स्यति नाशयति विघ्न इति सामन् । 'सामवेद' गीति काव्य का अन्यतम उदाहरण है । कहा जाता है कि जब नाटक की रचना की गई तो ईश्वर ने—ईश-तुल्य ऋषियो के नाटक को रोचक बनाने के लिए सामवेद से ही गीतो को सगृहित करने की प्रेरणा ली—'सामभ्यो गीतमेव च ।'

डॉ विजयेन्द्र स्नातक ने लिखा है—चारो वेदो मे यो तो प्रत्येक वेद का अपना-अपना विशिष्ट स्थान है, किन्तु सामवेद का महत्त्व एक ऐसे विशिष्ट कारण से भी है, जो अन्य वेदो मे उपलब्ध नही होता । सामवेद की ऋचाएँ अपनी गेयात्मकता के कारण एक ही रूप मे अनेकात्मक होकर विविध स्वरूपवाली बन जाती है । गीतिशैली मे प्रस्तुत किए जाने के कारण सामवेद का प्रभाव जितना क्षिप्र और प्रखर होता है, उतना ही आह्लादक और आकर्षक भी । कहते हैं कि जैमिनि ऋषि ने सामवेद की संहिताओ को वर्तमान रूप मे सकलित किया—सामगो जैमिनि मुनि । महाभारत मे वेदव्यास को वेदो का सकलनकर्त्ता ठहराया गया है—"वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इतीरित । किन्तु सामवेद के सकलनकर्ता का पृथक नाम से कोई उल्लेख नही किया गया ।"

सामवेद संहिता मे गेय ऋचाएँ तथा गेय यजुष-समूह की प्रधानता है । सामवेद के ऋचा-समूह को 'आर्चिक' तथा यजुष-पुञ्ज को 'स्तोभ' कहा जाता है । सामवेद का सम्बन्ध मुख्यत गीति से है । इसीलिए इसमे गान की पांच क्रियाओ की ओर सकेत भी किया गया है । सामवेद से सम्बद्ध छान्दोग्योपनिषद् मे सामगान की पाँच क्रियाओ का क्रम निम्न है—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधान । वस्तुत उद्गीथ वाणी की या गान की चरम सीमा है । प्रकारान्तर से 'उद्गीथ' 'ओंकार' या ॐ का ही पर्याय है । छान्दोग्योपनिषद् मे उद्गीथ को सार का भी सार कहा गया है—एषां सर्वभूतानां पृथिवी रस । पृथिव्या आपो रस । अपामोपधयो रस । ओपधीनां पुरुषो रस । पुरुषस्य वाग्रस । वाच साम रस । साम्न उद्गीथो रस ।

सामगान की छ लय भी प्रसिद्ध है—क्रुष्ट, प्रथमा, द्वितीया, चतुर्थी, मद्र और अतिस्वार्य । कहा जाता है कि महाभारतकालीन ईशावतार श्रीकृष्ण सामवेद के महान् अध्येता थे । उन्होंने घोर अगिरस से वेदान्तमत की दीक्षा ली थी तथा साम-गान के रहस्य को सीखा था । सम्भवत इसीलिए श्रीकृष्ण ने 'छालिक्य' नामक गान का आविष्कार किया था, जिसे यादवो ने अपना प्रधान गान माना था । हिन्दी

साहित्य के मध्यकाल मे श्रीकृष्ण और शृंगार रस का जो चमत्कारी सम्बन्ध स्थापित किया गया है, उसके पीछे भी श्रीकृष्ण को सामवेत्ता के रूप मे जानने-मानने की व्यापक भूमिका कार्य करती जान पडती है।

सामवेद सहिता के नाम से जो प्रतियाँ आज उपलब्ध है, वे दो भागो मे विभक्त हैं। प्रथम भाग की सज्ञा पूर्वाचिक और द्वितीय भाग की उत्तराचिक है। पूर्वाचिक तथा उत्तराचिक मे कुल मिलाकर मन्त्रो की सख्या 1,810 है, जिनमे से 261 मन्त्रो की दो बार आवृत्ति हुई है। इस प्रकार, उन्हे कम कर देने पर सामवेद की कुल मन्त्र-सख्या 1,549 रह जाती है। इन 1549 मन्त्रो मे भी केवल 75 मन्त्रो को छोडकर शेष सब मन्त्र ऋग्वेद के अष्टम तथा नवम मण्डल से लिए गए है। यदि इन्हें भी अलग कर दिया जाए, तो सामवेद का कलेवर चारो वेदो मे सबसे लघु रह जाता है।[1]

सामवेद मे अध्याय या मण्डल के स्थान पर प्रपाटक है। पूर्वाचिक मे कुल 6 प्रपाटक हैं, जिनमें दस-दस मन्त्रो की दस दशति हैं। कुछ दशतियो में मन्त्रो की सख्या 8 या 9 भी है। इस प्रकार, सम्पूर्ण पूर्वाचिक में 585 मन्त्र है। उत्तराचिक में नौ प्रपाठक हैं, जिनमें आरम्भ के पाँच दो-दो अर्धभाग में विभक्त है, शेष चार के तीन-तीन अर्धक हैं। कुल 9 प्रपाटको में 22 अर्ध, 119 खण्ड और 400 सूक्त है, जिनमें मन्त्र-सख्या 1225 है। इस प्रकार, दोनो आर्चिको की मन्त्र-सख्या का योग 1810 है।[2]

सामवेद को गांधर्ववेद के नाम से भी जाना जाता है। इसमें हजारो राग-रागनियाँ दर्शनीय हैं। सामवेद की अधिकांश ऋचाएँ गायत्री और जगती छन्दो में हैं। उस युग में प्रमुख वाद्य-यन्त्र-दुन्दुभि, वीणा और वेणु रहे। सामवेद को ललित कलाओ का उद्गम केन्द्र या बिन्दु माना जाता है। इस वेद से छान्दोग्य ब्राह्मण तथा छान्दोग्योपनिषद् सम्बद्ध है।

शाखाएँ

सामवेद की शाखाओ के विषय में अनेक प्रवाद प्रचलित है। पुराणो में तो सामवेद की सहस्रो शाखाओ का उल्लेख है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी 'सहस्त्रवर्त्मा सामवेद' लिख कर हजारो शाखाओ की बात की पुष्टि की है, किन्तु चरणव्यूह ग्रन्थ में इसकी सोलह शाखाएँ कही गई हैं। सम्प्रति, इस वेद की केवल तीन शाखाओ का ही अस्तित्व सर्वविदित है। इनके नाम हैं—कौथुमीय शाखा, राणायनीय शाखा तथा जैमिनीय शाखा।

कौथुमीय शाखा का प्रचार गुजरात प्रान्त मे अधिक है। काशी मे रहने वाले गुजराती ब्राह्मणो मे इस शाखा का प्राचीनकाल से अध्ययन होता चला आ रहा है। स्वरगान की विधि का ज्ञान भी अब इन्ही ब्राह्मण-परिवारो के कतिपय

1 वैदिक साहित्य सामवेद—डॉ विजयेन्द्र स्नातक, पृ 25
2 वही, पृ 25.

पण्डितो को है। यह शाखा प्रकाशित हो चुकी है। इसका सम्पादन 1848 मे थियोडोर वेन्फी महोदय ने जर्मन-अनुवाद के साथ किया।

इस शाखा से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ है—सहिता, तांड्य ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, छांदोग्य उपनिषद्, मशक कल्पसूत्र लाट्यायन श्रौतसूत्र, गोभिल गृह्यसूत्र।

राणायनीय शाखा का प्रचार महाराष्ट्र मे है। कौथुम शाखा की अपेक्षा इसका प्रचार कम ही है। इस शाखा के लोग सहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् की दृष्टि से उन्ही को मान्यता देते है, जिन्हें कौथुमीय शाखा के लोग मानते है। इनके श्रौत तथा गृह्य सूत्र उनसे भिन्न है। इनके श्रौत का नाम है द्राह्यायण श्रौत सूत्र तथा गृह्य का नाम है खदिर गृह्य सूत्र। यह शाखा भी मुद्रित हो चुकी है। इसका सर्वप्रथम सस्करण श्री जे स्टेवेन्सन ने इग्लैण्ड से 1842 मे अग्रेजी-अनुवाद के साथ प्रकाशित किया था।

जैमिनीय शाखा का प्रचार अपेक्षाकृत कम है। इसका प्रामाणिक सस्करण यूरोपीय विद्वान् डॉ कैलेण्ड ने प्रकाशित किया है। इस शाखा के जैमिनीय सहिता, जैमिनीय ब्राह्मण, केनोपनिषद्, जैमिनीय उपनिषद्, जैमिनीय श्रौत सूत्र और जैमिनीय गृह्य सूत्र प्रसिद्ध हैं।[1]

सामवेद के प्राचीन भाष्यकार

सामवेद के प्राचीन भाष्यकारो मे सात आचार्यों के भाष्य आज उपलब्ध होते हैं। सबसे पथम भाष्यकार का नाम है, माघवाचार्य इन्होंने अपने भाष्य का नाम विवरण रखा है। दूसरे भाष्यकार श्री भरतस्वामी हैं। तीसरे भाष्यकार सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य सायण हैं। सभी वेदो पर इनके भाष्य उपलब्ध होते हैं। चौथे भाष्यकर्त्ता हैं, सूर्य देवज्ञ। पाँचवें और छठे महास्वामी और शोभाकर भट्ट है। इनके अतिरिक्त, सामवेद पर पाश्चात्य विद्वानो ने भी शोध-सम्बन्धी सराहनीय कार्य किया है। अग्रेजी तथा जर्मन भाषा मे अनुवाद और टिप्पणियाँ भी लिखी है।

लन्दन से श्री जे स्टेवेन्सन के सम्पादन तथा एच एच विल्सन महोदय के निरीक्षण मे सामवेद-सहिता का प्रथम वार मुद्रण हुआ। उसके बाद वेन्फे महोदय ने बर्लिन से इसका प्रामाणिक सस्करण प्रकाशित किया। डब्ल्यू कैलेण्ड महाशय ने जैमिनीय शाखा का सम्पादन 1907 मे किया। आश्चर्य का विषय है कि अन्य भारतीय साहित्य की तरह वैदिक साहित्य की निधि सुरक्षित और सर्वजन सुलभ बनाने मे यूरोपीय विद्वानो का बडा योग रहा है। हमे उनकी गुण ग्राहकता और ज्ञान-लिप्सा की प्रशसा करनी चाहिए।

कतिपय भारतीय विद्वानो ने भी सामवेद-सहिता के प्रामाणिक सस्करण छापे है तथा तीन-चार सज्जनो ने उस पर आधुनिक युग मे भाष्य भी किया है। श्री तुलसीराम स्वामी और प जयदेव शर्मा का हिन्दी मे साधारण भाष्य है।

1 वही, प 26

देवता और विषय

इस सम्बन्ध मे डॉ विजयेन्द्र स्नातक का सारपूर्ण विवरण निम्नानुसार है—

देवता-विषयक विवेचन की दृष्टि से तो सामवेद का प्रमुख देवता सविता या सूर्य है, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण मे कहा है— सूर्यात्सामवेद । किन्तु अग्नि, इन्द्र और सोम देवता का भी इसमे पर्याप्त वर्णन है । पूर्वार्चिक की 12 दशतियो के मन्त्रो का सम्बन्ध अग्नि से, बीच की 36 दशतियो का सोमपायी इन्द्र से और अन्त की दशतियो का सोम से है । इन मन्त्रो का विनियोग सौमयान के लिए बताया गया है । यह सौमयान स्वर्ग-प्राप्ति का साधन वेदो मे वर्णित है । सामवेद का उपवेद उसके विषयानुकूल गन्धर्ववेद है । विषय की दृष्टि से यह वेद उपासना-काण्ड-प्रधान माना जाता है ।

सामवेद मे उपासना-काण्ड का प्राधान्य होने से अग्नि रूप, सूर्य रूप, सोम रूप ईश्वर का स्वतन्त्र प्रधान रूप से परिलक्षित होता है । ईश्वर की उपासना के लिए शान्तिपूर्ण वातावरण की नितान्त आवश्यकता है । ध्यान से उपयुक्त साधनो की कामना तथा सांसारिक राग-द्वेष से हमारा मन अभिभूत न हो, यह सामवेद के मन्त्रो मे बार-बार आकांक्षा के रूप मे प्रकट किया गया है । अग्नि रूप तेजस् शक्ति मे ईश्वर के दर्शन करता हुआ साधक अपने मन को इतना सुस्थिर और शान्त रखना चाहता है कि उसे प्रकृति के समस्त उपकरणो मे आनन्द के ही दर्शन हो—किसी प्रकार का सांसारिक व्यवधान उसकी उपासना के मार्ग मे उपस्थित न हो । उपासना की इस शान्त स्थिति मे उपासक को सर्वत्र उसी दिव्य शक्ति का स्वरूप दिखाई पडता है । पुरुष की व्यापकता का आभास इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से ध्वनि होता है—

ओइम् पुरुष एवेद सर्व यद्भूत यच्च भाव्यम् ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि ।।

प्रकृति के उपकरणो में कल्याण की कामना करता हुआ उपासक ईश्वर से यही चाहता है कि उसके लिए समस्त पदार्थ शान्ति और सुखदायक हो । उपासना की भूमिका में स्थित होने पर भी अपने चारो ओर के वातावरण में स्थायी शान्ति की कामना साधक के लिए अभीष्ट है । नीचे के मन्त्रो में यही भाव व्यक्त हुआ है—

ओइम् स न पवस्व श गवे श जनाय शमर्वते । शꣳ राजन्नोषधीभ्य ।
ओइम् शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शयोरभिस्रवन्तु न ।
आपो हिष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ।

सामवेद मे विश्व-कल्याण-कामना के मन्त्रो की भी कमी नही है । अखिल विश्व का कल्याण चाहने वाला उपासक ईश्वर से अपनी आभ्यन्तर पवित्रता के साथ समस्त चराचर की भी हितकामना मे लीन दिखाई पडता है—

भद्र कर्णेभि श्रृणुयाम देवा भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ꣳ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहित यदायु ।।

तथा—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।।

संक्षेप मे, सामवेद की महिमा और विषय-वस्तु का अवगाहन करने पर यह निष्कर्ष निकालना किसी भी व्युत्पन्न पण्डित के लिए कठिन नही कि चारो वेदो मे सामवेद का अपना एक विशिष्ट स्थान है और यह वेद अपनी गेयात्मकता के कारण प्रचार, प्रसार और प्रसिद्धि मे अपेक्षाकृत अधिक व्यापक भी रहा होगा। इस वेद का सकलन भी इस बात का द्योतक है कि ऋग्वेद, आदि अन्य वेदो से मन्त्र-चयन करके उन्हे इस वेद मे गीति शैली मे ढालने के उद्देश्य से ही ऋषियो ने एकत्र किया। उन मन्त्रो मे स्वर-सधान द्वारा चमत्कार-सृष्टि करने की अपूर्व क्षमता सामवेद द्वारा ही आई, अन्यथा मन्त्रो की पुनरावृत्ति से क्या लाभ सम्भव था ? भारतवर्ष के महाराष्ट्र और गुजरात प्रान्त मे इस वेद का अच्छा पठन-पाठन होता रहा है, किन्तु अब इसका सस्वर पाठ करने वाले पण्डितो का अभाव होता जा रहा है। जिस सामवेद-गान की हम भूरि-भूरि प्रशसा पुरातन ग्रन्थो मे पढते है, आज उसका लोप देख कर दुःख होना स्वाभाविक है। क्या यह सम्भव नही कि सगीत-प्रेमी जन सामगान की आर्ष-पद्धति की परम्परा को जीवित रखने के लिए भारतीय सगीत के साथ इसे भी पुनरुज्जीवित करें और वैदिक साहित्य की इस अमूल्य ज्ञान राशि को विनष्ट होने से बचाएँ ?

सामवेद की महिमा अन्य वेदो मे भी अनेक स्थानो पर वर्णित है। ऋग्वेद मे तो अनेक ऋचाएँ सामवेद की प्रशसा मे ही लिखी गई है। वेदो के अतिरिक्त ब्राह्मण तथा उपनिषद्-ग्रन्थो से लेकर महाभारत और गीता तक सामवेद की महिमा का अखण्ड रूप से कीर्तन होता रहा है।

4. अथर्ववेद सहिता

वेद की चौथी सहिता अथर्ववेद है। कहा जाता है कि एक बार ब्रह्माजी ने उग्र तपस्या करके अपने तेजस्वी शरीर से दो जल धाराएँ उत्पन्न की। पहली धारा को अथर्वन तथा दूसरी धारा को अगिरा कहा गया। वस्तुत 'ब्रह्मा' मन्त्रद्रष्टा के लिए उपाधिसूचक शब्द है। ब्रह्मा की तपस्या से दो जलधाराओ के उत्पन्न होने का अर्थ है—मन्द्रष्टा ब्रह्मा के दो विद्वान पुत्रो की उत्पत्ति एव विकास। मनुस्मृति मे ऋक्, यजु साम नामक तीन वेदो के आविर्भाव की बात कहकर अथर्ववेद के विषय मे महर्षि अगिरा या बृहस्पति द्वारा ब्रह्माजी को अथर्ववेद का ज्ञान देने की बात का उल्लेख है—'अध्यापयामास पितृन् शिशुरागिरस कवि ।' अत मन्त्रद्रष्टा ब्रह्मा के शिष्यो अथवा पुत्रो ने ही अथववेद की रचना की।

चारो वैदिक सहिताओ मे अन्तिम स्थान अथर्ववेद का है। गणना-क्रम मे अन्तिम स्थान होते हुए और यजुर्वेद का प्रधान विषय कर्मकाण्ड होते हुए भी वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से अथर्ववेद को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वैदिक कर्मकाण्ड का सचालन जिन चार ऋत्विजों के तत्वावधान मे होता है, उनमे सबसे मुख्य स्थान ब्रह्मा का है और इस पद पर अभिषिक्त होने का गौरव केवल अथर्ववेदज्ञ को ही प्राप्त होता है। स्वय ऋग्वेद ने 'यज्ञैरथर्वा प्रथम प्रथस्तते ऋक् (1 8 35) कह कर अथर्ववेद के इस महत्त्व का प्रतिपादन किया है। ऋग्वेद की यह उक्ति

अथर्ववेद की प्राथमिकता के साथ उसकी प्राचीनता की भी परिचायक है। अतः आधुनिक विद्वानों का उसको अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयास युक्तिसंगत नहीं है।[1]

अथर्ववेद के मूलतः दो भाग हैं—अथर्वन् और अंगिरस्। 'अथर्वन्' भाग में मन्त्र-तन्त्र, टोना-टोटका तथा औषधियों का युक्तियुक्त विवेचन है। 'अंगिरस्' भाग में मारण-उच्चाटन विषयक मन्त्रों का संग्रह है। प्राप्त अथर्ववेद संहिता में 20 काण्ड, 48 प्रपाठक, 760 सूक्त एवं 6000 मन्त्र हैं। इस संहिता के सम्पादन में भृगुवंशी विद्वानों का पूर्ण सहयोग रहा है। अथर्ववेद को 'ब्रह्मवेद' नाम से भी अभिहित किया गया है। प्रस्तुत वेद में प्राण आशीर्वाद, मारण-उच्चाटन, मोहन-वशीकरण, स्तुति प्रार्थना आदि से सम्बद्ध मन्त्रों का संग्रह होने के कारण ही इसे 'ब्रह्मवेद' कहा गया है। वस्तुतः उक्त प्रकृति के मन्त्रों को 'ब्रह्माणी' कहा जाता है। इसलिए अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद' के रूप में स्वीकार किया गया है। 'ब्रह्म' शब्द विस्तार का वाचक है। अथर्ववेद में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए—विस्तार के लिए अनेक स्वस्थ परिकल्पनाएँ हैं। यथा—

जीवेम शरदः शतम्, बुध्येम शरदः शतम्, रोहेम शरदः शतम्।

प्रस्तुत वेद में शरीर को आठ चक्रों तथा नव द्वारों से संयुक्त सिद्ध करके, उसे अयोध्या नगर के रूप में परिकल्पित किया है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

यथार्थतः शरीर देवों की—दिव्य शक्तियों की ही नगरी है या पुर है। शरीर को पुष्ट रखने के लिए औषधियों का सेवन तथा मन को पवित्र एवं सत्कर्मरत रखने के लिए आध्यात्म पथ पर अग्रसर होना ही अथर्ववेद की मौलिक शिक्षाएँ हैं। इस वेद में कुछ मन्त्र यज्ञों से सम्बद्ध तथा कुछ मन्त्र आध्यात्मिक रहस्यों से सम्बन्धित हैं।

अथर्ववेद के प्रतिपाद्य विषय

अथर्ववेद के सूक्त आयुर्वेद सम्बन्धी, राजधर्म या राष्ट्र धर्म सम्बन्धी, समाज-व्यवस्था विषयक, अध्यात्मविद्यापरक और विभिन्न विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। इनका सारभूत विश्लेषण आचार्य विश्वेश्वर ने निम्नानुसार किया है।[2]

आयुर्वेद-सम्बन्धी सूक्त—अथर्ववेद के आयुर्वेद-सम्बन्धी सूक्तों में मानव-शरीर के आपादमस्तक समस्त अंगों का नामग्रहपूर्वक उल्लेख पाया जाता है। साहित्य के कवियों का नख-शिख वर्णन जिस प्रकार नख से शिख की ओर चलता है, उसी प्रकार अथर्ववेद में मानव-शरीर के अंगों का वर्णन पैर के तलुवे से प्रारम्भ होकर क्रमशः ऊपर की ओर चलता जाता है। शरीर-रचना के बाद शारीरिक रोगों—ज्वर और गण्डमाला-जैसे साधारण रोगों से लेकर कुष्ठ और राजयक्ष्मा-जैसे भीषण रोगों तक—का वर्णन अथर्ववेद में मिलता है। ज्वर के प्रसंग में शीतज्वर अर्थात्

1 वैदिक साहित्य अथर्ववेद–आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ 31
2 वही, पृष्ठ 32-35

सक्षेप मे, सामवेद की महिमा और विषय-वस्तु का अवगाहन करने पर यह निष्कर्ष निकालना किसी भी व्युत्पन्न पण्डित के लिए कठिन नही कि चारो वेदो मे सामवेद का अपना एक विशिष्ट स्थान है और यह वेद अपनी गेयात्मकता के कारण प्रचार, प्रसार और प्रसिद्धि मे अपेक्षाकृत अधिक व्यापक भी रहा होगा। इस वेद का सकलन भी इस बात का द्योतक है कि ऋग्वेद, आदि अन्य वेदो मे मन्त्र-चयन करके उन्हे इस वेद मे गीति शैली मे ढालने के उद्देश्य से ही ऋषियो ने एकत्र किया। उन मन्त्रो मे स्वर-सधान द्वारा चमत्कार-सृष्टि करने की अपूर्व क्षमता सामवेद द्वारा ही आई, अन्यथा मन्त्रो की पुनरावृत्ति से क्या लाभ सम्भव था ? भारतवर्ष के महाराष्ट्र और गुजरात प्रान्त मे इस वेद का अच्छा पठन-पाठन होता रहा है, किन्तु अब इसका सस्वर पाठ करने वाले पण्डितो का अभाव होता जा रहा है। जिस सामवेद-गान की हम भूरि-भूरि प्रशसा पुरातन ग्रन्थो मे पढते है, आज उसका लोप देख कर दु ख होना स्वाभाविक है। क्या यह सम्भव नही कि सगीत-प्रेमी जन सामगान की आर्ष-पद्धति की परम्परा को जीवित रखने के लिए भारतीय सगीत के साथ इसे भी पुनरूज्जीवित करें और वैदिक साहित्य की इस अमूल्य ज्ञान राशि को विनष्ट होने से बचाएँ ?

सामवेद की महिमा अन्य वेदो मे भी अनेक स्थानो पर वर्णित है। ऋग्वेद मे तो अनेक ऋचाएँ सामवेद की प्रशसा मे ही लिखी गई हैं। वेदो के अतिरिक्त ब्राह्मण तथा उपनिषद्-ग्रन्थो से लेकर महाभारत और गीता तक सामवेद की महिमा का अखण्ड रूप से कीर्तन होता रहा है।

4. अथववेद सहिता

वेद की चौथी सहिता अथर्ववेद है। कहा जाता है कि एक बार ब्रह्माजी ने उग्र तपस्या करके अपने तेजस्वी शरीर से दो जल धाराएँ उत्पन्न की। पहली धारा को अथर्वन तथा दूसरी धारा को अगिरा कहा गया। वस्तुत 'ब्रह्मा' मन्त्रद्रष्टा के लिए उपाधिसूचक शब्द है। ब्रह्मा की तपस्या से दो जलधाराओ के उत्पन्न होने का अर्थ है—मन्द्रष्टा ब्रह्मा के दो विद्वान पुत्रो की उत्पत्ति एव विकास। मनुस्मृति मे ऋक्, यजु साम नामक तीन वेदो के आविर्भाव की बात कहकर अथर्ववेद के विषय मे महर्षि अगिरा या बृहस्पति द्वारा ब्रह्माजी को अथर्ववेद का ज्ञान देने की बात का उल्लेख है—'अध्यापयामास पितृन् शिशुरागिरस कवि ।' अत मन्त्रद्रष्टा ब्रह्मा के शिष्यो अथवा पुत्रो ने ही अथववेद की रचना की।

चारो वैदिक सहिताओ मे अन्तिम स्थान अथर्ववेद का है। गणना-क्रम मे अन्तिम स्थान होते हुए और यजुर्वेद का प्रधान विषय कर्मकाण्ड होते हुए भी वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से अथर्ववेद को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वैदिक कर्मकाण्ड का सचालन जिन चार ऋत्विजों के तत्वावधान मे होता है, उनमे सबसे मुख्य स्थान ब्रह्मा का है और इस पद पर अभिषिक्त होने का गौरव केवल अथर्ववेदज्ञ को ही प्राप्त होता है। स्वय ऋग्वेद ने 'यज्ञैरथर्वा प्रथम प्रथस्तते ऋक् (1 8 35) कह कर अथर्ववेद के इस महत्त्व का प्रतिपादन किया है। ऋग्वेद की यह उक्ति

अथर्ववेद की प्राथमिकता के साथ उसकी प्राचीनता की भी परिचायक है। अतएव आधुनिक विद्वानो का उसको अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयास युक्तिसगत नही है।[1]

अथर्ववेद के मूलत दो भाग है—अथर्वन् और अगिरस्। 'अथर्वन्' भाग मे मन्त्र-तन्त्र, टोना-टोटका तथा औषधियो का युक्तियुक्त विवेचन है। 'अगिरस्' भाग मे मारण-उच्चाटन विषयक मन्त्रो का सग्रह है। प्राप्त अथर्ववेद सहिता मे 20 काण्ड, 48 प्रपाठक, 760 सूक्त एव 6000 मन्त्र हैं। विच्य सहिता के अभ्युत्थान मे भृगुवशी विद्वानो का पूर्ण सहयोग रहा है। अथर्ववेद को 'ब्रह्मवेद' नाम से भी अभिहित किया गया है। प्रस्तुत वेद मे शाप-आशीर्वाद, मारण-उच्चाटन, मोहन-वशीकरण, स्तुति प्रार्थना आदि से सम्बद्ध मन्त्रो का सग्रह होने के कारण ही इमे 'ब्रह्मवेद' कहा गया है। वस्तुत उक्त प्रकृति के मन्त्रो को 'ब्राह्मणी' कहा जाता है। इमलिए अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद' के रूप मे स्वीकार किया गया है। 'ब्रह्म' शब्द विस्तार का वाचक है। अथर्ववेद मे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए—विस्तार के लिए अनेक स्वरूप परिकल्पनाएँ हैं। यथा—

जीवेम शरद शतम्, बुध्येम शरद ? शतम्, रोहेम शरद ? शतम्।

प्रस्तुत वेद मे शरीर को आठ चक्रो तथा नव द्वारो से सयुक्त सिद्ध करके, उसे अयोध्या नगर के रूप मे परिकल्पित किया है—

अष्टचक्रा नव द्वारा देवाना पुरयोध्या।

यथार्थत शरीर देवो की—दिव्य शक्तियो की ही नगरी है या पुर है। शरीर को पुष्ट रखने के लिए औषधियो का सेवन तथा मन को पवित्र एव अवदात रखने के लिए आध्यात्म पथ पर अग्रसर होना ही अथर्ववेद की मौलिक शिक्षाएँ है। इस वेद मे कुछ मन्त्र यज्ञो से सम्बद्ध तथा कुछ मन्त्र आध्यात्मिक रहस्यो से सम्बन्धित हैं।

अथर्ववेद के प्रतिपाद्य विषय

अथर्ववेद के सूक्त आयुर्वेद सम्बन्धी, राजधर्म या राष्ट्र धर्म सम्बन्धी, समाज-व्यवस्था विषयक, अध्यात्मविद्यापरक और विभिन्न विषयो से सम्बन्ध रखते हैं। इनका सारभूत विश्लेषण आचार्य विश्वेश्वर ने निम्नानुसार किया है।[2]

आयुर्वेद-सम्बन्धी सूक्त--अथर्ववेद के आयुर्वेद-सम्बन्धी सूक्तो मे मानव-शरीर के आपादमस्तक समस्त अगो का नामग्रहपूर्वक उल्लेख पाया जाता है। साहित्य के कवियो का नख-शिख वर्णन जिस प्रकार नख से शिख की ओर चलता है, उसी प्रकार अथर्ववेद मे मानव-शरीर के अगो का वर्णन पैर के तलुवे से प्रारम्भ होकर क्रमश ऊपर की ओर चलता जाता है। शरीर-रचना के बाद शारीरिक रोगो—ज्वर और गडमाला-जैसे साधारण रोगो से लेकर कुष्ट और राजयक्ष्मा-जैसे भीषण रोगो तक—का वर्णन अथर्ववेद मे मिलता है। ज्वर के प्रसग मे शीतज्वर अर्थात्

1 वैदिक साहित्य अथर्ववेद—आचार्य विश्वेश्वर, पृष्ठ 31
2 वही, पृष्ठ 32-35

मलेरिया और उसके अन्येद्यु तथा तृतीयक (तिजारी), आदि भेदो का भी वर्णन मिलता है। औषधियो के प्रसग मे अपामार्ग, पृश्निपर्णी, पिप्पली, आदि औषधियो का वर्णन आया है। चिकित्सा के प्रसग मे जल-द्वारा चिकित्सा का भी वर्णन है तथा उदय होते हुए सूर्य की रश्मियो का प्रयोग भी बताया गया है। इस प्रकार, आयुर्वेद-सम्बन्धी अनेक बातो का वर्णन अथर्ववेद म पाया जाता है।

राजधर्म-सम्बन्धी सूक्त—राजधर्म का वर्णन करते हुए अथर्ववेद ने विशुद्ध प्रजातान्त्रिक राज व्यवस्था का निर्देश किया है। 'त्वा विशो वृणता राज्याय' (3–4–2) के स्पष्ट शब्दो मे राजा के वरण अर्थात् निर्वाचन और चतुर्थ काण्ड के अष्टम सूक्त मे 'अभि त्वा वर्चसा सिचन्नापो दिव्या पयस्वती', आदि से उसके अभिषेक का वर्णन किया गया है। अभिषेक के समय राष्ट्रपति प्रजाजनो को विश्वास दिलाता है कि 'अह राष्ट्रस्याभी वर्गे निजो भूयासमुत्तम' (3–5–2) अर्थात् मैं राष्ट्रजनो के मध्य सदैव उनका निज और उत्तम विश्वासभाजन रहूँगा। राष्ट्रपति से आशा की जाती है कि वह सदैव राष्ट्र की उन्नति मे तत्पर रहेगा—'बृहद्राष्ट्र दधातु न'। राज्य के शासन के लिए न केवल राष्ट्रपति, अपितु उसकी राष्ट्रसभा तथा प्रवर-समिति का भी निर्देश 'सभा च मा समितिश्चावताम्' (7–13–1) के शब्दो मे किया है। राष्ट्र की सुव्यवस्था के लिए राष्ट्रपति और उसकी राष्ट्रसभा के सदस्यो मे पूर्ण सहयोग होना आवश्यक है। 'ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचस। एषामह समासीनाना वर्चो विज्ञानमाददे।' (7–13–2) जो राष्ट्रसभा के सदस्य है, वे मुझ राष्ट्रपति के साथ एक स्वर मे बोलें और मैं राष्ट्रहित के लिए उनके ज्ञान और शक्ति का उपयोग करूँ। इस राष्ट्रीय व्यवस्था के लिए उच्चतम सिद्धान्तो का प्रजातान्त्रिक आदर्शो पर अथर्ववेद ने प्रतिपादन किया है।

समाज-व्यवस्था सम्बन्धी सूक्त—अथर्ववेद का तीसरा प्रतिपाद्य विषय समाज-व्यवस्था है। वैदिक सस्कृति मे समाज-व्यवस्था की आधारभित्ति वर्णाश्रम-व्यवस्था है। अथर्ववेद मे भी उस वर्णाश्रम-व्यवस्था के विषय मे बहुत-कुछ कहा गया है। उसके सुविदित होने से हम इस समय उसके विषय मे कुछ नही कहेगे।

समाजशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार, हमारे सामाजिक जीवन की इकाई कुटुम्ब या परिवार है। अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के 30वें सूक्त मे हमारे पारिवारिक जीवन का जो आदर्श और स्पृहणीय चित्र उपस्थित किया गया है, वह हमारे हृदयो को उद्बोधन देने वाला अबाध त्रैकालिक सत्य है। उसके कुछ मन्त्रो को इस समय प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। माता, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन—यही परिवार के मुख्य अग हैं। इन सबके पारस्परिक सम्बन्धो का प्रदर्शन करते हुए अथर्ववेद ने लिखा है 'अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवतु सम्मना, जाया पत्ये मधुमती वाच वदतु शान्तिवाम्॥ मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यन्च सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया।' अर्थात् पुत्र पिता का अनुगामी और माता के मनोनुकूल चलने वाला हो। पति और पत्नी परस्पर मधुरभाषी बनें।

भाई-भाई और बहन-बहन या भाई-बहनो मे कभी किसी प्रकार का द्वेष या झगडा नही होना चाहिए। इकाई से बढ कर सामाजिक जीवन का चित्रण करते हुए अथर्ववेद मे लिखा है--'समानी प्रपा सह वोऽन्नभाग' अर्थात् तुम्हारा खान-पान, भोजनाच्छादन, आदि समान हो, इससे हमारे सामाजिक जीवन मे प्रेम का सन्चार होगा। 'सहृदय सामञ्जस्यविद्वेष कृणोमि व, अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्स जातमिवाघ्न्या' अर्थात् सहृदय और समान मन वाले बनो परस्पर-द्वेष मत करो और जैसे गाय अपने नवजात बच्चे को प्यार करती है, इसी प्रकार परस्पर एक-दूसरे से सदैव प्रेम करो। यह आदर्श है, जिसके अनुसार अथर्ववेद हमारे सामाजिक जीवन को बनाना चाहता है।

अध्यात्मविद्यापरक सूक्त—अथर्ववेद का चौथा मुख्य प्रतिपाद्य विषय अध्यात्मवाद है। 'अस्य वामस्य' सूक्त के नाम से प्रसिद्ध नवम् काण्ड का नवम् सूक्त अध्यात्मविद्या का सबसे मुख्य सूक्त है। यह सूक्त ऋग्वेद मे भी पाया जाता है। उसे हम भारतीय दर्शनशास्त्र का आदिस्रोत कह सकते है। अध्यात्मवाद के क्षेत्र मे एकेश्वरवाद और बहुदेववाद, द्वैतवाद और अद्वैतवाद, आदि कई ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिनके विवेचन मे बडे-बडे दिग्गज विद्वानो ने भी ठोकर खाई है। परन्तु अथर्ववेद उनके विषय मे बडे स्पष्ट शब्दो मे प्रतिपादन करता है। बहुदेववाद का निराकरण कर एकेश्वरवाद की स्थापना करते हुए अथर्ववेद मे लिखा है—"इद मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य? स सुपर्णो गरुत्मान्, एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यम मातरिश्वानमाहु" (9 10 28) अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, आदि अलग-अलग देवता नही, वे सब गुण भेद से परमात्मा के ही नाम हैं। सृष्टि-विज्ञान मे ईश्वर, जीव और प्रकृति—ये तीन नित्य पदार्थ अथर्ववेद ने माने हैं। इन तीनो के स्वरूप और परस्पर सम्बन्ध का निरूपण करते हुए अलकार-रूप से अथर्ववेद ने लिखा है—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते, तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योभिचाकशीति" (3 9 20) अर्थात् समान रूप, साथ रहने वाले, दो मित्र पक्षी एक समान वृक्ष पर बैठे हैं, उनमे से एक उस वृक्ष के स्वादु फलो को खाता है और दूसरा नही। यह वृक्ष प्रकृति है, दोनो पक्षी ईश्वर और जीव है। जीव फलो का भोग करता है, ईश्वर इस फलभोग से अलग है। अध्यात्मवाद मे इस ईश्वर का साक्षात्कार ही जीवात्मा का परम ध्येय है। अथर्व ने इसका निरूपण करते हुए लिखा है—'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (9 10 18) अर्थात् जो उसको नही जानता, उसके लिए वेदादि सब व्यर्थ है। 'तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मान धीरमजर युवानम्' (10 8 44) अर्थात् उस परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर जीव परमानन्द-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। 'अकामो धीरोऽमृत स्वय-भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोन' (10 8 44) अर्थात् यही अथर्ववेद का अध्यात्मवाद है।

विभिन्न विषयक सूक्त—अथर्ववेद ने स्वय वेद को माता और देव को काव्य कहा है 'स्तुतामया वरदा वेदमाता' तथा 'पश्य देवस्य काव्य न ममार न जीर्यति' (10 8 32)। इसलिए काव्य की दृष्टि से भी उसका कुछ रसास्वादन कर लेना

उचित होगा। काव्य की आत्मा रस है और उमको सर्वोत्तम आनन्दानुभूति-रूप ब्रह्मानन्दमहोदर माना गया है। अथर्ववेद ने उस ब्रह्मानन्द की अनुभूति का वर्णन करते हुए लिखा है—'रसेन तृप्तो न कुतश्चनोन' (10 8 44)। साहित्य मे अभिनव-गुप्त के रस-सम्प्रदाय का आदिमूल कदाचित् यही रहा हो। 3 25 2 मे जब हम 'आधिपर्णा कामशल्यमिप सकल्पकुल्मला ता सुमनता कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि' पढते हैं, तो हमे मध्यकाल के शृ गारी साहित्य का स्मरण हो आता है। साहित्यिक जगत् के प्राकृतिक वर्णनो मे वाल्मीकि तथा तुलसीदास के वर्षा-वर्णन बहुत उत्कृष्ट माने गए हैं। अथर्ववेद का चतुर्थ काण्ड का 15वाँ सूक्त वर्षासूक्त है और यह प्रकृति-वर्णन का बडा उत्कृष्ट उदाहरण है। तुलसीदास ने वर्षा-वर्णन मे 'दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई, वेद पढहि जनु वटु समुदाई' की जो सुन्दर उपमा दी हे, उसका जोड अथर्ववेद मे 'सवत्सर शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणो वाच पर्जन्यजिन्विता प्रमण्डूका अवादिषु' मे विद्यमान है।

वेदो का वर्ण्य विषय

वेद सत्य विद्या के अगाध भण्डार हैं, अत उनका वर्ण्य-विषय भी मानव-समुदाय के परम कल्याण से सम्बद्ध हे। वेद मे मुख्यत निम्न विषयो का वर्णन किया गया है—

1 दिव्य शक्तियो का स्तवन, 2 यज्ञ-सम्पादन, 3 कर्मण्यता, 4 प्रकृति-प्रेम, 5 आध्यात्मिक गहराइयाँ, 6 स्वस्थ जीवन-दर्शन, 7 आयुर्वेदिक ज्ञान।

1 दिव्य शक्तियो का स्तवन—वेदो मे द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, भूलोक आदि से सम्बद्ध दिव्य शक्तियो का स्तवन किया गया है। सूर्य, पूषा, मित्र, सविता आदि दिव्य शक्तियो को मनुष्यो के कार्य मे पूर्ण सहायक सिद्ध करके उनसे प्रकाश पाने के फलस्वरूप मनुष्यो को भी उनसे प्रेरणा ग्रहण करने के अनुदेश दिए गए हैं। सूर्य अपने किरण-घोडो को हाँकता हुआ सिद्ध किया गया है। इन्द्र को कभी सूर्य, कभी वादल तथा कभी एक राजा के रूप मे स्मरण किया गया है। पर्जन्य देवता वृष्टि करके समस्त फसलो को अपार रूप मे उत्पन्न कराने मे उपादान-भूमिका प्रस्तुत करता है, इसीलिए उसके लिए आहुतियाँ देना याजको का परम पुनीत कर्त्तव्य है। अग्नि देवता भूपाल का देवता है, जो देवयज्ञ मे पुरोहित का काय करता है। वस्तुत अग्नि मे जो हवि आहूत की जाती है वह अग्नि के माध्यम से ही वातावरण मे व्याप्त होकर मानव के लिए शुद्ध वायुमण्डल प्रदान करती है। हिरण्यगर्भ—सूर्य देवता को समस्त सृष्टि का मूल आधार मानकर उसे प्रेरणा स्रोत सिद्ध किया है। सूर्य के प्रति मन्त्रद्रष्टा की भक्ति निम्नलिखित मन्त्र मे द्रष्टव्य है—

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेकासीत।
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
य आत्मदा वलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिष यस्त देवा।
यस्यच्छायामृत यस्य मृत्यु, कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

मन्त्रद्रष्टाओ ने पृथ्वी को गोमाता के रूप मे, नदियो को वत्सला माँ के रूप मे तथा सूर्य-रूप विष्णु को सभी मानवो के भाई के रूप मे चित्रित करके सांस्कृतिक स्तर पर सामाजिक भावनाओ को दिव्यत्व प्रदान करने का सुन्दर प्रयास किया गया है।

2 यज्ञ-सम्पादन—डॉ रामधारीसिंह दिनकर ने आर्यों को प्रवृत्तिमार्गी सिद्ध किया है। आर्यों को प्रवृत्तिमार्गी सिद्ध करने का आधार उनका यज्ञ सम्पादन ही है। इस सन्दर्भ में डॉ दिनकर के शब्द द्रष्टव्य हैं—"वैदिक युग के आर्य मोक्ष के लिए चिन्तित नही थे, न वे ससार को असार मानकर उससे भागना चाहते थे। उनकी प्रार्थना की ऋचाएँ ऐसी है, जिनसे पस्त से पस्त आदमियो के भीतर भी उमग की लहर जाग सकती है। उन्हे ऋतु का ज्ञान प्राप्त हो चुका था और वे मानते थे कि सारी सृष्टि किसी एक ही प्रच्छन्न शक्ति से चलित और ठहरी हुई है तथा उस शक्ति की आराधना करके, मनुष्य जो भी चाहे, प्राप्त कर सकता है। किन्तु, बराबर उनकी प्रार्थना लम्बी आयु, स्वस्थ शरीर, विजय, आनन्द और समृद्धि के लिए ही की जाती थी। वैदिक प्रार्थनाएँ, प्रार्थनाएँ भी है और सबल, स्वस्थ, प्रफुल्ल जीवन को प्रोत्साहन देने वाले मन्त्र भी।" वस्तुत वेदो का यज्ञ-सम्पादन निम्न विशेषताएँ लिए हुए है—

(i) प्रकृति निरन्तर यज्ञ करती है, अत मनुष्यो को उससे अथक् परिश्रम की प्रेरणा लेनी चाहिए।

(ii) यज्ञ प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम का परिचायक है।

(iii) यज्ञ नियमितता का मूल स्रोत है।

(iv) यज्ञ के माध्यम से पूर्वजो के प्रति भी निष्ठा व्यक्त की जा सकती है।

(v) यज्ञ का प्रत्यक्ष देवता अग्नि वातावरण की शुद्धि में सहायक सिद्ध होता है—'अग्निमीले पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतार रत्नधातमम्॥'

(vi) 'यज्ञ' शब्द एक विस्तृत अर्थ में रण-यज्ञ, श्रम-यज्ञ, भोग-यज्ञ आदि का वाचक है, अत सहज प्रशस्य है।

3 कर्मण्यता—वेदो में विभिन्न दिव्य शक्तियो की स्मृतियो की स्तुति करने के पीछे एक महान् कर्मण्यता छिपी हुई है। रुद्र देवता को महाशक्ति-सम्पन्न नित्य तरुण तथा शत्रुओ के प्रति अत्यन्त कोपनशील सिद्ध करने के साथ-साथ उनसे यह भी प्रार्थना की गई है कि वे तथा उनकी सेनाएँ आर्यो के शत्रुओ अथवा सदाचार-परायण व्यक्तियो के शत्रुओ को धराशायी कर दें। वस्तुत रुद्र देवता की वीरता तथा उसकी सेनाएँ इस तथ्य की द्योतक हैं कि जिस प्रकार रुद्र ने अपने सगठन के माध्यम से देव और दैत्य शक्तियो को नाको चने चबा दिये, उसी प्रकार हम भी नीति मार्ग पर चलते हुए दुरात्माओ के विनाश हेतु अपने सुदृढ सगठन के माध्यम से आगे बढें। इसीलिए शकर को अद्वितीय योद्धा भी सिद्ध किया गया है—

"विश्वमम्व न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥"—ऋग्वेद 2/33/10

मित्र देवता जगत् में प्रकाश करता हुआ सभी कृषको को कार्य मे व्यस्त करता है। सोमरस के पान से अमरता का वरण करके मध्यम मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा दी गई है। वेदो की कर्मण्यता के पीछे विभिन्न शक्तियो से अपार याचना को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वेदो मे प्राकृतिक शक्तियो के सामने झुकने की भी वृत्ति भाग्यवादिता के रूप मे दिखलाई पडती है। भोगवादी आर्य ज्ञानमार्गी शकर से भयभीत दिखलाई पडते है।[1] आर्य मन्त्रद्रष्टाओ मे रुद्र के सामने ठहरने की कोई शक्ति भी दिखलाई नही पडती वे रुद्र देवता को विभिन्न यज्ञो के सम्पादन से, जिनमे भोगवादी प्रवृत्तियो का अभाव है, से सतुष्ट करना चाहते है। फिर भी वेदो का प्रवृत्तिमार्ग कर्मण्यता का ही पथ है। किसी बडी शक्ति के सम्मुख झुकना अथवा उसे अपने पक्ष मे लेने का उपक्रम भी कर्मवादी दृष्टिकोण ही है।

4 प्रकृति प्रेम—वेदो मे प्राकृतिक शक्तियो के प्रति अगाध प्रेम प्रदर्शित किया गया है। ऋग्वेद मे महर्षि विश्वामित्र ने उषा को एक अमर युवती के रूप मे चित्रित किया है। उषा की लालिमा पर मुग्ध होकर ऋषि ने अपने कवि हृदय का परिचय देते हुए यहाँ तक कह डाला कि उषा देवी दिव्य गुणो से परिपूर्ण है, वह मरण-धर्म से रहित है, वह सुवर्णमय रथ पर आरूढ होकर विश्व का दर्शन किया करती है, उसे प्रिय और सत्य वाणियो का उच्चारण करने वाली सूर्य की किरणो से विशेष स्नेह है, वह स्वर्ण के समान दैदीप्त होती हुई हमे विमुग्ध किया करती है।[2] कुछ अन्य मन्त्रद्रष्टाओ ने उषा को सूर्य की पुत्री कहा है।

वैदिक ऋषियो ने अग्नि को एक यजमान का रूप देकर इन्द्र-बादल या सूर्य को एक राजा का रूप देकर, पृथ्वी को गोमाता का रूप देकर प्राकृतिक तत्त्वो का मानवीकरण कर दिया है, जो उनके प्रकृति-प्रेम की पराकाष्ठा का परिचायक है। केवल इतना ही नही, वैदिक ऋषियो ने तो द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, जलमण्डल, वायुमण्डल, थल क्षेत्र, औषधि-समूह, वनस्पति-समूह विश्वदेव आदि का स्मरण करके समस्त प्राकृतिक वातावरण को शान्तिपूर्ण देखने का निश्चय प्रकट किया है। शरद ऋतु के प्रेमी मन्त्रद्रष्टाओ ने जीने, उन्नति करने जैसी क्रियाओ के लिए 'जीवेम शरद शतम्' तथा 'रोहेम शरद शतम्' कहकर अपनी प्रकृति परायणता का परिचय दिया है। प्रकृति-प्रेमी वेद प्रणेताओ ने वर्षा ऋतु के सन्दर्भ मे मेघ-गर्जना को बडा महत्त्व दिया है। मेघो के गर्जन से शत्रुओ के या विरहीजनो के हृदय विकम्पित हो जाते हैं। वस्तुत मेघ एक महाक्रान्तिकारी शक्ति के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। कालिदास का मेघदूत लौकिक सस्कृत साहित्य मे मेघ के कार्यो रूपो को चित्रित करने मे वैदिक पर्जन्य देवता से ही अनुप्रेरित जान पडता है। हिन्दी के प्रकृति-प्रेमी कवि सुमित्रानन्दन पन्त का 'बादल' जहाँ अग्रेजी के महान् कवि पी बी शैले की 'क्लाउड' कविता से प्रभावित जान पडता है, वहाँ वह पर्जन्य

1 "मात्वा रुद्र चक्रुधाम नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।" —ऋग्वेद, 2/33,4

2 ऋग्वेद 3/61/1–2

देवता से भी कम प्रभावित नही है। सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की 'बादल' कविता पर भी पर्जन्य सूक्त की सहज प्रकृति की छाप देखी जा सकती है। अब हम यहाँ सूर्य देवता के उस चित्र को प्रस्तुत करना चाहेंगे, जिसमे वह अन्धकार से परिपूर्ण अन्तरिक्ष लोक से पुन-पुन आते हुए अपने प्रकाश से सभी जीवधारियों को अपने स्वर्णिम रथ पर आरूढ होकर, देखता हुआ चित्रित किया गया है—

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयनमृत मर्त्य च।
हिरण्येन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्॥ ऋक् 1/35/2

अत वेदो मे सम्पूर्ण यज्ञ-विधान के पीछे अपार प्रकृति-प्रेम ही निहित है। जहाँ मेढको के हर्ष के माध्यम से कृषि-प्रधान देश भारतवर्ष की सम्पन्नता सूचित की गई है, वहाँ आर्यों की प्रकृति निष्ठा को समझना सरल और स्वाभाविक हो ही जाता है।

5 आध्यात्मिक गहराइयाँ– वेदो के अन्तिम भाग को वेदान्त के नाम से जाना जाता है अत अधिकांश आध्यात्मिक गहराइयाँ वेदो के अन्तिम भागो मे ही दर्शनीय हैं। परन्तु, इससे हमे यह नही समझ लेना चाहिए कि वदो के आदि और मध्य मे किसी प्रकार की कोई रहस्यात्मकता ही नही है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय मे समस्त जगत् मे ईश्वर की व्यापकता का सुन्दर चित्रण किया गया है। हमे कर्मनिष्ठा के माध्यम से ही भोगवाद की ओर बढना चाहिए। हमे कर्म परायण रहकर ही सौ वर्ण पर्यन्त जीवित रहने की इच्छा करनी चाहिए। सत्य रूपी महापात्र का मुख हिरण्यमय पात्र से ढका हुआ है, अत हम जब तक कचन-कामिनी रूपी माया को नही त्यागेंगे, तब तक यथार्थता का दर्शन सम्भव नही है। यथा—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
तत्त्व पूषन्नपावृण सत्यधर्माय दृष्टये॥ —यजुर्वेद

अथर्ववेद मे ईश्वरवादी 'नेति-नेति' सिद्धान्त का परिपाक दर्शनीय है। जिसे मन के द्वारा मनन का विषय नही बनाया जा सकता, अपितु मन ही जिसकी शक्ति से मनन करता है, वही ईश्वर है, अन्य कुछ नही। आँखें जिसे नही देख सकती, अपितु जिसकी शक्ति से आँखें देखने का कार्य करती हैं, वही ईश्वर है, अन्य कुछ नही। प्राण जिसकी शक्ति से सचार करते हैं, बुद्धि जिसकी शक्ति से चिन्ता करती है, इन्द्रियाँ जिसकी शक्ति से क्रियाशील रहती है, वही ईश्वर है। जो इन्द्रियो एव अन्त करण की पकड मे आ जाय, जिसकी पूजा बाह्य उपकरणो से होती है, वह ईश्वर नही है।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे चेतना-स्वरूप ईश्वर का मानवीकरण करके उसे अनन्त पैर वाला, असीम सिरो वाला, अगणित हाथो वाला सिद्ध किया है। वस्तुत वह चैतन्य तत्त्व समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर का विराट स्वरूप ही है तथा इसमे निहित असीम ज्ञानमयी-आनन्दमयी चेतना ही परमब्रह्म है। शकराचार्य का अद्वैतवाद इसी तत्त्व पर आश्रित है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त सृष्टि-रचना की असीम गहराइयो का ज्वलन्त उदाहरण है। नासदीय सूक्त को लेकर जगद्गुरु शकराचार्य के ईश्वर,

जीव और जगत् का अनिर्वचनीय स्वरूप विकसित हुआ है। बौद्ध दर्शन की सर्वोत्कृष्ट शाखा शून्यवाद की पृष्ठभूमि भी नासदीय सूक्त ही है। अत वेदो मे भाग्यवाद, यज्ञवाद, अद्वैतवाद, शून्यवाद, सर्वास्तिवाद आदि दार्शनिक सिद्धान्त बीज रूप मे देखे जा सकते है। वेदो का एकेश्वरवाद तथा बहुदेववाद भी देखते ही बनता है।

6 **स्वस्थ जीवन-दर्शन**—व्यावहारिक दर्शन का नाम ही जीवन दर्शन है। वेदो मे सभी वर्णो के लोगो को—स्त्रियो को सत्यविद्या को पढने तथा समझने का अधिकार दिया गया है। यजुर्वेद मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कल्याणी वाणी को—वेद को पढने का अधिकार अन्य लोगो को भी है इसी आधार पर वेदो मे स्त्रियो एव पुरुषो को समान धरातल पर खडा करने का सुन्दर प्रयास किया गया है, यथा—

यथेमा कल्याणीमवदानि जनेभ्य ।
ब्रह्मराजन्भ्या शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ —यजुर्वेद

जिस नारी-शोषण की बात आज के मानवतावादी दर्शन के परिप्रेक्ष्य मे की जाती है तथा उसके उद्धार हेतु आन्दोलन भी किए जाते हैं, वह नारी-उद्धार की भावना तो वेदो मे साकार रूप मे—व्यवहार रूप मे दृष्टिगोचर होती है।

ऋग्वेद के अक्ष सूक्त मे जुआ खेलने के व्यसन की ओर स्पष्ट सकेत किया गया है—"जिस जुआरी के धन पर बलवान द्यूत का पासा लगने लगता है, ऐसे जुआरी की पत्नी के केशो को जीते हुए पुरुषो द्वारा खीचा जाता है। हारे हुए जुआरी को उसके माता-पिता, पुत्र-पत्नी आदि भी घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। उसे घर से बाहर भी निकाल देते हैं। परन्तु, फिर भी जुआरी जब जुआ न खेलने का निश्चय करता है, तो द्यूत-क्रीडा का स्मरण अथवा पासो की खनखनाहट उसके चित्त को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। जुआरी पुन व्यभिचारिणी स्त्री की भाँति व्यसन की ओर अग्रसर हो जाता है।"

वेदो मे सोमरस के पान की विस्तृत चर्चा हुई है। सोम को सभी व्यक्तियो का राजा बतलाया गया है, उसके पान से आयु उसी प्रकार बढती है जिस प्रकार सूर्य के प्रतिदिन उदय से दिनो की सख्या बढती है। सोमरस के पान से प्रकाशमान लोको को प्राप्त किया जाता है—अर्थात् सात्विकी बुद्धि प्राप्त की जाती है, सोमपान से व्यक्ति बलवान बनता है, अपने शत्रु को विमर्दित करता है, किसी की धूर्तता के प्रकोप से अभय रहता है। वस्तुत सोमरस का पान सीमित मात्रा मे ही उपयोगी है। 'सोमरस' मदिरा का ही नाम है। इसलिए वेद मे सोमपान की बुराई की भी चर्चा की गई है। यदि सोमपान मे अतिपेयता का व्यवहार होगा तो व्यक्ति की मृत्यु भी हो सकती है तथा व्यक्ति क्रोधोन्मत्त भी हो सकता है—

"मा न रिष्येद्धर्यश्व पीत ।" ऋग्वेद, 8/48/10

वेदो मे वर्ण-व्यवस्था की मनोवैज्ञानिकता, माता-पिता का सम्मान, सतति-पालन की सुव्यवस्था, राष्ट्रीयता की भावना, कर्मपरायणता जैसी विशेषताओ को लेकर जीवन-दर्शन का स्वरूप चित्रित किया गया है।

7 आयुर्वेदिक ज्ञान—अथर्ववेद मे आयुर्वेदिक ज्ञान की प्रधानता है। वेद का उपचार-सम्बन्धी ज्ञान भी यज्ञ के माध्यम से ही विकसित हुआ है। औषधियो के भण्डार लेकर एक किंवदन्ती है। एक बार एक भिषगाचार्य किसी राजा के दरबार मे गए। राजा ने जब उनके आगमन का कारण पूछा तो उन्होने वृहदाकार पुस्तक निकालकर राजा को भेंट की तथा कहा कि इसमे सम्पूर्ण आयुर्वेदिक ज्ञान है। राजा ने अपनी राजनीतिक व्यवस्था का परिचय देकर यही कहना चाहा कि वह इतनी बडी पुस्तक को पढने अथवा सुनने का समय नही निकाल सकता। अत राजा ने उस पुस्तक को अति सक्षिप्त करने का आदेश दिया। उक्त भिषगाचार्य ने पुस्तक सक्षिप्तीकरण कर दिया। परन्तु, राजा ने उसे और भी सक्षिप्त रूप मे देखना चाहा। अन्तत वह पुस्तक एक श्लोक का एक चरण-मात्र ही बची। वह सूत्र निम्न है–'जीर्णमन्न भोजनम्' अर्थात् खाए हुए पदार्थ के पूर्णत जीर्ण हो जाने या पच जाने पर ही पुन भोजन करना चाहिए। वस्तुत आयुर्वेदिक औषधियो मे प्राकृतिकता को विशिष्ट महत्त्व दिया गया है। वेदो का 'त्यागमय भोग' सर्वोत्कृष्ट आयुर्वेदिक औषधि है–'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'। —यजुर्वेद, 40/1

सग्रह-रूप मे वेदो के वर्ण्य-विषय के बारे मे यही कहना समीचीन है कि वेद भौतिक और आध्यात्म पहलुओ के सतुलन को लेकर अवतीर्ण हुए है–'अविद्यया मृत्यु तरति विद्ययाऽमृतमश्नुते'। यथार्थत आर्य लोग तुरग की सवारी को महत्त्व देते थे। वे गाय को माता के समान आदर देते थे। इसीलिए अथर्ववेद मे गोहत्या के निषेध की अनेकश चर्चा हुई है। आर्य कृषि गोपालन को महत्त्व देने के साथ-साथ कुटीर उद्योगो को भी महत्त्व देते थे। वेदो के द्रष्टा स्वर्ण, लोहा, ताँबा आदि धातुओ से सुपरिचित जान पडते हैं। इसीलिए इन सभी तत्त्वो के समन्वयात्मक स्वरूप को देखने के कारण विभिन्न पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानो को वेदो की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करनी पडी। डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने यह विचार रखा है 'वेदो के द्रष्टाओ की अनुभूति के विषय मे अनुशीलन करने पर यही कहना पडता है कि वैदिक युग कोई आखेट युग नही था। वैदिक युग का व्यक्ति अत्यन्त सस्कृत एव जाग्रत जान पडता है। उनका कृषि एव गोपालन व्यवसाय आजकल भी भारतवर्ष की ग्रामीण प्रगति का मूलमन्त्र है।' कुछ विद्वानो ने वेदो मे वायुयान की–विकसित विज्ञान को भी खोजने की चेष्टा की है। परन्तु, वह दूर की खिचडी पकाने वाली बात ही प्रतीत होती है। वेदो मे 'विमान' शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है, परन्तु उसका अर्थ 'निर्माता' है, 'वायुयान' नही। यदि आर्य विमान बनाना जानते थे तो वे सैन्धव–सिन्धी घोडे की सवारी को ही सर्वाधिक महत्त्व क्यो देते रहे? विमान बहुत पहले ही बन चुके थे तो उनका विकास उसी रूप मे होना चाहिए था, जिस रूप मे वेदो के दर्शन का विकास हुआ है। अत विकासवादी विचार-धारा के आधार पर उलटी गगा बहाना कथमपि ठीक नही कहा जा सकता। अत वेदो ने हजारो वर्षों के ज्ञान का सचित रूप मानव-जाति को प्रदान किया है,

यही मानव-समुदाय के ऊपर उनका चिर ऋण है, वे हमारी अमूल्य थाती हैं । हमें वैदिक साहित्य पर गर्व है । वेदो के औपनिपदिक भाग के विपय मे ठीक ही कहा है—

"वैदिक साहित्य के दार्शनिक तत्त्व भारत मे अद्वितीय स्थान रखते हैं । इन तत्त्वो को विश्व के दर्शन साहित्य मे भी अद्वितीय कहा जा सकता है ।"[1]

ब्राह्मण ग्रन्थ
(Brahmanas)

ब्रह्म-भाव का नाम ब्राह्मण है । ब्राह्मण ग्रन्थो मे यज्ञ को ईश्वर का साकार स्वरूप कहा गया है–'एप वै प्रत्यक्ष यज्ञो यो प्रजापति ।'[2] अत जिन ग्रन्थो मे यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को–अर्थात् ब्रह्म को स्पष्ट किया गया है, वे ग्रन्थ ही ब्राह्मण ग्रन्थ हैं । किंवदन्ती के रूप मे यह भी माना जाता है कि ब्राह्मण लोग ही यज्ञो को सम्पादित कराते रहे हैं, अत पुरोहितो से सम्बद्ध ग्रन्थ ही ब्राह्मण-ग्रन्थ है । प्रस्तुत किंवदन्ती मे आधुनिक व्यावहारिक धरातल पर बहुत कुछ सार भी दिखलाई पडता है । वस्तुत ब्राह्मण-ग्रन्थ हिन्दुओ के मूल धर्म ग्रन्थ हैं । प्रारम्भिक युग मे वर्ण-व्यवस्था की मनोवैज्ञानिकता के फलस्वरूप हिन्दू-समाज मे किसी प्रकार की कोई सकीर्णता नही रही होगी, परन्तु कालान्तर मे जाति-पाँति के बन्धको के जकड जाने पर ब्राह्मण पिता का अज्ञ और बुद्धू पुत्र भी यज्ञ कराने का अधिकारी माना जाने लगा तथा वेदाविद् ब्राह्मण-जातीय व्यक्ति को यज्ञ कराने से वचित रखा जाने लगा । आंशिक रूप मे इसका पौराणिक प्रतिबिम्ब महर्षि वशिष्ठ तथा त्रिशकुश से जुडे हुए क्षत्रिय वर्णोत्पन्न विश्वामित्र की कथा मे देखा जा सकता है । फिर भी ब्राह्मण-ग्रन्थो का सम्बन्ध केवल ब्राह्मण जाति से ही है, ऐसी मान्यता मूर्खता मात्र ही कही जाएगी । वस्तुत ब्राह्मण-ग्रन्थ सनातन धर्म से सम्बद्ध हैं और सनातन धर्म व्यक्ति या मनुष्य का धर्म है । यदि उसे मानव धर्म के नाम से पुकारा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी । अब हमे विभिन्न वेदो के ब्राह्मण-ग्रन्थ पर विचार कर लेना चाहिए ।

ऋग्वेद के ब्राह्मण—ऋग्वेद-सहिता के दो ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं–ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतिकी ब्राह्मण । यद्यपि ऋग्वेद-सहिता के अनेक ब्राह्मणो की सम्भावना की गई, परन्तु आज ऐतरेय और कौपीतिकी ब्राह्मणो के अतिरिक्त अन्य किसी ऋग्वैदिक ब्राह्मण-ग्रन्थ की प्रतिलिपि प्राप्त नही । अत हमे दोनो ब्राह्मण ग्रन्थो के इतिहास पर विचार कर लेना चाहिए ।

ऐतरेय ब्राह्मण—ऐतरेय ब्राह्मण मे चालीस अध्याय हैं । इस ब्राह्मण मे कुरुवश के राजा परीक्षित-पुत्र जनमेजय के उल्लेख के साथ-साथ उसके पूर्वजो का भी उल्लेख किया है । डॉ काशीप्रसाद जायसवाल ने इस ब्राह्मण-ग्रन्थ का समय

1 "Philosophical Conciptems unequalled in India or perhaps anywhere elose in the word" —*Paul Den Sen*

2 शतपथ ब्राह्मण 4/3/4/3

एक हजार ई पू के लगभग स्वीकारा है। यह ब्राह्मण यज्ञ-विधान की शिक्षाओं के साथ-साथ ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा अन्य क्षेत्रीय ज्ञान-विज्ञान से भी जुड़ा हुआ है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' को कुछ लोग 'इतरा' नामक शूद्र के गर्भ से उत्पन्न महीदास नामक ब्रह्मवेत्ता की रचना मानते हैं। व्याकरण के आधार पर यदि 'इतरा' शब्द मे अपत्यवाचक ढक् प्रत्यय संयुक्त किया जाए तो 'ऐतरेय' शब्द ही निष्पन्न होगा।

कौषीतिकी ब्राह्मण—ऋग्वेद-संहिता का दूसरा ब्राह्मण शांखायन या कौषीतिकी ही है। कुषीत ऋषि के पुत्र कौषीतक उल्लेख्य ग्रन्थ के द्रष्टा या उपदेष्टा स्वीकारे गए हैं। इस ब्राह्मण मे 30 अध्याय हैं। प्रस्तुत ब्राह्मण की भाषा-वैज्ञानिक समीक्षा करने से पता चलता है कि यह ब्राह्मण एक ही लेखक की रचना है। इस ब्राह्मण मे अनेक पौराणिक आख्यान हैं। इसमे यज्ञ-विधान की चर्चा के साथ-साथ विभिन्न सामाजिक विज्ञानो का विलक्षण पुट भी दिखलाई पड़ता है। प्रस्तुत ब्राह्मण की विषय-प्रतिपादन की क्षमता भी उल्लेखनीय है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण—यजुर्वेद-संहिता के दो भाग हैं—कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद। इन दोनो संहिताओं का एक-एक ब्राह्मण है तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण। दोनो के ऐतिहासिक स्वरूप निम्न हैं—

तैत्तिरीय ब्राह्मण—प्रस्तुत ब्राह्मण के तीन भाग हैं, जो 25 प्रपाठक तथा 308 अनुवादको मे विभक्त है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे मनुष्य-बलि-अर्थात् पुरुष-मेध का भी वर्णन किया गया है। धर्म की दृष्टि से मनुष्य की बलि देना अनुचित है, इसलिए वेद के मर्मज्ञो को उक्त धार्मिक रूढि का परिहार करने के लिए अनुसन्धान करना पड़ा। शतपथ ब्राह्मण मे अन्न को 'गौ' या गाय का पर्याय कहा है। 'अश्वमेध' को 'राष्ट्र' का वाचक माना गया है। 'अग्नि' को 'अश्व' नाम से भी पुकारा है। 'अंजय' अर्थात् घृत के रूप मे 'मेध' शब्द को रखा गया, यथा—

अन्नं हि गौं। —शतपथ ब्राह्मण 4/3/25
राष्ट्रं वा अश्वमेध। वही 13/1/6/3
अग्निर्वा अश्व। आज्य मेध। वही 4/3/1/25

अत 'गोमेध' का अर्थ अग्नि मे अन्न की आहुति देना है, 'अश्वमेध' का अर्थ राष्ट्रीय उन्नति से है, 'नृमेध' का अर्थ मानवीय उन्नति है। 'नृ'—अर्थात् मानव का घृत कर्मपरायणता या मानवता है तथा 'यज्ञ' श्रम या कर्म का ही वाचक है। अत ब्राह्मण ग्रन्थो मे जहाँ कहीं भी विभिन्न मेधो की चर्चा हुई है, वहाँ हमे उसे सात्विक क्षेत्र मे ही ग्रहण करना चाहिए। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों के कार्य विभाग का सुव्यवस्थित उल्लेख है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास नामक चार आश्रमो की चर्चा भी उक्त ब्राह्मण का प्रतिपाद्य है।

शतपथ ब्राह्मण—शतपथ ब्राह्मण मे सौ अध्याय है। इसको 14 काण्डो मे विभक्त किया गया है। इस ब्राह्मण का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे

सर्वाधिक प्रसिद्ध गन्थ 'शतपथ' ही है। इसके प्रमुख रचयिता महर्षि शांडिल्य माने जाते हैं। शांडिल्य ने आध्यात्म-क्षेत्र मे 'शांडिल्य विद्या' की खोज की थी। आजकल 'शांडिल्य' ब्राह्मण जाति का एक गोत्र भी है। विवेच्य ब्राह्मण मे श्री रामचन्द्र की कथा, कद्रू-वनिता के सघर्ष की गाथा, पुरुरवा-उर्वशी का प्रेमाख्यान तथा अश्विनी कुमारो की कथा दर्शनीय है। प्रस्तुत ब्राह्मण का रचना-काल 2500 ई पू स्वीकार किया गया है। यह ब्राह्मण तार्किक और मनोवैज्ञानिक विवेचन के लिए विख्यात है। इसका आधार लेकर सस्कृत साहित्य की विभिन्न साहित्यिक विधाएँ विकसित हुई है। वस्तुत इसे साहित्यकारो का महान् प्रेरणा-स्रोत कहना पूर्णत उपयुक्त जान पडता है।

सामवेद के ब्राह्मण—सामवेद की तीन शाखाएँ—कौथुमीय, जैमिनीय तथा रामायणीय हैं। पहली दो शाखाओ के ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। रामायणीय सहिता का कोई ब्राह्मण प्राप्त नही हुआ हैं।

कौथुमीय सहिता के ब्राह्मण—कौथुमीय सहिता के पाँच ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं—पचविंश या ताण्डय, षड्विंश, अद्भुत, मन्त्र तथा छान्दोग्य। इन ब्राह्मणो मे 'पचविंश' ब्राह्मण का ऐतिहासिक महत्त्व है। इस ब्राह्मण मे अनेक पौराणिक या सामाजिक कथानक भरे पडे हैं। यदि पूरा ब्राह्मण-ग्रन्थ आज प्रामाणिक रूप मे प्राप्त होता तो कथा-साहित्य की प्राचीनतम परम्परा की खोज कर ली जाती। इसी प्रकार से 'षडविंश' ब्राह्मण भी अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। 'छान्दोग्य' ब्राह्मण का एक अश 'छान्दोग्योपनिषद्' के रूप में प्राप्त होता है।

जैमिनीय सहिता के ब्राह्मण—जैमिनीय सहिता के दो ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं—जैमिनीय ब्राह्मण तथा जैमिनीय उपनिद् ब्राह्मण। जैमिनीय ब्राह्मण मे यज्ञ का जो रूप विकसित हुआ है, उसे महर्षि जैमिनीकृत 'मीमांसा' दर्शन का प्रेरणा-स्रोत कहा जा सकता है। प्रस्तुत ब्राह्मण का ऐतिहासिक महत्त्व भी अक्षुण्ण है। इस ब्राह्मण को 'आर्षेय ब्राह्मण' के नाम से भी जाना जाता है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण मे यज्ञ और आध्यात्म का सुन्दर समन्वय है।

अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण—20 काण्डो मे सयुक्त अथर्ववेद सहिता का एकमात्र ब्राह्मण 'गोपथ' है। यह ब्राह्मण दो काण्ड और ग्यारह अध्यायो मे विभक्त है। इसके प्रथम काण्ड मे पाँच तथा द्वितीय काण्ड मे छ अध्याय हैं। 'गोपथ' ब्राह्मण-ग्रन्थ होने पर भी एक वेदान्तिक ग्रन्थ माना जाता है। इस ब्राह्मण मे आध्यात्म-विद्या का क्रमबद्ध विवेचन किया गया है। 'गो' एक श्लिष्ट शब्द है, जिसका इन्द्रिय, गाय और चेतना के रूप मे अर्थ लिया जाता है या लिया जा सकता है।

ब्राह्मण ग्रन्थो का विवेच्य विषय

ब्राह्मण-ग्रन्थ सनातन धर्म के प्रतिपादक है। सनातन धर्म मूल धर्म का ही दूसरा नाम है। आजकल जिसे हिन्दू धर्म या वैदिक धर्म नाम से जाना जाता है,वह सनातन धर्म या मानव धर्म ही है। ब्राह्मण-ग्रन्थो का प्रतिपाद्य निम्न रूप मे है—विधि-भाग, अर्थवाद, उपनिषद्-तत्त्व तथा आख्यान-चर्चा।

विधि-भाग—यज्ञ को सम्पादित करने की विधियो का वर्णन 'विधि-भाग' का मूल विषय है। कर्मकाण्ड की आवश्यकता और उपयोगिता का सुन्दर विवेचन विधि-भाग मे किया गया है। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म' अर्थात् यज्ञ करना हमारा महानतम कर्म है, इस नारे का उद्घोष विधि-भाग का प्राण है। अनेक प्रकार से यज्ञ-रचना का विधान मानव के विभिन्न हितो को ध्यान मे रखकर ही किया गया है। इसके साथ-साथ वेद मन्त्रो का विश्लेषण करना या व्याख्या करना तथा शब्दो की व्युत्पत्ति करना भी ब्राह्मणो के विधि-भाग का मूल विषय है। इसे निम्न उदाहरण के माध्यम से सूचित किया जा सकता है—

अग्निर्वा अश्व । आज्य मेध ॥ —शतपथ ब्राह्मण

अर्थवाद—करणीय कार्यों की प्रशसा करना तथा त्याज्य कार्यो की निन्दा करना 'अर्थवाद' कहलाता 'है विहितकार्य प्ररोचना निषिद्धकार्य निवर्तना अर्थवाद ।' अत ब्राह्मण-ग्रन्थो के 'अर्थवाद' भाग मे यज्ञो के सम्पादन की भूरि-भूरि प्रशसा की गई। एक ब्राह्मण के लिए अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, दान-प्रतिदान जैसे कार्य करणीय हैं। एक क्षत्रिय के लिए समाज-सुरक्षा तथा राष्ट्र-रक्षा का काय करणीय है। एक वैश्य के लिए कृषि, दुग्ध-व्यवसाय तथा व्यापार जैसे कार्य करणीय है। एक शूद्र व्यक्ति के लिए अन्य वर्णों की सेवा ही करणीय है। इसी तरह से आश्रम-व्यवस्था की करणीयता पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है।

उपनिषद् तत्त्व—ब्रह्मविद्या का नाम उपनिषद् है। उपनिषद्-भाग मे विद्या-अविद्या, ईश्वर-जीव, माया-जगत् जैसे रहस्यपूर्ण तत्त्वो के सन्दर्भ मे विचार किया गया है। हमे यहाँ यह याद रखना चाहिए कि ब्राह्मण-ग्रन्थो का उपनिषद् भाग उपनिषदो जैसी गहराइयो से परिपूर्ण नही है। मनुष्य को जरा-मरण की व्याधि से मुक्त करने का विधान भी उपनिषद्-भाग मे दृष्टव्य है—

पुनर्मृत्यु मुच्यते य एवमेतामग्निहोत्रे मृत्योऽतिमुक्ति वेद । —शतपथ 2/3/3/9

आख्यान-चर्चा—ब्राह्मण-ग्रन्थो मे झूसी (प्रयाग के निकट) के राजा पुरुरवा का उर्वशी के प्रति अटूट अनुराग से युक्त आख्यान दर्शनीय है। सर्पवश की आदि माता कद्रू तथा गरुडवश की आदि माता सुवर्ण या वनिता के बीच राजसत्ता को लेकर सघर्ष हुआ, उसके सकेत ब्राह्मण-ग्रन्थो मे मिलते हैं। राम तथा अश्विनी कुमारो की कथाएँ भी इन ग्रन्थो मे मिलती हैं। राजवशो की कथाओ के अतिरिक्त ऋषि-वशो की कथाएँ भी ब्राह्मणो मे पढी जा सकती है। रैक्व ऋषि का आख्यान छान्दोग्य ब्राह्मण मे पठनीय है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थो मे सनातन धर्म का जो स्वरूप व्यक्त किया है, उसके आधार पर ब्राह्मण-ग्रन्थो को यदि धर्म ग्रन्थ या धर्मशास्त्र कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

ब्राह्मण ग्रन्थो का महत्त्व

सहिता काल के तुरन्त पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थो की रचना प्रारम्भ हुई। सहिताएँ यज्ञ की प्रधानता से परिपूर्ण रही। परन्तु उनमे विशेषत मन्त्रो की

प्रधानता होने से यज्ञ-सम्पादन जन-ममाज के लिए दुर्बोध्य ही बना रहा। अत यज्ञ के रहस्य के साथ-साथ अन्य रहस्यो को प्रकट करने मे ब्राह्मण-ग्रन्थो का महत्त्व अनेको रूपो मे देखा जा सकता है---यज्ञ-सम्पादन का विवेचन, 2 गृहस्थ-आश्रम की सीमाओ का निर्धारण, 3 वर्ण-व्यवस्था की वैज्ञानिक विवेचना, 4 राष्ट्र धर्म का प्रतिपादन, 5 दार्शनिक अनुचिन्तन का विकास तथा 6 ऐतिहासिक घटनाओ का स्पष्टीकरण।

1 यज्ञ-सम्पादन का विवेचन---ब्राह्मण-ग्रन्थो मे यज्ञ को ईश्वर का स्वरूप माना गया है। ब्राह्मणो का अर्थवाद यज्ञ के विभिन्न रूपो को स्पष्ट करने वाला है। किस प्रकार का यज्ञ सम्पादित करने से किस काल की प्राप्ति होती है, इस रहस्य को प्रकट करना भी ब्राह्मण-ग्रन्थो का ही कार्य रहा है। यज्ञ से सम्बद्ध मन्त्रो के शुद्ध पाठ से भाषागत स्वर निर्धारित होता है तथा यज्ञ करने से अनेक प्रकार के दु खो का निवारण होता है। ब्राह्मणो मे प्राय सभी दु खो का निदान यज्ञ सम्पादन मे ही खोजा गया है। प्राय समस्त ससार शारीरिक तथा मानसिक रोगो का शिकार बना रहता है। इन रोगो के निदान के लिए घर के वातावरण को पवित्र बनाने के लिए यज्ञ-सम्पादन होना चाहिए। मृत्यु को जीतने के लिए मृत्युन्जय मन्त्र के माध्यम से यज्ञ होना चाहिए। मृत्युन्जय मन्त्र[1] का महत्त्व प्रतिपादित करके ससार-सागर मे डूबे हुए व्यक्तियो को एक त्राण-सबल देना ब्राह्मण ग्रन्थो के महत्त्व का एक सुस्पष्ट परिचायक बिन्दु है।

2 गृहस्थ-आश्रम की सीमाओ का निर्धारण--ब्राह्मण-ग्रन्थो मे गृहस्थ आश्रम को समाज का मूल आधार सिद्ध किया है इसीलिए गृहस्थ आश्रम के समस्त विधि-विधानो को स्पष्ट करके गृहस्थ जीवन को सरस और पवित्र बनाने का कार्य ब्राह्मण-ग्रन्थो ने किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे चारो आश्रमो का सम्बन्ध गृहस्थ आश्रम से जोडकर गृहस्थ आश्रम की महिमा को स्पष्टत प्रतिपादित कर दिया है इसीलिए ब्राह्मण-ग्रन्थो के युग मे ही गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम मानने की परम्परा विकसित हो गई। वस्तुत ब्राह्मण-ग्रन्थो ने जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण को सबल बनाने मे जो भूमिका प्रस्तुत की है, उसका आधार गृहस्थ आश्रम के विस्तृत विवेचन को ही माना जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण मे गृहस्थ आश्रम का सविस्तार उल्लेख हुआ है। गृहस्थियो मे ईमानदारी से कार्य करने की प्रवृत्ति का विकास करने मे ब्राह्मणो का जो योगदान रहा, उसे कदापि नही भुलाया जा सकता।

3. वर्ण-व्यवस्था का वैज्ञानिक विवेचन---ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चारो वर्णो की वैज्ञानिक रूप मे स्थापना का श्रेय ब्राह्मणो को ही है। सहिता

1 "त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥"---ऋग्वेद, 7/59/12

काल मे चारो वर्णों की व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक संकेत कर दिया था।[1] परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थो मे ब्राह्मणो, क्षत्रियो, वैश्यो तथा शूद्रो के स्वभाव एव कार्यों को वैज्ञानिक रूप देकर समाज को व्यवस्थित कर दिया गया। शतपथ ब्राह्मण मे वर्ण व्यवस्था का इतना विशद विवेचन किया गया कि धर्मशास्त्र का मूल तत्त्व ब्राह्मण ग्रन्थो मे ही पर्याप्त विकास को प्राप्त हो चुका था–यदि यह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। वर्ण-व्यवस्था को प्रकृति या स्वभाव से जोडकर सामाजिक सतोष का युक्तिसगत कार्य भी प्रशस्त कर दिया गया। वर्ण-व्यवस्था का ऐसा वैज्ञानिक विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

4 राष्ट्रधर्म का प्रतिपादन—राष्ट्रीय उन्नति के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थो मे राष्ट्र धर्म का प्रतिपादन किया गया। शतपथ ब्राह्मण मे अश्वमेध के रूप मे राष्ट्र को एक सूत्र मे बाँधने का सफल प्रयास दृष्टिगोचर होता है। 'अश्व' को राष्ट्र का स्वरूप मानकर राष्ट्रीय उन्नति के लिए यज्ञ सम्पादित करने पर बल दिया गया। राष्ट्रीयता की भावना का विकास करने का श्रेय ब्राह्मण-ग्रन्थो को ही है। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म' कहकर यज्ञ की सार्वभौमिकता प्रतिपादित करके समस्त राष्ट्र को कर्म-सन्दर्भ मे एक ही दिशा बोध दिया गया। 'प्रौढ ब्राह्मण' मे समाजशास्त्र की सामग्री प्रस्तुत करके समाज को एक राष्ट्र के रूप मे बद्ध करके राष्ट्रधर्म का प्रतिपादन किया गया है।

5 दार्शनिक अनुचिन्तन का विकास—ब्राह्मण-ग्रन्थो मे उपनिषद् तत्त्व की भी चर्चा हुई। सामवेद सहिता के गोपथ ब्राह्मण मे वेदान्त तत्त्व का सुन्दर निदर्शन है। ऐतरेय ब्राह्मण मे सृष्टि के रहस्यो को विशदतापूर्वक प्रस्तुत किया गया है। औपनिषदिक तत्त्वो के विवेचन से सृष्टि के निर्माण को लेकर मानव की जिज्ञासा का परितोष करने का सुन्दर प्रयास करके उपनिषदो तथा अन्य दार्शनिक साहित्य के लिए मार्ग स्पष्ट कर दिया गया है। वैदिक साहित्य का उपनिषद् भाग सृष्टि-रचना, ईश्वर का स्वरूप, जीवात्मा का स्वरूप, मोक्ष का स्वरूप, पुनर्जन्म, जरा-मरण जैसे प्रसगो को लेकर ब्राह्मण-ग्रन्थो का ऋणी रहा है। शतपथ ब्राह्मण मे सृष्टि-रचना के रहस्यो का जो वर्णन हुआ है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थो से ही दार्शनिक अनुचिन्तन का विकास हो चला था।

6 ऐतिहासिक घटनाओ का स्पष्टीकरण—सहिताओ मे अनेक राजाओ, ऋषियो तथा देवताओ के सकेत मात्र ही निहित थे परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थो मे उन सकेतो को ऐतिहासिक स्वरूप प्रदान करने का सर्वप्रथम प्रयास हुआ है। वेदो मे कद्रू-वनिता, पुरुरवा-उर्वशी आदि के जो सकेत पहेली बने हुए थे, उन्ही को शतपथ ब्राह्मण ने विस्तृत रूप देकर पुराणो के लिए एक विशिष्ट मार्ग खोल दिया। अतएव ब्राह्मण मे कुरु वश का इतिहास विस्तृत रूप मे पाया जाता है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत के प्रणयन मे विभिन्न कवियो को ऐतरेय ब्राह्मण से अनेक

1 ऋग्वेद, 10/90/12

प्रेरणाएँ होती रही होगी। पुराणो मे कद्रू तथा वनिता के बीच होने वाले सघर्प को सौतिया डाह की परम्परा का मूल आधार ही सिद्ध कर दिया। ब्राह्मण ग्रन्थो के पुरुरवा तथा उर्वशी के आख्यान को लेकर चौथी शताब्दी मे कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' नामक सुप्रसिद्ध नाटक की रचना की। ब्राह्मण ग्रन्थो मे इन्द्र देवता के स्वरूप को अत्यधिक विस्तार दिया गया है जिसका लेशमात्र प्रभाव महाभारत तथा पुराणो पर अवश्य पडा है। पुराणो मे चन्द्रवश, सूर्यवश तथा देव एव दानव वशो की जो सूची दी हुई है, उसके ऊपर भी ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐतरेय ब्राह्मण मे चन्द्रवश राजाओ का आख्यानात्मक वर्णन किया गया है। ब्राह्मण साहित्य का प्रभाव सस्कृत के ही ग्रन्थो पर न होकर अन्य भाषाओ के भी ग्रन्थो पर देखा जा सकता है। हिन्दी के महान् कवि जयशकर प्रसाद ने 'कामायनी' की भूमिका मे मनु, इडा तथा श्रद्धा के सम्बन्धो की प्रामाणिकता के लिए शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत किया है। कामायनी के कथानक पर भी ब्राह्मण साहित्य के आख्यानो का प्रभाव है। निष्कर्षत ब्राह्मण-साहित्य ने पुराण, इतिहास तथा काव्य के विकास के लिए कथानकीय सामग्री प्रस्तुत की, यही मानना युक्तिसगत है।

ब्राह्मण-साहित्य का धर्मशास्त्र के ऊपर भी अत्यधिक प्रभाव पडा है। धर्मशास्त्र के प्रसिद्ध लेखक पी बी काणे ने ब्राह्मण ग्रन्थो को धर्मशास्त्र के अन्तर्गत ही गिना है। ब्राह्मण-साहित्य से प्रेरणा लेकर सूत्र ग्रन्थो ने यज्ञवाद को चरम महत्त्व दे डाला। धर्मशास्त्र से सम्बद्ध समस्त स्मृति-ग्रन्थो पर ब्राह्मण-साहित्य का व्यापक प्रभाव है।

वेदो के स्वरूप को जानने मे ब्राह्मण-ग्रन्थो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वेदो मे ईश्वर को ही चतुर्वर्ण रूप कह दिया गया था। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थो ने इस रहस्य को स्पष्ट करते हुए यहाँ तक कह डाला कि यह समाज ही चार वर्णो वाला है। अत ईश्वर को समाज के रूप मे देखकर जो बात कही थी, उसी को ब्राह्मणो मे दार्शनिक पहलू का रूप न देकर समाजशास्त्रीय रूप प्रदान करके वेद-तत्त्व को स्पष्ट किया गया। वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ ब्राह्मणो के आख्यान भाग के आधार पर इस निष्कर्ष पर सहजतया पहुँच चुके हैं कि वेदो मे किसी अज्ञात शक्ति को चित्रित करने के साथ-साथ उससे सामाजिक अथवा ऐतिहासिक घटनाओ को भी जोडा गया है। वेदो की रूपक-शैली का निर्धारण करते समय ब्राह्मण-साहित्य को ही मूल आधार बनाया गया है।

ब्राह्मण-साहित्य मे सरल भाषा तथा स्पष्ट शैली का प्रयोग होने से वेद-रहस्य को जनोपयोगी बना दिया गया है यदि ब्राह्मणो को जन-ग्रन्थ कह दिया जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। विद्वानो ने ब्राह्मण साहित्य को धर्मशास्त्र तक कहा है। यदि ब्राह्मण ग्रन्थो को वैज्ञानिक ब्राह्मण धर्म का आधार कहा जाय या वैदिक धर्म कहा जाए तो सभवत किसी वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ को कोई आपत्ति न होगी।

आरण्यक ग्रन्थ
(Aranyakas)

वन को सूचित करने वाले 'अरण्य' शब्द मे 'वुञ्' प्रत्यय के योग मे 'अरण्यक

शब्द बना है। प्राचीन काल मे भारतवर्ष मे कुछ तपोभूमियाँ थी, जिनमे नैमिषारण्य तथा दण्डकारण्य विशेषत प्रसिद्ध हैं। हरिद्वार का निकटवर्ती कुन्जर वन भी वीरो के मृगया-मनोरजन का क्षेत्र होने के साथ-साथ तपस्वियो की तपोभूमि रहा है। पुराणो मे 'हरिद्वार' शब्द के स्थान पर 'हरद्वार' शब्द का प्रयोग किया गया है। कभी हरद्वार मे योगीराज शकर का गुरुकुल रहा होगा, जहाँ शस्त्र-शास्त्र की विद्या का केन्द्र रहा होगा। ऋग्वेद के रुद्र-सूक्त मे शकर को अद्वितीय योद्धा[1], नित्य युवक[2], भिषगाचार्य[3] तथा ज्ञानमार्गी[4] सिद्ध किया गया है। नैमिषारण्य आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा उत्तरी पश्चिमी बिहार का ही भाग है, जहाँ सीताजी के पिता सीरध्वज जनक के गुरु गौतमजी का गुरुकुल विद्या के केन्द्र के रूप मे प्रसिद्ध रहा था। महर्षि गौतम न्याय दर्शन के प्रणेता के रूप मे भी प्रसिद्ध है। दण्डकारण्य मे अत्रि, अगस्त्य, सुतीक्ष्ण तथा शरभग जैसे आचार्य एव तपस्वियो के आश्रम रहे हैं। वस्तुत ऐसे ही ऋषियो के आश्रमो मे आरण्यक-ग्रन्थो की रचना हुई। ऐसी वनस्थलियो मे समाज-सेवी वानप्रस्थियो के लिए जितने भी विधान-नियम निर्मित किए गए, उन सबका सग्रह आरण्यक-ग्रन्थो के रूप मे जाना जाता है। सम्भवत वैदिक काल मे ऐसे तपस्वियो को अरण्यवासी या वनवासी ही कहा जाता होगा। महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे एक प्रसग यह है कि जब महर्षि कण्व अपनी पालिता पुत्री शकुन्तला को राजा दुष्यन्त के साथ परिणीत करके विदा करने को उद्यत थे, तो उनकी दृष्टि जडीभूत हो गई, उनके नेत्रो से अश्रुओ की धारा प्रवाहित होने लगी और उनका कण्ठ गद्गद् हो गया। जब महर्षि कण्व ने भाव-विभोर स्थिति पर विचार किया तो वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब एक वनवासी की यह स्थिति कन्या-वियोग की वेला मे सम्भव है तो मोह के बन्धन मे बँधे बेचारे गृहस्थी कन्या वियोग के असह्य दु ख को किस प्रकार सहन करते होगे—" स्नेहादरण्यौकस ।
पीड्यन्ते गृहिण कथ नु कन्याविश्लेषण दुखैर्नवै ।।"

अत जिन ग्रन्थो को वनो मे रचा गया तथा वनभागो के गुरुकुलो मे जिनका पठन-पाठन भी विकसित हुआ, उन्ही ग्रन्थो को आज 'आरण्यक' नाम से अभिहित किया जाता है। सायणाचार्य ने भी आरण्यक-ग्रन्थो के नामकरण के विषय मे इसी तथ्य को पुष्ट किया है—'अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते।'

आरण्यक का वर्गीकरण

कहा जाता है कि जितनी वैदिक सहिताएँ प्रचलित रही, उतने ही ब्राह्मण तथा आरण्यक भी प्रसिद्ध एव प्रचलित रहे परन्तु सम्प्रति गिने-चुने आरण्यक ही उपलब्ध है। वेद-सहिताओ के आधार पर आरण्यको का वर्गीकरण अग्राङ्कित रूप मे किया जा सकता है—

1 ऋग्वेद 2/33/10
2 वही 2/33/11,
3 वही 2/33/4,
4 वही 2/33/4-10

ऋग्वेद के आरण्यक—ऋग्वेद के दो आरण्यक प्रचलित है–ऐतरेय तथा कौपीतिकी। उनके नामकरण की चर्चा ब्राह्मण ग्रन्थो के प्रसग मे की जा चुकी है। ऐतरेय आरण्यक मे वानप्रस्थियो के कार्यों के विवेचन के साथ-साथ सृष्टि-रचना की गूढता का भी स्पर्श किया गया है। कौपीतिकी आरण्यक विषय-प्रतिपादन की मार्मिकता के साथ-साथ वनवासियो के कृत्यो को भी सहजता के साथ व्यक्त करने वाला है। ऐतरेय आरण्यक महीदास की शिष्य-परम्परा मे कौपीतिकी आरण्यक महर्षि कुपीतक की शिष्य परम्परा मे विकसित हुआ।

यजुर्वेद के आरण्यक—कृष्ण यजुर्वेद का आरण्यक 'तैत्तिरीय' है तथा शुक्ल यजुर्वेद का आरण्यक 'शतपथ' है। इनके नामकरण की चर्चा सहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थो के प्रसग मे की जा चुकी है। यजुर्वेद सहिता का वृहदारण्यक ग्रन्थ अपना अलग ही महत्त्व रखता है। इस आरण्यक का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। यह आरण्यक 'वृहदारण्यकोपनिषद्' के रूप मे भी प्रचलित है। इस आरण्यक अथवा उपनिषद् मे आध्यात्मिक रहस्यो का मनोवैज्ञानिक चित्रण भी दिखलाई पडता है। इस आरण्यक का एक सुमधुर प्रसग है कि एक बार महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी दोनो पत्नियो के सम्मुख अपने सन्यासी होने की चर्चा की। उन्होने मैत्रेयी तथा कात्यायनी नामक दोनो धर्मदेवियो के सम्मुख अपनी सम्पत्ति के बँटवारे का प्रस्ताव भी रखा। कात्यायनी ने महर्षि के प्रस्ताव का अनुमोदन किया, परन्तु मैत्रेयी ने इहलौकिक धन की क्षणिकता का प्रसग उठाकर महर्षिजी से पारलौकिक धन प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। तब महर्षि याज्ञवल्लक्य ने मैत्रेयी को सन्तुष्ट करने के लिए ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। उस उपदेश का एक अश यहाँ उद्धृत है–

"सा होवाच मैत्रेयी येनाह नामृता स्या किमह तेन कुर्याम्, यदेव भगवान् वेद तेदव मे ब्रूहीति।

स होवाच यार्ज्ञवलक्य। न वा अरे पत्यु कामाय पति प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।

न वा अरे पुत्राणा कामाय पुत्रा प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय पुत्रा प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्त प्रिय भवति, आत्मनस्तु कामाय वित्त प्रिय भवति। न वा अरे ब्राह्मण कामाय ब्रह्म प्रिय भवति, आत्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रिय भवति।

न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्र प्रिय भवति, आत्मनस्तु कामाय पुत्रा भवति। न वा अरे लोकाना कामाय लोका प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय लोका प्रिया भवन्ति। न वा अरे देवाना कामाय देवा प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय देवा प्रिया भवन्ति, न वा अरे भूताना कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सव प्रिय भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति। आत्मा व अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो, मनतव्यो, निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि! आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विवितम्।"

अत आत्महित ही सर्वस्व है। वस्तुत उक्त विवेचन की मनोवैनिकता सत्यानुभूति का साक्षात् निदर्शन है।

सामवेद के आरण्यक—सामवेद के दो आरण्यक है–जैमिनीयोपनिषदारण्यक तथा छान्दोग्यारण्यक। इन दोनो ही आरण्यको मे वैदिककालीन राजवशो तथा ऋषिवशो के आधार पर आचार-सहिता का निर्माण किया गया है। कही-कही यथार्थता का स्पर्श करने वाली आध्यात्मिक गहराइयो को भी बडी सजीवता के साथ स्पष्ट किया गया है। निम्नलिखित उदाहरण से यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो सकेगा —

अल्पे सुख नास्ति। यत्र भूमा तत्र सुखम्॥ —छान्दोग्य

छान्दोग्यारण्यक कुछ हेर-फेर से छान्दोग्योपनिषद् के रूप मे भी प्रसिद्ध है।

अथर्ववेद का सम्भावित गोपथ आरण्यक–अथर्ववेद के 'गोपथ' ब्राह्मण के आधार पर केवल यह कल्पना ही की गई है कि अथर्ववेद के 'गोपथ' आरण्यक का भी अस्तित्व होना चाहिए। परन्तु, गोपथारण्यक के रूप मे कोई आरण्यक प्राप्त नही होता।

आरण्यको का वर्ण्य-विषय

जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थो मे धर्मशास्त्र को आधार बनाकर गृहस्थाश्रम तथा सामाजिक व्यवस्थाओ' के निरूपण को महत्त्व दिया गया है, उसी प्रकार आरण्यक ग्रन्थो मे वानप्रस्थाश्रम से सम्बद्ध कर्मकाण्ड को विशेप महत्त्व दिया गया है। सक्षेपत आरण्यको मे निम्नलिखित तत्त्वो को प्रतिपादित किया गया है–

1 यज्ञ-कर्मों की विधियो का प्रतिपादन
2 महाव्रतो के स्वरूप का विवेचन
3 वानप्रस्थियो के विशिष्ट कृत्यो का वर्णन
4 ज्ञानमार्गीय तत्त्वो की विवेचना।

आरण्यक ग्रन्थो के प्रामाणिक भाष्य

आरण्यक ग्रन्थो के मूल एव प्रमाण-स्वरूप भाष्यकार आचार्य सायण तथा शकराचार्य हुए हैं। शकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना के लिए आरण्यको के—ऐतरेय, कौपीतिकी तथा वृहदारण्यक के औपनिषदिक तत्त्वो का सुन्दर विवेचन किया है। आचार्य शकर के कुछ भाष्यो की टीकाऐं अधोलिखित विद्वानो ने की है–आनन्द ज्ञान, आनन्दगिरि, आनन्दतीर्थ, अभिनव नारायण, नारायणेन्द्र सरस्वती, नृसिहाचार्य तथा कृष्णदास, रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना के उद्देश्य से 'वृहदारण्यक' का प्रामाणिक भाष्य लिखा। तैत्तिरीययारण्यक के ऊपर सायण, भास्कर मिश्र तथा वरदराज के प्रामाणिक भाष्य होते हैं।

उपर्युक्त समीक्षात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो ही जाता है कि आरण्यक ग्रन्थ सनातन धर्म के यथार्थ स्वरूप को प्रतिपादित करने मे पूर्णत सहायक सिद्ध हुए है। इन ग्रन्थो की मुख्यत दो विशेषताओ ने भारतीय सस्कृति को विश्व समाज के सम्मुख उजागर करने मे आशातीत योगदान दिया है–प्रथम विशेषता है–समाज-

सेवा रूपी यज्ञ तथा दूसरी विशेषता है–आध्यात्मिक निष्ठा। वस्तुत भारतवर्ष के महापुरुषो ने धर्म प्रचार तथा चरित्र प्रदर्शन के क्षेत्र मे उक्त दोनो विशेषताओ को साकार करके भारतीय सस्कृति को दिव्य एव अलौकिक रूप प्रदान किया है।

आरण्यको की उपयोगिता

आरण्यक ग्रन्थो में विभिन्न पक्षो को नए अर्थों में ग्रहण करके उन्हे समाज सेवा मे सम्बद्ध कर दिया गया। आरण्यको ने उपनिषदो की सुदृढ एव परिष्कृत भूमिका बनाकर विश्व-दर्शन के सर्वोच्च साहित्य का मार्ग अनावृत किया।

ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थो मे अन्तर

सहिता-काल के पश्चात् वेद की चारो सहिताओ–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के आधार ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रणयन हुआ। कहा जाता है कि जितने ब्राह्मण थे, उतने ही आरण्यक ग्रन्थ रहे होंगे, परन्तु आज ब्राह्मण-ग्रन्थो के हिसाब से आरण्यक ग्रन्थो की उपलब्धि नही हो सकी है। ब्रह्म या मन्त्र एव यज्ञ को विस्तार देने वाले ग्रन्थो को ब्राह्मण ग्रन्थ कहा गया तथा वानप्रस्थियो के कर्मो को विस्तार देने वाले ग्रन्थो को आरण्यक ग्रन्थ के रूप मे जाना गया। विवेचन की दृष्टि से दोनो प्रकार के ग्रन्थो के भेद दर्शनीय है––

1 रचना काल का भेद, 2 वर्ण्य-विषय का भेद तथा 3 महत्त्वगत भेद।

1 रचना-काल का भेद––ब्राह्मण-ग्रन्थ सहिता-ग्रन्थो के अनुवर्ती माने जाते है तथा आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थो के अनुवर्ती रहे हैं। ब्राह्मण ग्रन्थो का रचना-काल 2500 ईसा पूर्व माना गया है तथा आरण्यक ग्रन्थो का रचना-काल 1500 ईसा पूर्व से 2000 ईसा पूर्व तक हो चुका था, साधारणत यह निष्कर्ष निकाला जाता है। ब्राह्मणो तथा उपनिषदो के रचना-काल के सन्दर्भ मे वेदो के रचना-काल के प्रसग मे पर्याप्त विचार किया जा चुका है।

2 वर्ण्य-विषय का भेद––ब्राह्मणो की वस्तु-सामग्री के विवेचन के सन्दर्भ मे ब्राह्मणो के चारो भागो पर विचार किया गया है। 'विधिभाग' का सम्बन्ध शुभाशुभ कार्यो की पहचान से रहा। 'अर्थवाद' नामक भाग मे यज्ञो की विधियो तथा उपयोग पर प्रकाश डाला गया। 'उपनिषद्' भाग मे सृष्टि के रहस्यो को तथा अन्य तत्त्वो को प्रकाशित किया गया। 'आख्यान' भाग का सम्बन्ध कथात्मक सामग्री के माध्यम से उपदेश देता रहा।

आरण्यक ग्रन्थो का निर्माण वनो मे हुआ। वन मे ही उनका पठन-पाठन होने से उन्हे 'आरण्यक' कह दिया गया। आरण्यको ने वानप्रस्थियो को लक्ष्य करके वानप्रस्थाश्रम-धर्म को प्रामाणिक रूप मे प्रस्तुत किया। जहाँ ब्राह्मण ग्रन्थो ने गृहस्थ-धर्म का व्यापक रूप मे विवेचन किया, वहाँ आरण्यक ग्रन्थो ने वानप्रस्थ धर्म या आश्रम के स्वरूप को स्पष्ट किया। आरण्यको मे 'उपनिषद्' तत्त्व को भी ऐसा विस्तार दिया गया कि उपनिषदो की सुदृढ भूमिका आरण्यको ने ही निर्मित कर दी। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' आरण्यक भी है और उपनिषद् भी। केवल इतना ही नही, अपितु ब्राह्मण ग्रन्थो के यज्ञादि विधानो को भी आरण्यको ने पर्याप्त महत्त्व दिया।

अत एक ओर आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थो के विषय को समाहित करके साहित्य की परम्परा को भी विकसित करते रहे और दूसरी ओर उन्होने औपनिषदिक गहराइयो को प्रकट करके उपनिषदो के लिए एक सुदृढ भूमिका बना दी।

3 महत्त्वगत भेद—ब्राह्मण ग्रन्थो के महत्त्व पर पीछे प्रकाश डाला जा चुका है। जहाँ ब्राह्मण-साहित्य, पुराण, इतिहास और काव्य को कथानकीय सामग्री देने का कार्य करता हुआ गृहस्थ-धर्म का विवेचन करता रहा, वहाँ आरण्यक ग्रन्थ उपनिषदो के विचारको के प्रेरणा-स्रोत बन कर वानप्रस्थ आश्रम का प्रामाणिक रूप देने मे जुटे रहे। अत महत्त्व की दृष्टि से भी दोनो प्रकार के साहित्य मे पर्याप्त अन्तर रहा है।

ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थो के विषय मे 'ब्राह्मण' एव 'आरण्यक' नामक अध्यायो के सन्दर्भ मे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, जिसका निर्देश निम्न रूप मे किया जा रहा है—

1 नामकरण का अन्तर
2. रचनाकाल का अन्तर
3 वर्ण्य-विषय का अन्तर

(क) ब्राह्मणो का वर्ण्य-विषय–1. विधिभाग, 2 अर्थवाद, 3 उपनिषद् भाग तथा 4 आख्यान भाग।

(ख) आरण्यको का वर्ण्य-विषय–1. यज्ञ कर्मो की विधियो का प्रतिपादन, 2 महत्त्वो के स्वरूप का विवेचन, 3 वानप्रस्थियो के विशिष्ट कृत्यो का वर्णन तथा 4. ज्ञानमार्गीय तत्त्वो की विवेचना।

निष्कर्ष—आरण्यको ने वानप्रस्थ आश्रम को प्रामाणिक रूप प्रदान किया तथा धर्मशास्त्र को प्रभावित किया। ब्राह्मण ग्रन्थो ने धर्मशास्त्र को प्रभावित करने के साथ-साथ गृहस्थ धर्म का विवेचन किया। आरण्यको मे कर्ममार्ग तथा ज्ञान मार्ग का समन्वय किया गया है तथा ब्राह्मण ग्रन्थो मे सामाजिक व्यवस्थाओ को वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का प्रबल प्रयास किया गया है। आरण्यको के ज्ञानमार्गीय तत्त्व कुछ उपनिषदो की विवेच्य-वस्तु मे वर्णित हुए हैं अत यहाँ अधिक प्रकाश अनपेक्षित होगा।

उपनिषद्
(Upnisadas)

उपनिषदो मे आध्यात्मिक विद्या का चरमोत्कर्ष है। आधुनिक विद्वत्समाज मे 'उपनिषद्' शब्द अग्रेजी के 'सेमीनार' शब्द का वाचक है। यथार्थत किसी सेमीनार मे कुछ विद्वानो के द्वारा कुछ प्रपत्रो को पढकर तथा विचार-विमर्श के माध्यम से निर्धारित विषय को स्पष्ट किया जाता है। ठीक इस तरह से औपनिषदिक ग्रन्थो का निर्माण भी विभिन्न विद्वानो के विचार-विमर्श का फल है अत इस सन्दर्भ या तथ्य को पुष्ट करने के लिए 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति को देख लेना आवश्यक है—

उप + नि + सद् + क्विप = उपनिषद्

वस्तुत 'सद्' धातु का अर्थ है 'बैठना' और जब 'सद्' धातु मे 'नि' उपसर्ग को जोड दिया जाए तो उसका अर्थ हो जाता है—पूर्णत बैठना या प्रयोजन-विशेष से बैठना। 'उप' उपसर्ग का अर्थ है—समीप या लघु। अत यहाँ 'उप' उपसर्ग 'समीप' अर्थ का ही वाचक है इसलिए यह कहना ठीक है कि 'उपनिषद्' सार के भी सार है। यह तो सब मानते ही है कि परस्पर विचार-विमर्श से जो निष्कर्ष सामने आते हैं, वे यथार्थता का अवश्यमेव स्पर्श करते है।

हमे यहाँ यह याद रखना चाहिए कि जब ब्राह्मण ग्रन्थो के कर्मकाण्डो के प्रसार से जन-जीवन मे रूढियो और कट्टरताओ का प्रबल प्रचार-प्रसार होने लगा, तो वैदिक विद्वानो को समाज-सुधार की आवश्यकता प्रतीत हुई। तत्कालीन विद्वानो मे यह रहस्य भी छिपा नही था कि किसी भी ग्रन्थ को वेदो से जोडे बिना उसकी प्रामाणिकता ही सदिग्ध हो जाएगी। अत मनीषियो ने ऐसे प्रयास किए कि वैदिक मन्त्रो को लेकर आध्यात्मिक तत्त्वो को स्पष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। यथार्थत मनीषियो के वही प्रयास उपनिषदो के रूप मे प्राप्त होते है।

शकराचार्य ने बारह उपनिषदो का भाष्य किया है, अत प्रमुख उपनिषद् बारह ही है, ये इस प्रकार हैं—

1 ईशावास्योपनिषद्, 2 केनोपनिषद्, 3 कठोपनिषद्, 4 प्रश्नोपनिषद्, 5 मुण्डकोपनिषद्, 6 माण्डूक्योपनिषद्, 7 तैत्तिरीयोपनिषद्, 8 ऐतरेयोपनिषद्, 9. छान्दोग्योपनिषद्, 10 बृहदारण्यकोपनिषद्, 11 कौषीतिकी उपनिषद् तथा 12 श्वेताश्वतरोपनिषद्।

1 **ईशावास्योपनिषद्**—ईशावास्योपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। इस उपनिषद् मे केवल अठारह मन्त्र हैं। इतने सक्षिप्त रूप मे यह ईश्वर के स्वरूप पर तथा मानव-समुदाय के सतुलित विकास-मार्ग पर अत्यन्त सुन्दर प्रकाश डालता है। इसकी प्रथम पक्ति 'ईशावास्य' शब्द से प्रारम्भ होती है, इसलिए इसका नाम 'ईशावास्योपनिषद्' रखा गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे आत्महन्ताओ के ऊपर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृत्ता।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ मे ज्ञान को साकार रूप देने पर बहुत बल दिया गया है। इसके प्रथम मन्त्र की सराहना तो प्राय सभी विद्वानो ने की है, जो निम्नलिखित है—

ईशावास्यमिद सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम् ॥

डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने प्रस्तुत ग्रन्थ पर प्रामाणिक भाष्य लिखा था, जो हिन्दी और अग्रेजी दोनो मे ही उपलब्ध है।

2 **केनोपनिषद्**—केनोपनिषद् सामवेद की जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ का नवम् अध्याय है। इस ग्रन्थ की पहली पक्ति मे सबसे पहले प्रश्न सूचक शब्द

'केन का प्रयोग होने से इसे 'केनोपनिषद्' नाम दिया गया है। इस उपनिषद् का प्रारम्भ अनन्त शक्ति विषयक जिज्ञासा से होता है—'केनेषित पतति प्रेषित मन ।'— अर्थात् मन किसकी शक्ति से चलायमान होता है। इसी प्रसग मे आंखो की ज्योति के केन्द्र के रूप मे, प्राणो की चेतना के रूप मे, बुद्धि की सार-ग्राहिणी भक्ति के रूप मे, मन को अभिप्रेरित करने वाली शक्ति के रूप मे ईश्वर को देखा गया है। वह ईश्वर नही है, जिसकी पूजा बाह्य साधनो से की जाती है—

तदेव त्व ब्रह्म विद्धि, नेद यद्विमुपासते ।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे अहकार का निवारण करने के लिए यहाँ तक कह दिया गया है कि जो वेद-मर्मज्ञ ईश्वर का ज्ञाता होने का दावा करता है वह उसे नही जानता, परन्तु जो वेद ज्ञाता ईश्वर के मर्म को जानकर उसे जानने का दावा नही करता, वह उस अनन्त शक्ति को भली-भाँति जान गया है—

अविज्ञेय विजानता विज्ञेयमाविजानताम् ।

अत केनोपनिषद् 'नेति-नेति' सिद्धान्त का प्रबल प्रतिपादक ग्रन्थ भी है।

3 कठोपनिषद्—यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा का भाग है। इसमे दो अध्याय और छ वल्लियाँ हैं। प्रस्तुत उपनिषद् का आरम्भ उद्दालक ऋषि और उनके पुत्र नचिकेता के उत्तेजना-भरे सवाद से होता है। कहा जाता है कि उद्दालक ऋषि ने गोदान का व्रत लिया था। वे अनेक गाएँ दान कर चुके थे। जब कुछ वृद्ध गायो को भी दान कर दिया गया तो नचिकेता ने क्रुद्ध होकर अपने पिताजी से यह कहा कि आप मुझे किसे दान से देंगे ? उद्दालक ने आवेश मे यही कहा कि मैं तुझे यमराज को दूँगा। आज्ञाकारी नचिकेता यमराज के यहाँ चला गया और वहाँ उसने ब्रह्म-विद्या से सम्बन्धित प्रश्न पूछे। कठोपनिषद् का वृत्त इतना ही है। यहाँ यह विचारणीय है कि नचिकेता ने आचार्य यम से जितने प्रश्न पूछे, उनके पीछे क्या रहस्य है ? यथार्थत वैदिक यमराज वेद की रूपक शैली के आधार पर दो रूपो मे जाना जा सकता है—पहला रूप तो यह है कि पौराणिक यमराज के रूप मे जिस मूर्ति का विकास हुआ है, वह भैसा के ऊपर सवारी करने वाला है, नरक—निकृष्ट स्थान का राजा है। इस धारणा को पुष्ट करने के लिए मरुभूमि विशेष का निकृष्ट स्थान कहना युक्ति सगत है। जहाँ लोग भैसो की सवारी करते हो, ऐसे स्थान भी नखलिस्तानो के रूपो मे मरुभूमियो मे उपलब्ध हो जाते हैं। सारत यमराज अरब देशीय भूमि का राजा था। कुछ विद्वान् उसे दक्षिणी भारत की सयमिनी नगरी का राजा मानते है। यथार्थत यमराज अरब भूमि का ही राजा था तथा विभिन्न देवो की भाँति उसने भी भारतवर्ष मे अपना उपनिवेश 'सयमिनी' मे स्थापित किया होगा। दूसरा मत है कि सयम-शक्ति का नाम ही यमराज है अत नचिकेता की भेंट जिस यमराज से हुई, वह कोई काल्पनिक यम न होकर ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति ही था।

प्रस्तुत उपनिषद् मे कुछ वेद-ग्रन्थो का अध्ययन कर लेने पर स्वय को परम वीर पण्डित मानने वाले विद्वानो को आडे हाथो लिया गया है—

अविद्यायां वर्तमाना स्वय धीरा पण्डित मन्यमाना ।
जघन्यमाना• परियन्ति मूढा अन्धेनेव नीयमाना यथान्धा ॥

4 प्रश्नोपनिषद्—अथर्ववेद की पिप्लाद सहिता के अप्राप्य ब्राह्मण-ग्रन्थो से प्रश्नोपनिपद् का सम्बन्ध जोडा जाता है । इस उपनिपद् मे पिप्पलाद नामक ऋषि द्वारा भरद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिवि के पुत्र सत्यवान् कोशलवासी अश्वलायन, विदर्भवासी भागव, कात्यायन और कवन्धी नामक छ शिष्यो के प्रश्नो के उत्तरो का वृत्त प्राप्त होना है । प्रस्तुत उपनिषद् मे यज्ञ को भी ब्रह्म-चिन्तन से समन्वित किया गया है । प्रश्नोत्तर की प्रधानता के कारण ही इसे प्रश्नोपनिषद् कहते है । इस उपनिपद् मे निरग ईश्वर को 'प्रभापूर्ण हिरण्यमय' सिद्ध किया गया है । ऐसा लगता है कि पिप्पलाद ऋषि की अनुभूति ने शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ, इस उपनिषद् को मौलिक रूप भी प्रदान किया है ।

5 मुण्डकोपनिषद्--यह उपनिषद् तीन मुण्डको मे विभाजित है । प्रत्येक मुण्डक पृथक् पृथक् दो खण्डो मे भी विभाजित है । इस उपनिषद् से सृष्टि की उत्पत्ति तथा ब्रह्म-तत्त्व की जिज्ञासा को प्रधानता दी गई है । इसमे ईश्वर के अनुशासन को अमिट सिद्ध करने के लिए उस 'भय' की सज्ञा दी गई है । ईश्वर के भय से सूर्य प्रकाशित होता है, अग्नि प्रज्वलित होती है, वायु वहन करती है । उपनिपद् की कुछ पक्तियाँ कठोपनिपद् मे भी प्राप्त होती है । प्रस्तुत ग्रन्थ मे मोक्ष के स्वरूप को एक रमणीक उदाहरण के माध्यम से चित्रित किया गया है—

यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूम विहाय ।
तथैव नामरूपाद् विमुक्त स त पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

जिस प्रकार नदियाँ समुद्र मे मिलकर अपने नाम-रूप को विलीन कर देती है अर्थात् समुद्रवत् हो जाती है, उसी प्रकार वासना-मुक्त व्यक्ति ईश्वरत्व को प्राप्त करके ईश्वर-रूप ही हो जाता हैं ।

6 माण्डूक्योपनिषद्—यह उपनिषद् अथर्ववेद से निर्गत है । इसमे केवल बारह मन्त्र ही प्राप्त होते हैं । महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने इस उपनिषद् के 'ओंकार' तत्त्व को ईश्वर रूप मे मान लेने को अनावश्यक सिद्ध किया है ।[1] यथार्थत इस उपनिषद् मे 'ओंकार' को त्रिकालव्यापी सिद्ध करके, उसे ही सब कुछ सिद्ध कर दिया गया है । इसमे आत्मा और परमात्मा को एक ही तत्त्व माना है ।

'सोऽयमात्मा ब्रह्म' । इसके साथ ही साथ आत्मा को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा समाधि अवस्था-रूपी चार पैरो वाला सिद्ध किया है । जागृति मे आत्मा का स्वरूप वैश्वानर, स्वप्न मे तेजस सुषुप्ति मे प्राज्ञ तथा तुरीय या समाधि मे कैवल्य या मोक्ष रूप प्राप्त होता है । यद्यपि आत्मा अपने यथार्थ रूप मे पूर्णत विमुक्त है, तथापि ससाह-चक्र मे उसके विभिन्न रूप देखने को मिलते है । अत आत्मा का

1 राहुल सांस्कृत्यायन दर्शन–दिग्दशन, माण्डूक्योपनिषद् प्रकरण ।

चार अवस्थाओं के माध्यम से वर्णन करना पूर्णत युक्तियुक्त जान पडता है। स्वप्नावस्था मे आत्मा दस इन्द्रियो, पच तन्मात्राओ तथा बुद्धि, चित्त, मन एव अहकार नामक चार अन्तस्तत्वो के माध्यम से विषयो का उपभोग करती है। अत यह कहना उपयुक्त ही है कि आत्मा के इन विषय-उपकरणो के माध्यम से जब विषय का भोग होता है, तो इन विषयोपकरणो को समाधि के माध्यम से निष्क्रिय कर देने पर तथा आसक्ति रूपी बीज को जला देने पर विषयोपभोग भी स्वत्मभोग का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार आत्मा का शिवरूप प्रदान करने के लिए तुरीयावस्था का निरूपण करके माण्डूक्य उपनिषद् इतिश्री को प्राप्त होता है।

7 तैत्तिरीयोपनिषद्—प्रस्तुत उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से है। यह उपनिषद् तीन प्रपाठको शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली मे विभक्त है। इस उपनिषद् में ब्रह्म-तत्त्व के विवेचन के साथ-साथ धार्मिक विधानो का भी सुन्दर निरूपण हुआ है। तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली मे स्वाध्याय-युक्त प्रवचन की महिमा पर कितना सुन्दर प्रकाश डाला गया है—

> ऋत च स्वाध्यायाप्रवचने च। सत्य च स्वाध्याय प्रवचने च।
> तपश्च स्वध्यायप्रवचने च। दमश्चस्वाध्याय प्रववने च।
> शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च।
> अग्निहोत्र च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च।
> मानुप च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च।
> प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च।
> सत्यमिति सत्यवचा राथीतर। तप इति तपोनित्य पौरुशिष्ट।
> स्वाध्यायप्रवचने एनेति नाको मौद्गल्य। तद्धि तपस्वद्धि तप।

उक्त उपनिषद् मे विद्यार्थियो के लक्षणो एव धारणाओ का सुन्दर विवेचन किया गया है। इस उपनिषद् मे समस्त आचार-सहिता का सारांश यही दिया है कि जो कार्य अप्रशस्य है, वही त्याज्य है तथा जो कार्य प्रशस्य है, वही ग्राह्य है। यथा—

यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माक सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाँसो ब्राह्मणा। तेपा त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। सविदा देयम्।

8 ऐतरेयोपनिषद्—ऐतरेय उपनिषद् का सम्बन्ध ऋग्वेद-सहिता के ऐतरेय आरण्यक से है। इस उपनिपद् मे तीन अध्याय हैं, जिनमे क्रमश सृष्टि-रचना, जीवात्मा का स्वरूप तथा ब्रह्म-तत्त्व का विवेचन किया गया है। इस उपनिषद् को लेकर शकराचार्य ने अद्वैतवाद की पुष्टि करने के लिए सृष्टि-रचना के प्रसग मे सृष्टि-कार्य को ईश्वर की जादूगरी का परिणाम बतलाया है। जीव और ब्रह्म का ऐक्य सिद्ध करने के लिए जगद्गुरु ने अपने इस सिद्धान्त, 'ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या' का परिपाक कर दिया है। इस उपनिपद् की गूढता दर्शनीय है।

9 छान्दोग्योपनिषद्—इस उपनिपद् का सम्बन्ध सामवेद सहिता से है। इस उपनिपद् मे आठ अध्याय हैं। यह एक बृहदाकार ग्रन्थ है। इसमे राजा जानश्रुति और रैक्व मुनि का अत्यन्त रोचक एव रहस्यपूर्ण आख्यान भी दिया हुआ है। हिन्दी साहित्य के प्रमुख उपन्यासकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उक्त आख्यान से प्रेरित होकर 'अनामदास का पोथा' उपन्यास लिखा है। इस उपनिपद् मे ब्रह्माजी के पास दैत्यराज विरोचन तथा देवराज इन्द्र के पहुँचने के फलस्वरूप ब्रह्मविद्या की विवेचना अत्यन्त मार्मिक बन गई है। उपनिपद् मे शाण्डिल्य-विद्या का भी सुन्दर निदर्शन है। रस की गूढता का सुन्दर विवेचन निम्न उदाहरण मे द्रष्टव्य है—
एषा सर्वभूताना पृथिवी रस । पृथिव्या आपोरस । अपामोषधयो रस । औषधीनां पुरुषो रस । पुरुषस्य ऋग्रस । ऋच मोमरस । साम्न उद्गीथो रस ॥

10 बृहदारण्यकोपनिषद्—यह उपनिषद् समस्त उपनिषदो मे विशालकाय हैं। इसके 'बृहद' शब्द से इसके विशालाकार होने की स्पष्ट सूचना मिलती है। प्रस्तुत उपनिपद् का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेदीय 'शतपथ' ब्राह्मण ग्रन्थ से है। इस ग्रन्थ मे आरण्य एव उपनिपद् तत्त्वो को एकाकार-सा कर दिया गया है। प्रस्तुत उपनिपद् मे छ अध्याय हैं। इस उपनिपद् मे याज्ञवलक्य और मैत्रेयी के सवाद की गम्भीरता दर्शनीय है। ब्रह्मविद्या का इतना सुन्दर और विस्तृत विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। ब्रह्म-तत्त्व का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"ब्रह्म त परादाद् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद, क्षत्र त परादाद् योऽन्यत्रात्मन क्षत्र वेद, लौकास्त परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद, देवास्त परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद भूतानि त परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद, सर्व त परादात् योऽन्यत्रात्मन सर्वं वेदेद ब्रह्मेद क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीद सर्व यदमात्मा।"

11 कौषीतिकी उपनिषद्—कुषीतक नामक ऋषि की शिष्य-परम्परा मे कौषीतिकी उपनिषद् की रचना हुई। इस उपनिपद् मे दो अध्याय हैं। प्रस्तुत उपनिषद् का सम्बन्ध ऋग्वेद-सहिता से है। उपनिषदो मे इसे सबसे प्राचीन माना जाता है। इस उपनिषद् मे ब्रह्म-तत्त्व का सांगोपांग विवेचन किया है। यह उपनिषद् भी बृहदाकार है।

12 श्वेताश्वतरोपनिषद्—इस उपनिपद् का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है। प्रस्तुत उपनिषद् मे छ अध्याय है। इस ग्रन्थ मे योग-विद्या का ऐसा मार्मिक चित्रण मिलता है कि उसे शैलीगत दृष्टि से सराहे बिना रहा नही जा सकता। यदि इस ग्रन्थ को योग-विद्या की पराकाष्ठा कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। जब एक योगी योगानल के माध्यम से ज्योतिर्मय शरीर को प्राप्त कर लेता है तो उसे जरा-मरण तथा व्याधि इत्यादि का किंचिदपि भय नही रहता—

"न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु प्राप्तस्ययोगाग्निमय शरीरम्"।

इस उपनिपद् की काव्यमयी शैली सराहनीय है।

उपनिषदो का विवेच्य विषय

बारह उपनिषदो का तत्त्व प्रस्तुत करते समय उपनिषदो के विवेच्य विषय का कुछ आभास मिल चुका है। 'उपनिषद्' नाम ही अपने प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने मे पूर्णत समर्थ है। मुख्यत उपनिषदो मे निम्न विषयो का प्रतिपादन हुआ है—

1 ब्रह्म स्वरूप का विवेचन
2 जीवात्मा के रहस्य की व्याख्या
3 प्रकृति या माया का रहस्य
4. सरकार की आवश्यकता
5 सृष्टि-रचना
6 योगविद्या
7 मोक्ष का स्वरूप

1 ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन—ब्रह्म को अखण्ड और अनन्त शक्ति कहकर उसके निर्गुण रूप का विवेचन करना उपनिषदो का सर्वोत्कृष्ट विषय रहा है। उपनिषदो का ब्रह्म एक ऐसी शक्ति है, जो जगत् मे व्याप्त होकर भी जगत् से बाहर भी अपना अस्तित्व रखता है। इन्द्रियो से अतीत ईश्वर निष्क्रिय न होकर नितान्त सक्रिय भी है। वह चलकर भी नही चलता है। वह दूर भी है और पास भी है अत ईश्वर को अन्तर्यामी और बाह्ययामी भी सिद्ध किया है। यथा—

तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्व तत् सर्वस्यास्य बाह्यत ॥ —केनोपनिषद्

ब्रह्म के इस अनिर्वचनीय स्वरूप के आधार पर 'विभावना' अलकार का विभिन्न भाषागत साहित्यो मे प्रयोग किया। 'गीता' का समस्त रहस्य ईश्वर के इसी स्वरूप पर टिका हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस मे ऐसी विभावना का बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है—

बिनु पग चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु कर्म करइ विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वक्ता बड जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। करइ घ्राण बिनु वास अशेषा ॥

अब हमे यहाँ 'ब्रह्म' शब्द के विषय मे यह विचार भी कर लेना चाहिए कि यह शब्द सहिता-काल से ही ईश्वर का वाचक है अथवा इसे यह स्वरूप या अर्थ कालान्तर मे प्राप्त हुआ। इस सन्दर्भ मे स्वर्गीय रामधारीसिंह 'दिनकर' के विचार समीक्ष्य हैं—"मन्त्र का नाम पहिले ब्रह्म था। पीछे उसे ब्रह्मा कहने लगे, जो वेदी के समीप बिठाया जाता था और भी पीछे चलकर वह ब्रह्म सृष्टि के अध्यक्ष का वाचक हो गया।"[1]

1 दिनकर सस्कृति के चार अध्याय, पृ 82

दिनकरजी का उक्त वक्तव्य परम्परागत यथार्थ जान पडता है, क्योकि ब्रह्मविद्या-स्वरूप मन्त्रो को ईश्वर-रूप ही माना गया है। 'मन्त्र' सत्यविद्या है और ज्ञान-स्वरूप ईश्वर भी सत्य तत्त्व है, अत मन्त्र और ईश्वर एक ही हैं। ऐसे मन्त्रों का उद्गाता अथवा यज्ञ-सचालक ब्रह्मा ईश-भक्त ही कहा जा सकता है, ईश्वर नही। परन्तु ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त म जिस पुरुष स्वरूप चैतन्य-तत्त्व का वर्णन किया गया है, वह ब्रह्म विशद्-तत्त्व ज्ञान की अभिव्यक्ति के रूप मे ब्राह्मण, समाज-रक्षक के रूप मे क्षत्रिय, व्यापारिक सचालन के रूप मे वैश्य तथा समाज-सेवा के रूप मे शूद्र कहलाता है।[1] उस चैतन्य-तत्त्व के अनेक शीश है, अनेक पैर हैं, अनेक मुख है और सम्पूर्ण ससार उसी मे स्थित है।[2] वस्तुत उस चेतन तत्त्व का वर्णन 'ब्रह्म' शब्द से भी हुआ।[3] अत यह कहना ठीक जान नही पडता कि 'ब्रह्म' शब्द बहुत पीछे ईश्वर का वाचक बना। अत 'ब्रह्म' शब्द सहिता-काल से ही ईश्वर का वाचक भी रहा है, वह सम्पूर्ण सृष्टि मे व्याप्त है, वह प्रकाश का अनन्त पुञ्ज है, यह देवो का भी देव है, वह शक्तियो का आदि स्रोत है।

2 जीवात्मा के रहस्य की व्याख्या--माण्डूक्योपनिषद् मे जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय नामक चार अवस्थाओ के आधार पर जीवात्मा के समग्र स्वरूप का चित्रण किया गया है। अन्तत जीवात्मा आनन्द और ज्ञान का ही स्वरूप है। उपनिषद् मे जीवात्मा को अगूठे के परिमाण वाला भी कहा गया है। जीवात्मा को इतना छोटा बताने का अभिप्राय केवल यही है कि जीवात्मा का दर्शन हृदय के रोहिताकाश मे ही सम्भव है। उपनिषदो मे आत्मा को ब्रह्म का स्वरूप बताया गया है। आसुरी वृत्तियो मे अपने आपको प्रवृत्त करना ही आत्म-हनन है। अत आत्मा का यथार्थ रूप अनुभवगम्य ही है तथा उसे एक चेतना के रूप मे ही जानना चाहिए। जीवात्मा के स्वरूप की झाँकी निम्न उदाहरण मे द्रष्टव्य है--

"सोऽयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥"

3 प्रकृति या माया का रहस्य--उपनिषदो मे ईश्वर की आज्ञा या भय के फलस्वरूप सूर्य का तप्त होना अग्नि का ज्वलित होना, वायु का वहन तथा जल के प्रवाहित होने का वर्णन किया गया है। मूल रचना ही प्रकृति है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे इस समस्त मूल रचना को चेतन-तत्त्व स्वरूप ईश्वर मे तैरता हुआ सिद्ध किया गया है। उपनिषदो की प्रकृति असत्य न होकर ईश्वर का ही विराट् रूप है।

4 सदाचार की आवश्यकता--ईशावस्य उपनिषद् मे सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीवित रहने की वाछा सदाचार की पराकाष्ठा कही जा सकती है। तैत्तिरीय उपनिषद् मे ब्रह्मचारी वर्ग या बटु वृन्द के लक्षणो को अत्यन्त सुन्दर रूप मे चित्रित किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे आत्म हित को स्पष्ट करने के लिए सभी

1 ऋग्वेद 10/90, 12
2 वही, 10/90/1
3 "द्यौ शान्ति ब्रह्म शान्ति।" --यजुर्वेद 36/18

कार्यों मे आत्मीयता को ही अनुस्यूत कर दिया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् मे रैंक्व ऋषि के आचरण के माध्यम से कर्मनिष्ठा की दुहाई दी गई है। अहकार को विगलित करने के लिए आत्म-प्रकाशन या शेखी बघारने की प्रवृत्ति की निन्दा की गई है। अतिथि-सत्कार को महत्त्व देने के लिए 'अतिथिदेवो भव' तक कह दिया गया है।

5 सृष्टि-रचना—सृष्टि-रचना जैसे गूढतम विषय को लेकर उपनिषदो मे पर्याप्त चर्चा की गई है। बृहदारण्यक उपनिषदो में याज्ञवल्क्य और गार्गेयी के सवाद मे आकाश-तत्त्व को ईश्वर मे ही अवस्थित बतलाया गया है। ऐतरेय उपनिषद् मे सृष्टि-रचना का सविस्तार वर्णन किया गया है। वस्तुत पृथ्वी जल मे, जल अग्नि-तत्त्व मे, अग्नि-तत्त्व वायु मे, वायु आकाश मे सस्थित एव क्रियाशील है। भावात्मक और जड-स्वरूप प्रकृति का चेतन-तत्त्व के साथ याग होने से ही सृष्टि की रचना हुई है। यथार्थत सृष्टि-रचना चेतन-तत्त्व की क्रियाशीलता का परिणाम है।

6 योगविद्या—उपनिषदो मे ज्ञानमार्ग की प्रधानता है। श्रवण, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन के माध्यम से आत्म-तत्त्व का ज्ञान सम्भव है। ज्ञानमार्ग की चरम सीमा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है, ही है। श्वेताश्वतरोपनिषद् मे योगमार्ग या ज्ञान मार्ग के माध्यम से जरा, मरण तथा व्याधि-समूह पर विजय पाने का निर्देश किया है। वस्तुत उद्गीथ विद्या एव शाण्डिल्य विद्या जीवात्मा का ब्रह्म के साथ योग कराने के लिए ही खोजी गई है। योग विद्या मे प्राणायाम को इतना महत्त्व दिया गया है कि उसके बिना कोई भी योगी सतोगुणी वृत्ति को सरलतापूर्वक प्राप्त नही कर सकता। चिन्तन के समय एकान्त की अतीव आवश्यकता रहती है। नासिका के वाम रन्ध्र से श्वास लेकर उसे दक्षिण रन्ध्र से निकालने का क्रमपूर्वक अभ्यास करने से नाडी-शोधन होता है। अत उपनिषदो के ज्ञानमार्ग को योगविद्या के रूप मे प्राप्त करके हम यह कह सकते हैं कि वह एक वैज्ञानिक सत्य है।

7 मोक्ष का स्वरूप—कठोपनिषद् मे कहा गया है कि शरीर रूपी रथ मे आत्मा रूपी रथी आरूढ है। इन्द्रियाँ रूपी घोडे तथा मन रूपी लगाम या बल्गा है। जो व्यक्ति बुद्धि रूपी चतुर सारथी के माध्यम से अपने-रथ को सभालकर ब्रह्म रूपी गन्तव्य की ओर चलता है, उसे शान्ति के समुद्र के के समान विष्णुपद या मोक्ष प्राप्त होता है। जिस व्यक्ति की समस्त हृदय ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो चुकी हैं, वह व्यक्ति कामना-शून्य तत्त्व—मोक्ष को प्राप्त होता है। अत उपनिषदो के मोक्ष का स्वरूप इस प्रकार है—

1 कामना-शून्य स्थिति ही मोक्ष है।
2 मोक्ष शान्ति का अनन्त समुद्र है।
3 मोक्ष जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप ही है।

4 मोक्ष पाने पर पुनरागमन की समाप्ति हो जाती है।

5 मोक्ष वासनातीत तत्त्व है।

6 मोक्ष एक स्थिति है वह किसी विशिष्ट स्थान पर नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन मे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदो मे ज्ञानमार्ग का सुन्दर निरूपण है। इसीलिए शकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ जैसे आचार्यो ने युगानुसार अनेक दार्शनिक विचारधाराओ के प्रवर्तन हेतु उपनिषदो का भाष्य किया। वस्तुत उपनिषदो मे गूढतम स्थिति का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है।

उपनिषदो की शिक्षाएँ

उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ है। प्रामाणिक एक दर्जन उपनिषदो मे ब्रह्म विद्या का दार्शनिक स्तर पर विवेचन किया गया है। उपनिषदो मे समाज के परिष्कार को ध्यान मे रखकर आत्म-परिष्कार की चर्चा की गई इसलिए उपनिषदो की शिक्षाएँ सामाजिक तथा दार्शनिक स्तर की रही। यहाँ औपनिषदिक शिक्षाओ का सक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है। उपनिषद् की प्रमुख शिक्षाएँ इस प्रकार हैं—

1. स्वाध्याय की महिमा, 2 गुरु का महत्त्व, 3 शिष्य का कर्त्तव्य, 4 कर्म-परायणता, 5 निरहकारता, 6 मुमुक्षा, 7 आत्मज्ञान, 8 ससार की असारता, 9 ईश्वरीय ज्ञान तथा 10 पुनर्जन्म।

1 **स्वाध्याय की महिमा**—सद्ग्रन्थो के नियमित अध्ययन को स्वाध्याय कहा जाता है। यदि सद्ग्रन्थो का प्रेमी प्रमाद को त्यागकर अध्ययन-रत रहता है तो उसे ससार के व्यवहार और रहस्य की सहज जानकारी मिल जाती है। स्वाध्याय से व्यक्ति के मानस मे निहित भावनाओ की जागृति का अवसर मिलता है। उपनिषद् ग्रन्थो का स्वाध्याय करने से नित्य पावन पथ पर चलने की प्रेरणा मिलती है। स्वाध्याय की महिमा को कठोपनिषद् मे आचार्य यम और नचिकेता के प्रसग मे स्पष्ट किया गया है। उपनिषदो मे स्वाध्याय की महिमा का प्रकाशक ग्रन्थ 'तैत्तिरीयोपनिषद्' उल्लेखनीय है। मुण्डकोपनिषद् मे भी स्वाध्याय के रहस्य पर प्रकाश डाला गया है। 'छान्दोग्य' तथा 'बृहदारण्यकोपनिषद्' विभिन्न प्रसगो के माध्यम से स्वाध्याय की महिमा का ही गान करते हैं अत उपनिषदो मे यथार्थ ज्ञान के मार्ग पर चलने का एकमात्र आधार स्वाध्याय को ही सिद्ध किया है। स्वाध्याय आत्म-परिष्कार की प्रथम सीढी है।

2 **गुरु का महत्त्व**—वेदविद् गुरु के महत्त्व के प्रकाशन के लिए कठोपनिषद् मे अनेक प्रकार की चर्चाएँ हुई है। ज्ञान-पिपासु शिष्य को वेदज्ञ गुरु को खोजना चाहिए क्योकि उसके अभाव मे ज्ञानसूर्य से आलोकित पथ पर चलना असम्भव है। जो गुरु यथार्थ ज्ञान को पाकर प्राय मौन साधे रहता है अथवा गम्भीर बना रहता है, वही यथार्थ गुरु होता है। शिष्य की जिज्ञासा का परितोष करने के लिए शिष्य

की सुमधुर वाणी रामबाण औषधि का कार्य करती है। अविद्या से ग्रस्त व्यक्ति अपने आपको धीर-गम्भीर तथा प्रकाण्ड पण्डित समझकर स्वय को अज्ञान-रूपी कूप मे डालते हुए अपने अनुयायियो को भी अज्ञता के कूप मे गिरने के लिए विवश किया करते है। समस्त औपनिषदिक ज्ञान गुरुजनो की ही देन है इसीलिए औपनिषदिक ज्ञान भी गुरु है। उपनिषदो मे ईश्वर को गुरुओ का भी गुरु कहा गया है। उस ज्ञान-ज्ञेय रहस्यमय तत्त्व को जानकर व्यक्ति गुरुता को प्राप्त कर लेता है। ऐसे गुरुजनो के ज्ञानलोक से ससार अज्ञान-अन्धकार को दूर करता है तथा सामाजिक व्यवस्थाएँ सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ करती हैं। कठोपनिषद् के अज्ञानेनैव नीयमाना यथान्धा' रहस्य को महात्मा कबीर ने निम्न रूप मे शिक्षार्थं प्रस्तुत किया है।

"जाका गुरु है आंधरा, चेला निपट निरध।
अन्धा अन्धेहि ठेलिया, दोनो कूप परन्त ॥"

3 शिष्य का कर्त्तव्य—'तैत्तिरीयोपनिषद्' मे शिष्यो या विद्यार्थियो के दीक्षान्त समारोह जैसा चित्रण किया है। विद्यार्थी को चाहिए कि वह माता-पिता को देव-तुल्य समझे। गृहस्थाश्रम प्रवेश करने पर अतिथि के सत्कार के सन्दर्भ मे 'अतिथिर्देवो भव' अर्थात् अतिथि देवता होता है यही आदेश एव अनुदेश दिया गया है। विद्यार्थी का यह पावन कृत्य है कि वह यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए सद्गुरु को ढूंढे। 'कठोपनिषद्' मे नचिकेता ने आचार्य यम को ढूँढकर आध्यात्म ज्ञान प्राप्त किया, यह स्पष्टत बताया गया है। इसी प्रकार 'प्रश्नोपनिषद्' के अनेक आचार्यो तथा शिष्यो के प्रश्नोत्तरो की चर्चा भी यही सिद्ध करती है कि विद्यार्थी को ज्ञान-वर्धन के लिए विद्वान् गुरुजनो की खोज करनी चाहिए। विद्यार्थी तर्क और सेवा के द्वारा सदैव ज्ञानार्जन करे, यह उपनिषदो की परम पुनीत शिक्षा है। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य है। उपनिषदो मे ब्रह्मचर्य और विद्यार्जन का अटूट सम्बन्ध स्थापित किया गया है। विद्यार्थी के लिए एकान्तवास तथा दत्तचित्तता को अनिवार्य बताया गया है। उपनिषदो मे शिष्य या विद्यार्थी के कर्त्तव्यो को इतनी मधुरता और पावनता प्रदान की गई है कि विद्यार्थी समाज के कर्णधार के रूप मे भी पूर्ण ईमानदारी तथा कर्मठता का परिचय दे, इस भावना और धारणा को उजागर कर दिया गया है।

4 कर्मपरायणता—वेदो के कर्मवाद को उपनिषदो मे निष्काम कर्म योग का स्वरूप प्रदान किया गया है। उपनिषदो ने समाज को आशावादी बनाने के लिए सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीवित रहने की शिक्षा दी। त्याग की नीति को अपनाकर कर्मरत रहने की शिक्षा औपनिषदिक युग मे ही दी गई। कर्मपरायण मार्ग को निश्चित करते समय समस्त सदाचार को सम्यक् मान्यता दे दी गई। योगपूर्ण भोग के विषय मे बुलन्द स्वर उठाया गया। किसी के धन को मृत्तिका या

ईशावास्योपनिषद्, 1

लोष्ठवत् समझने का उपदेश दिया गया। नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करने के साथ-साथ उपासना से सम्बद्ध कर्मों को करने की भी प्रेरणाएँ दी गयी। अशुभ मार्ग पर चलना आत्मा का हनन करना है। अतएव जो व्यक्ति पतित पथ को अपनाते है वे अज्ञतापूर्ण अन्धकार के लोको मे निवास करते है। अन्तत यह शरीर भस्मसात् हो जाता है, अत हमे ईमानदारी से ही कार्य करना चाहिए। 'वृहदारण्यकोपनिपद्' मे महर्षि याज्ञवलक्य के प्रसग मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि गृहस्थ को सुचारु रूप से सचालित करके ही परमार्थ की साधना हेतु प्रयाण करना चाहिए। अग्निहोत्र सम्पादित करते हुए वातावरण को पवित्र वनाना चाहिए। स्वाध्याय करके पावन पथ अपनाना चाहिए। सत्य एव मृदुवचन वोलकर वाणी का तप करना चाहिए। जो कार्य प्रशसनीय है, उन्ही को करना चाहिए। श्रद्धापूर्वक कर्मठता को अपनाना चाहिए। जिन आदर्शो को अपनाने से हम चरित्रवान् बन सकते हैं, उन्हे अवश्य ही अपनाना चाहिए। कर्मपरायणता आत्म-ज्ञान की प्राप्ति मे नितान्त सहायक तत्त्व है।

5 निरहकारता—'केनोपनिषद्' मे अहकारी भावना को स्पष्ट किया गया है। एक ज्ञानी व्यक्ति वह है जो यथार्थ को जानकर भी यही कहता है कि मैंने यथार्थ को नही जाना। जो व्यक्ति कुछ ग्रन्थो का अध्ययन करके यथार्थ तत्त्व को जानने का दावा करता है, उसने यथार्थ को नही जाना। 'छान्दोग्योपनिपद्' मे रैक्व ऋषि के आख्यान के द्वारा निरहकारता की शिक्षा दी गई है। महर्षि नारद अनेक विद्याओ को जानकर भी आत्मतोप प्राप्त नही कर सके, क्योकि सांसारिक विद्याएँ व्यक्ति को प्रभुता के मद से मदोन्मत्त कर देती हैं। जब नारद सनत्कुमार से मिले तो सनत्कुमार ने आत्मविद्या को अहकार को दूर करने की सजीवनी वताया। 'ईशावास्योपनिषद्' मे ऐसे व्यक्तियो की चर्चा हुई है, जो प्रकृति की उपासना करके अपने आपको मुक्त व्यक्ति या सिद्ध पुरुष मानने लगते हैं। ऐसे व्यक्ति घोर अन्धकार से पूर्ण कूप मे युग-युग पर्यन्त निवास किया करते हैं। यदि कोई व्यक्ति श्रेष्ठ ग्रन्थो का अध्ययन करके भी श्रेष्ठ मार्ग को नही अपनाता तो वह व्यक्ति उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक पापी है जो अज्ञानग्रस्त होने के कारण शुभाचरण नही कर पाया। जो व्यक्ति यह मानता है कि मैं ही कार्यकर्ता हूँ, वह अहकार से ग्रस्त होने के कारण पतनोन्मुख होता है। अविद्या के ससार मे ससृत होने वाले व्यक्ति स्वय को धोखा देने के साथ-साथ दूसरे व्यक्तियो को भी अपनी अहकारी प्रवृत्ति के कारण कुमार्गगामी वनाते हैं अतएव निरहकारता परम आवश्यक गुण है। अहकार के त्याग का एकमात्र आधार आध्यात्म-विद्या ही है।

6 मुमुक्षा—उपनिषद् ब्रह्मविद्या के प्रस्तुतकर्त्ता ग्रन्थ होने के कारण पुरुषार्थ चतुष्टय मे मोक्ष को सर्वाधिक महत्त्व देते रहे है। नित्य-नैमित्तिक कर्मो को सम्पादित करते रहने पर मोक्ष की प्राप्ति की सबल इच्छा रहनी चाहिए। एक मुमुक्ष व्यक्ति समस्त सांसारिक सिद्धियो या सफलताओ को प्राप्त करते हुए भी अपने आत्मरूप को प्राप्त करने के लिए सचेत रहता है। मुमुक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह एकान्त-परायण बने। जिस लोक मे या ... बिजलिय

अपनी चमक नही पहुँचा सकती, जहाँ सूर्य की किरणो का प्रवेश नही है, जहाँ चन्द्र की चाँदनी नही प्रसर सकती वह मुमुक्षुओ का पारमार्थिक लक्ष्य मोक्ष है। 'वृहदारण्यकोपनिषद्' की मैत्रेयी महर्षि याज्ञवल्क्य के द्वारा सम्पत्ति दिए जाने पर भी सन्तुष्ट न हुई। उसने केवल यही कहा कि "मैं जिसे प्राप्त करके अमर नही हो सकती उसे लेकर क्या करूँ। यथा—येनाहं नअमृता स्याम् तेन किं कुर्याम्।" मोक्ष की इच्छा के कारण निष्काम कर्मयोग साकार होता है। निष्काम कर्मयोग के द्वारा व्यक्ति अनन्त ज्ञान के पथ पर अग्रसर होता है। जहाँ मुमुक्षा है, शान्ति वही है।

7 आत्मज्ञान—उपनिषदो मे आत्मा को ब्रह्म कहा गया है।[1] गूढ तत्त्व आत्मा का सबके सामने प्रकाश नही होता। आत्मा केवल सूक्ष्म दृष्टि से अथवा ज्ञान-नेत्रो से ही दर्शनीय है। आत्मा का निवास हृदय के रोहिताकाश नामक भाग मे कहा है आत्मज्ञानोन्मुख व्यक्ति अविद्या तथा दोनो के ही रहस्य को जानकर जरा-मरण के चक्र से निवृत्त हो जाता है—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ —ईशावास्योपनिषद्।

श्वेताश्वरोपनिषद् मे योगसाधना को आत्मज्ञान का मूल कारण सिद्ध किया गया है। एक साधक एकान्तसेवी होकर भय को त्याग कर स्वस्थ मन से निरन्तर आत्म-चिन्तन करता हुआ मोक्ष की शान्ति को प्राप्त होता है। आत्मज्ञान की ओर बढने वाले व्यक्ति के चित्त मे सहज प्रसाद या सुख की अनुभूति होती रहती है। योगोन्मुख व्यक्ति का कण्ठ सुमधुरता को प्राप्त होता चला जाता है, उसके शरीर मे एक विशेष प्रकार की स्फूर्ति होती चली जाती है। आत्मज्ञान प्राप्त करने वाला व्यक्ति सच्चा गुरु होता है। 'कठोपनिषद्' मे कहा गया है कि शरीर रूपी रथ मे आत्मा रूपी रथी बैठा हुआ है। बुद्धि रूपी सारथी इन्द्रिय रूपी घोडो की मन रूपी रास को पकडकर शरीर-रथ को सचालित करता है। जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ असयमित हैं, अथवा जिनकी बुद्धि अस्थिर है, उस व्यक्ति को अध पतन अवश्यम्भावी हैं। आत्मज्ञान का मार्ग कृपाण की तीक्ष्ण धार के तुल्य होता है। इस मार्ग पर चलना तरण-तारण व्यक्तियो के सामर्थ्य की ही चीज है। जाग्रत, स्वप्न, सुसुप्ति तथा तुरीय नामक चार अवस्थाओ के क्रम मे व्यक्ति को आत्मज्ञान प्राप्त होता है। आत्मज्ञान पुरुषार्थलभ्य होता है। कोई बलहीन व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त नही कर सकता। आत्मज्ञान प्रवचन से भी प्राप्त नही होता। व्यक्ति शास्त्र विधि के द्वारा आत्मा की ओर बढता है, आत्मा का प्रकाश उसके सामने स्वत प्रकट हो जाता है तथा वह व्यक्ति आत्मरूपता को प्राप्त कर लेता है।

8 ससार की असारता—उपनिषदो मे ससार की शिक्षा अनेक रूपो मे दी गई है। जब एक व्यक्ति अन्न को अपने जीवन का सर्वस्व मानता है, तो उसे अपनी आत्मा अन्न के रूप मे ही जान पडती है—'अन्नमेव प्राण।' जब व्यक्ति 'उपाहम्' से थोडा ऊपर उठता है तो उसे प्राणशक्ति का अनुभव होता है और वह प्राणशक्ति

1 माण्डूक्योपनिषद्, 2

को ही अपनी आत्मा मानने लगता है। जब वही व्यक्ति मन के स्वरूप को समझता है तो उसे मन ही आत्मा के रूप मे जान पडता है। वही व्यक्ति बुद्धि-तत्त्व का महत्त्व समझ कर बुद्धि या विज्ञान-तत्त्व को अपनी आत्मा मानने लगता है। ऐसा विज्ञानवादी व्यक्ति विशुद्ध आनन्द का अनुभव करके आनन्द-तत्त्व को ही आत्मा मानने लगता है। आनन्द का आत्म-तत्त्व के रूप मे अनुभव करने पर समस्त ससार फीका लगने लगता है। व्यक्ति शिव-तत्त्व को जानकर ससार की असारता को भली-भाँति समझ जाता है। ससार की असारता को समझने के लिए एक सुन्दर उदाहरण दिया गया है। एक वृक्ष की दो शाखाओ पर दो पक्षी बैठे है। उनमे से एक वृक्ष के फलो को खाता है तथा दूसरा उसे देखता मात्र है। 'फलभोक्ता पक्षी सुख-दु ख से लिप्त रहता है तथा फलदृष्टा सुख-दु ख से असम्पृक्त रहता है। अत सांसारिक भोगो मे लिप्त व्यक्ति आवागमन का शिकार बनता है तथा ससार का दृष्टा ईश्वरत्त्व प्राप्त व्यक्ति ससार की असारता को जानकर निर्द्वन्द्व हो जाता है।'

9 ईश्वरीय ज्ञान—'सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म'—अर्थात् सत्य एव अनन्तश ज्ञान-स्वरूप ईश्वर को जानना ही अनन्त ज्ञान को प्राप्त करना है। ईश्वरीय ज्ञान, ज्ञान की पराकाष्ठा है। एक व्यक्ति ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करके ईश्वर रूप ही हो जाता है—'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।' जब एक व्यक्ति की समस्त वासनाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती है तब वह अमरता का वरण करता है। जिस प्रकार से नदियाँ समुद्र मे मिलकर विश्राम करती हैं, उसी प्रकार जीवात्मा ईश्वर मे विलीन होकर अखण्ड आनन्द को प्राप्त करती है। ईश्वरीय ज्ञान आत्मा का ही ज्ञान है। ईश्वरीय ज्ञान होने पर सम्पूर्ण जगत् ईश्वरवत् प्रतीत होने लगता है "सर्वम् खल्विद ब्रह्म।" उपनिषदो मे सत्य और यथार्थ ज्ञान के रूप मे ईश्वरीय ज्ञान को ही स्वीकार किया गया है। इसी से मुक्ति या मोक्ष सम्भव है।

10 पुनर्जन्म—छान्दोग्य उपनिषद् मे कहा गया है कि अल्प धार्मिकता या साधना मे सुख नही है। सुख की असीमता केवल भूमा या अखण्ड साधना-शक्ति मे ही होती है। जब तक जीव कर्मो के बन्धन मे बँधकर भटकता है तब तक उसे जन्म-जन्मान्तर के रूप मे विभिन्न योनियो मे भ्रमण करना पडता है। जीव आत्मरूपता को प्राप्त कर लेने पर पुनर्जन्म के चक्र से दूर हट जाता है। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' मे योगानल-सदृश शरीर को पाने वाले योगी को जरा मरण के बन्धन से अतीव बताया गया—

"न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम् ॥"

'विमुक्तोऽमृतमश्नुते' अर्थात् माया-मुक्त व्यक्ति ही जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होता है। आत्म तत्त्व को जानने वाले व्यक्ति के समस्त सस्कार ससार मे ही विलीन हो जाते हैं 'सर्वे इहैव प्रविलीयन्ते।" अत उपनिषदो मे पुनर्जन्म को वैज्ञानिक रूप देकर उससे मुक्ति पाने के उपायो की भी शिक्षा दी गई है।

उपनिषदो के अनुशीलन से इस निष्कर्ष पर पहुँचना सरल है कि उपनिषद् ग्रन्थ निष्काम कर्मयोग के आधार पर सामाजिक कार्यो की शिक्षा प्रदान करते रहे।

उपनिषदो मे दार्शनिक स्तर की शिक्षाएँ अत्यन्त व्यापक हैं। हमारे समाज को उद्धरित करने के लिए उपनिषदो की जो भूमिका रही है, उसे वेदवेत्ता ही भलीभाँति समझ सकते हैं। उपनिषदो की शिक्षाओ को ध्यान मे रखकर शोपेनहार को यहाँ तक कहना पड़ा कि उपनिषद् ससार के महानतम ज्ञान केन्द्र हैं। उपनिषदो से जीवितावस्था मे शान्ति मिलती है तथा वे मृत्यु को भी शान्तिमय बनाने मे पूर्णत समर्थ है—"In the world there is no study so elevating as that of Upnishadas It has been the solace of my life, it will be the solace of my death."

षड्-वेदाँग
(Six Parts of the Vedas)

वेद के छ अग है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। ये सभी वेदाँग वेदो की यथार्थ जानकारी के लिए सहायक हैं। हम इनका सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

शिक्षा—वर्णों के उच्चारण की विधि का नाम शिक्षा है। वेदो के स्वर तीन प्रकार के हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। ऊँचे स्वर मे उच्चरित वर्ण उदात्त कहलाता है—उच्चैरुदात्त, नीचे स्वर मे उच्चरित वर्ण अनुदात्त कहलाता है—नीचैरुदात्त, उदात्त और अनुदात्त के बीच के स्वर मे उच्चरित वर्ण स्वरित कहलाता है—'समाहार स्वरित'। सक्षेपत. 'शिक्षा' मे भाषा-विज्ञान की अधिकाँश बातें समाहित रहा करती हैं।

कल्प—'कल्प' शब्द का अर्थ है एक उदार कल्पना या व्यवस्था इसलिए कल्पसूत्रो मे यज्ञो की विधियाँ, आचार-सहिता आदि का सुन्दर विवेचन किया है। हम कल्पसूत्रो का वर्णन आगे पृथक् रूप से करेंगे।

व्याकरण—शब्द-रचना या शब्द-व्याकलन विधिशास्त्र का नाम व्याकरण है। आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी, प्रातिशाख्य ग्रन्थ व्याकरण के ग्रन्थ है। 'अष्टाध्यायी' लौकिक सस्कृत का प्रामाणिक ग्रन्थ है।

निरुक्त—शब्द-बोध कराने के शास्त्र का नाम निरुक्त है। निरुक्त के माध्यम से वैदिक शब्दो की जानकारी होती है। आचार्य यास्क का 'निरुक्त' एक प्रामाणिक निरुक्त-ग्रन्थ है।

छन्द—वृत्त-व्यवस्था का नाम छन्द है। गद्य से पद्य को पृथक् करने के लिए मूल आधार छन्द ही है। वेदो मे निम्न छन्दो का प्रयोग हुआ है—गायत्री, जगती, त्रिष्टुप, पक्ति बृहती अनुष्टुप, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, कृति, प्रकृति, आकृति विकृति, सस्कृति, अभिकृति, उत्कृति, इत्यादि। आचार्य हेमचन्द्र का छन्दोनुशासन ग्रन्थ छन्दशास्त्र के रूप मे विख्यात है।

ज्योतिष—ग्रह-ज्ञान या काल-ज्ञान विद्या का नाम ज्योतिष है। यज्ञ-क्रियाओ की सफलतापूर्वक समाप्ति के लिए ज्योतिष उपादेय है। ज्योतिष एक प्रकार से एक

महान् गणित है। 'वेदांगज्योतिष' ग्रन्थ मे ज्योतिष का महत्त्व निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है—

यथा शिखा मयूराणा नागाना मणयो यथा।
तद्वद्वेदागशास्त्राणा गणित मूर्धनि सस्थितम्॥

सूत्र-ग्रन्थ
(Sutras)

सूत्र का स्वरूप एव सूत्र ग्रन्थो का वर्गीकरण

'सूत्र' शब्द का अर्थ है—धागा। जिस प्रकार धागे मे पत्र-प्रवाल, मणि-माणिक्य आदि पिरोकर माला बनाई जाती है, उसी प्रकार छोटे-छोटे वाक्यो मे अनेक भावो को परिपूरित करके सूत्रो की रचना होती है। अत सूत्र के माध्यम से गागर मे सागर मुहावरे को चरितार्थ किया जाता है। सूत्र की परिभाषा इस प्रकार है—'अर्थं अमित आखर अति थोरे।'—अर्थात् कतिपय अक्षरो मे या शब्दो मे असीमित अर्थ को प्रतिपादित करना ही 'सूत्र' है। इस आधार पर यह कहना पूर्णत ठीक होगा कि जो ग्रन्थ सूत्र-शैली मे रचित है, वही सूत्र-ग्रन्थ है। हम वेद के छ अगो की चर्चा करते समय 'कल्प' का भी परिचय दे आए हैं। वेद के 'कल्प' अग से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ रचे गए, जिन्हे 'कल्पसूत्र' नाम से अभिहित किया जाता है। परन्तु, वैदिक साहित्य मे प्रातिशाख्य-ग्रन्थो मे भी सूत्र-शैली का प्रयोग किया है, अत वे भी सूत्र-ग्रन्थो के रूप मे विवेच्य हो सकते है।

कल्पसूत्र—'कल्प' का अर्थ है—आदेश, अनुदेश, न्याय, युक्ति, कर्म इत्यादि। इसी तरह 'सूत्र' का अर्थ है सक्षेपण या सक्षिप्त शैली या सूक्तिपूर्ण शैली। अत कल्पसूत्र-ग्रन्थो मे अनेक धर्म-विधियो, यज्ञानुष्ठाको, कर्म-विधानो तथा अन्य नियमो का वर्णन करने के लिए सूत्र-शैली को आधार बनाया गया है। कर्म-प्रतिपादन की दृष्टि से कल्पसूत्रो का वर्गीकरण इस प्रकार से है—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र।

श्रौत्रसूत्र—श्रुति—अर्थात् वेद मे यज्ञ की प्रधानता है इसीलिए यज्ञो के प्रतिपादक ग्रन्थो को श्रौत्रसूत्र कहा गया है। श्रौत्रसूत्रो मे सम्पूर्ण यज्ञ-विधानो की चर्चा की गई है। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे भी यज्ञ-होम इत्यादि का प्रतिपादन है, परन्तु वे सूत्र शैली मे न होकर काव्यात्मक और वर्णनात्मक शैली मे रचित हैं। अत यज्ञ के विधानो को सरलतापूर्वक कण्ठस्थ रखने के लिए श्रौत्रसूत्रो की अनुपम उपादेयता है। प्रमुख श्रौत्रसूत्र इस प्रकार हैं—आश्वलायन-श्रौत्रसूत्र, शांखायन-श्रौत्रसूत्र, मानव-श्रौत्रसूत्र, बौधायन-श्रौत्रसूत्र, आपस्तम्भ-श्रौत्रसूत्र 'हिरण्यकेशी-श्रौत्रसूत्र' कात्यायन-श्रौत्रसूत्र, लाट्यायन-श्रौत्रसूत्र, द्राह्यायण-श्रौत्रसूत्र, जैमिनीय श्रौत्रसूत्र तथा वैतान श्रौत्रसूत्र।

गृह्यसूत्र—गृह्यसूत्रो मे गृहस्थाश्रम के समस्त सस्कारो एव सदाचारो का वर्णन किया गया है। गृहस्थ जीवन को सरस बनाने के लिए गृह्यसूत्रो की रचना की गई है। प्रमुख गृहसूत्र अग्रलिखित हैं—आश्वलायन गृह्यसूत्र, शांखायन-गृह्यसूत्र मानव-गृह्यसूत्र, बौधायन-गृह्यसूत्र, आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र, हिरण्यकेशी-गृह्यसूत्र, भारद्वाज-

भारद्वाज—गृह्यसूत्र, पारस्कर-गृह्यसूत्र, द्राह्यायण-गृह्यसूत्र, गोभिल गृह्यसूत्र, खदिर-गृह्यसूत्र एव कौशिक-गृह्यसूत्र ।

धर्मसूत्र—वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्था को लेकर धर्मसूत्रो की रचना की गई। 'धर्म' एक व्यापक शब्द है, जिसमे सभ्यता और सस्कृति को समाहित किया जाता है । समस्त धर्म-व्यवस्थाओ का सग्रह धर्मसूत्रो मे दृष्टव्य है । प्रधान धर्मसूत्र इस प्रकार हैं—वशिष्टधर्मसूत्र, मानव धर्मसूत्र, बौधायन धर्मसूत्र, आपस्तम्भ धर्मसूत्र और गौतमधर्मसूत्र ।

वेदो के आधार पर कल्पसूत्रो का वर्गीकरण

वैदिक सहिताओ को लेकर केवल ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्-ग्रन्थो की ही रचना न होकर, कल्पसूत्रो की भी रचना हुई है । चारो वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के आधार पर कल्पसूत्रो का वर्गीकरण निम्न भाँति किया जा सकता है—

ऋग्वेद के कल्पसूत्र—ऋग्वेद से सम्बद्ध दो सूत्र-ग्रन्थ है—आश्वलायन तथा शाँखायन । आश्वलायन श्रौत्रसूत्र तथा आश्वलायन गृहस्थसूत्र के साथ-साथ शाँखायन-श्रौत्रसूत्र एव शाँखायन-गृह्यसूत्र भी ऋग्वेद से जुडे हुए हैं । उक्त सूत्रो पर अनेक भाष्य भी प्राप्त होते हैं । इन सूत्र-ग्रन्थो को विभिन्न अध्यायो मे विभाजित करके एक-एक विषय का क्रमबद्ध विवेचन किया गया है ।

यजुर्वेद के कल्पसूत्र—यजुर्वेद के कल्पसूत्रो मे आपस्तम्व, हिरण्यकेशी, बौधायन प्रसिद्ध है । इस वेद से सम्बद्ध श्रौत्रसूत्र मे मानव, लौगाक्षि, कठ और काव्य विख्यात है । आधुनिक युग में आपस्तम्ब-धर्मसूत्र को बहुत अधिक महत्त्व दिया जा रहा है । आपस्तम्व का शुल्वसूत्र भी यजुर्वेद से सम्बद्ध है ।

सामवेद के कल्पसूत्र—सामवेद की कौथुमीय शाखा का लाट्यायन श्रौत्रसूत्र प्रसिद्ध हैं । इसी वेद के पचविंश ब्राह्मण का श्रौत्रसूत्र 'माशक' काम से जाना जाता है । उक्त वेद की राणायणीय शाखा से सम्बन्धित द्राह्यायण श्रौत्रसूत्र है । सामवेद के ग्रह्यसूत्रो मे गोभिल तथा खदिर प्रसिद्ध अन्य सूत्र-ग्रन्थ इस प्रकार हैं—ताण्डय लक्षण-सूत्र, उपग्रन्थसूत्र, क्षुद्रसूत्र इत्यादि ।

अथर्वेद के कल्पसूत्र—अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण 'गोपथ' है । इस ब्राह्मण के आधार पर पाँच सूत्र-ग्रन्थो का विकास हुआ, जिनके नाम इस प्रकार हैं—कौशिक-सूत्र, वैतान-सूत्र, नक्षत्रकल्प सूत्र, अगिरस-कल्पसूत्र और शान्तिकल्पसूत्र । इन सूत्र-ग्रन्थो के अतिरिक्त अथर्ववेद से सम्बद्ध 'आथर्वण-कल्पसूत्र' का भी उल्लेख किया गया है ।

कल्पसूत्रो की रचना की आवश्यकता—सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मौखिक रूप मे जीवित था । लिपिवद्ध ज्ञान के अभाव मे मौखिक ज्ञान को सुरक्षित रखना असम्भवप्राय हो चला था । इसी कारण से वैदिक यज्ञ-विधानो को जीवित रखने के लिए उन्हें सूत्रो मे प्रतिपादित कर दिया गया । इन सूत्रो को याद रखना अपेक्षाकृत सरल था । इसी सूत्र-काल मे भोजपत्रो तथा ताडपत्रो के ऊपर लिखने की पद्धति

प्रारम्भ हुई। सूत्र-युग का आविर्भाव लगभग 600 से 700 ई पू तक स्वीकार किया जाता है।

कल्पसूत्रो का वर्ण्य-विषय

हिन्दू-धर्म की उपादेयता को साकार करने का उद्देश्य लेकर सूत्र-शैली मे कल्पसूत्रो की रचना हुई। इन सूत्र-ग्रन्थो का विवेच्य निम्न रूपो मे देखा जा सकता है—

1 यज्ञो का वर्गीकरण,
2 गृहस्थ-धर्म का विवेचन,
3 वर्णाश्रम धर्म का स्पष्टीकरण तथा
4 अन्य सामाजिक व्यवस्थाओ का प्रतिपादन।

1 यज्ञो का वर्गीकरण—श्रौतसूत्रो मे चौदह पकार के यज्ञो का विधान स्पष्ट किया गया है। इन यज्ञो मे सोमरस के पान की भी विस्तार से चर्चा की गई है। सोमरस के अनुष्ठान से सम्बन्धित सोमयज्ञ की भी चर्चा की गई है। 'यज्ञपरिभाषासूत्र' मे तीन प्रकार के यज्ञो—सोमसस्था यज्ञ, हवि सस्था यज्ञ तथा पाक सस्था यज्ञ का सुन्दर विवेचन हुआ है। उपर्युक्त तीनो प्रकार के यज्ञो को सात-सात भागो मे विभाजित किया गया है। यथा—

सोमसस्था यज्ञ—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एव आप्तोर्यिम।

हविसस्था यज्ञ—अग्न्याध्येय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, आग्रहायण, चातुर्मास्य एव पशुबन्ध।

पाकसस्था यज्ञ—सायहोत्र, प्रातहोत्रि, स्थालीपाक, नवयज्ञ, वैश्वदेव, पितृयज्ञ तथा अष्टका। इन सब यज्ञो के माध्यम से वायुमण्डल को शुद्ध करने के साथ-साथ सामाजिक एव सांस्कृतिक पर्यावरण की शुद्धि पर भी बल दिया गया है।

2 गृहस्थ-धर्म का विवेचन—'सर्वेषा आश्रमाणा गृहस्थाश्रम विशिष्यते'। अर्थात् सभी आश्रमो मे गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुत इस आश्रम के ऊपर ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास नामक आश्रम भी आश्रित रहते हैं। प्रत्यक्षत यह देखा ही जाता है कि समस्त उन्नति-विधान गृहस्थाश्रम को ही लक्ष्य करके किए जाते हैं। हमारे विद्वानो ने गृस्थाश्रम मे ही सभी आश्रमो का दर्शन करने पर बल दिया है। सूत्र-ग्रन्थो मे गृहस्थ के लिए कुछ यज्ञो को अनुष्ठित करना आवश्यक कहा है। वे मुख्य यज्ञ इस प्रकार हैं—

गृह यज्ञ—पितृयज्ञ, पार्वणयज्ञ, अष्टकायज्ञ, श्रावणी यज्ञ अश्वायुजी यज्ञ, आग्रहायणी यज्ञ एव चैत्रीयज्ञ।

महायज्ञ—देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ एव नृयज्ञ।

गृहस्थ-जीवन को सुखी और सयत् रखने के लिए आरोग्यता की सर्वाधिक आवश्यकता है। इसीलिए 'कौशिक गृह्यसूत्र' मे अनेक रोगो तथा दैविक विपत्तियो को दूर करने के लिए अनेक मन्त्र लिखे है। पितृ यज्ञ के माध्यम से ...जो का

नाम उजागर करने वाली सन्तान या संतति का विकास करना है तथा नृयज्ञ के माध्यम से मानवतावादी संदेश प्रेषित करना है। अतः गृहस्थ-धर्म में सम्बद्ध विभिन्न यज्ञ अपनी अलग ही उपादेयता रखते हैं।

गृहस्थ-धर्म का मूल दाम्पत्य जीवन है। दाम्पत्य जीवन को सफल बनाने के लिए कुछ वैवाहिक विधि-निषेध की चर्चा भी सूत्र ग्रन्थों में की गई है। विवाह आठ प्रकार के हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच। प्रथम चारों प्रकार के विवाह प्रशंसनीय तथा अन्तिम चारों प्रकार के विवाह निन्दनीय कहे गए हैं। दाम्पत्य जीवन में सोलह संस्कारों का भी बड़ा महत्त्व है अतः सूत्र-ग्रन्थों में गृहस्थ-धर्म की सजीवता को प्रमाणीभूत किया है।

3 **वर्णाश्रम-धर्म का स्पष्टीकरण**—धर्मसूत्रों में चार प्रकार के वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कार्यों का युक्तियुक्त विवेचन हुआ है। 'गौतमधर्मसूत्र' में द्विजातियाँ—ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को खान-पान की दृष्टि से समान स्तर पर देखा गया है। शूद्रों को अन्य वर्गों की बराबरी का दर्जा न देने के कारण सूत्र-ग्रन्थों ने भी 'शोषक-शोष्य' अध्याय को पूर्ववत् रखा। उपनिषदों ने ब्रह्म-विद्या के आधार पर सबको ब्रह्म-रूप में देखने का प्रयास करके समानता की स्थापना की। परन्तु सूत्र ग्रन्थों ने उस समानता को दृष्टि से अपगत करके असमानता के अध्याय का पुनः श्रीगणेश कर दिया। इसीलिए वैवाहिक सीमाएँ भी कट्टरता को प्राप्त हो गईं तथा रूढ़िवादिता को पुनः पनपने का अवसर प्राप्त होने लगा। इन्हीं रूढ़ियों के फलस्वरूप ई. पू. छठी शताब्दी में युगपत् बौद्ध तथा जैन धर्मों का उदय हुआ। कुछ धर्मसूत्रों में दुहाई देकर भी दण्ड-व्यवस्था के प्रसंग में ब्राह्मणों को नाममात्र दण्ड तथा अन्य वर्गों को अपेक्षाकृत अधिक दण्ड देने की व्यवस्था की गई। अतः सूत्र-ग्रन्थों में ब्राह्मण धर्म की कट्टरताओं को सुरक्षित रख लिया गया, इसीलिए सूत्र-ग्रन्थों का धर्म भी 'ब्राह्मण-धर्म' नाम से जाना गया।

अन्य सामाजिक व्यवस्थाओं का प्रतिपादन—हिन्दू-धर्म को सुरक्षित रखने के लिए विदेशी-सम्पर्क को घृणा और जुगुप्सा की दृष्टि से देखा जाने लगा था इसीलिए सूत्र-ग्रन्थों में समुद्र-यात्रा का भी निषेध कर दिया गया। यदि कोई व्यक्ति विदेशी नागरिकों से वैवाहिक सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा करता तो उसे धर्म-द्रोही माना जाता। विवाह के विषय में वर-कन्या से सम्बन्धित जितनी भी गहराइयाँ हो सकती हैं, उन सबको धर्मसूत्रों में स्थान दिया गया। वस्तुतः धर्मसूत्र जिसे वर्ण-व्यवस्था घोषित कर रहे थे, वह जाति-व्यवस्था बन चुकी थी और न जाने कितनी ही रूढ़ियों—अन्धविश्वासों का विशिष्ट सूत्रपात भी सूत्र-काल में ही हुआ। फिर भी सूत्र-ग्रन्थों की उपादेयता हिन्दू-धर्म के परिप्रेक्ष्य में अपरिहार्य कही जा सकती है।

सूत्र-ग्रन्थों का अन्य ग्रन्थों पर प्रभाव

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि सूत्र-ग्रन्थों का रूढ़िगत अर्थ कल्पसूत्रों में ही है परन्तु सूत्र-शैली का प्रभाव व्याकरण ग्रन्थों पर भी पड़ा।

इसीलिए ऋक् प्रतिशाख्य जैसे वैदिक व्याकरण-ग्रन्थ सूत्र-शैली मे ही रचे गए। सूत्र-शैली लौकिक सस्कृत मे आकर अभ्युत्थान को प्राप्त हुई। इसीलिए सांख्य, योग न्याय, मीमांसा, वैशेपिक, ब्राह्मसूत्र जैसे दार्शनिक ग्रन्थो की रचना सूत्र-शैली मे ही हुई। लौकिक सस्कृत के प्रामाणिक वैयाकरण पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' भी सूत्र-शैली मे ही प्रणीत है। व्याकरण के क्षेत्रो मे अनेकानेक ग्रन्थो की रचना सूत्र-शैली मे ही हुई है। अत वैदिक साहित्य के सूत्र-ग्रन्थो का प्रभाव लौकिक सस्कृत पर ही न होकर आधुनिक भाषाओ—हिन्दी, वगाल, मराठी आदि पर्यन्त देखा जा सकता है। प्राचीन हिन्दी समालोचना का विकास सूत्र-शैली मे ही हुआ। उसका एक प्रतिदर्श दृष्टव्य है—

सूर-सूर तुलसी शशि, उडुगन केशवदास ।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करत प्रकास ॥

पौराणिक साहित्य

(Mythological Literature)

'पुराण' शब्द का अर्थ है—पुराना या प्राचीन। वस्तुत प्राचीन काल मे वेद-विस्तार का कार्य अनेक रूपो मे हुआ। जिस प्रकार वैदिक साहित्य के अग-ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्र-ग्रन्थ वेदो के प्रतिपाद्य का ही अनेकश एव अनेकधा वर्णन और प्रतिपादन करते रहे, उसी प्रकार वैदिक साहित्य के अनेक विषयो को कथानकीय आधार पर विस्तृत रूप देने का महत्त्वपूर्ण कार्य पुराणो ने किया। पुराणो मे प्राचीन कथाओ को आधार बनाकर सनातन मूल्यो को ही स्पष्ट किया गया है, इसलिए 'पुराण' पुराने होकर भी नए हैं—'पुरा भवति' (यास्कीय निरुक्त, 3/19)। अर्थात् पुराण पुराना होकर भी नया है। पद्म पुराण मे 'पुराण' शब्द का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है—'पुरा परम्परा वृष्टि पुराण तेन तत् स्मृतम्' पद्म 5/2/53 अर्थात् प्राचीनकालीन परम्पराओ का वर्णन करने वाले ग्रन्थ को 'पुराण' नाम से पुकारा जाता है। वायु पुराण मे 'पुराण' का रहस्य स्पष्ट करते हुए लिखा है—'यस्मात् पुरा ह्यनतीद पुराण तेन तत् स्मृतम्।' अर्थात् जो प्राचीन घटनाओ को अपने आप मे जीवित रखता है, वह पुराण है। अत 'पुराण' शब्द की व्याख्या के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराण परम्पराओ के पोषक है। वे सनातन मूल्यो के प्रतिपादक है, वे इतिवृत्तो से परिपूर्ण हैं, वे वेद के विस्तारक हैं, वे प्राचीन ग्रन्थ हैं।

पुराणो का वर्गीकरण

पुराणो मे 'पुराणो' की सख्या अठारह मानी गई है। अष्टादश पुराणो के नाम इस प्रकार है—

ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म मत्स्य, गरुड तथा ब्रह्माण्ड।

ब्रह्म पुराण—ब्रह्म पुराण मे 245 अध्याय है तथा 13783 श्लोक हैं। यह पुराण भारतवर्ष को देवभूमि या तीर्थभूमि के रूप मे उजागर करता है।

मध्य भारत के दण्डकारण्य की चर्चा इस पुराण का विस्तृत विषय रहा है। इस पुराण मे गोदावरी नदी का विस्तार से वर्णन किया है। इस पुराण मे उडीसा—उत्कल देश (स्थान) का विपद वर्णन है जिसने यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म पुराण की रचना मे उडीसा या उत्कल भूमि का आकर्षण शीर्षस्थ स्थान रखता है। प्रस्तुत पुराण मे तीर्थों का महात्म्य विस्तार वर्णित हुआ है। इसमे जगन्नाथ-श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम या सकर्षण तथा उनकी बहिन सुभद्रा की भी चर्चा हुई है। इस पुराण मे अनेक पुराणो के श्लोको को ज्यो के त्यो रूप मे सम्मिलित किया गया है इसीलिए कुछ विद्वान् इस पुराण के अधिकांश भागो को प्रक्षिप्त मानते है। प्रक्षिप्त-करण के आधार पर इस पुराण का रचना-काल 13वी शताब्दी तक माना जा सकता है।

पद्म पुराण—पद्म पुराण मे छ अध्याय है—आदि भूमि, ब्रह्म पाताल, सृष्टि और उत्तर खण्ड। इस पुराण मे श्लोको की अधिकतम सख्या 25 हजार मानी जाती है। पद्म पुराण मे 12वी शताब्दी के प्रथम चरण में होने वाले कुलोत्तुग नामक राजा की कथा का भी उल्लेख है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि यह पुराण कुछ अशो के हिसाब से बहुत ही अर्वाचीन है कुछ विद्वान् इस पुराण के ऊपर राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव देखकर इसे 16वी शताब्दी तक की रचना स्वीकार करते है।

विष्णु पुराण—इस पुराण के वक्ता महर्षि पराशर है। प्रस्तुत पुराण मे लगभग छ हजार श्लोक उपलब्ध होते हैं। विष्णु पुराण मे विष्णु के साथ साथ विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को खेल ही खेल मे उठा लिया। ऐसा वर्णन पौराणिक अतिशयोक्ति-पूर्ण शैली की घोषणा कर देता है। जब श्रीकृष्ण ने द्वारका की महिलाओ को अर्जुन के सरक्षण मे इन्द्रप्रस्थ भेजना चाहा तो मध्य देशीय भीलो ने अर्जुन को पराजित कर दिया। उस समय की अर्जुन की मन स्थिति का युक्तियुक्त मनोवैज्ञानिक चित्रण देखते ही बनता है। इस पुराण मे विभिन्न राजवशो-सूर्यवश तथा चन्द्रवश का सुन्दर विवेचन किया है। विष्णु पुराण का रचना-काल प्रथम शती के लगभग स्वीकार किया जाता है।

वायु पुराण—वायु पुराण मे 112 अध्याय है तथा इसकी श्लोक सख्या 10 हजार के लगभग है। इस पुराण का सम्बन्ध धार्मिक कृत्यो से अधिक जुडा हुआ है। यह पुराण इतिहास तथा धर्मशास्त्र दोनो से ही सम्पन्न है। वायु पुराण मे भी अवतारवाद की भावना का एक सहज निदर्शन है। लौकिक सस्कृत साहित्य मे महान् गद्यकार आचार्य बाण भट्ट ने भी वायु पुराण की चर्चा की है। अत वायु पुराण के कुछ अशो का रचना-काल चाहे कितना ही अर्वाचीन हो, परन्तु इसका मूल भाग कम से कम छठी शताब्दी के मध्य से पूर्व रचित होना चाहिए।

1 आचार्य बलदेव उपाध्याय पुराण विमर्श, भूमिका भाग

भागवत् पुराण—श्रीमद्भागवत् नाम से एक महापुराण की चर्चा प्राय सर्वत्र होती है। वह महापुराण भागवत् पुराण ही है। इस पुराण मे 12 स्कन्ध है। इस पुराण के 18 हजार श्लोक उपलब्ध हैं। प्रस्तुत पुराण के बारहवें स्कन्ध को देखने से पता चलता है कि इसका अन्तिम भाग अधिक प्राचीन नही है। इनमे देवकी के पुत्र स्कन्ध गुप्त की भी चर्चा हुई है अत इसका अन्तिम स्कन्ध पाँचवी शताब्दी मे रचित हुआ है। कुछ अन्य ग्रन्थो का अनुशील करने के उपरान्त विदेशी विद्वान् काणे साहब ने भागवत् पुराण को नवी शताब्दी की रचना माना है। इस पुराण के दशम स्कन्ध मे श्रीकृष्ण की लीलाओ की सविस्तार रचना की गई है। कहा जाता है कि जब श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा के लिए प्रवासित हो गए तो उन्होने कस का सहार करके कस के पिता उग्रसेन को मथुरा राज्य के राज-सिंहासन पर आसीन कराया। कस के श्वसुर मगध नरेश जरासन्ध ने एक विशाल सेना लेकर अपने जामातृहन्ता श्रीकृष्ण का वध करने का निश्चय किया। कई बार श्रीकृष्ण और बलराम ने जरासन्ध को पराजित किया। तदनन्तर गोकुल मे रहने वाले नन्द-यशोदा तथा गोप-गोपी-वृन्द को समझाने के लिए उद्धवजी को भेजा गया। ज्ञानमार्गी उद्धव ने गोपियो को समझाने की भरसक कोशिश की परन्तु गोपियाँ श्रीकृष्ण के ज्ञान- मार्गी सन्देश को अधिक महत्त्व न दे सकी। भागवतकार की कल्पना ने उद्धव और गोपियो के वार्ताकाल मे एक भ्रमर को भी ला खडा किया। अब उसी 'भ्रमर' के आधार पर यह माना जाता है कि हिन्दी कृष्ण-भक्ति शाखा के सूरदास जैसे महाकवियो के काव्य मे भ्रमर-दूत की रचना का स्रोत भागवत का भ्रमर-प्रसग ही है। इस पुराण मे राजवशो के वर्णन के साथ-साथ राजा परीक्षित की कथा का भी मार्मिक चित्रण हुआ है।

नारद पुराण—नारद पुराण मे 38 अध्याय है तथा 3600 श्लोक है। इस पुराण मे विष्णु-भक्त नारद के माध्यम से वैष्णवो के समस्त सिद्धान्तो की चर्चा की गई है। प्रस्तुत पुराण मे बौद्ध-धर्म की कटु आलोचना की गई है। यदि कोई द्विज व्यक्ति बौद्ध-विहार में प्रवेश करता है तो उसे पाप-समुद्र मे डूबना पडता है। ऐसे व्यक्ति की शुद्धि सैकडो प्रायश्चितो से भी सम्भव नही है—

बौद्धालय विशेद यस्तु महापद्यपि वै द्विज ।
न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा प्रायश्चितशतैरपि ।।

नारद पुराण मे जिन मत-मतान्तरो का विवेचन मिलता, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि नारद पुराण के प्राचीन सवादो के आधार पर तत्कालीन ब्राह्मण-धर्म के समर्थक विद्वानो ने इसमे इतना प्रक्षेप किया है कि जिसकी कोई सीमा ही नही जान पडती। नारद पुराण का रचना-काल 600 ई से पुराना नही है।

मार्कण्डेय पुराण—मृकण्ड के पुत्र मार्कण्डेय की रोचक कथा का वर्णन इस पुराण का आधार है। मार्कण्डेय ऋषि ने भगवान विष्णु की लीला की महत्ता का अनुभव तब किया जब उनके देखते-देखते प्रलयकालीन दृश्य उनके सामने उपस्थित हो गया। इस पुराण मे देवी की महत्ता का भी सुन्दर रूप मे प्रतिपादन हुआ है।

दत्तात्रेय नामक ऋषि के माध्यम से आश्रम व्यवस्था, राज व्यवस्था, श्राद्ध तथा नरक जैसे विषयो को लेकर चर्चाएँ कराई गई है। इस पुराण का रचना-काल छठी शताब्दी से प्राचीन है। प्रस्तुत पुराण मे 9 हजार श्लोको की सम्भावना की गई है।

अग्नि पुराण--इस पुराण मे 15 हजार श्लोको की सख्या का अनुमान किया जाता है। अग्नि पुराण मे वैष्णवी पूजा-चर्चा का सुन्दर विधान दिखलाई पडता है। इस पुराण का सम्बन्ध कुछ तत्त्वो से भी है, जो कभी बग देश मे प्रचलित रहे थे। इस पुराण मे गोचिकित्सा, आयुर्वेद, वास्तु-विद्या, धनुर्विद्या तथा रत्नपरीक्षा जैसी विधाम्रो का भी सुन्दर वर्णन है। इस पुराण का रचना-काल नवी शताब्दी से पूर्व का है।

भविष्य पुराण---इस पुराण मे चार पर्व हैं--ब्रह्म, मध्यम, प्रतिसर्ग तथा उत्तर। भविष्य पुराण मे श्लोको की सख्या 14 हजार तक की गई है। प्रस्तुत पुराण का स्वरूप अप्रामाणिक अधिक जान पडता है। समय-समय पर अनेक व्यासो ने इस पुराण का खूब विस्तार किया है इसलिए इसके रचना-काल के सम्बन्ध मे कोई निर्णय लेना कठिन जान पडता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण---ब्रह्मवैवर्त मे 18 हजार श्लोक हैं। प्रस्तुत पुराण मे भगवान के लोक को 'गोलोक' नाम दिया है। इस लोक की प्राप्ति परस्पर ब्रह्म की कृपा से ही सम्भव है। इस पुराण मे देवी के अनेक रूपो में--मगल चण्डी तथा मनसा देवी को विशिष्ट स्थान मिला है। ब्रह्मवैवर्त मे 'गगावतरण' की कथा का सुन्दर वर्णन किया है। हिन्दी के महान् कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इस पुराण से प्रभावित होकर 'गगावरण' नामक खण्ड-काव्य लिखा है।' सूर्यवशी राजा सगर के वीरो की मुक्त-कठ से प्रशसा भी इस पुराण मे द्रष्टव्य है। इस पुराण का रचना-काल नवी शताब्दी से पूर्व का स्वीकार किया गया है।

लिंग पुराण---'लिंग' अनेकार्थवाची शब्द है। इसके प्रमुख अर्थ इस प्रकार हैं---लक्षण, चिह्न, वेशभूषा, लपट या शिक्षा इत्यादि। जब कभी अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है तो उसमे से जो चिनगारियाँ या लपटें ऊपर उठती है, उन्हे ज्योतिर्लिग ही कहा जाता है। निर्गुण ईश्वर को उपनिषदो मे हिरण्यमय स्वरूप प्रदान किया था। उसी भगवान को ध्यान का आधार बनाने के लिए चिह्न के रूप मे कल्पित किया गया। ईश्वर को शिव स्वरूप या कल्याणकारी ही कहा गया है। इसीलिए भारत-वर्ष मे प्रकाश स्वरूप अथवा शिव या कल्याणकारी ईश्वर की लिंग-पूजा प्रचलित हुई। लिंग पुराण मे भगवान शकर की शक्ति का अत्यन्त सुन्दर विधान है। इस पुराण मे 11 हजार श्लोक है। इसका रचना-काल अष्टम, नवम शती माना जाता है।

वाराह पुराण---वाराह पुराण मे 217 अध्याय हैं तथा 9654 श्लोक है। अनन्त शक्ति ने एक वाराह या सूकर के रूप मे अवतीर्ण होकर हिरण्यकश्यप के अनुज महा प्रतापी हिरण्याक्ष का सहार किया था। इस कथा के साथ-साथ इस पुराण मे नचिकेता की कथा को भी विस्तृत रूप मे प्रस्तुत किया गया है। वाराह

पुराण मे कानपुर के निकट कालप्रिय या कालवी के मन्दिर की चर्चा के साथ-साथ यमुना के दक्षिण पार्श्वीय तथा मूलस्थान (मुलतान) के मन्दिर का निर्देश सूर्य-मन्दिर के रूप मे किया गया है। इस पुराण मे अवतारवाद की प्रबल भावना को लेकर वैष्णव-सिद्धान्तो का विवेचन हुआ है। इस पुराण का रचना-समय नवम-दशम शती माना गया है।

स्कन्द पुराण—स्कन्द पुराण को आकार की दृष्टि से सर्वाधिक वृहदाकार पुराण माना जाता है। इस पुराण मे श्लोको की सख्या 81 हजार तक स्वीकारी गई है। 'स्कन्द' शकर के पुत्र का नाम है। राजा हिमालय की पुत्री पार्वती का विवाह शकर से हुआ था। पार्वती के गर्भ से उत्पन्न पुत्र स्कन्द ने देवसेना का सेनापति होने पर तारकासुर नामक राक्षस का वध किया था। इस पुराण मे स्कन्द की प्रिय दासी महामाया का भी उल्लेख हुआ है। स्कन्दपुराण के अवन्तिखण्ड मे तीर्थो की महिमा का सविस्तार विवेचन है। इसी खण्ड मे रेवाखण्ड नामक भाग मे आधुनिक हिन्दू-समाज मे प्रचलित सत्यनारायण की कथा का वर्णन है। इस गन्थ मे अनेक विषयो का विस्तृत वर्णन किया गया है। शिव की भक्ति का सुन्दर परिचय भी इस पुराण की महान् उपलब्धि है। इस ग्रन्थ का रचना-काल नवम शताब्दी तक स्वीकार किया जाता है।

वामन पुराण—'वामन' शब्द का अर्थ है—बौना। कहा जाता है कि ईश्वर ने एक बौने तपस्वी के रूप मे पाताल के राजा बलि से तीन डग भूमि की याचना की थी। राजा बलि के गुरु नीति-प्रवर शुक्राचार्य ने वामन के छल को समझ कर राजा बलि को दान देने से रोकना चाहा था, परन्तु दानवीर बलि उस दान के प्रसग मे अपने राज्य की भी बलि चढा बैठा, यह वामन पुराण का मूल विषय है। वामन पुराण मे 95 अध्याय है तथा 10 हजार श्लोक हैं। यद्यपि यह पुराण वैष्णवी चेतना का पुराण है, परन्तु सम्प्रति इसे शैव दर्शन और शिव-कथानक से सयुक्त रूप मे प्राप्त किया जाता है। शिव का वटु रूप में तपस्विनी पार्वती के सम्मुख उपस्थित होने का रोचक प्रसग भी इस पुराण में वर्णित है। महाकवि कालिदास के 'कुमार-सम्भव' महाकाव्य से इस पुराण के अनेक श्लोक बहुत कुछ साम्य रखते हैं। इस पुराण का रचना-काल छठी शताब्दी से नवी शताब्दी पर्यन्त स्वीकारा जाता है।

कूर्म पुराण—कूर्म पुराण में 99 अध्याय है तथा 17 हजार श्लोक है। पहले यह पुराण पाञ्चरात्र मत (वैष्णव) का प्रतिपादक था, परन्तु कालान्तर मे इसे पाशुपत (शैव) मत से परिपूर्ण कर दिया गया। कूर्म 'कच्छप' ईश्वर के दशावतारों मे एक दूसरे पर परिगणित किया गया है। इस पुराण मे महेश्वर की शक्ति का विवेचन किया गया है। महेश्वर की शक्ति चार प्रकार की कही गई है—शान्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और निवृत्ति। इसी शक्ति चतुष्टय को चतुर्व्यूह के नाम से भी जाना जाता है। कूर्म पुराण में वैष्णवी तत्त्वो का भी समावेश है। इस पुराण का रचना-काल छठी सातवी शती है।

मत्स्य-पुराण—मत्स्य-पुराण मे 14 हजार श्लोक हैं। इस पुराण मे ईश्वर के मत्स्यावतार की चर्चा की प्रधानता है। मत्स्य का अर्थ है—मछली। इस पुराण मे प्रलयकालीन दृश्यो को सजीव कर दिया गया। इस पुराण का रचना-क्षेत्र नर्मदा नदी का पार्श्ववर्ती प्रदेश माना जाता है। वामन पुराण मे तीर्थों की महिमा का भी गान किया गया है। नर्मदा नदी को प्रलय मे भी प्रकट प्रदर्शित किया गया है, जो पुराणकार की नर्मदा के प्रति विशिष्ट आस्था का परिचायक है। इस पुराण का रचना-काल 200 ई से 400 ई के बीच होना चाहिए।

गरुड पुराण—गरुड पुराण मे 264 अध्याय है तथा 19 हजार श्लोक है। यह पुराण विभिन्न विद्याओ का विश्वकोप है। प्रस्तुत पुराण मे अन्त्येष्टि सस्कार से लेकर मृतक की अरिष्टि तक के विधानो पर सांगोपांग प्रकाश डाला गया है। इस पुराण मे मरणानुभूति को यथार्थता के समीप लाकर खडा कर दिया है। जब व्यक्ति के प्राणो का निष्क्रमण होता है तो उसे शत वृश्चिको द्वारा युगपत् काटने जैसी असह्य पीडा का अनुभव होता है। गरुड पुराण के उत्तर खण्ड को 'प्रेतकल्प' नाम भी दिया गया है। इसका रचना-काल आठवी-नवी शताब्दी है।

ब्रह्माण्ड पुराण—यह अठारहवाँ पुराण है। इस पुराण मे चार विभाग हैं तथा बारह हजार श्लोक हैं। प्रस्तुत पुराण मे जमदग्नि के पुत्र परशुराम का प्रचण्ड प्रताप प्रदर्शित किया गया है। इसके साथ ही साथ सूर्यवश तथा चन्द्रवश के राजाओ की वशावलियो का भी अत्यन्त सुन्दर वर्णन है। राजा सगर के वशज भगीरथ की कथा का भी इसमे समावेश हे। ब्रह्माण्ड पुराण मे शब्दो की व्युत्पत्ति के साथ-साथ काव्य-सौष्ठव पर भी बहुत बल दिया गया है। इस पुराण का रचना-काल छठी शताब्दी से नवी शताब्दी के मध्य तक माना जाता है।

पुराणो के लक्षण

पुराण के मुख्यत पाँच लक्षण हैं—सर्ग, प्रतिसर्ग, वश, मन्वन्तर तथा वश्यानुचरित—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च।
वश्यानुचरित चेतिर पुराण पञ्चलक्षणम्॥

भागवत पुराण मे 'पुराण' के दश लक्षणो का निर्देश है—

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वशो वशानुचरित संस्था हेतुरपाश्रय ॥—भागवत, 12/7/9

1 सर्ग, 2 विसर्ग, 3 वृत्ति, 4 रक्षा, 5 अन्तराणि, 6 वश, 7 वशानुचरित, 8 सस्था, 9 हेतु तथा 10 अपाश्रय।

यहाँ पौराणिक लक्षणो का क्रमवद्ध विवेचन किया जा रहा है।

1 सर्ग—'सग' का अर्थ है—सृष्टि। सृष्टि की रचना का रहस्य पुराणो मे अनेक प्रकार से वर्णित है। सृष्टि मुख्यत जड-चेतन के विचित्र सयोग का परिणाम है। विभिन्न पुराणा मे किसी विशिष्ट देवता को सृष्टि का स्रोत कह दिया गया है। कही यह सृष्टि महेश्वर की क्रिया से बनी है तो कही इसके निर्माता

विष्णु जैसे देवता या ईश्वर हैं। पुराणो मे मुख्यत निम्नलिखित तत्त्वो को सृष्टि रचना मे आवश्यक माना है–1 जीवात्मा, 2 बुद्धि, 3 मन, 4 चित्त, 5 अहकार, 6 शब्द, 7 स्पर्श, 8 रूप, 9 रस, 10 गन्ध, 11 पृथ्वी, 12 जल, 13 अग्नि, 14 वायु, 15 आकाश।

उपर्युक्त तत्त्वो के माध्यम से समस्त ग्रहो, नक्षत्रो, वनस्पतियो, जीवधारियो तथा अन्य पदार्थों की रचना होती है। मानव अपनी पाँच कर्मेन्द्रियो–हाथ, पैर, वाणी, वायु एव उपस्थ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियो–आँख, कान, नाक, रसना तथा त्वचा के माध्यम से मन के सयोग को प्राप्त करके विभिन्न विषयो मे प्रवृत्त होता है। पुराणो मे सृष्टि के अनेक रूप कहे गए है जो सक्षिप्त रूप मे बताए जा रहे हैं–

महत् तत्त्व या बुद्धि तत्त्व का नाम ही ब्रह्मसर्ग है। इसे प्राकृत सग के अन्तर्गत प्रथम–स्थान दिया गया है। प्राकृत सर्ग के अन्तर्गत पचमहाभूतो को भी स्थान दिया गया है। पच तन्मात्राओ–शब्द, स्पर्श, रूप रस तथा गन्ध से क्रमश आकाश, वायु, अग्नि, जल, तथा पृथ्वी नामक पचमहाभून परिपूर्ण है। इसी निर्माण-प्रक्रिया को 'भूतसर्ग' नाम दिया गया है। अहकार की सात्विक रूप मे विकृति होने से इन्द्रियो का जन्म होता है। पच ज्ञानेन्द्रियो, पच कर्मेन्द्रियो तथा एक सकल्प-विकल्पात्मक उभयेन्द्रिय मन को वैकारिक सर्ग के नाम से जाना जाता है।

प्राकृत सर्ग के पश्चात् वैकृत सर्ग को स्थान मिला है। ब्रह्माजी के ध्यान के फलस्वरूप पचपर्वा अविद्या के रूप मे पाँच तत्त्व उत्पन्न हुए। पाँच तत्त्वो को तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र के रूप मे जाना जाता है। इन तत्त्वो से वनस्पति पवत, वीरुध तथा लतादि की रचना हुई। इस सर्ग को 'मुख्यसग' नाम से पुकारा गया है। वस्तुत मुख्य सर्ग का सम्बन्ध स्थावरो से है। इस सर्ग की रचना मे ब्रह्माजी के ध्यान को महत्त्व दिया गया है। मुख्य सर्ग के पश्चात् 'तिर्यक्-सर्ग' को स्थान यिया गया है। तिरछी गति से उडने वाले एव चलने वाले जीव-जन्तुओ को तिर्यक् सग के रूप मे जाना जाता है। पशु पक्षियो की रचना के उपरान्त ब्रह्माजी ने सतोगुण से युक्त 'देवसर्ग' की रचना की। 'देवता' विकसित व्यक्ति का नाम है। देव, ज्ञान और भोग दोनो की प्रधानता से युक्त बताए गए हैं। देवसर्ग के उपरान्त 'मानुस सर्ग' को स्थान दिया गया है। सत्व, रज तथा तम नामक त्रिगुण से पूर्ण कर्मशील सृष्टि को 'मानुष सर्ग' नाम देना युक्तियुक्त है परन्तु देव के पश्चात् मानव को रचना विकासवाद की दृष्टि से अनुचित है। चार के जीवो–जरायज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज मे विशेष कृपा-रूप गुणो का विकास 'अनुग्रह सर्ग' नाम से जाना जाना है। ईश्वर ने मनुष्यो मे सिद्धि, देवो तुष्टि, स्थावरो मे विपर्यास तथा तिर्यको मे शक्ति को प्रतिष्ठित करके विशेष अनुग्रह किया हैं।

प्राकृत और वैकृत सर्गो के मिश्रित रूप को 'कौमार सर्ग' कहा गया है। ब्रह्मा ने अपने पवित्र ध्यान से चार कुमारो की रचना की। चार कुमारो के नाम

मत्स्य-पुराण—मत्स्य-पुराण मे 14 हजार श्लोक हैं। इस पुराण मे ईश्वर के मत्स्यावतार की चर्चा की प्रधानता है। मत्स्य का अर्थ है–मछली। इस पुराण मे प्रलयकालीन दृश्यो को सजीव कर दिया गया। इस पुराण का रचना-क्षेत्र नर्मदा नदी का पार्श्ववर्ती प्रदेश माना जाता है। वामन पुराण मे तीर्थों की महिमा का भी गान किया गया है। नर्मदा नदी को प्रलय मे भी प्रकट प्रदर्शित किया गया है, जो पुराणकार की नर्मदा के प्रति विशिष्ट आस्था का परिचायक है। इस पुराण का रचना-काल 200 ई से 400 ई के बीच होना चाहिए।

गरुड पुराण—गरुड पुराण मे 264 अध्याय है तथा 19 हजार श्लोक है। यह पुराण विभिन्न विद्याओ का विश्वकोष है। प्रस्तुत पुराण मे अन्त्येष्टि सस्कार से लेकर मृतक की अरिष्टि तक के विधानो पर सांगोपांग प्रकाश डाला गया है। इस पुराण मे मरणानुभूति को यथार्थता के समीप लाकर खडा कर दिया है। जब व्यक्ति के प्राणो का निष्क्रमण होता है तो उसे शत वृश्चिको द्वारा युगपत् काटने जैसी असह्य पीडा का अनुभव होता है। गरुड पुराण के उत्तर खण्ड को 'प्रेतकल्प' नाम भी दिया गया है। इसका रचना-काल आठवी-नवी शताब्दी है।

ब्रह्माण्ड पुराण—यह अठारहवाँ पुराण है। इस पुराण मे चार विभाग हैं तथा बारह हजार श्लोक हैं। प्रस्तुत पुराण मे जमदग्नि के पुत्र परशुराम का प्रचण्ड प्रताप प्रदर्शित किया गया है। इसके साथ ही साथ सूर्यवश तथा चन्द्रवश के राजाओ की वशावलियो का भी अत्यन्त सुन्दर वर्णन है। राजा सगर के वशज भगीरथ की कथा का भी इसमे समावेश है। ब्रह्माण्ड पुराण मे शब्दो की व्युत्पत्ति के साथ-साथ काव्य-सौष्ठव पर भी बहुत बल दिया गया है। इस पुराण का रचना-काल छठी शताब्दी से नवी शताब्दी के मध्य तक माना जाता है।

पुराणो के लक्षण

पुराण के मुख्यत पाँच लक्षण हैं—सर्ग, प्रतिसर्ग, वश, मन्वन्तर तथा वशानुचरित—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च।
वशानुचरित चेतिर पुराण पञ्चलक्षणम्॥

भागवत पुराण मे 'पुराण' के दश लक्षणो का निर्देश है—

सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वशो वशानुचरित संस्था हेतुरपाश्रय ॥—भागवत, 12/7/9

1 सर्ग, 2 विसर्ग, 3 वृत्ति, 4 रक्षा, 5 अन्तराणि, 6 वश, 7 वशानुचरित, 8 सस्था, 9 हेतु तथा 10 अपाश्रय।

यहाँ पौराणिक लक्षणो का क्रमबद्ध विवेचन किया जा रहा है।

1. सर्ग—'सर्ग' का अर्थ है–सृष्टि। सृष्टि की रचना का रहस्य पुराणो मे अनेक प्रकार से वर्णित है। सृष्टि मुख्यत जड-चेतन के विचित्र सयोग का परिणाम है। विभिन्न पुराणो मे किसी विशिष्ट देवता को सृष्टि का स्रोत कह दिया गया है। कही यह सृष्टि महेश्वर की क्रिया से बनी है तो कही इसके निर्माता

विष्णु जैसे देवता या ईश्वर हैं। पुराणो मे मुख्यत निम्नलिखित तत्त्वो को सृष्टि रचना मे आवश्यक माना है–1 जीवात्मा, 2 बुद्धि, 3 मन, 4 चित्त, 5 अहकार, 6 शब्द, 7 स्पर्श, 8 रूप, 9 रस, 10 गन्ध, 11 पृथ्वी, 12 जल, 13 अग्नि, 14 वायु, 15. आकाश।

उपर्युक्त तत्त्वो के माध्यम से समस्त ग्रहो, नक्षत्रो, वनस्पतियो, जीवधारियो तथा अन्य पदार्थों की रचना होती है। मानव अपनी पाँच कर्मेन्द्रियो–हाथ, पैर, वाणी, वायु एव उपस्थ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियो–आँख, कान, नाक, रसना तथा त्वचा के माध्यम से मन के सयोग को प्राप्त करके विभिन्न विषयो मे प्रवत्त होता है। पुराणो मे सृष्टि के अनेक रूप कहे गए है, जो सक्षिप्त रूप मे बताए जा रहे है–

महत् तत्त्व या बुद्धि तत्त्व का नाम ही ब्रह्मसर्ग है। इसे प्राकृत सर्ग के अन्तर्गत प्रथम स्थान दिया गया है। प्राकृत सर्ग के अन्तर्गत पचमहाभूतो को भी स्थान दिया गया है। पच तन्मात्राओ–शब्द, स्पर्श, रूप रस तथा गन्ध से क्रमश आकाश, वायु, अग्नि, जल, तथा पृथ्वी नामक पचमहाभूत परिपूर्ण है। इसी निर्माण-प्रक्रिया को 'भूतसर्ग' नाम दिया गया है। अहकार की सात्विक रूप मे विकृति होने से इन्द्रियो का जन्म होता है। पच ज्ञानेन्द्रियो, पच कर्मेन्द्रियो तथा एक सकल्प-विकल्पात्मक उभयेन्द्रिय मन को वैकारिक सर्ग के नाम से जाना जाता है।

प्राकृत सर्ग के पश्चात् वैकृत सर्ग को स्थान मिला है। ब्रह्माजी के ध्यान के फलस्वरूप पचपर्वा अविद्या के रूप मे पाँच तत्त्व उत्पन्न हुए। पाँच तत्त्वो को तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र के रूप मे जाना जाता है। इन तत्त्वों से वनस्पति पर्वत, वीरुध तथा लतादि की रचना हुई। इस सर्ग को 'मुख्यसर्ग' नाम से पुकारा गया है। वस्तुत मुख्य सर्ग का सम्बन्ध स्थावरो से है। इस सर्ग की रचना मे ब्रह्माजी के ध्यान को महत्त्व दिया गया है। मुख्य सर्ग के पश्चात् 'तिर्यक्-सर्ग' को स्थान दिया गया है। तिरछी गति से उडने वाले एव चलने वाले जीव-जन्तुओ को तिर्यक् सर्ग के रूप मे जाना जाता है। पशु पक्षियो की रचना के उपरान्त ब्रह्माजी ने सतोगुण से युक्त 'देवसर्ग' की रचना की। 'देवता' विकसित व्यक्ति का नाम है। देव, ज्ञान और भोग दोनों की प्रधानता से युक्त बताए गए हैं। देवसर्ग के उपरान्त 'मानुस सर्ग' को स्थान दिया गया है। सत्व, रज तथा तम नामक त्रिगुण से पूर्ण कर्मशील सृष्टि को 'मानुष सर्ग' नाम देना युक्तियुक्त है परन्तु देव के पश्चात् मानव की रचना विकासवाद की दृष्टि से अनुचित है। चार के जीवो—जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज मे विशेष कृपा-रूप गुणो का विकास 'अनुग्रह सर्ग' नाम से जाना जाता है। ईश्वर ने मनुष्यो मे सिद्धि, देवो तुष्टि, स्थावरो मे विपर्यास तथा तिर्यको मे शक्ति को प्रतिष्ठित करके विशेष अनुग्रह किया है।

प्राकृत और वैकृत सर्गो के मिश्रित रूप को 'कौमार सर्ग' कहा गया है। ब्रह्मा ने अपने पवित्र ध्यान से चार कुमारो की रचना की। चार कुमारो के नाम

इस प्रकार हैं–सनत्, सनतन, सनत्कुमार तथा सनातन। इन चारो ही कुमारो को अमर कहा गया है।

2 प्रतिसर्ग—प्रतिसर्ग का अर्थ है—प्रलय। 'जायते ध्रुवम् मृत्यु' नामक सिद्धान्त के आधार पर जन्म लेने वालो की मृत्यु अवश्य होती है। इसी सिद्धान्त को लेकर चार प्रकार के प्रलय बताए गए है—नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत प्रलय, आत्यन्तिक प्रलय तथा नित्य प्रलय।

पौराणिक काल-गणना के अनुसार ब्रह्मा के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन मे चौदह मनुष्यो का उदय होता है। जब एक कल्प का समय पूरा हो जाता है तो उतने ही समय के लिए रात्रिकाल भी होता है। उस प्रचण्ड रात्रिकाल मे प्राय ध्रुव रूप मे समस्त भूमण्डल जलमग्न हो जाता है। इसी का नाम नैमित्तिक प्रलय है।

ब्रह्माजी की आयु सौ ब्रह्म वर्षों की होती है। उनकी आयु व्यतीत होने पर पृथ्वी जल मे, जल अग्नि मे, अग्नि वायु मे तथा वायु आकाश मे विलीन हो जाती है। आकाश अहकार मे, अहकार महत तत्त्व मे तथा महत् तत्त्व प्रकृतिस्थ हो जाता है अत समस्त स्थूल पदार्थ के रूप मे विलीन हो जाते है। जब सभी तत्त्वो से पूर्ण प्रकृति ही अपने मूल रूप मे उपस्थित रह जाती है तो उसी को प्राकृत प्रलय कहा जाता है।

पूर्ण दु ख-निवृत्ति का नाम आत्यन्तिक प्रलय है अत मोक्ष को ही आत्यन्तिक प्रलय कहा जाता है। इस प्रलय के लिए कोई समय निर्धारित नही है। जब व्यक्ति अपनी ज्ञान रूपी तलवार से मोह रूपी गांठ को काट देता है तो उसकी समस्त वासनाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। उस समय व्यक्ति अपने यथार्थ ईश्वरीय रूप को प्राप्त कर लेता है। अभी तक सभी जीवधारियो की आत्यन्तिक प्रलय सम्भव नहीं हुई है। क्या यह आत्यन्तिक प्रलय कभी हो सकेगी ?

जीवधारियो का निर्माण-क्षय नामक क्रम नित्य चलता रहता है। अत नित्य क्षय के क्रम का नाम नित्य प्रलय है यथा—'जन्मवृद्धिक्षंये नित्य ससारयति चक्रवत्।'

3 वश—पुराण का तीसरा लक्षण वश है। पुराणो मे तीन आर्य वशो का विशद् वर्णन हैं—सूर्यवश, चन्द्रवश तथा सौद्युम्न वश। इनमे भी प्रथम दो वशो की प्रधानता रही है।

विराट् भारत मे सूर्य नामक राजा हुए हैं, जिनका उल्लेख नामत गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रथम श्लोक मे हुआ है। सूर्य के पुत्र मनु ने 'अयोध्या' नामक नगर मे अपनी राजधानी स्थापित की थी। इस मनु के ज्येष्ठ पुत्र का नाम इक्ष्वाकु था। मनु ने अपने पिता ने नाम पर अपने वश का नाम सूर्यवश रखा। इक्षवाकु की वश-परम्परा मे निम्नलिखित राजा विख्यात है–पृथु, युवनाश्व, मान्धाता, अम्बरीष, अनरण्य, त्रिशकु, हरिश्चन्द्र, रोहिताश्व, सगर, दिलीप प्रथम, भागीरथ, सुदान, दिलीप खट्वांग, रघु, अज, दशरथ, राम, कुश, अग्निवर्ण, बृहद्बल। सूर्यवश

का प्रथम राजा मनु तथा अन्तिम राजा बृहद्वल था। राजा बृहद्वल महाभारत के युद्ध मे अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु के हाथ से मारा गया था।

विराट् भारत के राजा चन्द्र देववश के राजा सूर्य के मित्र थे। चन्द्र के पुत्र का नाम बुध था। मनु ने अपनी पुत्री इला का विवाह चन्द्रपुत्र बुध से किया था। बुध का ज्येष्ठ पुत्र पुरुरवा था। पुरुरवा ने इलाहाबाद के दूसरी ओर गगा नदी के तट पर बसे प्रतिष्ठानपुर (भूसी) को अपने राज्य की राजधानी बनाया था। बुध और पुरुरवा ने अपने पूर्वज चन्द्र के नाम पर अपने वश का नाम चन्द्रवश रखा। चन्द्रवश मे नहुप, ययाति, दुष्यन्त, भरत, कुरु, पुरु, श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, अभिमन्यु, परीक्षित, जनमेजय जैसे प्रतापी राजपुरुष हुए है। चन्द्रवश की प्रमुख शाखाएँ इस प्रकार हैं—यदुवश, पुरुवश, तुर्वसु शाखा, द्रुह्यु शाखा, अनुशाखा, अन्धक शाखा, वृष्णि शाखा, कुरु शाखा, हैह्य शाखा, चन्द्रवश मे श्रीकृष्ण अवतार के रूप मे प्रसिद्ध है।

पूर्वी भारत मे—असम, मेघालय, अरुणाचल, बर्मा आदि की ओर सौद्युम्न वश की राजशाखाएँ कार्य करती रही। कहा जाता है कि सौद्युम्न वश का सम्बन्ध भी मनु से ही रहा है। इस वश का कोई विशेष वर्णन पुराणो मे नही मिलता है।

उपर्युक्त राजवशो के अतिरिक्त पुराणो मे कश्यप की विभिन्न पत्नियो के नाम पर भी विभिन्न राजवशो की शाखाएँ भी प्रवर्तित हुईं। कश्यप की मुख्यत अदिति, दिति, हनु, कद्रू, वनिता आदि रानियाँ थी। इन रानियो के नाम पर देववश, दैत्यवश, दानववश, सर्प या शेष वश तथा गुरुड वश प्रवर्तित हुए। ये सभी वश सूर्यवश, चन्द्रवश तथा सौद्युम्न वश से प्राचीन हैं। वस्तुत पुराणो के दोनो राजवश—सूर्यवश तथा चन्द्रवश देववश की ही शाखाएँ हैं। उपर्युक्त विभिन्न वशो की शाखाएँ आज सम्पूर्ण विश्व मे विद्यमान हैं। देववश से जो जाति निकली, उसे आर्य कहा गया है। आजकल आर्यों के आगमन के विषय मे जितने भी मत हैं, उनमे बहुत कुछ सत्य विद्यमान है, क्योकि देववश के लोग विश्व के अनेक भू-भागो मे बसे हुए थे तथा उन्होने वहाँ से भारत मे बसी विभिन्न जातियाँ को आतकित करके अपना प्रभुत्व या आर्यत्व स्थापित करके अपने को 'आर्य नाम से प्रसिद्ध किया था। वस्तुत ये आर्य मुख्यत तत्कालीन विराट् भारतवर्ष के ही निवासी थे, इसलिए 'आर्य भारतवर्ष के ही निवासी थे' यह मत भी न्यायमगत जान पड़ता है। इन विभिन्न वशो की राजशाखाओ का सविस्तार वर्णन पुराणो मे द्रष्टव्य है। वशानुक्रम के विस्तर से यह पता चलता है कि विभिन्न वशो के राजाओ ने अपना इतिहास प्रशास्ति के रूप मे लिखवाया है।

4 मन्वन्तर—'मन्वन्तर' का अर्थ है—एक मनु का समय। पौराणिक काल-गणना का क्रम निम्न प्रकार है—

युगो की काल-गणना—	सत्ययुग	17 लाख 28 हजार वर्ष
	त्रेता युग	12 लाख 96 हजार वर्ष
	द्वापर युग	8 लाख 64 हजार वर्ष
	कलि युग	4 लाख 32 हजार वर्ष
	एक चतुर्युगी =	43 लाख 20 हजार वर्ष

71 चतुर्युगी = 1 मन्वन्तर
एक हजार चतुर्युगी = एक ब्रह्म दिन—अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष
एक हजार चतुर्युगी = एक ब्रह्म रात्रि—वही
ब्रह्माजी के एक दिन मे 14 मनु होते हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

1 स्वायम्भुव मनु, 2 स्वरोचिप मनु, 3 उत्तम मनु, 4 तामस मनु, 5 रैवत मनु, 6 चाक्षुप मनु, 7 वैवस्वत मनु, 8 सावर्णि मनु, 9 दक्षसावर्णि मनु, 10 ब्रह्म सावर्णि मनु, 11 धर्म सावर्णि मनु, 12 रुद्रसावर्णि मनु, 13 देवसावर्णि मनु तथा 14 इन्द्र सावर्णि मनु।

मन्वन्तर के अधिकारियो के नाम इस प्रकार है—मनु, सप्तर्षि, देव, देवराज इन्द्र तथा मनु पुत्र। भागवत पुराण मे ईश्वर के अशावतार को भी मन्वन्तर का अधिकारी घोषित किया गया है। इन सभी अधिकारियो का कार्य सृष्टि-विस्तार, सृष्टि-सरक्षण तथा वेद-विस्तार से सम्बद्ध है।

5 वशानुचरित—सूर्यवश तथा चन्द्रवश के प्रमुख प्रतापी तथा दानवीर राजाओ के चरित्रो का वर्णन 'वशानुचरित्' लक्षण के आधार पर किया गया है। पुराणो मे सूर्यवशी राजा सगर के शतक्रतु बनने के प्रयास का कुतूहलकारी वर्णन हुआ है। देववश के राजा इन्द्र ने सगर को शतक्रतु बनने से रोका। सगर के वशज भगीरथ ने गगा नदी को उत्तरी भारत मे अवतीर्ण कराया इसीलिए 'गगा का एक पर्याय 'भागीरथी' भी है। सूर्यवश के राजा त्रिशकु तथा हरिश्चन्द्र की कथा भी दो भिन्न दृष्टिकोणो को प्रस्तुत करती है। राजा रघु के प्रताप के कारण इक्ष्वाकुवश को रघुवश नाम से भी अभिहित किया गया है। इसी वश मे दशरथनन्दन श्री रामचन्द्र ने आर्य और देव शक्तियो का सगठन करके राक्षस सस्कृति और शासन के महान् अधिष्ठाता रावण का वध किया था। पुराणकारो ने राम के प्रति इतनी कृतज्ञता ज्ञापित की कि राम को सर्वत्र रमण करने वाली भक्ति 'राम' या ईश्वर का ही साक्षात् अवतार कह डाला। राम के चरित्र मे अनुशासन, सत्यसधता, भ्रातृत्व, कर्म-परायणता, स्नेह, सहानुभूति, परोपकार वीरता, धीरता, गम्भीरता, स्वाभाविकता जैसे अनेक गुण परिपूर्ण दिखलाई पड़ते हैं।

चन्द्रवश के राजा पुरुरवा को इन्द्र रक्षक तथा महाश्रृगारी रूप प्रदान किया गया है। महाराजा दुष्यन्त ने कण्व की पालिता पुत्री शकुन्तला से गाँधर्व विवाह किया था। महाराजा दुष्यन्त को पुराणो की अपेक्षा कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' ने अधिक प्रसिद्ध किया है। राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत का सम्बन्ध भारतवर्ष के नामकरण से भी जोड़ा जाता है। परन्तु विष्णु पुराण मे दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष का नामकरण न बतलाकर राजा उत्तानपाद के वशज भरत के नाम पर भारत का नामकरण निर्धारित किया है। चन्द्रवश का राजा नहुष देववश के राजा इन्द्र को हराकर स्वय शतक्रतु बन बैठा था। नहुष अपने विजय-दर्प को न सह सका। उसने शची (इन्द्राणी) को अपनी पत्नी बनाना चाहा।

वह अपनी शिविका मे अगस्त्य जैसे ऋषियो को कहार के रूप मे जोतने पर भी उतारू हो गया। बुद्धिजीवियो के अपमान के कारण नहुष को इन्द्रासन से हटना पड़ा। नहुष के पुत्र ययाति ने दिग्विजय करके दैत्यराज वृषपर्वा के कुलगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया। देवयानी का पुत्र यदु यदुवंश का प्रवर्तक सिद्ध हुआ। ययाति की प्रेमिका वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा के गर्भ मे पुरु का जन्म हुआ। ययाति के पश्चात् उसके पुत्रो की शाखाओ का बड़ा विस्तार हुआ। निष्कर्षत ययाति वीर होने के साथ-साथ घोर शृंगारी व्यक्ति भी था। चन्द्रवंश मे ब्राह्मणो का द्रोही कार्तवीर्य अर्जुन या सहस्रबाहु नामक राजा भी हुआ। कार्तवीर्य का विनाश करने का श्रेय गुजराती ब्राह्मण परशुराम को प्राप्त हुआ। परशुराम और कन्नौज नरेश विश्वामित्र के बीच सम्बन्ध होने के कारण, परशुराम विश्वामित्र की सेना के बल पर कार्तवीर्य को पराजित कर सके। कार्तवीर्य हैहय शाखा का सर्वाधिक प्रतापी राजा था। कार्तवीर्य ने एक बार रावण को भी कैद कर लिया था। चन्द्रवंश की वृष्णिशाखा मे श्रीकृष्ण जन्मे। पुराणो मे श्रीकृष्ण को ईशावतार कहा गया है। श्रीकृष्ण की राजनीति, वीरता, रसिकता, दार्शनिकता जैसी विशेषताओ के आधार पर उन्हे सर्वाधिक प्रभावपूर्ण विभूति भी कहा गया है। महान् राजनीतिज्ञ श्रीकृष्ण की आँखो के आगे ही महाभारत तथा यादव-सहार जैसे घोर काण्ड हुए। कृष्ण ने देव-पूजा का विरोध किया था। शूद्रो को भी वेद पढने का अधिकारी माना था।

राजवंशो के चरित्र के अतिरिक्त कुछ ऋषि वंशो के चरित्र पर भी पुराण प्रकाश डालते हैं। भृगुवंश मे जमदग्नि तथा परशुराम का चरित्र आकर्षक है। परशुराम की वीरता से प्रभावित होकर पुराणकारो ने उन्हे ईशावतार तक कह डाला है। परशुराम ने केवल हैहय शाखा का विध्वस किया था, सम्पूर्ण क्षात्रवंश का नही। पुराणो मे महर्षि अगस्त्य तथा राजर्षि विश्वामित्र की सच्चारित्रिकता का भी मनोहारी वर्णन है। महर्षि अगस्त्य की वीरता से प्रभावित होकर विदर्भराज ने अपनी पुत्री लोपामुद्रा का अगस्त्य से विवाह किया था। पुराणो मे गौतम, अंगिरा, पुलस्त्य, विश्रवा, अत्रि, दत्तात्रेय, दुर्वासा, द्रोणाचार्य जैसे ऋषियो के चरित्रो पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है। देववंश का इन्द्र, दैत्यवंश के हिरण्यकश्यप, हिरण्याक्ष, प्रह्लाद, विरोचन, बलि, बाणासुर जैसे दैत्येन्द्रो के शौर्य की भी भूरि-भूरि प्रशसा की गई है। अत पुराणों में वंश्यानुचरित का वृहद् विश्लेषण है।

6 विसर्ग—अनेक प्रकार की जीव-सृष्टि का नाम विसर्ग है। चेतनामय अन्त करण का नाम जीव है। यह जीव स्थावरो मे—पेड-पौधो मे अविकसित स्थिति मे होता है। वही जीव पसीना और गर्मी से उत्पन्न होने वाले कीटो और जन्तुओ मे स्थावरो की अपेक्षा विकसित होता है। वही चेतना अण्डो से उत्पन्न होने वाले मछली, मेढक, पक्षी आदि जीवधारियो मे कुछ और भी अधिक विकसित होती है। मूल चेतना जरायुजो—जानवरो तथा मनुष्यो मे क्रमश अधिक विकसित होती है। इन चारो प्रकार के जीवो को क्रमश उद्भिज, स्वेदज, अण्डज तथा

71 चतुर्युगी = 1 मन्वन्तर
एक हजार चतुर्युगी = एक ब्रह्म दिन—अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष
एक हजार चतुर्युगी = एक ब्रह्म रात्रि—वही
ब्रह्माजी के एक दिन में 14 मनु होते हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

1 स्वायम्भुव मनु, 2 स्वरोचिष मनु, 3 उत्तम मनु, 4 तामस मनु, 5 रैवत मनु, 6 चाक्षुष मनु, 7 वैवस्वत मनु, 8 सावर्णि मनु, 9 दक्षसावर्णि मनु, 10 ब्रह्म सावर्णि मनु, 11 धर्म सावर्णि मनु, 12 रुद्रसावर्णि मनु, 13 देवसावर्णि मनु तथा 14 इन्द्र सावर्णि मनु।

मन्वन्तर के अधिकारियों के नाम इस प्रकार है—मनु, सप्तर्षि, देव, देवराज इन्द्र तथा मनु पुत्र। भागवत पुराण में ईश्वर के अंशावतार को भी मन्वन्तर का अधिकारी घोषित किया गया है। इन सभी अधिकारियों का कार्य सृष्टि-विस्तार, सृष्टि-संरक्षण तथा वेद-विस्तार से सम्बद्ध है।

5 वंशानुचरित—सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के प्रमुख प्रतापी तथा दानवीर राजाओं के चरित्रों का वर्णन 'वंशानुचरितम्' लक्षण के आधार पर किया गया है। पुराणों में सूर्यवंशी राजा सगर के शतक्रतु बनने के प्रयास का कुतूहलकारी वर्णन हुआ है। देववंश के राजा इन्द्र ने सगर को शतक्रतु बनने से रोका। सगर के वंशज भगीरथ ने गंगा नदी को उत्तरी भारत में अवतीर्ण कराया इसीलिए 'गंगा' का एक पर्याय 'भागीरथी' भी है। सूर्यवंश के राजा त्रिशंकु तथा हरिश्चन्द्र की कथा भी दो भिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करती हैं। राजा रघु के प्रताप के कारण इक्ष्वाकुवंश को रघुवंश नाम से भी अभिहित किया गया है। इसी वंश में दशरथनन्दन श्री रामचन्द्र ने आर्य और देव शक्तियों का संगठन करके राक्षस संस्कृति और शासन के महान् अधिष्ठाता रावण का वध किया था। पुराणकारों ने राम के प्रति इतनी कृतज्ञता ज्ञापित की कि राम को सर्वत्र रमण करने वाली भक्ति 'राम' या ईश्वर का ही साक्षात् अवतार कह डाला। राम के चरित्र में अनुशासन, सत्यसंधता, भ्रातृत्व, कर्म-परायणता, स्नेह, सहानुभूति, परोपकार, वीरता, धीरता, गम्भीरता, स्वाभाविकता जैसे अनेक गुण परिपूर्ण दिखलाई पड़ते हैं।

चन्द्रवंश के राजा पुरुरवा को इन्द्र रक्षक तथा महाशृंगारी रूप प्रदान किया गया है। महाराजा दुष्यन्त ने कण्व की पालिता पुत्री शकुन्तला से गांधर्व विवाह किया था। महाराजा दुष्यन्त को पुराणों की अपेक्षा कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' ने अधिक प्रसिद्ध किया है। राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत का सम्बन्ध भारतवर्ष के नामकरण से भी जोड़ा जाता है। परन्तु विष्णु पुराण में दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष का नामकरण न बतलाकर राजा उत्तानपाद के वंशज भरत के नाम पर भारत का नामकरण निर्धारित किया है। चन्द्रवंश का राजा नहुष देववंश के राजा इन्द्र को हराकर स्वयं शतक्रतु बन बैठा था। नहुष अपने विजय-दर्प को न सह सका। उसने शची (इन्द्राणी) को अपनी पत्नी बनाना चाहा।

वह अपनी शिविका में अगस्त्य जैसे ऋषियो को कहार के रूप मे जोतने पर भी उतारू हो गया। बुद्धिजीवियो के अपमान के कारण नहुष को इन्द्रासन से हटना पड़ा। नहुष के पुत्र ययाति ने दिग्विजय करके दैत्यराज वृषपर्वा के कुलगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया। देवयानी का पुत्र यदु यदुवश का प्रवर्तक सिद्ध हुआ। ययाति की प्रेमिका वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा के गर्भ मे पुरु का जन्म हुआ। ययाति के पश्चात् उसके पुत्रो की शाखाओ का बडा विस्तार हुआ। निष्कर्षत ययाति वीर होने के साथ-साथ घोर शृगारी व्यक्ति भी था। चन्द्रवश मे ब्राह्मणो का द्रोही कार्तवीर्य अर्जुन या सहस्रबाहु नामक राजा भी हुआ। कार्तवीर्य का विनाश करने का श्रेय गुजराती ब्राह्मण परशुराम को प्राप्त हुआ। परशुराम और कन्नौज नरेश विश्वामित्र के बीच सम्बन्ध होने के कारण, परशुराम विश्वामित्र की सेना के बल पर कार्तवीर्य को पराजित कर सके। कार्तवीर्य हैहय शाखा का सर्वाधिक प्रतापी राजा था। कार्तवीर्य ने एक बार रावण को भी कैद कर लिया था। चन्द्रवश की वृष्णिशाखा मे श्रीकृष्ण जन्मे। पुराणो मे श्रीकृष्ण को ईशावतार कहा गया है। श्रीकृष्ण की राजनीति, वीरता, रसिकता, दार्शनिकता जैसी विशेषताओ के आधार पर उन्हे सर्वाधिक प्रभावपूर्ण विभूति भी कहा गया है। महान् राजनीतिज्ञ श्रीकृष्ण की आँखो के आगे ही महाभारत तथा यादव-सहार जैसे घोर काण्ड हुए। कृष्ण ने देव-पूजा का विरोध किया था। शूद्रो को भी वेद पढने का अधिकारी माना था।

राजवशो के चरित्र के अतिरिक्त कुछ ऋषि वशो के चरित्र पर भी पुराण प्रकाश डालते है। भृगुवश मे जमदग्नि तथा परशुराम का चरित्र आकर्षक है। परशुराम की वीरता से प्रभावित होकर पुराणकारो ने उन्हे ईशावतार तक कह डाला है। परशुराम ने केवल हैहय शाखा का विध्वस किया था, सम्पूर्ण क्षात्रवश का नही। पुराणो मे महर्षि अगस्त्य तथा राजर्षि विश्वामित्र की सच्चारित्रिकता का भी मनोहारी वर्णन है। महर्षि अगस्त्य की वीरता से प्रभावित होकर विदर्भराज ने अपनी पुत्री लोपामुद्रा का अगस्त्य से विवाह किया था। पुराणो मे गौतम, अगिरा, पुलस्त्य, विश्रवा, अत्रि, दत्तात्रेय, दुर्वासा, द्रोणाचार्य जैसे ऋषियो के चरित्रो पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है। देववश का इन्द्र, दैत्यवश के हिरण्यकश्यप, हिरण्याक्ष, प्रह्लाद, विरोचन, बलि, बाणासुर जैसे दैत्येन्द्रो के शौर्य की भी भूरि-भूरि प्रशसा की गई है। अत पुराणो मे वश्यानुचरित का वृहद् विश्लेषण है।

6 विसर्ग—'अनेक प्रकार की जीव-सृष्टि का नाम विसर्ग है। चेतनामय अन्त करण का नाम जीव है। यह जीव स्थावरो मे—पेड-पौधो मे अविकसित स्थिति मे होता है। वही जीव पसीना और गर्मी से उत्पन्न होने वाले कीटो और जन्तुओ मे स्थावरो की अपेक्षा विकसित होता है। वही चेतना अण्डो से उत्पन्न होने वाले मछली, मेढक, पक्षी आदि जीवधारियो मे कुछ और भी अधिक विकसित होती है। मूल चेतना जरायुजो—जानवरो तथा मनुष्यो मे क्रमश अधिक विकसित होती जाती है। इन चारो प्रकार के जीवो को क्रमश उद्भिज, स्वेदज, अण्डज तथा जरायुज

कहा गया है। यह विविध मुखी सर्ग ईश्वर के द्वारा निर्मित है। जीवो के जन्म-जन्मान्तर के सस्कार ही उनके जन्म के कारण कहे गए हैं। सस्कारो की भिन्नता के कारण सृष्टि भी विविध मुखी है। इसीलिए पुराणो मे मानव शरीर को देवदुर्लभ शरीर बताकर जीवात्मा के वास्तविक अर्थात् मुक्त रुप को प्राप्त करने के लिए उसे ही मूलाधार घोषित किया गया है।

7 वृत्ति—जीवो के निर्वाह के योग्य जितनी भी उपभोग्य सामग्री है, उसका पुराणो मे वृत्ति के रूप मे उल्लेख किया गया है। पुराणो मे खाद्य-अखाद्य का विस्तार से विवेचन किया गया है। विधि-निषेध की यही परम्परा आज भी हिन्दू-समाज मे द्रष्टव्य है। यद्यपि यह सम्पूर्ण जगत् जीवो का उपभोग्य है, परन्तु मानव-समाज को मर्यादित रखने के लिए यह आवश्यक है कि विधि-निषेध स्वरूप शास्त्रीय सिद्धान्त लागू किए जाएँ। वन्यो की वृत्ति विधि-निषेध की चिन्ता नही करती, क्योकि जगली जीव-जन्तुओ मे 'मत्स्य-न्याय' सिद्धान्त ही दर्शनीय होता है। मानवो मे भी पाशविकता की कभी कमी नही रही इसीलिए समस्त मनुष्य-समाज आत्मगौरव की ग्रन्थि को शिकार रहा है। चावल गेहूँ, आदि खाद्यान्न शास्त्र-सिद्ध है तथा माँस-मछली का सेवन शास्त्र-वर्जित है।

8 रक्षा—अपने अस्तित्व-रक्षण की सभी को चिन्ता होती है। मानव की महत्त्वाकांक्षा उसे कठोरता और बर्बरता की ओर भी अग्रसर करती है। पौराणिक राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ तथा दिग्विजय जैसे तत्त्व यही घोषित करते हैं कि मानव आत्मगौरव की भावना के आधार पर ही विकास की ओर बढा है। जब मानव ने अपने प्रतिद्वन्द्वी को कुचलना चाहा तभी 'रक्षा' का प्रश्न उठा। इसीलिए अनेक सगठन, अनेक जातियाँ, अनेक दल विश्व-समाज के मच पर आ खडे हुए। भागवत् पुराण मे कहा गया है कि ईश्वर ने विभिन्न जीवधारियो के रूप मे अपने आपको प्रकट करके इस सृष्टि की रक्षा की—

रक्षाऽच्युतावतारेहा विश्वस्यानु युगे युगे।
तिर्यक् मर्त्यर्षि-देवेपु यैस्त्रयीद्विष ॥ —भागवत 12/7/14

वेद-विरोधी शक्तियो का विनाश करने के लिए ईश्वर को अवतरित होना पडता है। इस अवतार-तत्त्व का विस्तृत विवेचन पुराणो मे दर्शनीय है। पुराणो मे मुख्यत दशावतार की चर्चा निम्न रूप मे हुई है—

मत्स्य कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामन ।
राम रामश्च कृष्णश्च बुद्ध कल्किश्च ते दश ॥
—पद्म पुराण, उत्तर 257/40

अवतारो का क्रम इस प्रकार है—1 मत्स्य, 2 कूर्म, 3 वराह, 4 नृसिंह, 5 वामन, 6 परशुराम, 7 श्रीराम, 8 श्रीकृष्ण, 9 बुद्ध तथा 10 कल्की।

प्रस्तुत अवतार-क्रम को देखने पर यह भी पता चलता है कि पुराण एक युग मे नही लिखे गए तथा जो भी विशिष्ट महापुरुष हुआ, उसे ही अवतार कहकर सम्मानित किया गया। गौतम बुद्ध ईश्वर तथा ईशावतार को स्वीकार तक न करते

थे, परन्तु उस कर्मकाण्ड विरोधी महापुरुष को पुराणकारो ने ईश्वर का अवतार कहकर सम्मानित किया। यह अवतार सख्या चौबीस तक भी गई है।

वस्तुत ईश्वर का अवतार सप्रयोजन होता है। पुराणो मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जब धर्म का ह्रास होता है, अधर्म की वृद्धि होती है, तब श्रीभगवान् दुष्टो का नाश करने के लिए, सन्तो की रक्षा के लिए, वेद-मर्यादाओ की सस्थापना के लिए स्वय को किसी जीवधारी के रूप मे प्रकट करते है। पुराणो के अवतारवाद पर भक्तिवादी दर्शन की गहरी छाया प्रतिबिम्बित है। यदि अवतार-तत्त्व का निषेध किया जाए तो भक्ति-दर्शन को गहरा धक्का लगेगा। अवतारवाद की विचित्र कल्पना के कारण आडम्बरो का भी विकास हुआ है। व्यक्ति प्रत्येक अनूठे तत्त्व का दुरुपयोग करता है इसलिए अवतारवाद की आड मे मूर्ति-पूजा, दान व खानपान को लेकर कितने ही आडम्बर प्रचलित हुए। इन आडम्बरो का इतना प्रकोप बढा कि हिन्दू-धर्म एक तरह से आडम्बरो का केन्द्र बन गया। इसीलिए वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की चर्चा करते समय महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थ प्रकाश' मे पुराणकारो को लाल बुझक्कड तक कह डाला है। समाज-शास्त्रियो ने अवतारवाद का सम्बन्ध विकासवादी सिद्धान्त से भी जोडा है। मछली या मत्स्य या क्षेत्र जल तक सीमित है। कूर्म जल और थल पर चल सकता है। वराह या शूकर पृथ्वी पर दौड सकता है तथा पाशविक शक्ति का प्रतीक है। नृसिह अर्द्ध शेर तथा अर्द्ध मानव है। वामन एक अविकसित मानव का रूप है। परशुराम क्रोध का अवतार है। श्री रामचन्द्र मर्यादित मानव के प्रतीक हैं। श्रीकृष्ण दर्शन और राजनीति के साक्षात् अवतार हैं। बुद्ध समस्त वासनाओ से ऊपर उठकर मानव को निर्वाण की शिक्षा देते हैं। कल्की मुरादाबाद की सम्भल तहसील मे अवतरित होकर कलियुग के पापो का शमन करेगा। वह बिना युद्ध के ससार पर विजय पाकर सत्ययुग की शुरूआत करेगा।

मत्स्य और कूर्म अवतारो ने जल-मग्न सृष्टि का उद्धार किया—अर्थात् मत्स्य और कूर्म जैसे जलचरो से ही आगे विकसित होने वाले जीवधारी उत्पन्न हुए। वराह ने—अर्थात् शूकर वशी राजा ने अपनी सेना के माध्यम से हिरण्याक्ष का वध किया। नृसिह—अर्थात् नरशार्दूल विष्णु ने हिरण्यकश्यप का वध किया तथा वेद-मार्ग की सस्थापना की। वामन ने तीन डगो—अर्थात् तीन आक्रमणो के द्वारा दैत्येन्द्र बलि को परास्त करके वैदिक सस्कृति और शासन की रक्षा की। परशुराम ने वेद-विरोधी कार्तवीर्य अर्जुन को ससैन्य समाप्त कर दिया। श्री रामचन्द्र ने रक्ष-सस्कृति के विस्तारक रावण का वध करके आर्य सस्कृति की रक्षा की। श्रीकृष्ण ने आतकवादी कस तथा उसके पक्षधरो का उन्मूलन करके तानाशाही को ही चकनाचूर कर दिया। बुद्ध ने मानव के अन्तरग मे बसी आसुरी शक्तियो का विरोध किया तथा उनसे जूझने का माध्यम मार्ग भी प्रतिपादित किया। कल्की समस्त आदर्शो को साकार करने वाला सिद्ध होगा।

जिन ऋषियो ने वेद-मार्ग को प्रशस्त करने के लिए प्रयास किए, वे सभी अवतार हैं। 'अवतार' का अर्थ है—नीचे उतरना। जब ईश्वरीय शक्ति किसी

जीवधारी मे उतरती या प्रकट होती है तो उसी व्यक्ति को अवतार कह दिया जाता है। परन्तु, पुराणो का अवतार ऐसे मनोवैज्ञानिक अवतारवाद का आदर करके भी ईश्वर द्वारा की जाने वाली लीलाओ को ही अधिक महत्त्व प्रदान करता जान पडता है। ईश्वर की लीलाओ से सगुण ईश्वर का स्वरूप स्पष्ट होता है। जो निर्गुण ईश्वर गुणातीत, शब्दातीत, चित्रातीत एव ससारातीत है, वही अवतारवादी प्रयोजन की पूर्ति के लिए साकार होता है। ऐसे सगुण ईश्वर को नवधा भक्ति के माध्यम से पाया जा सकता है। नवधा भक्ति इस प्रकार है—

श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्यनिवेदनम्।।

ईश्वर की कथा को श्रद्धापूर्वक सुनना श्रवण भक्ति है, ईश्वर का गुणगान कीर्तन भक्ति है, ईश्वर को पुन -पुन याद करना स्मरण भक्ति है, ईश्वर की मूर्ति की पग-सेवा पाद-सेवन भक्ति है, ईश्वर की प्रतिमा पर पुष्पादि चढाना अर्चन भक्ति है, ईश्वर की महिमा के सूचक स्त्रोतो का गान एव मनन वन्दना भक्ति है, 'ईश्वर मेरे स्वामी है और मैं उनका सेवक हूँ'—यही भावना दास्य भक्ति है, ईश्वर को अपना मित्र मानकर उससे परम प्रेम रखना सख्य भक्ति है तथा निरहकार भाव मे सब कुछ ईश्वर को ही समर्पित करना आत्म-निवेदन भक्ति है। ईश्वर अपने भक्त की रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहता है। ईश्वर अपने कर्ममार्गी भक्त की निष्कामता के आधार पर रक्षा करता है, भक्तिमार्गी भक्त को सामीप्य मोक्ष प्रदान करके रक्षा करता है, ज्ञानमार्गी सारूप्यता को प्राप्त करके रक्षा का पात्र बनता है। अत ईश्वर का अवतार अनेक माध्यमो से समाज का रक्षक कहा जा सकता है।

9 हेतु—जीवो के जन्म का कारण अविद्या है। अविद्या के कारण जीव का नित्य, शुद्ध, बुद्ध एव चेतन रूप धूमिल हो जाता है। इसी अविद्या को जन्म का हेतु कहा गया है। ससार के सभी जीवो का ससरण अविद्या के ही कारण होता है। अविद्या-ग्रस्त जीव का जन्म-मरण होता है, यथार्थ जीव का नही। समस्त सृष्टि-प्रलय का यही रहस्य ज्ञातव्य है। जीव जब बच्चे के रूप मे अबोध और अशक्त होता है, तो वह अपने आपको बच्चा मानता है और जब वह यौवन, प्रौढ तथा वृद्धावस्था जैसे शरीर-यात्रा क्रमो से निकलता है तो वह अपने आपको तद्वत् देखने लगता है। वास्तव मे जीव क्या है? अथवा 'कोऽहं' जैसी समस्या उसके सामने सदैव बनी रहती है। अत अविद्या के कारण सस्कार-रचना का क्रम नहीं टूट पडता है तथा जीव विभिन्न योनियो मे ससरण के लिए विवश हो जाता है। विष्णु पुराण मे ठीक ही कहा है—

तेपा ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्टया प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमाना पुन पुन ॥ —विष्णुपुराण

अत दार्शनिक दृष्टिकोण को अपनाकर पुराणो मे अविद्या के स्वरूप को बहुत अधिक स्पष्ट किया गया है। वस्तुत अविद्या माया का ही नाम है। माया त्रिगुणमयी है। त्रिगुण के समुद्र मे सभी जीव निमज्जित रहते है। इसलिए अविद्या को कम-जननी कहकर भागवत पुराण मे कहा गया है—

हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेर विद्याकर्मकारक ।
त चानुशायिन प्राहुर व्याकृतमुतापरे ।। —भागवत, 12/7/18

अत सृष्टि के प्रारम्भ मे अविद्या के कारण ही कर्मो का प्रसार हुआ इसलिए अविद्या ही जीव के समरण का हेतु है । जीव प्रकृति मे शयन करता है इसलिए जीव को 'अव्याकृत' अर्थात् प्रकृतिरूप भी कहा गया है । हमे यहाँ यह याद रखना चाहिए कि किसी भी सृष्टि को प्रथम सृष्टि नही कहा जा सकता, क्योकि जीव की प्रकृतिबद्धता सृष्टि को अनादि मानने पर ही सिद्ध हो सकती है । अत जीव, प्रकृति और ईश्वर अनादि होने के कारण समस्त विश्व और ब्रह्माण्ड रूपी नाटक के सर्वस्व हैं ।

10 अपाश्रय—अपाश्रय अधिष्ठान या आधारभूत स्थिति का नाम है । जब जीवात्मा जाग्रतावस्था मे होती है तो उसे विश्व की यथार्थ अनुभूति होती है, जब जीव सोता है तो उसे यथार्थ विश्व की मानसी अनुभूति होती है, जब जीव सुषुप्ति मे होता है तो वह कुछ क्षणो के लिए पूरी तरह से अपने आप मे खो जाता है, ऐसी स्थिति को प्राज्ञ—पूर्ण अज्ञता कहते हैं । जीव इन तीनो स्थितियो मे अलग-अलग प्रकार का अनुभव प्राप्त करता है । यह सब अनुभव मायामय है । वास्तव मे जीव क्या है? इस प्रश्न का समाधान ये तीनो ही अवस्थाएँ नही कर पाती । पुराण विभिन्न अवस्थाओ के आधार पर यही स्पष्ट करते हैं कि जीव अनेक रूपो के अनुभव मे ईश्वर के अनेक रूपो का अनुभव करता है । परन्तु ईश्वर का वास्तविक रूप क्षणिकता के आधार पर उसे 'सुषुप्ति' मे अनुभूत होता है । यदि जीव तुरीयावस्था को प्राप्त करले तो वह अपने यथार्थ रूप को प्राप्त हो जाता है । उस समय वह अपने यथार्थ अधिष्ठान को प्राप्त कर लेता है । इसी तत्त्व को भागवतकार ने इस प्रकार कहा है—

विरमेत यदा चित्त हित्वा वृत्तिभय स्वयम् ।
योगेन वा तदात्मान वेदेहाया निवर्तते ।। —भागवत

अत पुराणो मे दश लक्षणो को आधार बनाकर अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया गया है भागवत पुराण का 'अन्तराणि' लक्षण मन्वन्तर का वाचक है, 'सस्था' प्रतिसर्ग का सूचक है । अन्य लक्षणो का यथाक्रम वर्णन कर दिया गया है । फिर भी यह कहना कथमपि उचित जान नही पडता कि पुराणो मे अन्य विषयो का विवेचन ही नही हुआ है ।

पुराणो का महत्त्व

अष्टादश पुराणो मे वेदो के कथानकीय रहस्यो को पर्याप्त विस्तार दिया गया है । यद्यपि पुराणो का प्रचलन उत्तर वैदिक काल मे ही हो चुका था, परन्तु पुराणो का प्रभाव ईसापूर्व छठी शताब्दी के पश्चात् ही समाज मे देखने को मिला । पुराणो मे भक्तिमार्गी दर्शन के प्राधान्य के कारण अनेक प्रकार की रूढियो का भी प्रचलन हो गया था फिर भी पुराणो का महत्त्व अनेक कारणो से अनेक रूपो मे दर्शनीय है । पुराणो के महत्त्व के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—

1 वेदो का विस्तार, 2 अवतारवाद, 3 विभिन्न विद्याओ का वर्णन, 4 भौगोलिक जानकारी, 5 भक्ति-भावना का विस्तार, 6 ऐतिहासिकता का आधार, 7 दार्शनिकता का स्रोत, 8 काव्य-स्रोत तथा 9 धर्मशास्त्रीय महत्व ।

1 वेदो का विस्तार—वैदिक सहिताओ मे सूर्यवश तथा चन्द्रवश के राजाओ के अतिरिक्त अनेक कथानको का सकेत है । पुराणो मे उन्ही सांकेतिक कथानको को विस्तार दिया गया है । चन्द्रवश के राजा पुरुरवा तथा उर्वशी के सवाद की एक झलक ऋग्वेद मे मिलती है । उसी सवाद को पुराणो मे एक विस्तृत कथा के रूप मे प्रस्तुत किया गया है । वेदो का इन्द्र देवता एक राजा के रूप मे पुराणो मे प्रसिद्ध रहा है । वेदो के यज्ञवाद को पुराणो मे पर्याप्त विस्तार दिया गया है । राजसूर्य, अश्वमेघ जैसे अनेक यज्ञो की चर्चा पुराणो मे सविस्तार की गई है । राजा सगर के यज्ञ के सन्दर्भ मे ब्रह्मवैवर्त पुराण मे विस्तार से लिखा गया है । वेदो के यज्ञो का राजनीतिक रहस्य केन्द्रीय शक्ति का निर्माण ही था—ऐसा पुराणो से ही जाना जा सकता है । देववश के राजा इन्द्र ने सगर को 'इन्द्र' बनने से रोका । राजाओ मे इन्द्र बनने की अभिलाषा केन्द्रीय सत्ता को निर्मित करने के रूप मे विलसित रही । चन्द्रवशी राजा नहुष ने इन्द्र को पराजित करके इन्द्रत्व प्राप्त किया परन्तु पूर्ववर्ती इन्द्र ने विद्वत्वर्ग को अपने पक्ष मे लेकर नहुष को सन्मार्ग से हटाकर इन्द्रशासन से भी हटा दिया । वैदिक धर्म को प्रतिष्ठित करने मे पुराणो का जो योगदान रहा है वह भी किसी से छिपा नही है । वेदो का यज्ञवाद ही नही, ज्ञानमार्ग भी पुराणो का सांगोपांग रूप में चित्रित हुआ है । वैदिक देवताओ को ईश्वर के रूप में पूजने की स्वस्थ परम्परा पुराणो से ही विकसित हुई है । वेदो मे जो काव्य-शैली कार्य कर रही थी उसी का विस्तार पुराणो मे चरम सीमा तक पहुँच गया है । वेदो मे दिव्य शक्तियो के मानवीकरण करने की प्रथा थी इसीलिए इन्द्र को एक नित्य युवक का रूप प्रदान किया । परन्तु पुराणो मे दिव्य शक्तियो के लक्षणो के आधार पर उनका मानवीकरण कर दिया गया तथा उनको ईश्वर रूप मे भी प्रतिष्ठित कर दिया गया । अत पुराणो मे वेद का विविधमुखी विस्तार है ।

2 अवतारवाद—भारतीय सस्कृति मे अवतारवाद का श्रीगणेश पुराणो ने ही किया । दिव्य शक्ति का एक जीवधारी के रूप मे अवतरित होना ही अवतारवाद का आधार है । पुराणो मे ईश्वर के दशावतार की चर्चा हुई है । अवतारो का क्रम निम्नलिखित प्रकार से है–

1 मत्स्यावतार 2 कूर्मावतार 3 वराहावतार 4 नृसिंहावतार 5 वामनावतार 6 परशुराम 7 श्रीरामचन्द्र 8 श्रीकृष्ण 9 गौतम बुद्ध तथा 10 कल्कि ।

पौराणिक अवतारवाद मे मनोविज्ञान को भी ध्यान मे रखा गया है । ज्यो-ज्यो धर्म का ह्रास होता है अधर्म का अभ्युत्थान होता है, सतजन पीडित होते हैं, दुष्टजन उत्पात मचाते है त्यो-त्यो विशिष्ट आधार को पाकर दिव्य शक्ति को प्रकट होना पडता है । पुराणो की अतिशयोक्तिपूर्ण शैली ईश्वर को प्राय मानव

के रूप मे प्रकट देखती रही है, परन्तु यह कहना अधिक युक्तिसगत है कि विकट परिस्थितियाँ ही मानव को ईश्वरीय गुणो को धारण करने की प्रेरणा देती हैं। पुराणो के अवतारवाद का प्रभाव गीता, भक्तिदर्शन तथा विभिन्न भाषाओ के साहित्य के ऊपर परिलक्षित होता है। पौराणिक अवतारवाद मे आदर्शता की प्रधानता स्पष्ट है। श्रीराम ने सीता की प्राप्ति के निमित्ति आर्य सस्कृति के उद्धार को अपनी लीला का प्रयोजन माना। श्रीकृष्ण तानाशाही का सशक्त विरोध करके लोकतान्त्रिक नीतियो को महत्व देते रहे। गौतम बुद्ध ने आडम्बरो के विरोध मे बौद्ध धर्म तथा दर्शन का प्रचार किया।

3 विभिन्न विद्याओ का वर्णन—पुराणो मे ऐसे अनेक सकेत है जिनमे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक काल मे अपने देश मे अनेक विद्याओ का प्रयत्न था। पुराणो मे मुख्यत चौदह विद्याओ के नाम इस प्रकार है—

अनुलेपन विद्या, स्वेच्छारूपधारिणी विद्या, सर्वभूतरत विद्या, पद्मिनी विद्या, अस्त्राग्राम विद्या, रक्षोघ्न विद्या, जालन्धरी विद्या, वाक् सिद्धि विद्या, परावाला विद्या, पुरुष प्रेमोहिनी विद्या, उल्लापन, विद्या देवहूतिविद्या, युवकरण विद्या तथा वज्रवाहनिका विद्या।

पौराणिक अनुपलेपन विद्या के आधार पर कोई व्यक्ति अपने पैरो पर लेप करके हजारो मील की यात्रा कर सकता था। स्वेच्छारूपधारिणी विद्या के विषय मे महिषासुर को जानकारी थी, जो अनेक रूप धारण करके युद्ध कर लेता था। पद्मपुराण मे राजा धर्ममूर्ति को स्वेच्छारूपधारिणी विद्या का ज्ञाता कहा है। मत्स्य-पुराण मे सभी जीवधारियों की बोलने की ध्वनि को 'सर्वभूतरत विद्या' के अन्तर्गत रखा है। राजा ब्रह्मदत्त को इस विद्या की जानकारी थी। मार्कण्डेय पुराण मे कलावती और स्वरोचिष के प्रसग मे पद्मिनी विद्या के प्रभाव से छिपे रत्न-भण्डारो को जानने का वर्णन है। अत आधुनिक भूगर्भशास्त्र के सम्बन्ध मे पौराणिक युग मे जानकारी थी। ऐसी जानकारी से भूगर्भशास्त्रियो को पर्याप्त प्रेरणा मिली है। 'अस्त्रग्रामविद्या' के प्रसग मे अनेक चमत्कारो को प्रदर्शित करने वाले शस्त्रो की चर्चा हुई है। अर्जुन ने शकर से पाशुपात अस्त्रो को प्राप्त किया था। राम तथा अर्जुन के पास अक्षय तूणीर थे। वारुण्यास्त्र तथा आग्नेयास्त्र की जानकारी आधुनिक युग की शस्त्र विद्या के लिए एक विशेष प्रेरणा है। दुष्टो का दलन करने वाली तथा स्वय की रक्षा करने वाली विद्या को रक्षोघ्न विद्या नाम दिया गया। मार्कण्डेय पुराण के 70वें अध्याय मे 'रक्षोघ्न विद्या' का उल्लेख किया गया है। इस विद्या को 16वी शताब्दी के हिन्दी कवि तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' मे उल्लेख रूप मे प्रस्तुत किया है—

"अब सो मन्त्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौ मुनि द्रोही॥"

जल मे अन्तर्धान होने की विद्या को जालन्धरी विद्या का रूप दिया गया। महाभारत मे दुर्योधन के युद्ध-प्रसग मे पौराणिक जालन्धरी विद्या का प्रभाव स्पष्टत दृष्टिगोचर होता है। पौराणिक युग मे वाक्सिद्धि विद्या का भी विकास

रहा था जिससे शाप एव आशीर्वाद देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती थी। 'परा वाला विद्या' के प्रभाव से कोई व्यक्ति शृ गारिक वातावरण मे रहकर भी नितान्त निष्काम रह सकता था। इस पुराण-विद्या ने ससार को लीला या खेल के रूप मे समझने का पाठ पढाया। पौराणिक पुरुष 'प्रमोहिनी विद्या' के प्रभाव से कोई सुन्दरी बडे-बडे ऋषियो को अपनी ओर आकर्षित करने मे सफल हुई है। पौराणिक काव्यो मे रम्भा नामक अप्सरा द्वारा महर्षि विश्वामित्र को विमोहित करने का वर्णन मिलता है। कुबडे लोगो को सीधा एव नीरोग बनाने मे पौराणिक उल्लापन विद्या का विशेष योगदान है। पौराणिक श्रीकृष्ण ने कुब्जा को इसी विद्या के माध्यम से स्वस्थ किया था। इसी का प्रभाव सूर के काव्य पर भी परिलक्षित होता है। श्रीमद्‌भागवत पुराण मे एक प्रसग यह है कि कुन्ती ने महर्षि दुर्वासा से 'देवहूति विद्या' सीखी थी जिसके प्रभाव से वह सूर्य नामक देवता को अपने निकट बुला सकी। वृद्धो को युवक बना देने वाली विद्या को 'युवकरण विद्या' के नाम से जाना गया। शरीर को वज्रवत् कठोर बनाने वाली विद्या को 'वज्रवाहिनिका विद्या' कहा गया। आधुनिक युग मे इस विद्या का सम्बन्ध व्यायाम से जोडा जाता है। पुराणो मे वर्जित चौदह विद्याओ के अतिरिक्त 'रत्नपरीक्षा', 'वास्तुविद्या', 'अश्वशास्त्र' आदि का वर्णन है। इन सभी विद्याओ ने आधुनिक वैज्ञानिक क्षेत्र को एक नई दिशा मे आगे बढने के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। पुराणो की विद्याएँ आधुनिक समाज को अनेक चमत्कारो की ओर बढने की प्रेरणाएँ देती हैं।

4 भौगोलिक जानकारी—पुराण-युगीन भूगोल हमे प्राचीन सस्कृति का अध्ययन करने मे सहायता प्रदान करता हैं। कुछ पौराणिक पर्वत एव समुद्र आधुनिक युग मे लिखे गए इतिहास के इन विवादास्पद प्रश्नो का समाधान खोजने मे सहायता करते है कि आर्यों का मूल देश कौन-सा था ? पुराणो मे क्षीरसागर का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। क्षीरसागर को विष्णु का निवास-स्थान बताया गया है। क्षीरसागर किसी मीठे पानी के समुद्र को कहा जाता होगा। प्राचीन युग मे 'काश्यप सागर' एक विशाल समुद्र के रूप मे रहा होगा। आजकल उसे कैस्पियन सागर कहते है। भौगोलिक हलचलो के कारण पुरातन काश्यप सागर का एक अश बालकश झील के रूप मे अवशिष्ट रह गया। आज बालकश झील विश्व मे सर्वाधिक मीठे पानी की झील है। अत ईरानी भाषा मे 'शीरवान' शब्द क्षीरसागर के नाम की परम्परा को सूचित करता हुआ हमे 'बालकश झील' शब्द की ओर जाने के लिए विवश कर देता है। 'शीरवान्' दुग्धपूर्ण समुद्र का ही सकेतक शब्द है। अत देवो मे श्रेष्ठ विष्णु का राज्य क्षीरसागर या कैस्पियन सागर के इर्द-गिर्द रहा होगा। अत देवो के वशज आर्य वृहत्तर भारत के ही निवासी रहे होंगे।

पौराणिक सुमेरु पर्वत मगोलिया का 'अल्टाई' पर्वत ही है क्योकि मगोलियन भाषा मे 'अल्टाई' शब्द का अर्थ होता है—स्वर्ण-निर्मित पर्वत। भारतीय साहित्य में सुमेरु को देवताओ का निवास कहा है। सुमेरु को हिमालय के उत्तर में ही स्थित बतलाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि देव मध्य एशिया के निवासी थे

तथा उनकी सन्तान आर्यों के रूप मे भारत मे आकर निवास करने लगी थी। देव सस्कृति वेदो मे सुरक्षित है तथा मानव सस्कृति भी। अत वैदिक साहित्य का सम्बन्ध निश्चयत वृहत्तर भारत से रहा है। पुराणो मे जम्बूद्वीप पहले वृहत्तर भारत को कहा गया, जिसमे चीन और साइबेरिया का भाग भी सम्मिलित था। पुराणो का दूसरा द्वीप प्लक्षद्वीप है, जिसे आजकल आस्ट्रेलिया के नाम मे जाना जा सकता है। पुराणो का शालमलि द्वीप नाग सस्कृति और मणियो के भण्डार के आधार पर उत्तरी अमेरिका महाद्वीप ही है। पुराण-वर्णित कुशद्वीप को नील नदी से सिंचित दिखलाया गया, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुशद्वीप आधुनिक अफ्रीका महाद्वीप ही है। पुराणो का क्रौंचद्वीप आधुनिक अनुसन्धानो के फलस्वरूप मय सस्कृति के आधार पर दक्षिणी अमेरिका ही सिद्ध होता है। प्राचीन शाकद्वीप आधुनिक दक्षिणी पश्चिमी एशिया ही है। अत पौराणिक भूगोल प्राचीन सस्कृति के विस्तार को जानने मे बडा सहायक है।

5 भक्ति-भावना का प्रसार—पुराणो मे नवधा भक्ति का साँगोपांग वर्णन हुआ है। भागवत पुराण मे नौ भक्तियो का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

पुराणो के भक्तियोग ने दशम शताब्दी मे प्रारम्भ होने वाले भक्ति आन्दोलन को विशेष रूप मे प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन कवियो को पुराणो की भक्ति-भावना ने विशेष रूप में प्रभावित किया है। पुराणो की उपासना पद्धति ने हिन्दू समाज को वैदिक धर्म के पथ पर चलने के लिए एक नए रूप में ही प्रेरित किया। विष्णु पुराण में प्रह्लाद, ध्रुव जैसे भक्तो की चर्चा हुई है। ऐसे भक्तो के भक्तिपूर्ण भाव जन-समाज को एक आदर्श सिखाने में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुए हैं। पुराणो में ऐसे भक्तो की भी चर्चा है, जो भक्ति के समुद्र में डूबकर मोक्ष को भी भुलाते रहे। पौराणिक भक्ति-भावना ने जनसमाज को जीवन के प्रति एक आनन्दवादी दृष्टिकोण अपनाना सिखाया। भागवत पुराण मे मार्कण्डेय ऋषि को शकर की भक्ति में इतना ओत-प्रोत दिखाया है कि वे शकर का स्तवन करते समय ईश्वर के वैचित्र्य को प्रतिपादित कर बैठते हैं—

नम शिवाय शान्ताय सत्वाय प्रमृडाय च।
रजरेन्खेडघोराय नमस्तुभ्य तमोजुषे ॥

6 ऐतिहासिकता का आधार—उन्नीसवी शताब्दी में वैज्ञानिक रूप में इतिहास लिखने की परम्परा प्रारम्भ हुई। ऐतिहासिक युग में राजाओ के दरबारी कवियो ने प्रशस्ति-काव्य लिखकर ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे। पौराणिक युग में राजवशो का इतिहास लिखने की परम्परा रही है। पुराणो के प्रमुख पाँच लक्षणो में से 'वशानुचरित' नामक लक्षण के आधार पर इतिहास ही लिखा जाता था। सूर्यवश तथा चन्द्रवश के राजाओ का इतिहास जानने के लिए हमें पुराणो को ही वर्णन का आधार बनाना पडता है। गौतम बुद्ध से लेकर पाँचवी शताब्दी में होने वाले गुप्तवशी

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य तक की ऐतिहासिक जानकारी भागवत पुराण के आधार पर सम्भव है। अनेक ऐतिहासिक गुत्थियो को सुलझाने के लिए पुराणो को ही आधार मानकर आगे बढा जाता है। प्राचीन राज्यो की जानकारी के एकमात्र आधार भी पुराण ही हैं।

7 **दार्शनिकता का स्रोत**—पुराणो मे कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का विशद् वर्णन हुआ है। पुराणो के अवतारवाद ने 'गीता' के अवतारवाद को भी प्रभावित किया है। पुराणो मे ईश्वर का स्वरूप सगुण तथा निर्गुण दोनो ही रूपो मे प्रस्तुत किया गया है। पुराणो की मान्यता है कि ईश्वर की कृपा से ही जीव भगवदाकारता को प्राप्त हो सकता है। इन सिद्धान्तो को 15वी शताब्दी मे आचार्य वल्लभ ने अपनाया तथा अद्वैतवाद को भक्तिवादी रूप देने के लिए 'शुद्धाद्वैतवाद' की स्थापना की। वल्लभाचार्य ने भागवत् पुराण का भाष्य करके उसे दार्शनिक ग्रन्थ बना दिया। पौराणिक यज्ञवाद ने वैदिक यज्ञवाद को पूर्ववाद रूप मे प्रचलित रखने मे योगदान दिया। पुराणो मे ही वैष्णव तथा शैव जैसे भक्त-सम्प्रदायो का विकास हुआ। साम्यवादी दृष्टिकोण भी पुराणो की ही देन है। पुराणो मे नास्तिकता और आस्तिकता का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। भोगवाद को यथार्थ रूप देने मे तथा उसे विरक्ति रूप देने मे भी पौराणिक कथाओ का विशेष योगदान है।

8 **काव्य का स्रोत**—पुराणो मे अनेक कथाओ का विस्तृत वर्णन है। सूर्यवंश के राजाओ का इतिवृत्त भागवत् पुराण मे मिलता है। उसी इतिवृत्त को आधार बनाकर चौथी शताब्दी मे महाकवि कालिदास ने 'रघुवश' महाकाव्य की रचना की। शिव पुराण तथा स्कन्द पुराण की घटनाओ को लेकर-कालिदास का 'कुमारसम्भव' नामक महाकाव्य लिखा गया। सस्कृत के अनेक नाटको की रचना पौराणिक कथानको को लेकर ही हुई। पुराणो का प्रभाव सस्कृत साहित्य के ऊपर ही नही, अपितु हिन्दी साहित्य के ऊपर भी व्यापक रूप मे पडा है। भागवत् पुराण के दशम स्कन्ध के आधार पर भक्तिकालीन कवि सूरदास ने श्रीकृष्ण की लीलाओं का अद्भुत रूप प्रस्तुत किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस की भूमिका मे 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' कहकर अपने काव्य के ऊपर पुराणो के प्रभाव को स्वीकार किया है। तुलसी ने पुराणो को आप्त वाक्य के रूप मे भी ग्रहण किया है—'कहहिं वेद इतिहास पुराना'। आधुनिक सस्कृत साहित्य पर पुराणो का व्यापक प्रभाव स्पष्ट है। आधुनिक युग के महान् नाटककार भट्टनारायण शास्त्री ने छियानवें पौराणिक नाटको की रचना की। 'त्रिपुर विजयम्', 'मैथिलीयम्', 'अमृतमन्थनम्' आदि नाटक पौराणिक प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। हिन्दी के आधुनिक कवि अयोध्यासिह उपाध्याय हरिऔध के महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' पर पौराणिक प्रभाव स्पष्ट है। पुराणो की शैली ने भी साहित्य विधाओ की शैली को प्रभावित किया है। अत पुराणो का साहित्य के ऊपर विविधमुखी प्रभाव है, इसमे लेशमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता।

9. धर्मशास्त्रीय महत्त्व—पुराणो मे वर्ण-व्यवस्था तथा वर्णाश्रम-धर्म का वैज्ञानिक विधान प्रतिपादित करने का एक सुन्दर प्रयास दिखलाई पडता है। पुराणो मे इष्टापूर्ण कर्मों की करणीयता पर विचार करके हमारे जन-समाज को एक स्वस्थ कर्म-पथ प्रदान किया गया है। पुराण तीर्थों की महिमा प्रतिपादित करने मे पीछे नही रहे। पुराणो ने राजधर्म का वर्णन भी विस्तार से किया है। परन्तु जब पुराणो ने ब्राह्मणो की जातिगत तथा देशगत विशेषताओ को लेकर उनकी मुक्तकठ से प्रशसा का श्रीगणेश किया तो अनेक आडम्बरो का प्रचलन प्रारम्भ हो गया। गया नामक तीर्थ के ब्राह्मणो के विषय मे निम्न दर्शनीय उदाहरण है—

न विचार्यं कुल शील विद्या च तप एव च।

पूजितैस्तु राजेन्द्र ! मुक्ति प्राप्नोति मानव ॥ वायु पुराण, 82/26

अर्थात् गया तीर्थ के ब्राह्मण के कुल, उसके शील, विद्या तथा तपस्या के विषय मे विचार न करके जो व्यक्ति उसका आदर करता है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है। यहाँ यह विचारणीय है कि यदि गया तीर्थ के ब्राह्मण की जाति-विद्या तत्त्व अपरीक्षणीय हैं तो कुछ लब्धप्रतिष्ठ विद्वानो के पीछे लडूरे विद्वानो की भी पूजा होने लगेगी। अत पुराण ब्राह्मण-धर्म का विश्लेषण करते समय अतिवादी दृष्टिकोण और झुके हुए भी दिखलाई पडते हैं। इसी तरह से मानवो को भयभीत करके उन्हें धर्मप्रियता का पाठ पढाना तो उचित है, परन्तु ऐसी धर्मप्रियता के पीछे अनेक आडम्बरो से समाज को आक्रान्त करना तो बुरा है। फिर भी पुराणो के अनेक उदाहरण स्मृति-ग्रन्थो मे ज्यो-के-त्यो पाए जाते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराणो ने धर्मशास्त्र को अत्यधिक प्रभावित किया है। राजाओ और ऋषियो के चरित्र को लेकर जो चारित्रिक धर्म प्रस्तुत किया गया उसका अधिकांश सदैव अनुसरणीय रहेगा। वर्ण-व्यवस्था तथा वर्णाश्रम धर्म को समाज मे अत्यधिक प्रचलित करने का श्रेय पुराणो को ही है। अनेक विद्वानो ने पुराणो को धर्मशास्त्र ही कहा है।

अब हम इस निष्कर्ष पर सहजता से पहुँच सकते हैं कि पुराणो मे वस्तुओ तथा तत्त्वो के नामकरण मे भी काव्यात्मक शैली का परिचय दिया गया है। इसीलिए सृष्टि को विस्तार देने वाली शक्ति को ब्रह्म, सृष्टि को गति या विकास देने वाली शक्ति को विष्णु तथा सृष्टि सहार करने वाली शक्ति को रुद्र कहा गया है। वस्तुत ये तीनो ही नाम चैतन्य शक्ति की तीन स्थितियो के है। परन्तु समय-समय पर होने वाले ऋषियो और राजाओ को प्रकृति के साथ जोडकर अतिशयोक्तिपूर्ण शैली का स्वरूप सुसज्जित कर दिया गया है। पुराणो मे प्राय सभी तथ्य अतिशयोक्ति से पूर्ण है। पौराणिक काल-गणना अनेक प्रसगो मे अत्युक्तिपूर्ण जान पडती है। तपोरत व्यक्तियो के तपस्या-काल निर्धारण करते समय अत्यन्तातिशयोक्ति से काम लिया गया है। युवती पारवती को शकर की प्राप्ति हेतु कई हजार वर्ष तक तपस्या करनी पडी। वृद्ध मनु तथा शतरूपा ने हजारो वर्ष तप किया। ऐसे सभी प्रसगो को अतिशयोक्तिपूर्ण ही मानना पडेगा फिर भी [illegible]

दार्शनिक अनुचिन्तन का स्वरूप पर्याप्त उज्ज्वल है। समय-समय पर होने वाले व्यासो ने अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए पुराणो की उज्ज्वलता को अत्यधिक धूमिल करने के दुस्साहसपूर्ण प्रयास किए है। प्रशस्तिगान करने वाले चारणो और भाटो की भाँति पौराणिक वेदव्यासो ने भी पुराणो का ऐतिहासिक रूप बिगाडने मे किसी प्रकार की कमी नही रखी। एक विचित्र बात और भी है कि पुराणो का अवतारवाद तो विकासवादी सिद्धान्त का पोषक जान पडता है परन्तु पौराणिक युगक्रम अपनी उल्टी गगा ही बहाता है। सतयुग को सर्वाधिक उन्नतिशील युग कहा गया है। त्रेता को सतयुग की अपेक्षा कम प्रगतिशील तथा द्वापर को त्रेता की अपेक्षा कम विकसित बताया गया है। वर्तमान युग (कलयुग) को तो समस्त पापो का केन्द्र ही कह दिया गया है। इतना कहने पर भी कलियुग को रामनाम के प्रताप से सुसज्जित करने की दिव्य कल्पना की गई है। कलियुग मे ईश्वर का नाम लेने से ही मुक्ति होती है। ऐसे पण्डिताऊपन के कारण ही हमारा देश प्रगतिशीलता की दौड मे पीछे रह गया है। फिर भी पुराणो का मूल तत्त्व धर्म अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक पुरुषार्थ-चतुष्टय की दृष्टि से अत्यन्त प्रशसनीय है। विभिन्न भाषाओ के साहित्य को विकसित करने मे पुराणो का अभूतपूर्व योगदान स्वीकार किया गया है। प्राचीन युग को सर्वाधिक उन्नति का केन्द्र बताने से पुराणो ने अतीत को जो महत्त्व प्रदान किया है, उसका राष्ट्रीयतावादी महत्त्व अवश्य है। परन्तु पुराणकारो की इस कल्पना का आदर कथमपि नही किया जा सकता कि समस्त प्रगति अतीत काल मे ही हो चुकी है तथा आधुनिक युग पापो का केन्द्र है। आज के विज्ञान को आज की विविधमुखी सभ्यता को महत्त्व देने के लिए हमे महाकवि कालिदास के इस कथन की ओर दृष्टिपात करना ही चाहिए—

'पुराणमेव न साधुसर्वं न नवमित्यवद्यम्।'

पौराणिक महाकाव्य
(Mythological Epics)

हम पूर्व पृष्ठो मे पुराणो के विषय मे सविस्तार प्रकाश डाल चुके हैं। जिस प्रकार पुराण लौकिक सस्कृत के प्राचीन रूप मे प्रणीत हुए, उसी प्रकार लौकिक सस्कृत को आधार बनाकर बाल्मीकि ने 'रामायण' तथा कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने 'महाभारत' की रचना की। पाँचवी शताब्दी ई पू मे आचार्य पणिनि ने जिस सस्कृत भाषा को 'अष्टाध्यायी' के रूप मे व्याकरणबद्ध किया, उससे किंचित भिन्न भाषायी रूप मे 'रामायण' एव 'महाभारत' नामक प्राचीन महाकाव्यो की रचना हुई। अत भाषा की दृष्टि से ही नही, अपितु अनेक पौराणिक प्रतिमानो के आधार पर भी उक्त ग्रन्थो को पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है।

रामायण

गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' के बालकाण्ड मे रामायण के रचयिता महर्षि बाल्मीकि का आदर करते हुए लिखा है—

बन्दहु मुनि पद कज, 'रामायण' जेहि निरमयऊ।
सखर सुकोमल मजु, दो रहित दूषण सहित॥

संस्कृत साहित्य के नाटक 'उत्तररामचरित्' मे महर्षि वाल्मीकि को आदि कवि के रूप मे याद किया गया है। वाल्मीकि रामायण के प्रारम्भ मे वाल्मीकि को नारद तथा भारद्वाज जैसे ऋषियो से प्रभावित दिखलाया है परन्तु यह निश्चित है कि लौकिक सस्कृत मे पहले कवि के रूप मे वाल्मीकि ही प्रसिद्ध है। डॉ रामधारीसिंह दिनकर ने वाल्मीकि को लौकिक सस्कृति का प्रथम कवि कहने का एक साम्य ढूंढ निकाला है। वस्तुत जिस प्रकार तेरहवीं शताब्दी मे हिन्दी के कवि अमीर खुसरो ने खडी बोली मे कुछ रचनाएँ की, परन्तु वह युग हिन्दी का प्रारम्भिक युग ही था, उसी प्रकार वैदिक सस्कृत के युग मे वाल्मीकि ने लौकिक सस्कृत मे महाकाव्य 'रामायण' की रचना की।[1] कहा जाता है कि एक बार वाल्मीकि तमसा नदी के तट पर घूम रहे थे। उनके सामने ही एक दुर्घटना घटित हुई। एक बहेलिये ने अपने तीर के वार से क्रौंच या टटहरी पक्षी के जोडे मे से एक का वध कर दिया। जोडे मे से बचा एक पक्षी विरह-कातर दृष्टि से देखता रहा—प्रलापता रहा। वाल्मीकि की सहृदयता करुणा-ज्वार के रूप मे परिणत हो गई। अचानक ही उनके कण्ठ से यह अनुष्टुप छन्द फूट पडा—

> माँ निषाद ! प्रतिष्ठात्वमगम शाश्वती समा ।
> यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम् ॥

वाल्मीकि से पूर्व रामायण से सम्बद्ध कुछ आख्यान प्रचलित रहे थे। पहले राम-कथा कण्ठो तक ही सीमित रही थी। पीछे से वाल्मीकि ने राम-कथा (को एक महाकाव्य का रूप प्रदान किया परन्तु वाल्मीकि रामायण मे वाल्मीकि राम के समकालीन कहे गए हैं। पौराणिक शैली के आधार पर तो उन्होने 'रामायण' की रचना राम के उद्भव से पूर्व ही कर दी थी परन्तु ऐसा कथन केवल आदि कवि को महत्त्व प्रदान करने के लिए ही है। आधुनिक 'रामायण' को देखते हुए यह कहना न्यायसगत है कि रामायण पहले अति सक्षिप्त रूप मे रही होगी। वाल्मीकि आदि कवि थे, परन्तु उन्होने रामायण को जो रूप प्रदान किया, वह आज अप्राप्य है। समय-समय पर 'रामायण' कवियो के हाथो मे पडती रही तथा उसमे इतना प्रक्षेप किया गया कि उसका वास्तविक रूप ही तिरोहित हो गया। आधुनिक वाल्मीकि रामायण मे गौतम बुद्ध को एक नास्तिक के रूप मे याद किया गया है—'यथाहि चोर स हि बुद्धस्तथागत नास्तिकमत्रविद्धि।' (2/109/34)। फिर भी रामायण का मूल रूप वैदिक युग मे ही रचा गया होगा। सम्प्रति रामायण का रचना-काल 600 ई पू. माना जा सकता है।[2]

रामायण का महाकाव्यत्व—रामायण एक पौराणिक महाकाव्य है। किसी महाकाव्य को महाकाव्यत्व की कसौटी पर कसने के लिए कुछ प्रमुख अग्रलिखित लक्षणो की आवश्यकता होती है—

1 दिनकर सस्कृति के चार अध्याय, पृ 67
2 कामिल बुल्के रामकथा, पृ 101

दार्शनिक अनुचिन्तन का स्वरूप पर्याप्त उज्ज्वल है। समय-समय पर होने वाले व्यासो ने अपने क्षुद्र स्वार्थो की पूर्ति के लिए पुराणो की उज्ज्वलता को अत्यधिक धूमिल करने के दुस्साहसपूर्ण प्रयास किए है। प्रशस्तिगान करने वाले चारणो और भाटो की भाँति पौराणिक वेदव्यासो ने भी पुराणो का ऐतिहासिक रूप बिगाडने मे किसी प्रकार की कमी नही रखी। एक विचित्र बात और भी है कि पुराणो का अवतारवाद तो विकासवादी सिद्धान्त का पोषक जान पडता है परन्तु पौराणिक युगक्रम अपनी उल्टी गगा ही बहाता है। सतयुग को सर्वाधिक उन्नतिशील युग कहा गया है। त्रेता को सतयुग की अपेक्षा कम प्रगतिशील तथा द्वापर को त्रेता की अपेक्षा कम विकसित बताया गया है। वर्तमान युग (कलयुग) को तो समस्त पापो का केन्द्र ही कह दिया गया है। इतना कहने पर भी कलियुग को रामनाम के प्रताप से सुसज्जित करने की दिव्य कल्पना की गई है। कलियुग मे ईश्वर का नाम लेने से ही मुक्ति होती है। ऐसे पण्डिताऊपन के कारण ही हमारा देश प्रगतिशीलता की दौड मे पीछे रह गया है। फिर भी पुराणो का मूल तत्त्व धर्म अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक पुरुषार्थ-चतुष्टय की दृष्टि से अत्यन्त प्रशसनीय है। विभिन्न भाषाओ के साहित्य को विकसित करने मे पुराणो का अभूतपूर्व योगदान स्वीकार किया गया है। प्राचीन युग को सर्वाधिक उन्नति का केन्द्र बताने से पुराणो ने अतीत को जो महत्त्व प्रदान किया है, उसका राष्ट्रीयतावादी महत्त्व अवश्य है। परन्तु पुराणकारो की इस कल्पना का आदर कथमपि नही किया जा सकता कि समस्त प्रगति अतीत काल मे ही हो चुकी है तथा आधुनिक युग पापो का केन्द्र है। आज के विज्ञान को आज की विविधमुखी सभ्यता को महत्त्व देने के लिए हमे महाकवि कालिदास के इस कथन की ओर दृष्टिपात करना ही चाहिए—

'पुराणमेव न साधुसर्वं न नवमित्यवद्यम्।'

पौराणिक महाकाव्य
(Mythological Epics)

हम पूर्व पृष्ठो मे पुराणो के विषय मे सविस्तार प्रकाश डाल चुके हैं। जिस प्रकार पुराण लौकिक सस्कृत के प्राचीन रूप मे प्रणीत हुए, उसी प्रकार लौकिक सस्कृत को आधार बनाकर बाल्मीकि ने 'रामायण' तथा कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने 'महाभारत' की रचना की। पाँचवी शताब्दी ई पू मे आचार्य पणिनि ने जिस सस्कृत भाषा को 'अष्टाध्यायी' के रूप मे व्याकरणबद्ध किया, उससे किंचित भिन्न भाषायी रूप मे 'रामायण' एव 'महाभारत' नामक प्राचीन महाकाव्यो की रचना हुई। अत भाषा की दृष्टि से ही नही, अपितु अनेक पौराणिक प्रतिमानो के आधार पर भी उक्त ग्रन्थो को पौराणिक साहित्य के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है।

रामायण

गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' के बालकाण्ड मे रामायण के रचयिता महर्षि बाल्मीकि का आदर करते हुए लिखा है—

बन्दहु मुनि पद कज, 'रामायण' जेहि निरमयऊ।
सखर सुकोमल मजु, दो रहित दूषण सहित॥

संस्कृत साहित्य के नाटक 'उत्तररामचरित्' मे महर्षि वाल्मीकि को आदि कवि के रूप मे याद किया गया है। वाल्मीकि रामायण के प्रारम्भ मे वाल्मीकि को नारद तथा भारद्वाज जैसे ऋषियो से प्रभावित दिखलाया है परन्तु यह निश्चित है कि लौकिक संस्कृत मे पहले कवि के रूप मे वाल्मीकि ही प्रसिद्ध हैं। डॉ रामधारीसिंह दिनकर ने वाल्मीकि को लौकिक संस्कृति का प्रथम कवि कहने का एक साम्य ढूंढ निकाला है। वस्तुत जिस प्रकार तेरहवी शताब्दी मे हिन्दी के कवि अमीर खुसरो ने खड़ी बोली मे कुछ रचनाएँ की, परन्तु वह युग हिन्दी का प्रारम्भिक युग ही था, उसी प्रकार वैदिक संस्कृत के युग मे वाल्मीकि ने लौकिक संस्कृत मे महाकाव्य 'रामायण' की रचना की।[1] कहा जाता है कि एक बार वाल्मीकि तमसा नदी के तट पर घूम रहे थे। उनके सामने ही एक दुर्घटना घटित हुई। एक बहेलिये ने अपने तीर के वार से क्रौंच या टटहरी पक्षी के जोड़े मे से एक का वध कर दिया। जोड़े मे से बचा एक पक्षी विरह-कातर दृष्टि से देखता रहा—प्रलापता रहा। वाल्मीकि की सहृदयता करुणा-ज्वार के रूप मे परिणत हो गई। अचानक ही उनके कण्ठ से यह अनुष्टुप छन्द फूट पड़ा—

मां निषाद! प्रतिष्ठात्वमगम: शाश्वती समा।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधी काममोहितम्॥

वाल्मीकि से पूर्व रामायण से सम्बद्ध कुछ आख्यान प्रचलित रहे थे। पहले राम-कथा कण्ठो तक ही सीमित रही थी। पीछे से वाल्मीकि ने राम-कथा (को एक महाकाव्य का रूप प्रदान किया परन्तु वाल्मीकि रामायण मे वाल्मीकि राम के समकालीन कहे गए हैं। पौराणिक शैली के आधार पर तो उन्होने 'रामायण' की रचना राम के उद्भव से पूर्व ही कर दी थी परन्तु ऐसा कथन केवल आदि कवि को महत्त्व प्रदान करने के लिए ही है। आधुनिक 'रामायण' को देखते हुए यह कहना न्यायसगत है कि रामायण पहले अति संक्षिप्त रूप मे रही होगी। वाल्मीकि आदि कवि थे, परन्तु उन्होने रामायण को जो रूप प्रदान किया, वह आज अप्राप्य है। समय-समय पर 'रामायण' कवियो के हाथो मे पड़ती रही तथा उसमे इतना प्रक्षेप किया गया कि उसका वास्तविक रूप ही तिरोहित हो गया। आधुनिक वाल्मीकि रामायण मे गौतम बुद्ध को एक नास्तिक के रूप मे याद किया गया है—'यथाहि चौर स हि बुद्धस्तथागत नास्तिकमत्रविद्धि।' (2/109/34)। फिर भी रामायण का मूल रूप वैदिक युग मे ही रचा गया होगा। सम्प्रति रामायण का रचना-काल 600 ई पू माना जा सकता है।[2]

रामायण का महाकाव्यत्व—रामायण एक पौराणिक महाकाव्य है। किसी महाकाव्य को महाकाव्यत्व की कसौटी पर कसने के लिए कुछ प्रमुख अग्रलिखित लक्षणो की आवश्यकता होती है—

1 दिनकर संस्कृति के चार अध्याय, पृ 67
2 कामिल बुल्के रामकथा, पृ 101

1 सर्गवद्धता, 2 उदात्त नायक, 3 प्रसिद्ध कथानक, 4 शृगार, वीर तथा शान्त रसो मे से कोई एक प्रधान रस तथा अन्य रसो का भी यथायोग्य समावेश, 5 प्रकृति-वर्णन की विविधता, 6 भाषा-शैली की उदात्तता तथा 7 रचना का विशिष्ट उद्देश्य।

प्राय सभी काव्यशास्त्राचार्यो ने उपर्युक्त लक्षणो को किंचित् हेर-फेर के साथ स्वीकार किया है। यदि उपर्युक्त सात लक्षणो मे कुछ सशोधन करना आवश्यक माना जाए तो पहले और तीसरे लक्षणो को एक लक्षण मे ही समाहित करना भी सम्भव हो सकता है—अर्थात् सर्गवद्ध प्रसिद्ध कथानक का सयोजन।

1 रामायण की सर्गवद्धता—'रामायण' मे सात काण्ड हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड इन सभी काण्डो मे अनेक सर्ग है। वाल्मीकि ने एक घटना को एक सर्ग मे बाँधकर रामायण की प्रमुख कथा मे कोई व्याघात नही पहुँचने दिया है। वाल्मीकीय रामायण की सर्गवद्धता से हिन्दी के 'पृथ्वीराजरासो' तथा 'रामचन्द्रिका' नामक महाकाव्य प्रभावित जान पड़ते है। *साहित्यदर्पणकार ने आठ से अधिक सर्गो की आवश्यकता* पर बल दिया है परन्तु सर्गो के आठ से अधिक होने पर ही कोई काव्य महाकाव्य नही हो जाता। जिस प्रकार हिन्दी का 'रामचरितमानस' सात काण्डो—'सप्त प्रवन्ध सुभग सोपाना' होने पर भी एक सफल महाकाव्य है, उसी प्रकार वाल्मीकि रामायण भी सर्गवद्धता की दृष्टि से एक सफल महाकाव्य है। आचार्य विश्वनाथ की यह उक्ति—'सर्गबद्धो महाकाव्यम्' वाल्मीकि रामायण के ऊपर पूरी तरह से चरितार्थ होती है।

2 उदात्त नायक—रामायण के नायक श्रीरामचन्द्र नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से धीरोदात्तनायक हैं। धीरोदात्तनायक के लक्षण इस प्रकार हैं—

महासत्वोऽतिगम्भीर क्षमावानविकत्यन।
स्थिरो निगूढाहकारो धीरोदात्त दृढव्रत॥ —दशरूपक

प्रस्तुत लक्षण के आधार पर धीरोदात्त नायक के गुण इस प्रकार हैं—

1 परम प्रतापशील, 2 अत्यन्त गम्भीर, 3 क्षमाशील, 4 निरहकारी, 5 समचित्त, 6 स्वाभिमानी तथा 7 सत्यसध।

'वाल्मीकि रामायण' के प्रारम्भ मे राम को सद्गुणो के केन्द्र के रूप मे खोजा गया है। राम चन्द्रवत् प्रियदर्शन हैं, समुद्रवत् गम्भीर है, कालाग्नितुल्य विकराल हैं, विष्णु-तुल्य पराक्रमी हैं, पृथ्वी के समान क्षमाशील हैं। अधिक क्या कहे, राम सर्वगुण-सम्पन्न उदात्त नायक हैं।

उदात्त नायक राम के साथ लक्ष्मण जैसे वीर और त्यागी भाई का भी आदर्श चरित्र है। भरत वितृष्णा की साक्षात् मूर्ति हैं। सीता प्रथम श्रेणी की पतिव्रता महिला हैं, जो रावण के अपार वैभवपूर्ण राज्य को घृणा से देखकर राक्षस सस्कृति का अनुगमन न करके अग्नि-परीक्षा मे खरी उतरती हैं। हनुमान एक परम

प्रतापी एव निष्काम वीर हैं। रामायण का प्रतिनायक रावण वैभव और प्रचण्डता की मूर्ति के रूप मे दिखलाई पडता है, यथा—

अपश्यत् लकाधिपति हनुमान अतितेजसम्।
आवेष्टित मेरुशिखरे सतोयमिवतोयदम्॥

अत वाल्मीकी रामायण मे आदर्श पात्रो का निरूपण है।

3 **प्रसिद्ध कथानक**—'रामायन सत कोटि अपारा' उक्ति यह सिद्ध करती है कि रामकथा एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा है। राम की कथा अनेक कवियो के हाथो मे जाने से उज्ज्वलता की ओर उत्तरोत्तर बढती चली गई है। राम-जन्म से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की वृहद् कथा रामायण की मूल कथा है। इस मूलकथा रूपी धारा मे अनेक छोटी-छोटी कथाएँ लघुधाराओ की भाँति आकर मिलती हैं। रामायण का उत्तरकाण्ड अवान्तर कथाओ से परिपूर्ण हैं। रावण की दिग्विजय की कथा सविस्तार वर्णन एक अवान्तर कथा ही है। सक्षेपत यही पर्याप्त होगा कि रामायण की कथा वैदिककाल से ही प्रचलित थी तथा उसे महाकाव्य का रूप देने का श्रेय वाल्मीकि को प्राप्त हुआ।

4 **रसो का समावेश**—कभी रामायण मे वीररस की प्रधानता रही होगी। परन्तु आधुनिक वाल्मीकि रामायण मे वीर रस का प्राधान्य स्पष्ट नही है। रामायण मे शृगार और शान्त रसो का समावेश तो है, परन्तु उनकी प्रधानता दिखलाई नही पडी। यदि गहराई से देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण मे करुण रस की प्रधानता है। राम के चरित्र का मूलोदय करुणाजनित प्रसग से ही होता है। सीता की प्राप्ति तक राम युद्ध करते हुए भी करुणा के ही अवतार बने रहते हैं। वाल्मीकि के राम रावण पर विजय पाकर भी करुणा की मूर्ति बने रहते हैं। राम का परिवार करुणा का घर जान पडता है। अत रामायण की मूल चेतना करुण रस से पगी हुई है। भवभूति का यह कथन—'एको रस करुणैव ।' वाल्मीकि रामायण के ऊपर चरितार्थ होता है। फिर भी वाल्मीकि रामायण मे शृगार, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त, वात्सल्य तथा भक्ति रसो को अनेक स्थानो पर देखा जा सकता है।

5 **प्रकृति वर्णन की विविधता**—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने महाकाव्य को एक वनस्थली की उपमा दी है। 'रामायण' मे वनस्थली के अनेक भव्य रूप दर्शनीय है। नैमिपारण्य तथा दण्डकारण्य की प्राकृतिक सुषमा का मनोहारी वर्णन देखते ही बनता है। सीता का अपहरण होने पर दण्डकारण्य की कमल, केला, अनार जैसी वनस्पतियो को देखकर राम के हृदय की वियोगकालीन रति उद्दीप्त हो जाती है। राम प्राकृतिक तत्त्वो के दर्शन और चिन्तन मात्र मे विरह-विह्वल हो उठते है। प्रकृति का ऐसा उद्दाम उद्दीपन-स्वरूप प्रकृति-वर्णन अन्यत्र दुर्लभ ही है। वाल्मीकि के हृदय मे प्रकृति के प्रति अनूठी रागात्मकता का परिचय वर्षा-ऋतु के वर्णन मे भी मिलता है। प्रकृति की भीषणता को व्यक्त करने मे भी कवि को अभूतपूर्व सफलता मिली है। उस वनवासी कवि के हृदय मे प्रकृति के कण-कण को अवलोकने

की सहृदयता विद्यमान् है। वाल्मीकि ने योद्धाओ के स्वरूप के चित्रण मे भी सूर्य, चन्द्र ज्वलन्त अग्नि जैसे तेजस्वी एव सुन्दर तत्त्वो को सयोजित किया है। अत वाल्मीकि ने प्रकृति को आलम्बन, उद्दीपन आलकारिक तथा सवेदनात्मक रूप मे प्रस्तुत करके प्रकृति-वर्णन के कौशल को प्रकट कर दिया है।

6 भाषा शैली की उदात्तता—वाल्मीकि की रामायण मे लौकिक सस्कृत का पाणिनि-पूव रूप दिखलाई पडता है। फिर भी वाल्मीकि की भाषा मे लाक्षणिकता तथा पात्रानुकूलता की कोई कमी दिखलाई नही पडती। वाल्मीकि की सम्कृत सरलता, स्पष्टता, रोचकता जैसे गुणो से विभूषित जान पडती है। वाल्मीकि ने मुख्यत अनुष्टुप छन्द का ही प्रयोग किया है। फिर भी सर्गान्त मे कुछ अन्य छन्दो की छटा भी देखने योग्य है। वाल्मीकि के अनुष्टुप छन्द मे एक विशेष प्रवाह अथवा लय है। पाठक इस छन्द की गेयता से भी प्रभाविन हुए बिना नही रहता। आदि कवि के काव्य मे तत्कालीन भाषा की दृष्टि से उदात्तता का अभाव नही खटकता है।

7 रचना का विशिष्ट उद्देश्य—'प्रयोजनादृते मन्दोऽपि न प्रवर्तते।'—अर्थात् उद्देश्य के बिना तो मूर्ख भी कार्य प्रारम्भ नही करता तो विद्वानो की तो बात ही क्या है। वाल्मीकि की रचना का उद्देश्य कार्यो का यशोगान न होकर सम्पूर्ण विश्व के सामने विभिन्न आदर्शों को प्रस्तुत करना है। राम के चरित्र की उज्ज्वलता के प्रतिपादन के साथ-साथ कवि ने अनेकानेक चरित्रो की आदर्शता को चित्रित किया है। हनुमान को अत्यन्त वीर सिद्ध करते समय युद्धकाण्ड के उस प्रसग को कितना मार्मिक बना दिया है, जिसमे विभीषण वृद्ध जामवन्त के पास पहुँचकर उनसे समस्त सेना की मूर्च्छित स्थिति का वर्णन करता है। जामवन्त हनुमान की सकुशलता के विषय मे पूछकर एक कुतूहल उत्पन्न कर देते है। उस कौतूहल से विभिषण बहुत प्रभावित एव चकित होता है और वह यह भी पूछ लेता है कि माननीय जामवन्त ने राम और लक्ष्मण की कुशलता न पूछकर सर्वप्रथम हनुमान की कुशलता ही क्यो पूछी ? जामवन्त यही उत्तर दे पाते है कि यदि हनुमानजी के प्राण सकट मे है तो समस्त जीवित राम दल मृतप्राय हो चुका है और यदि हनुमान सकुशल हैं तो समस्त राम दल के मूर्च्छित और आहत होने पर भी कोई विशेष हानि नही हुई है। वस्तुत वाल्मीकि जैसे कवियो की ऐसी धारणाएं वीरो की कमठता तथा नेतृत्व की सफलता को सूचित करके किसी राष्ट्र की उन्नति की ओर ले जाने मे पूर्वत सहायक सिद्ध होती है। वाल्मीकि ने राम के पक्षधरो के माध्यम से आर्य सस्कृति का जीवन्त चित्र चित्रित कर दिया है। रावण के ऊपर राम की विजय राक्षस सस्कृति के ऊपर आर्य सस्कृति की विजय है। राम का अद्भुत शारीरिक गठन आर्य वीरो की बलिष्ठता का ही द्योतक है। वाल्मीकि रामायण मे नास्तिकता के ऊपर आस्तिकता की विजय प्रदर्शित करके वैदिक धर्म की उपादेयता को भी स्पष्ट कर दिया गया है। अत वाल्मीकि रामायण का प्रणयन महान् आदर्शों को लेकर हुआ है।

वाल्मीकीय रामायण मे विचित्र शापो आशीर्वादो तथा अनेक घटनाओ की विचित्रताओ को देखते हुए उसे पौराणिक महाकाव्य कहना ही उचित है। 'रामायण' राम से सम्बद्ध का ही चरित्र काव्य है। किसी चरित् काव्य मे जितनी भी विशेषताएँ होती हैं, वे सभी वाल्मीकि रामायण मे प्राप्त होती है। चरित् काव्य की मुख्यत निम्न विशेषताएँ हैं[1]—1 प्रवन्ध काव्य और धर्म कथा का समन्वय, 2 पौराणिक कथा-स्रोत, 3 कथानकीय रूढियाँ—पूर्वजन्म की कथा, आकाशवाणी शाप, रूप-परिवर्तन इत्यादि, 4 अलौकिक तत्त्वो का समावेश, 5 रोमांचक और साहसिक घटनाओ का अतिरेक, 6 जीवन-दर्शन एव प्रकृति-वर्णन की गहराइयाँ, 7 प्रश्नोत्तरात्मक, 8 प्रबन्ध-रूढियाँ—मगलाचरण, सज्जन-प्रशसा तथा दुष्ट-निन्दा आदि, 9 छन्द-योजना।

महाभारत

'महाभारत' शब्द का अर्थ है—महायुद्ध। कौरवो तथा पाण्डवो के राज्य-विभाजन के प्रश्न को लेकर उत्तरी भारत की शक्तियाँ परस्पर टकरा गईं। उन शक्तियो के टकराव के घोर परिणाम दो रूपो मे सामने आए—प्रथम तो भारत की शक्ति का ह्रास के रूप मे और दूसरे रूप मे भारत पर विदेशी आक्रमणो का श्रीगणेश। महाभारत मे प्रथम परिणाम पर ही विशेष बल दिया गया है।

महाभारत एक परिचय—महाभारत अठारह पर्वो मे विभक्त एक वृहद् ग्रन्थ है। कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने महाभारत की रचना की। परन्तु, आज जो महाभारत उपलब्ध होता है, वह अनेक व्यासो की रचना है। 'व्यास' एक उपाधिसूचक नाम[2] है। कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने जिस काव्य की रचना की, उसका नाम 'जय' काव्य था। महाभारत के आदि पव मे इसकी स्पष्ट सूचना है—

नारायण नमस्कृत्य नर चैव नरोत्तमम्।
देवी सरस्वती चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

वर्णित 'जय' काव्य मे आठ हजार आठ सौ श्लोक थे। इन श्लोको के विषय मे यह कहा गया है कि 'जय' ग्रन्थ के श्लोको के मर्मज्ञ वेद व्यास के अतिरिक्त शुकदेव और सजय भी रहे है—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अह वेद्मि शुको वेत्ति सजयोवेत्ति वा न वा॥

कालान्तर मे 'जय' ग्रन्थ का विस्तार करके उसे 'भारत' नाम दिया। तदनन्तर 'भारत' में अनेक उपाख्यानो एव आख्यानो को जोडकर उसे 'महाभारत' रूप प्रदान किया गया—

चतुर्विंशतिसाहस्री चक्रे भारतसहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारत प्रोच्यते बुधैः॥

1 डॉ उदयभानुसिंह तुलसी काव्य-मीमासा, पृ 428
2 वाचस्पति गैरोला सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ 229

महाभारत के लेखन के विषय मे एक किंवदन्ती यह है कि एक बार व्यासजी ने अपने हृदय मे महाभारत से सम्बद्ध घटनाओ का चिन्तन करते-करते भावातिरेकता का अनुभव किया। उनके हृदय से काव्य-धारा फूटना चाहती थी, परन्तु सुयोग्य लेखक के अभाव मे वे उसे लिपिबद्ध नही कर पा रहे थे। दैवयोग से उनकी भेंट गणेशजी से हुई। व्यासजी ने अपनी आपत्ति गणेशजी के सम्मुख रखी। गणेशजी महाभारत लिखने के लिए तो तैयार हो गए, परन्तु उन्होंने एक शर्त यह लगा दी कि यदि व्यासजी धारा प्रवाह नहीं बोल पाएँगे नो वे ग्रन्थ को लिपिबद्ध नही करेंगे। चतुर वेदव्यास ने भी गणेशजी से कहा कि आप भी अर्थ जाने बिना श्लोको को नही लिखेंगे। अनुबन्ध हो जाने पर 'जय' ग्रन्थ की रचना हुई। प्रस्तुत किंवदन्ती के माध्यम मे महाभारत की महिमा की ओर ही इगित किया गया है।

महाभारत का रचना-काल (500 ई पू)

महाभारत के रचना-काल के विषय मे विद्वानो मे अनेक मतभेद है। महाभारत की तिथि का निर्धारण करते समय अन्त साक्ष्य को तर्क की कसौटी पर कसकर आगे बढा जा सकता है। श्री राय चौधरी जैसे इतिहासविदो ने महाभारत की रचना-तिथि निर्धारित करते समय विभिन्न प्रमाणो का सहारा लिया है। फिर भी हमे महाभारत का रचना-काल निर्धारित करते समय इस तथ्य को दृष्टि मे रखना होगा कि 'महाभारत' किसी एक कवि की देन न होकर अनेक व्यासो की देन है। अत उसका रचना-काल पूर्व सीमा तथा अपर सीमा की अपेक्षा पर ही आधारित होगा। यहाँ हम कुछ विद्वानो के निष्कर्षो को आधारभूत मानकर महाभारत की तिथि का निर्धारण करने का वैज्ञानिक प्रयास कर रहे है।

श्री राय चौधरी ने वैदिक साहित्य मे वर्णित गुरु-परम्परा को आधार मानकर महाभारत का रचना-काल निर्धारित किया है। श्री राय चौधरी ने महाभारत की रचना-तिथि ई पू मध्यम नवी शती निर्धारित की है। श्री चौधरी के मत का सार इस प्रकार है[1]—

1 गौतम बुद्ध के समकालीन व्यक्तियो मे आश्वलायन और शांखायन गृह्य-सूत्रो के रचयिता थे। इस कारण उनका समय 500 ई पू सिद्ध हुआ।

2 गृह्यसूत्र के रचयिता शांखायन और शांखायन आरण्यक के रचयिता गुणाख्य शांखायन सम्भवत एक ही व्यक्ति है। यह गुणाख्य शांखायन कहोल कौषीतकि का शिष्य था। इस कारण इसका समय भी लगभग 500 ई पू सिद्ध हुआ।

3 यदि ये दोनो ग्रन्थकार एक ही व्यक्ति नही भी थे तो कम-से-कम गुणाख्य तो अवश्य छठी शती ई पू से पहले के नही हो सकते, क्योकि उन्होने अपने आरण्यक मे लौहित्य और पौष्कर आदि का उल्लेख किया है, जो बुद्ध के समकालीन थे।

4 शांखायन आरण्यक से पता चलता है कि गुणाख्य का गुरु कहोल कौषीतकि स्वय उद्दालक आरुणि का शिष्य था। यह उद्दालक राजा जनमेजय के पुरोहित तुरकापषेय से आठ-नौ पीढी पीछे हुआ—ऐसा शतपथ ब्राह्मण की

1 Political History of India, VI Edition, p 27-29

तालिका से मालूम होता है। इस प्रकार परीक्षित बुद्ध के समय से केवल नौ पीढी ठहरता है। अत महाभारत युद्ध का समय नवी शती ई पू मध्य होना चाहिए।

श्री राय चौधरी ने शांखायन तथा आश्वलायन शब्दो को गुरु-परम्परा के आधार पर प्रस्तुत करके महाभारत के युद्ध के समय को निर्धारित करने का प्रयास किया है। बुद्ध से नौ पीढी पूर्व का समय निर्धारित करते समय 300 वर्ष का अनुमानित समय ले लिया गया है। श्री 'शांखायन' नाम व्यक्तिवाचक न होकर उपाधिवाचक है। ऋग्वेद की शाखाओ मे भी शांखायन शाखा का उल्लेख है। अत महाभारतकालीन ऋषियो की परम्परा का वर्णन करते समय तथा उनसे वैदिक ऋषियो की परम्परा का तालमेल करते समय यही समस्या आती है कि ये ऋषि एक न होकर अनेक हुए है। अत ऐतिहासिक आधार पर महाभारत के युद्ध का समय निर्धारित करना असम्भवप्राय है। महाभारत का काल निर्धारित करने के लिए भाषा-विज्ञान का सहारा लिया जा सकता है। भाषा-विज्ञान के आधार पर कुछ तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

1 आश्वलायन-गृह्य सूत्र मे 'भारत' तथा 'महाभारत' का नाम पृथकत लिया गया है। सूत्र युग मे ब्राह्मणवाद का बोलबाला हो चुका था। इसी ब्राह्मणवाद का विरोध करने के लिए ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे बुद्ध तथा महावीर ने बौद्ध एव जैन धर्मो का प्रवर्तन किया। यद्यपि सूत्र-युग बहुत पीछे तक प्रवर्तित रहा, परन्तु उनका उद्गम एव किंचित् विकास ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे ही हो चुका था। सूत्री शैली के निर्माण एव विकास मे कुछ शताब्दियो का लगना साधारण चीज है। अत महाभारत का रचना-काल कम-से-कम 700 ई पू मानना चाहिए।

2 ब्राह्मण ग्रन्थो मे कुरु वश की परम्परा का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण मे राजा जनमेजय तक का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण ग्रन्थो का रचना-काल ईसा पूर्व 1500 तक माना जाता है। यदि ब्राह्मण ग्रन्थो मे कालान्तर मे भी प्रक्षिप्तीकरण चलता रहा तो भी वैदिक साहित्य की अपर सीमा के निर्धारण मे 1000 ई पू तक ही हट सकते हैं। अत महाभारत का युद्ध 1000 ई पू से भी पहले हो चुका था। 'जय' काव्य के प्रणेता महर्षि कृष्ण द्वैपायन पाण्डवो के ही समकालीन थे। क्योकि उनके पुत्र शुकदेव ने अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को उपदेश दिया था। अत कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत की रचना का बीज 1000 ई पू से भी पहले बो दिया था।

3 ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे महाभारत का अनुवाद जावा, बालि आदि द्वीपो की भाषाओ मे हो चुका था। उक्त द्वीपो की कवि भाषा मे महाभारत का अनुवाद एक भाषा वैज्ञानिक महत्त्व रखता है। महाभारत के कई पर्व आज भी उक्त द्वीपो मे सुरक्षित है। यहाँ यह विचारणीय है कि कोई ग्रन्थ पहले लोक विश्रुत होता है तथा कालान्तर मे उसे अन्य भाषाओ मे अनूदित किया जाता है। प्राचीनकाल मे प्रचार-प्रसार के साधनो की बडी कमी थी। अत किसी ग्रन्थ के विश्व-विश्रुत होने

मे शताब्दियो का लग जाना साधारण बात है। अत महाभारत का रचना-काल स्वयमेव 700 ई पू निश्चित किया जा सकता है।

4 व्याकरण के सम्राट् आचार्य पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' मे महाभारत ग्रन्थ का उल्लेख किया है। उन्होने 'महाभारत' शब्द का अर्थ महायुद्ध बतलाया है। केवल इतना ही नही, अपितु युधिष्ठिर, भीम तथा विदुर आदि को चरितनायको के रूप मे याद किया है। आचार्य पाणिनि का स्थितिकाल पाँचवीं शती ई पू सुनिश्चित है। अत महाभारत की रचना पाणिनि से पूर्व ही हो चुकी थी।

5 सस्कृत के प्रथम नाटककार भास के 'दूतवाक्य', 'उरुभग', 'मध्यम व्यायोग' आदि नाटक महाभारत की कथा पर आधारित है। जब महाभारत को लोकप्रियता प्राप्त हो गई होगी, तभी कवियो ने उसे साहित्य का विषय बनाना उचित समझा होगा। भास का समय ई पू चौथी शताब्दी तक माना जाता है। अत महाभारत की रचना उनसे कई सौ वर्ष पूर्व हो चुकी होगी।

महाभारत के रचना-काल को निर्धारित करने मे ज्योतिषाचार्यों ने भी विलक्षण कार्य किया है। चौथी-पाँचवी शताब्दी के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर ने महाभारत युद्ध का समय 3101 वर्ष ई पू माना है। उनकी यह मान्यता है कि महाभारत का महासहार किसी विशिष्ट ग्रह-दशा का परिणाम है। वे ऐसी ग्रह-दशा का समय चुनते-छाँटते हुए स्वय से लगभग 3600 वर्ष दूर पहुँच गए हैं परन्तु उनकी मान्यता को बीसवी शताब्दी के दो विश्व युद्धो–1914 का तथा 1939 का ने निर्मूल सिद्ध कर दिया है। क्योकि उक्त दोनो विश्व युद्धो के समय कोई विशेष ग्रह-दशा नही थी। महाभारत के युद्ध से भी बढकर उक्त दोनो महायुद्धो मे मारकाट हुई। फिर यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीनकाल मे आधुनिक युग की अपेक्षा जनसख्या बहुत कम थी। अकबरकालीन भारत की जनसख्या केवल सोलह करोड मानी गई है। अत महाभारतकालीन भारत की जनसख्या और भी कम रही होगी। इसलिए प्रत्यक्षतावादी सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत मे सैनिको के हताहत होने की जिस सख्या का वर्णन हुआ है, वह नितान्त अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त वराहमिहिर की मान्यता पौराणिक प्रमाणो से भी मेल नही खाती। पुराणो मे राजा नन्द तथा परीक्षित के स्थितिकाल मे एक सहस्र वर्ष का अन्तर माना गया है। राजा नन्द ई पू चौथी शताब्दी की उपज है। अत परीक्षित का जन्म 1400 ई पू मे ही हो चुका होगा।

लोकमान्य तिलक ने महाभारत का काल निर्धारित करने के लिए पौराणिक काल-गणना को महत्त्व दिया है। पौराणिक काल-गणना के अनुसार महाभारत का युद्ध 5000 वर्ष ई पू में हो चुका था। अत 'महाभारत' के प्रारम्भिक रूप को उसी युग में रचित मानना चाहिए। तिलकजी ने 'गीता रहस्य' में गीता का काल 500 ई पू स्वीकार किया है। 'गीता महाभारत का अश है। अत म[illegible]रत का रचना-काल भी 500 ई पू ही [illegible] सकता है।

दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित डॉ राधाकृष्णन् ने गीता के वर्ण्य-विषय की बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो से तुलना की है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय मे चार प्रकार के अन्न का उल्लेख है—'पचाम्यन्न चतुर्विधम्।' इसी प्रकार से बौद्ध ग्रन्थ मे 'चत्तारो अहारा' का वर्णन है। बौद्ध दर्शन का प्रभाव महाभारत पर दूसरे रूप मे भी पडा है। महाभारत के वनपर्व मे 'एडूक'[1] शब्द का प्रयोग हुआ है। जब बुद्ध की वस्तुओ को गाड दिया जाता था तथा वही स्मारक का रूप दे दिया जाता था तो उसे एडूक के रूप मे जाना जाता था। अत महाभारत का कलेवर बुद्ध के उदय के पश्चात् भी विवर्धित किया गया। अत बौद्ध-दर्शन का प्रभाव गीता एव महाभारत दोनो पर ही होने के कारण महाभारत का रचना-काल ई पू पाँचवी शती तक माना जा सकता है।

महाभारत के रचना-काल की उत्तरवर्ती सीमा निर्धारित करने लिए कुछ प्रमाण दृष्टव्य हैं—

1 गुप्तकालीन एक शिलालेख मे 'महाभारत' को शतसाहस्री सहिता के नाम से पुकारा गया है। अत महाभारत का परिवर्द्धन 440 ई से पर्याप्त पहले ही हो चुका था।

2 कुमारिल, बाणभट्ट, शकराचार्य आदि दार्शनिको और साहित्यकारो ने गीता का आदरपूर्वक नाम लिया है। अत महाभारत की पूर्ण रचना सातवी शताब्दी से बहुत पहले ही हो चुकी थी, वह सर्वथा स्पष्ट है।

3 कम्बोडिया के एक शिलालेख मे महाभारत का निर्देश है। अत 600 ई के विदेशी शिलालेख के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत अपने विशाल कलेवर के रूप मे 600 ई मे विदेशो मे भी विख्यात हो चुका था।

4 महाभारत के कृष्ण दावानल को निगलने वाले है, दुर्योधन की सभा मे विशद् रूप प्रदर्शित करने वाले हैं। ये सब विचित्र कल्पनाएँ पुराणो के विकसित रूप की देन हैं। अत महाभारत की रचना का उत्तर-काल निश्चयत पाँचवी शताब्दी तक माना जा सकता है। डॉ काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इसी समय का समर्थन किया है।

5 प्रसिद्ध इतिहासकार विन्टरनित्स महोदय ने महाभारत के आख्यानो और उपाख्यानो को वैदिक साहित्य से सम्बद्ध किया है तथा महाभारत की सूक्तियो को जैन एव बौद्ध साहित्य से। अत वे महाभारत के निर्माण की अन्त्येष्टि 400 ई पू ही मान बैठे है। उक्त इतिहासकार महाभारत की अवतारवादी भावना पर विशेष ध्यान नहीं दे पाए। यदि वे श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व की ओर विशेष दृष्टिपात करते तो यह निश्चित हो जाता कि महाभारत की कल्पनाएँ एव उसका धर्मशास्त्र पाँचवी शताब्दी तक की ही देन है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत की रचना एक युग मे नहीं हुई है। जगद्गुरु शकराचार्य ने वेदान्तसूत्र भाष्य मे यह स्पष्ट कर दिया

1 महाभारत वनपर्व, 190/68

मे शताब्दियो का लग जाना साधारण बात है। अत महाभारत का रचना-काल स्वयमेव 700 ई पू निश्चित किया जा सकता है।

4 व्याकरण के सम्राट् आचार्य पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' मे महाभारत ग्रन्थ का उल्लेख किया है। उन्होने 'महाभारत' शब्द का अर्थ महायुद्ध बतलाया है। केवल इतना ही नही, अपितु युधिष्ठिर, भीम तथा विदुर आदि को चरितनायको के रूप मे याद किया है। आचार्य पाणिनि का स्थितिकाल पाँचवीं शती ई पू सुनिश्चित है। अत महाभारत की रचना पाणिनि से पूर्व ही हो चुकी थी।

5 सस्कृत के प्रथम नाटककार भास के 'दूतवाक्य', 'उरुभग', 'मध्यम व्यायोग' आदि नाटक महाभारत की कथा पर आधारित है। जब महाभारत को लोकप्रियता प्राप्त हो गई होगी, तभी कवियो ने उसे साहित्य का विषय बनाना उचित समझा होगा। भास का समय ई पू चौथी शताब्दी तक माना जाता है। अत महाभारत की रचना उनसे कई सौ वर्ष पूर्व हो चुकी होगी।

महाभारत के रचना-काल को निर्धारित करने मे ज्योतिषाचार्यों ने भी विलक्षण कार्य किया है। चौथी-पाँचवी शताब्दी के प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर ने महाभारत युद्ध का समय 3101 वर्ष ई पू माना है। उनकी यह मान्यता है कि महाभारत का महासहार किसी विशिष्ट ग्रह-दशा का परिणाम है। वे ऐसी ग्रह-दशा का समय चुनते-छाँटते हुए स्वय से लगभग 3600 वर्ष दूर पहुँच गए हैं परन्तु उनकी मान्यता को बीसवी शताब्दी के दो विश्व युद्धो–1914 का तथा 1939 का ने निर्मूल सिद्ध कर दिया है। क्योकि उक्त दोनो विश्व युद्धो के समय कोई विशेष ग्रह-दशा नही थी। महाभारत के युद्ध से भी बढकर उक्त दोनो महायुद्धो मे मारकाट हुई। फिर यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीनकाल मे आधुनिक युग की अपेक्षा जनसख्या बहुत कम थी। अकबरकालीन भारत की जनसख्या केवल सोलह करोड मानी गई है। अत महाभारतकालीन भारत की जनसख्या और भी कम रही होगी। इसलिए प्रत्यक्षतावादी सिद्धान्त के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत मे सैनिको के हताहत होने की जिस सख्या का वर्णन हुआ है, वह नितान्त अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त वराहमिहिर की मान्यता पौराणिक प्रमाणो से भी मेल नही खाती। पुराणो मे राजा नन्द तथा परीक्षित के स्थितिकाल मे एक सहस्र वर्ष का अन्तर माना गया है। राजा नन्द ई पू चौथी शताब्दी की उपज है। अत परीक्षित का जन्म 1400 ई पू मे ही हो चुका होगा।

लोकमान्य तिलक ने महाभारत का काल निर्धारित करने के लिए पौराणिक काल-गणना को महत्त्व दिया है। पौराणिक काल-गणना के अनुसार महाभारत का युद्ध 5000 वर्ष ई पू में हो चुका था। अत 'महाभारत' के प्रारम्भिक रूप को उसी युग में रचित मानना चाहिए। तिलकजी ने 'गीता रहस्य' में गीता का काल 500 ई पू स्वीकार किया है। 'गीता महाभारत का अश है। अत रचना-काल भी 500 ई पू ही [illegible] सकता है।

दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित डॉ राधाकृष्णन् ने गीता के वर्ण्य-विषय की बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो से तुलना की है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय मे चार प्रकार के अन्न का उल्लेख है—'पचाम्यन्न चतुर्विधम् ।' इसी प्रकार से बौद्ध ग्रन्थ मे 'चत्तारो अहारा' का वर्णन है। बौद्ध दर्शन का प्रभाव महाभारत पर दूसरे रूप मे भी पड़ा है। महाभारत के वनपर्व मे 'एडूक'[1] शब्द का प्रयोग हुआ है। जब बुद्ध की वस्तुओ को गाड़ दिया जाता था तथा वही स्मारक का रूप दे दिया जाता था तो उसे एडूक के रूप मे जाना जाता था। अत महाभारत का कलेवर बुद्ध के उदय के पश्चात् भी विवर्धित किया गया। अत बौद्ध-दर्शन का प्रभाव गीता एव महाभारत दोनों पर ही होने के कारण महाभारत का रचना-काल ई पू पाँचवी शती तक माना जा सकता है।

महाभारत के रचना-काल की उत्तरवर्ती सीमा निर्धारित करने लिए कुछ प्रमाण दृष्टव्य है—

1 गुप्तकालीन एक शिलालेख मे 'महाभारत' को शतसाहस्री सहिता के नाम से पुकारा गया है। अत महाभारत का परिवर्द्धन 440 ई से पर्याप्त पहले ही हो चुका था।

2 कुमारिल, बाणभट्ट, शकराचार्य आदि दार्शनिको और साहित्यकारो ने गीता का आदरपूर्वक नाम लिया है। अत महाभारत की पूर्ण रचना सातवी शताब्दी से बहुत पहले ही हो चुकी थी, वह सर्वथा स्पष्ट है।

3 कम्बोडिया के एक शिलालेख मे महाभारत का निर्देश है। अत 600 ई के विदेशी शिलालेख के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत अपने विशाल कलेवर के रूप मे 600 ई मे विदेशो मे भी विख्यात हो चुका था।

4 महाभारत के कृष्ण दावानल को निगलने वाले है, दुर्योधन की सभा मे विशद् रूप प्रदर्शित करने वाले हैं। ये सब विचित्र कल्पनाऐं पुराणो के विकसित रूप की देन हैं। अत महाभारत की रचना का उत्तर-काल निश्चयत पाँचवी शताब्दी तक माना जा सकता है। डॉ काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इसी समय का समर्थन किया है।

5 प्रसिद्ध इतिहासकार विन्टरनित्स महोदय ने महाभारत के आख्यानो और उपाख्यानो को वैदिक साहित्य से सम्बद्ध किया है तथा महाभारत की सूक्तियो को जैन एव बौद्ध साहित्य से। अत वे महाभारत के निर्माण की अन्त्येष्टि 400 ई पू ही मान बैठे है। उक्त इतिहासकार महाभारत की अवतारवादी भावना पर विशेष ध्यान नही दे पाए। यदि वे श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व की ओर विशेष दृष्टिपात करते तो यह निश्चित हो जाता कि महाभारत की कल्पनाऐं एव उसका धर्मशास्त्र पाँचवी शताब्दी तक की ही देन है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत की रचना एक युग मे नही हुई है। जगद्गुरु शकराचार्य ने वेदान्तसूत्र भाष्य मे यह स्पष्ट कर दिया

1 महाभारत वनपर्व, 190/68

है कि वेदाचार्य अपान्तरतमा ऋषि ही कलियुग एव द्वापर युग के सन्धिकाल मे कृष्ण-द्वैपायन के रूप में प्रकट हुए।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यास एक नही अनेक हुए हैं। प्राचीन काल मे कोई व्यास रहे होंगे और वे बड़े प्रतिभाशाली रहे होगे। अत जो व्यक्ति वेद-विस्तारक सिद्ध हुआ उसी को व्यास उपाधि से विभूपित कर दिया गया। कृष्ण द्वैपायन को विष्णु की आज्ञा से वेदो का वर्गीकरण करना पड़ा। अत उसने वेदो को चार महिताओ के रूप मे विभाजित कर दिया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद पहले विभिन्न मर्नीपियो की शिष्य परम्परा मे विकसित हो रहे थे परन्तु कृष्णद्वैपायन वेद-व्यास ने वेदो के सम्यक् विभाजन का कार्य किया। वेदो के एक नई दिशा मे विस्तारक होने के कारण इन्ही को वेदव्यास कहा गया। महाभारत के अनुसार महर्पि पाराशर तथा सत्यवती के पुत्र वेदव्याम ने ही महाभारत की रचना की। महाभारत का यह प्रसग भी बडा रोचक है कि चित्रवीर्य तथा विचित्रवीर्य के पश्चात् वेदव्यास ने वियोग के आधार पर राजरानियो से धृतराष्ट्र तथा पाण्डु को उत्पन्न किया। इन्हीं के पुत्र राजनीति-प्रवर विदुर थे। कहने का अभिप्राय यही हुआ कि वेदव्याम महाभारत के युद्ध के समय निश्चयत अतिशय वृद्ध थे। इन्हीं वेदव्यास ने 'जय' काव्य की रचना की। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद मे शान्तनु तथा देपापि के नाम विद्यमान् हैं। वेदो के विभाजक वेदव्यास ने अपने आश्रयदाता शान्तनु को वेदो मे स्थान दे दिया, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य प्रतीत होता है। जब ऋग्वेद मे महाभारत काल से पूर्व के राजा एव ऋषियो के नाम आ गए है तो ब्राह्मण तथा आरण्यको मे कुरुवश का जयमेजय तक का इतिहास आ जाना कोई असाधारण चीज नही है। ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रारम्भिक रचना-काल 2500 वर्प ई पू अवश्य है। अत महाभारत का प्रारम्भिक रूप 'जय' काव्य भी 2500 ई पू अवश्य रच दिया गया होगा। यहाँ प्रश्न केवल यही उठता है कि वैदिक सस्कृत के ज्ञाता वेदव्यास ने 'जय' काव्य की रचना लौकिक सस्कृत मे ही क्यो की? इस प्रश्न का उत्तर केवल यही हो सकता है कि वेदव्यास पाण्डवो की विजय से सम्बद्ध 'जय' काव्य को आम जनता की भाषा लौकिक सस्कृत मे रचकर वाल्मीकि की रामायण की भाँति अपने काव्य को विश्व-विश्रुत बनाने का स्वप्न देख चुके थे। फिर वैदिक सस्कृत के अनेक शब्द-रूप जनता के लिए प्राय दुर्बोध्य ही रहते होगे, अत जनता की भाषा से सटी हुई लौकिक सस्कृत मे 'जय' काव्य का प्रणयन समझ मे आ सकता है। जब एक ग्रन्थ कीर्ति को प्राप्त होता है तो उसी को आधार बनाकर अन्य युग-सन्देश भी प्रस्तुत कर दिए जाते हैं। अत शुकदेव, वैशम्पायन, सूत तथा शौनक आदि के योग से 'जय' काव्य 'भारत' तथा 'महाभारत' रूपो मे विकसित हुआ। 500 वर्प, ई पू मे धर्मशास्त्र के प्रमुख आधार 'महाभारत' को बौद्ध तथा जैन धर्म की प्रतिस्पर्द्धा मे और भी अधिक विकसित किया गया। हिन्दुओ की समन्वयवादी प्रवृत्ति जब गौतम बुद्ध को ईशावतार घोपित कर चुकी थी तथा पुराणो

1 तथाहि अपान्तरतमा नाम वेदाचार्य पुराणर्पि विष्णुनियोगत् कलिद्वापरयो सधौ कृष्णद्वैपायन सबभूव।

—वेदान्तसूत्रभाष्य, 3/3/32

एव स्मृतियो का बराबर प्रणयन चल रहा था तब भी उपर्युक्त अवसर समका-व्यासो ने महाभारत के कलेवर मे पर्याप्त वृद्धि की। गुप्तकाल तक आते-आते सभी प्रकार की साहित्यिक कल्पनाओ के उत्कर्ष मे पूर्ण महाभारत' ग्रन्थ देश-विदेश म विश्रुत हो गया। अत महाभारत की पूर्व-सीमा सूत्र-ग्रन्थो तथा पाणिनि के उल्लेखो के आधार पर 500 ई पू है। 'जय' काल की रचनावधि 2500 वर्ष ई पू है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर महाभारत की उत्तर सीमा पचम शताब्दी है।

महाभारत का वर्ण्य-विषय

महाभारत मे अनेक विपयो का वर्णन है। कही इसमे अर्थशास्त्र व काम राजनीतिशास्त्र का वर्णन है तो कही इसमे धमशास्त्र का विवेचन है। महाभारत मे अनेक शास्त्रो के समन्वय का उल्लेख हुआ है—

अर्थशास्त्रमिद प्रोक्त धर्मशास्त्रमिद महत्।
कामशास्त्रमिद प्रोक्त व्यासेनमतिबुद्धिना ॥

महाभारत धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक पुरुषार्थ-चतुष्टय का केन्द्र कहा गया है। जो तत्त्व महाभारत मे है, वे ही विश्व मे है और जो तत्त्व महाभारत मे नही है, वे तत्त्व दुनिया मे कही भी नही है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

महाभारत के सन्दर्भ मे उपर्युक्त प्रशस्ति उसके वर्ण्य-विस्तार की सूचना देती है। यथार्थत महाभारत मे निम्नलिखित विपयो का वर्णन हुआ है—

1 राजनीतिक विवेचन, 2 धार्मिक विवेचन, 3 यौद्धिक कथाएँ,
4 दार्शनिकता तथा 5 पौराणिक आख्याना का वर्णन।

1 राजनीतिक विवेचन—महाभारत-अर्थात् महायुद्ध का आधार राजनीतिक प्रपच ही कहा जा सकता है। महाभारत का अनुशासन पर्व राजनीतिक विचार-धाराओ को स्पष्ट करता है। राजनीतिविद् विदुर धृतराष्ट्र को अनेक प्रकार से समझाने की चेष्टा करते है। विदुर कटु सत्य को कहे बिना भी नही रहते। 'धृतराष्ट्र' नाम ही अच्छा नही है। जिस व्यक्ति ने राष्ट्र को पकड रखा हो, अर्थात् जो ताना-शाही पर उतारू हो, वही धृतराष्ट्र है। इसलिए विदुर धृतराष्ट्र के पक्षपात की आलोचना करते हैं। धृतराष्ट्र दुर्योधन के वशीभूत दिखलाई पडते हैं। आचार्य विदुर उस व्यक्ति को जीवित रूप मे ही मृतक-तुल्य बतलाते हैं, जिसकी प्रशसा चारण अथवा कायर अथवा स्त्रियाँ किया करती हैं—

य प्रशमन्ति कितव य प्रशसन्ति चारणा ।
य प्रशसन्ति स्त्रिय स न जीवति मानव ॥

विदुर पाण्डव-पक्ष की अपेक्षाकृत अधिक प्रशसा करते जान पडते हैं। वे पाण्डवो को नीति के मार्ग पर अग्रसर बतलाते है। अनुशासन पर्व मे एक आदर्श राज्य का मनोहारी वर्णन किया गया है। अपने अधिकार की प्राप्ति के लिए सघर्ष करना न्यायोचित् सिद्ध किया गया है। एक राजा के लिए काम, क्रोध तथा लोभ

है कि वेदाचार्य अपान्तरतमा ऋषि ही कलियुग एव द्वापर युग के सन्धिकाल मे कृष्ण-द्वैपायन के रूप मे प्रकट हुए ।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यास एक नही अनेक हुए है। प्राचीन काल मे कोई व्यास रहे होगे और वे बडे प्रतिभाशाली रहे होगे । अत जो व्यक्ति वेद-विस्तारक सिद्ध हुआ उसी को व्यास उपाधि से विभूपित कर दिया गया । कृष्ण द्वैपायन को विष्णु की आज्ञा से वेदो का वर्गीकरण करना पडा । अत उसने वेदो को चार सहिताओ के रूप मे विभाजित कर दिया । इससे यह स्पष्ट हो जाना है कि वेद पहले विभिन्न मर्न'पियो की शिष्य परम्परा मे विकसित हो रहे थे परन्तु कृष्णद्वैपायन वेद-व्यास ने वेदो के सम्यक् विभाजन का कार्य किया । वेदो के एक नई दिशा मे विस्तारक होने के कारण इन्ही को वेदव्यास कहा गया । महाभारत के अनुसार महर्षि पाराशर तथा सत्यवती के पुत्र वेदव्याम ने ही महाभारत की रचना की । महाभारत का यह प्रसग भी बडा रोचक है कि चित्रवीर्य तथा विचित्रवीर्य के पश्चात् वेदव्यास ने वियोग के आधार पर राजरानियो से धृतराष्ट्र तथा पाण्डु को उत्पन्न किया । इन्हीं के पुत्र राजनीति-प्रवर विदुर थे । कहने का अभिप्राय यही हुआ कि वेदव्याम महाभारत के युद्ध के समय निश्चयत अतिशय वृद्ध थे । इन्ही वेदव्यास ने 'जय' काव्य की रचना की । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद मे शान्तनु तथा देवापि के नाम विद्यमान् हैं । वेदो के विभाजक वेदव्यास ने अपने आश्रयदाता शान्तनु को वेदो मे स्थान दे दिया, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य प्रतीत होता है । जब ऋग्वेद मे महाभारत काल से पूर्व के राजा एव ऋषियो के नाम आ गए है तो ब्राह्मण तथा आरण्यको मे कुरुवश का जयमेजय तक का इतिहास आ जाना कोई असाधारण चीज नही है । ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रारम्भिक रचना-काल 2500 वर्ष ई पू अवश्य है । अत महाभारत का प्रारम्भिक रूप 'जय' काव्य भी 2500 ई पू अवश्य रच दिया गया होगा । यहाँ प्रश्न केवल यही उठता है कि वैदिक सस्कृत के ज्ञाता वेदव्यास ने 'जय' काव्य की रचना लौकिक सस्कृत मे ही क्यो की ? इस प्रश्न का उत्तर केवल यही हो सकता है कि वेदव्यास पाण्डवो की विजय से सम्बद्ध 'जय' काव्य को आम जनता की भाषा लौकिक सस्कृत मे रचकर वाल्मीकि की रामायण की भाँति अपने काव्य को विश्व-विश्रुत बनाने का स्वप्न देख चुके थे । फिर वैदिक सस्कृत के अनेक शब्द-रूप जनता के लिए प्राय दुर्बोध्य ही रहते होगे, अत जनता की भाषा से सटी हुई लौकिक सस्कृत मे 'जय' काव्य का प्रणयन समझ मे आ सकता है । जब एक ग्रन्थ कीर्ति को प्राप्त होता है तो उसी को आधार बनाकर अन्य युग-सन्देश भी प्रस्तुत कर दिए जाते है । अत शुकदेव, वैशम्पायन, सूत तथा शौनक आदि के योग से 'जय' काव्य 'भारत' तथा 'महाभारत' रूपो मे विकसित हुआ । 500 वर्ष, ई पू मे धर्मशास्त्र के प्रमुख आधार 'महाभारत' को बौद्ध तथा जैन धर्म की प्रतिस्पर्द्धा मे और भी अधिक विकसित किया गया । हिन्दुओ की समन्वयवादी प्रवृत्ति जब गौतम बुद्ध को ईशावतार घोपित कर चुकी थी तथा पुराणो

1 तथाहि अपान्तरतमा नाम वैदाचार्य पुराणपि विष्णुनियोगत् कलिद्वापरयो सधौ कृष्णद्वैपायन सवभूव ।
—वेदान्तसूत्रभाष्य, 3/3/32

दावा करते हैं। महाभारत का युद्ध भीष्म पर्व से शुरू होता है। कौरवों की सेना के सेनापति भीष्म के नाम पर इस पर्व का नाम भीष्म रखा दिया गया है। भीष्म 10 दिन तक घोर पराक्रम प्रदर्शित करते हुए समरांगण में शर-शय्या पर सो जाते हैं। भीष्म के नेतृत्व मे कौरवो की सेना विजय की ओर अग्रसर रहती है। भीष्म के धराशायी हो जाने पर कौरवी सेना का सेनापतित्व आचार्य द्रोण करते है। द्रोणाचार्य के रहते हुए अभिमन्यु जैसा महारथी वीरगति को प्राप्त होता है तथा कौरव पक्ष मे जयद्रथ नामक महारथी को भी प्राणो से हाथ धोना पड़ता हैं। द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न पुत्र के षड्यन्त्र-सिद्ध वियोग मे शस्त्र-त्याग किए हुए आचार्य द्रोण का वध करता है। द्रोण के पश्चात् सेनापतित्व का भार महारथी कर्ण सम्भालता है जो भील नरेश घटोत्कच का वध करता है तथा अन्ततः अर्जुन के बाण-प्रहारो से हताहत होता है। कर्ण के वध के पश्चात् शल्य सेनापति बनता है तथा कौरवी सेना के महाक्षय के साथ विनाश को प्राप्त होता है। इन सेनापतियो के नेतृत्व मे लड़े जाने वाले युद्ध क्रमशः द्रोण पर्व, कर्ण पर्व तथा शल्य पर्व मे प्रदर्शित किए गए हैं। गदा पर्व मे दुर्योधन की मृत्यु दिखलाई है। महाभारत के युद्ध का कारण कौरवो और पाण्डवो का विद्वेष मात्र न होकर, अन्य राजाओ का पारस्परिक वैमनस्य भी है तभी तो दुर्योधन भारी समर्थन पाकर श्रीकृष्ण से यही कहता है कि मैं लड़ाई के बिना सुई की नोक के बराबर भी भूमि नही दूँगा।

सूच्यग्रभागमपि न दास्यामि विना युद्ध केशव ।

दार्शनिकता—महाभारत मे मोक्ष-तत्त्व का सविस्तार वर्णन है। मुक्ति या मोक्ष के तीन मार्ग प्रसिद्ध है—कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग। इन तीनो ही मार्गों का विशद् विवेचन भीष्मपर्व के प्रसिद्ध भाग 'गीता' नामक ग्रन्थ मे किया गया है। गीता के प्रथम अध्याय से लेकर छठे अध्याय पर्यन्त कर्मयोग का विवेचना किया गया है। गीता के सातवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक भक्तियोग का वर्णन किया गया है। गीता के तेरहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय तक ज्ञानयोग का वर्णन है। इन अध्यायो में विभिन्न मार्गो का सम्मिश्रण भी है। गीता का कर्ममार्ग निष्काम भावना से, अर्थात् कर्म भावना से कर्म करना सिखलाता है।

यथा— कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन् ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि ।। —गीता 2/47

अर्थात् कृष्ण अर्जुन से कहते है कि हे अर्जुन ! व्यक्ति को कर्म करने का ही अधिकार है, फल प्राप्ति का नही। व्यक्ति को फल की इच्छा नहीं करनी चाहिए और न ही कर्म करने मे अरुचि होनी चाहिए।

गीता का भक्तियोग ईश्वर मे—अर्थात् सम्पूर्ण विश्व मे परम प्रेम करना सिखाता है। भक्तियोग मे निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति को प्रतिपादित किया है। भगवान् श्रीकृष्ण भक्ति को ईश्वरत्व-प्रदायिका सिद्ध करते है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त सङ्गवर्जित ।
निर्वैर सर्वभूतेषु य स मामेति पाण्डव ।। —गीता, 11/55

जैसे विकार-शत्रुग्रो से सदा सतर्क रहने को कहा गया है। विदुर ने राजनीति के गम मे प्रवेश करके यहाँ तक भी कह दिया है कि यदि अपने अधिकारो की प्राप्ति के लिए युद्ध करता हुआ योद्धा वीरगति को प्राप्त हो जाता है तो उसे योगयुक्त योगी की आनन्दमयी सद्‌गति प्राप्त होती है—

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् ! सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राडश्च योगयुक्तश्ररणेचाभिमुखो हत ।।

निष्कर्षत महाभारत मे सदसत् राजनीति की विस्तार से चर्चा की गई है।

2 धार्मिक विवेचन—महाभारत को धर्मशास्त्र भी कहा गया है। महाभारत मे धर्म का मनोवैज्ञानिक स्वरूप चित्रित किया गया है। 'धर्म' धारणीय है, अत वही सर्वस्व है। अच्छी बातो को श्रवणाधार भी ग्रहण करना चाहिए। जो चीजें हमे कष्टकारक प्रतीत होती है, उन्हे व्यवहार मे दूसरे व्यक्तियो के साथ भी लागू नही करना चाहिए—

श्रूयता धर्मसर्वस्व श्रुत्वाचाप्यवधार्यताम् ।
आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् ।।

अपने धर्म की रक्षा के लिए कोई भी व्यक्ति न्यायालय की शरण मे जा सकते हैं। इस विषय मे एक रोचक प्रसग यह है कि जब पाण्डव अपने वनवास के तेरहवें वर्ष की अवधि मे राजस्थान के विराट् नगर मे राजा विराट् के यहाँ रह रहे थे, तो विराट् की सेना के सेनापति कीचक की कुदृष्टि द्रौपदी पर पडी। उसने द्रौपदी को परेशान करना शुरू कर दिया। द्रौपदी न्याय के लिए राजा विराट की सभा मे गई। उसने अपना पक्ष प्रस्तुत किया, परन्तु राजा ने कीचक को दण्ड देने का वचन तक न दिया। इस पर द्रौपदी कुपित हो गई। उसके उस समय के वचन धर्मशास्त्रीय चेतना को प्रकट करते है—

न राजा राजावत् किञ्चित् समाचरति कीचके ।
दस्यूनामिव धर्मस्ते नहि ससदि शोभते ।।—विराट् पर्व 16/31

अर्थात् हे राजन् ! आप कीचक के प्रति राजदण्ड का प्रयोग नही कर पा रहे है। स्त्रियो की लज्जा लूटना नर-पिशाचो का धर्म है। परन्तु, राजसभा मे तो डाकुओ को प्रताडित एव अभिदण्डित करने की शक्ति होती है, अत वह यहाँ क्यो नही ? इसी प्रकार से आश्रम-व्यवस्था के ऊपर भी धर्मसगत प्रकाश डालकर धार्मिकता को महत्त्व प्रदान किया गया है। महाभारत मे धर्म के कोने-कोने को परखने की चेष्टा की गई है।

3 यौद्धिक कथाएँ—महाभारत के विराट् पर्व मे ही युद्ध की विशाल भूमिका बन जाती है। कौरवो के पक्ष को सुदृढ करने के लिए शकुनि, भूरिश्रवा, भगदत्त, शल्य जैसे महान् राजा अपनी सेनाएँ लेकर कुरुक्षेत्र के मैदान मे आकर शिविर लगा देते हैं। पाण्डवो के पक्ष मे धृष्टद्युम्न, सात्यकि, घटोत्कच तथा विराट् अपनी सेनाएँ लेकर प्रस्तुत होते हैं। कौरवो के पक्ष मे ग्यारह अक्षौहिणी सेना तथा पाण्डवो के पक्ष मे सात अक्षौहिणी सेना एकत्र होती है। दोनो ही पक्ष अपनी-अपनी विजय का

दावा करते हैं। महाभारत का युद्ध भीष्म पर्व से शुरू होता है। कौरवों की सेना के सेनापति भीष्म के नाम पर इस पर्व का नाम भीष्म "ग दिया गया है। भीष्म 10 दिन तक घोर पराक्रम प्रदर्शित करते हुए समरांगण में शर-शैय्या पर सो जाते हैं। भीष्म के नेतृत्व मे कौरवो की सेना विजय की ओर अग्रसर रहती है। भीष्म के घायल हो जाने पर कौरवी सेना का सेनापतित्व आचार्य द्रोण करते है। द्रोणाचार्य के रहते हुए अभिमन्यु जैसा महारथी वीरगति को प्राप्त होता है तथा कौरव पक्ष से जयद्रथ नामक महारथी को भी प्राणो से हाथ धोना पडता है। द्रुपदपद-पुत्र धृष्टद्युम्न पुत्र के षड्यन्त्र-सिद्ध वियोग मे शस्त्र-त्याग किए हुए आचार्य द्रोण का वध करता है। द्रोण के पश्चात् सेनापतित्व का भार महारथी कर्ण सम्भालता है जो भील नरेश घटोत्कच का वध करता है तथा अन्ततः अर्जुन के बाण-प्रहारो से हताहत होता है। कर्ण के वध के पश्चात् शल्य सेनापति बनता है तथा कौरवी सेना के महाक्षय के साथ विनाश को प्राप्त होता है। इन सेनापतियो के नेतृत्व मे लडे जाने वाले युद्ध क्रमश द्रोण पर्व, कर्ण पर्व तथा शल्य पर्व मे प्रदर्शित किए गए हैं। गदा पर्व मे दुर्योधन की मृत्यु दिखलाई है। महाभारत के युद्ध का कारण कौरवो और पाण्डवो का विद्वेष मात्र न होकर, अन्य राजाओ का पारस्परिक वैमनस्य भी है तभी तो दुर्योधन भारी समर्थन पाकर श्रीकृष्ण से यही कहता है कि मैं लडाई के बिना सुई की नोक के बराबर भी भूमि नही दूंगा।

सूच्याग्रभागमपि न दास्यामि विना युद्ध केशव ।

दार्शनिकता—महाभारत मे मोक्ष-तत्त्व का सविस्तार वर्णन है। मुक्ति या मोक्ष के तीन मार्ग प्रसिद्ध है—कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग। इन तीनो ही मार्गों का विशद् विवेचन भीष्मपर्व के प्रसिद्ध भाग 'गीता' नामक ग्रन्थ मे किया गया है। गीता के प्रथम अध्याय से लेकर छठे अध्याय पर्यन्त कर्मयोग का विवेचना किया गया है। गीता के सातवें अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक भक्तियोग का वर्णन किया गया है। गीता के तेरहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय तक ज्ञानयोग का वर्णन है। इन अध्यायो में विभिन्न मार्गों का सम्मिश्रण भी है। गीता का कर्ममार्ग निष्काम भावना से, अर्थात् कर्म भावना से कर्म करना सिखलाता है।

यथा— कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन् ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि ॥ —गीता 2/47

अर्थात् कृष्ण अर्जुन से कहते है कि हे अर्जुन! व्यक्ति को कर्म करने का ही अधिकार है, फल प्राप्ति का नही। व्यक्ति को फल की इच्छा नही करनी चाहिए और न ही कर्म करने मे अरुचि होनी चाहिए।

गीता का भक्तियोग ईश्वर मे—अर्थात् सम्पूर्ण विश्व मे परम प्रेम करना सिखाता है। भक्तियोग मे निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति को प्रतिपादित किया है। भगवान् श्रीकृष्ण भक्ति को ईश्वरत्व-प्रदायिका सिद्ध करते हैं—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्त सङ्गवर्जित ।
निर्वैर सर्वभूतेषु य स मामेति पाण्डव ॥ —गीता, 11/55

गीता मे ससार की असारता और जीवात्मा तथा ईश्वर की नित्यता का प्रतिपादन करके श्रवण, मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासन को महत्त्व देकर ईश्वरत्व प्राप्ति का मार्ग स्पष्ट किया गया है। यदि एक साधक वैराग्य को आत्मसात् करके ज्ञानयोग की प्रक्रिया से ईश्वरत्व की ओर बढता है तो वह ईश्वर मे परम प्रेम रखता हुआ मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। ससार-वृक्ष को वैराग्य की तलवार से दृढतापूर्वक काटने पर ही ज्ञानयोग का सिद्धि-पथ प्राप्त होता है। जब साधक ससारातीत शक्ति और शान्ति को प्राप्त कर लेता है तो उसे पुनरागमन के चक्र मे भटकना नही पडता। यथा

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावक ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम ।। —गीता, 15/6

महाभारत का शान्तिपर्व भी दार्शनिक गहराइयो से भरा हुआ है। सामान्यत महाभारत के अनेक प्रसगो मे दार्शनिकता की स्पष्ट छाया है।

पौराणिक आख्यानो का वर्णन—महाभारत अनेक आख्यानो एव उपाख्यानो का केन्द्र है। आचार्य बाणभट्ट की 'कादम्बरी' मे महाभारत के अनेक आख्यानो की ओर सकेत किया गया है। महाभारत के आख्यानो को लेकर अनेक नाटक एव काव्यो की रचनाएँ हुई है। महाभारत मे पशु-पक्षियो के आख्यान भी वर्णित हैं। वस्तुत शौनक एव सौति जैसे ऋषियो ने महाभारत को उपाख्यानो का केन्द्र बना दिया है। महाभारत मे मुख्यत एकलव्य की कथा, किरात वेशधारी शकर की कथा, द्रोण की कथा, परशुराम की कथा, अग्नि और सूर्य का मनुष्यवत् आचरण तथा अनेकानेक लौकिक एव अलौकिक प्रसगो को सग्रहीत किया गया है।

महाभारत को महाकाव्य नही कहा जा सकता, क्योकि महाभारत की कथा महाकाव्य के योग्य कथानक को लेकर आगे नही बढती। महाभारत के भीष्म पर्व, अनुशासन पर्व, शान्तिपर्व जैसे अध्यायो मे तो कथानक अपना अस्तित्व ही खो बैठता है। इन पर्वो मे कथानक की प्रधानता न होकर दर्शन, राजनीति तथा नीतिशास्त्र की स्पष्ट प्रधानता है। महाभारत के अनेक उपाख्यानो का उसकी मूल कथा से तालमेल ही नही बैठ पाता है। यदि उन उपाख्यानो का महाभारत के युद्ध से सम्बन्ध भी स्थापित किया जाए तो महाभारत के अठारह पर्वो मे से अधिकाँश की वृहदाकारता उसे महाकाव्य का रूप न देकर विभिन्न शास्त्रो का स्वरूप प्रदान कर बैठती है। महाभारत को महाकाव्य सिद्ध करने मे दूसरी आपत्ति यह है कि इसके नायक का निर्धारण असम्भवप्राय है। महाभारत के युद्ध मे सर्वाधिक कीर्ति के केन्द्र नि शस्त्र श्रीकृष्ण ही जान पडते हैं परन्तु महाभारत श्रीकृष्ण के चरित्र का पूर्ण प्रकाशन नही है। यदि महाभारत की कथा का नायक युधिष्ठिर को माना जाय तो यह कहने मे कोई सन्देह नही होना चाहिए कि महाभारत बनाम महायुद्ध का नेता नायकत्व या नेतृत्व के गुणो से परिपूर्ण नही है। महायुद्ध का नायक कोई समरप्रिय व्यक्ति ही हो सकता है, कोई शान्तिप्रिय या भीरु व्यक्ति नही। युधिष्ठिर के नेतृत्व से दुर्योधन का नेतृत्व अधिक प्रभावशाली है। परन्तु, दुर्योधन महाभारत का नायक

नही कहा जा सकता, क्योकि उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व कम है तथा पराश्रित व्यक्तित्व अधिक है। अर्जुन और भीम पाण्डव-पक्ष के अग्रगण्य योद्धा हैं, परन्तु वे स्वय नायक न होकर कर्त्तव्य-भावना से युद्ध करने वाले योद्धा मात्र है। अत महाभारत ग्रन्थ का कोई स्पष्ट नायक नही है। इस विशाल ग्रन्थ मे स्थान-स्थान पर अनेक नायक उभरे है, परन्तु समग्र ग्रन्थ का कोई नायक निर्धारित नही किया जा सकता।

महाभारत के अनेक प्रसगो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ मे शान्त रस की प्रधानता है। एक महायुद्ध की विभीषिका लेखक या कवि को शान्त रस की ओर अग्रसर कर सकती है, और करती है। रक्त-रजित राज्य को पाकर महाराज युधिष्ठिर शान्ति प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण और भीष्म की शरण मे जाते हैं। महाभारत के प्रणेताओ ने शान्तरस का सम्बन्ध युधिष्ठिर, अर्जुन, भीष्म तथा श्रीकृष्ण जैसे पात्रो से जोडा है। वस्तुत महाभारत एक पुराण-ग्रन्थ है, एक ऐतिहासिक सामग्री का कोश है, धर्मशास्त्र है, दर्शनशास्त्र है, कामशास्त्र है, अर्थशास्त्र है। मूलत महाभारत ससार-सघर्ष मे काम आने वाले अनेक भावो, विचारो तथा वृत्तान्तो का महाशास्त्र है।

नही कहा जा सकता, क्योकि उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व कम है तथा पराश्रित व्यक्तित्व अधिक है। अर्जुन और भीम पाण्डव-पक्ष के अग्रगण्य योद्धा हैं, परन्तु वे स्वय नायक न होकर कर्त्तव्य-भावना से युद्ध करने वाले योद्धा मात्र है। अत महाभारत ग्रन्थ का कोई स्पष्ट नायक नही है। इस विशाल ग्रन्थ मे स्थान-स्थान पर अनेक नायक उभरे है, परन्तु समग्र ग्रन्थ का कोई नायक निर्धारित नही किया जा सकता।

महाभारत के अनेक प्रसगो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ मे शान्त रस की प्रधानता है। एक महायुद्ध की विभीषिका लेखक या कवि को शान्त रस की ओर अग्रसर कर सकती है, और करती है। रक्त-रजित राज्य को पाकर महाराज युधिष्ठिर शान्ति प्राप्त करने के लिए श्रीकृष्ण और भीष्म की शरण मे जाते है। महाभारत के प्रणेताओ ने शान्तरस का सम्बन्ध युधिष्ठिर, अर्जुन, भीष्म तथा श्रीकृष्ण जैसे पात्रो से जोडा है। वस्तुत महाभारत एक पुराण-ग्रन्थ है, एक ऐतिहासिक सामग्री का कोश है, धर्मशास्त्र है, दर्शनशास्त्र है, कामशास्त्र है, अर्थशास्त्र है। मूलत महाभारत ससार-सघर्ष मे काम आने वाले अनेक भावो, विचारो तथा वृतान्तो का महाशास्त्र है।

आधुनिक साहित्य

(Modern Literature)

आधुनिकता एक व्यापक शब्द है। आधुनिकता का अर्थ है–वर्तमान युग की विचारणा। शिक्षा का नवीनीकरण, केन्द्रीय शक्ति का प्रादुर्भाव, वैज्ञानिकता का अतिरेक, मनोवैज्ञानिकता का बोलबाला, रूढि-विरोध जैसे आधुनिक तत्वो का कारण आधुनिक दृष्टिकोण से सयुक्त युग आधुनिक युग कहलाता है। आधुनिकता से आधुनिक जन-समाज प्रभावित हुआ है। वर्तमान दृष्टिकोण ने प्राचीन कीर्तिमानो को भी व्याघात पहुँचाया है, अतएव प्राचीन और अर्वाचीन के टकराव से सक्रान्ति-काल भी उद्भूत हुआ है। सस्कृत एक प्राचीन भाषा के रूप मे प्रसिद्ध रही है। चार सौ ई पू मे पाणिनि जैसे व्याकरणाचार्य ने 'अष्टाध्यायी' नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना करके सस्कृत के स्वरूप को व्यवस्थित किया। उनके उपरान्त अनेक वैयाकरणो ने सस्कृत भाषा की धारा को व्याकरणके सुदृढ तटबन्धो मे सीमिति किया। ऐतिहासिक काल मे पालि, प्राकृत, अपभ्र श, हिन्दी आदि भाषाओ के प्रादुर्भाव के कारण सस्कृत साहित्य को धक्का भी लगा फिर भी समय-समय पर अनेक कीर्तिकेन्द्र उत्पन्न ही होते रहे, जिन्होने सस्कृत साहित्य की धारा को नित्य और अजस्र रखा।

आधुनिक सस्कृत साहित्य का विकास

1784 ई मे सर विलियम जोन्स के प्रयास से कलकत्ता मे 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना हुई। इस प्रतिष्ठान के द्वारा सस्कृत साहित्य के विकास को' दो रूपो मे सहयोग मिला— प्रथम तो प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो के प्रकाशन द्वारा तथा द्वितीय अनुसन्धान कार्य के श्रीगणेश द्वारा। 1784 मे ही वारेन् हेस्टिंग्ज ने सस्कृत पण्डितो के प्रयास से धर्मशास्त्र का सकलन कराया तथा स्वय ने उसका अग्रेजी मे, अनुवाद किया। 1791 ई मे जर्मन भाषा मे कालिदासकृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अनुवाद हुआ। इसके पश्चात् अनुवाद-कार्य की धारा ही प्रवाहित हो गई। 1800 ई मे कलकत्ता मे फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई तथा सस्कृत-विभाग भी खोला गया। जब 1835 ई मे मेकाले का शिक्षा-प्रस्ताव स्वीकृत हो गया तो सस्कृत की रक्षा के लिए भारतीय विद्वानो मे उत्साह उत्पन्न हुआ। 1866 ई मे

बनारस से 'काशी विद्या सुधानिधि' नामक प्रथम सस्कृत पत्रिका प्रकाशित हुई। उन्नीसवी शताब्दी मे ही सस्कृत के पण्डितो ने अग्रेजी साहित्य मे प्रभावित होकर अनेक साहित्यिक विधाओ का प्रवतन किया। हम यहाँ आधुनिक साहित्य की विभिन्न विधाओ के इतिहास का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

1 महाकाव्य एव खण्डकाव्य

महाकाव्य सस्कृत साहित्य की प्राचीन विधा है। आदि कवि वाल्मीकि की रामायण विश्व-साहित्य का प्राचीनतम महाकाव्य है। आधुनिक युग मे केरल निवासी रामपाणिवाद ने 'राघवीयम्' नामक 20 सर्गों मे विभाजित महाकाव्य की रचना की। रामपाणिवाद का समय 1707 ई से 1781 ई पर्यन्त है। रामपाणिवाद के पश्चात् अनेक महाकवि-साहित्य के मच पर उतरे, जिनमे से कुछ का उल्लेख निम्न प्रकार है—

'श्रीरामविजय'—रूपनाथ झा, 'रामचरितम्'—इलय तबुरान (1800-1851 ई), 'वासुदेव चरितम्'—पटपल्लि भास्करन मूत्तत (1805-1875 ई), 'सुरूपाराघवम्'—इलत्तूर रामस्वामी (1824-1907 ई) 'वालिचरितम्'—शकर लाल माहेश्वर (1844-1916 ई), 'सुभद्राहरणम्'—रामकुरुप्प (1847-1907), रामकुरुप्प का सीता 'स्वयवरम्' नामक एक यमक काव्य भी है। परमानन्द झा का 'कर्णार्जुनीयम्', दिवाकर कवि का 'पाण्डवचरितकाव्यम्', अन्नदाचरण तकचूडामणि का 'महाप्रस्थानम्', हेमचन्द्रराय का 'पाण्डवविजयम्' नामक महाकाव्य महाभारत के कथानक को लेकर रचे गए। रामपाणिवाद का 'विष्णुविलास', विश्वेश्वर पाण्डेय का 'लक्ष्मीविलासकाव्यम्', श्रीकृष्ण भट्ट का 'ईश्वर विलास' नामक महाकाव्य विष्णु के चरित्र को प्रस्तुत करते हैं।

पौराणिक महाकाव्यो के अतिरिक्त जगज्जीवन का 'अजितोदयकाव्यम्' मेवाड के राजा अजीतसिंह से सम्बद्ध है, सीताराम पर्यणीकर का 'जयवशम्' जयपुर के इतिहास से सम्बद्ध काव्य है। रामचरित के अतिरिक्त साधुचरित तथा अग्रेजचरित भी लिखे गए। नारायण इलयत का 'रामचरितम्' एक प्रसिद्ध खण्डकाव्य है। आधुनिक सस्कृत-साहित्य मे 'सदेशकाव्य', 'चित्रकाव्य' आदि की भी रचना हुई। इन सभी काव्यो मे परतन्त्र भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए राम, विष्णु, कृष्ण, तथा शिवजी जैसे नायको को लेकर भारतीय वीरो तथा समाज को उद्बुद्ध करने का सुन्दर प्रयास किया है। महाकाव्यो मे महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणो पर विशेष ध्यान दिया गया है। काव्य के क्षेत्र मे अनुवाद का भी प्रचुर कार्य हुआ है। आज जयशकर प्रसाद की 'कामायनी' का भी सस्कृत-अनुवाद उपलब्ध है। सस्कृत के आधुनिक साहित्य मे चम्पू काव्यो की भी रचना हुई है। अनन्ताचार्य का 'चम्पूराघवम्' तथा रामपाणिवाद का 'भागवत्चम्पू' प्रसिद्ध चम्पू काव्य हैं।

2 रूपक

विभिन्न प्रकार के नाटको के प्रचलन हेतु सस्कृत-साहित्य धनी है। 'दशरूपक' नामक ग्रन्थ मे रूपक के अग्राङ्कित दश भेद बतलाए गए है—

(1) नाटक, (2) प्रहसन, (3) प्रकरण, (4) भाण, (5) व्यायोग, (6) समवकार, (7) डिम, (8) ईहामृग, (9) अक तथा (10) वीथी।

1 नाटक—दृश्य साहित्य की अभिनेय, ललित विशद् विधा को नाटक कहा जाता है। आधुनिक सस्कृत साहित्य मे अनेक प्रकार के नाटको की रचना हुई, जिनका सक्षिप्त परिचय निम्न रूप मे प्रस्तुत किया जा रहा है—

पौराणिक नाटक—आधुनिक नाटक साहित्य मे भी भट्टनारायण शास्त्री ने 96वें पौराणिक नाटको की रचना करके अग्रणी स्थान प्राप्त किया है। उनके कुछ नाटको के नाम इस प्रकार हैं—'त्रिपुरविजयम्', 'मैथिलीयम्', 'चित्रदीपम्', 'अमृतमन्थनम्', 'गूढकौशिकम्', 'मदालसा' 'महिषासुरवधम्' इत्यादि। पौराणिक नाटको मे दीनद्विज का 'शखचूडवधम्' नाटक भी ख्याति प्राप्त है। पाँच अको के इस नाटक मे पद्मपुराण की कथा का उल्लेख है। शखचूड पाताल या अफ्रीका का राजा था उसने इन्द्र को हराकर स्वर्ग पर—अर्थात् कैस्पियन सागर के तटवर्ती भू-भाग पर भी आधिपत्य जमा लिया था। देवो को दु खी देखकर योगिनाथ शकर ने शखचूड द्वारा प्रेषित दानव नामक दूत के माध्यम से शान्ति-सन्देश प्रेषित किया परन्तु शखचूड ने युद्ध करना ही उचित ममझा। शखचूड शकर के सम्मुख युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। इलत्तूर रामस्वामी के 'अबरीषचरित' तथा 'गौधार-चरित' नामक दो नाटक हैं। सुन्दरराज अय्यगार ने पद्मिनी-परिणय' तथा 'गोदापरिणय' नाटक दो नाटको की रचना की। वैंकट नरसिहाचार्य के 'गजेन्द्रमोक्ष', 'राजहनीयम्', 'वासवापाराशर्य', 'चित्सूर्यालोक' नामक नाटक हैं। शकरलाल माहेश्वर का 'वामनविजय' नाटक प्रशसनीय है। इम नाटक मे वामनावतार की कथा का रोचक निरूपण है।

हर्षनाथ शर्मा ने 'उपाहरणम्' नाटक मे कथा श्रीनिवासाचार्य ने 'उषापरिणयम्' नाटक मे श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का उषा से मिलन प्रदर्शित किया है। यहाँ यह विवेच्य है कि उषा दैत्यराज बाणासुर की पुत्री थी। भुवनेश्वरदत्त ने 'प्रह्लादचरितम्' नामक नाटक भी रचना की। प्रह्लाद दैत्येन्द्र हिरण्यकश्यप का पुत्र था। प्रह्लाद की रक्षा विष्णु ने की। पुराणो मे विष्णु को ईश्वर माना गया है, इसलिए घूर्जटीप्रसाद भट्टाचार्य ने 'भक्तिविजयम्' नामक नाटक रचा है। जी वी पद्मनाभाचार्य ने 'ध्रुवचरितम्' नामक नाटक की रचना की। इस नाटक मे अग्रेजी के नाटको के दृश्यो की भाँति अध्यायो का विभाजन दृश्यो मे ही हुआ है।

रामचरित से सम्बद्ध नाटक—रामायण की कथा का आश्रय लेकर निम्न लिखित नाटक रचे गए—1 सीताराघवम् रामपाणिवाद, 2 आनन्दरघुनन्दनम् विश्वनाथसिंह, 3 रामराज्याभिषेकम्—विराररराघव, 4 अभिनवराघवम्—नारायण शास्त्री, 5 जानकीविक्रमम्—हरिदास सिद्धान्त वागीश, 6 अभिनवराघवम्—सुन्दर वीरराघव, 7 कुशलव विजयम्—व्यकट कृष्ण, 8 पौलस्त्यवधम्—लक्ष्मण सूरि। उपर्युक्त नाटको मे 'अभिनवराघवम्' नाटक में कथानक की नवीनता देखने को मिलती है। इस नाटक मे सीता और राम के वियोग का कारण परशुराम का शाप

बताया गया है तथा शूर्पणखा सीता के तुल्य वेशभूषा बनाकर राम को प्रवंचित करने की चेष्टा करती है।

कृष्ण चरित से जुड़े नाटक—कृष्ण के चरित्र को प्रकट करने वाले प्रमुख नाटक इस प्रकार हैं—1 रुक्मिणीपरिणयम्—विश्वेश्वर पाण्डेय, 2 प्रद्युम्नविजयम्—शंकर दीक्षित, 3 रुक्मिणी स्वयंवर—अश्वनि तिरुनाल, 4 मुकुन्दमोरग—नारायण शास्त्री, 5 कंसवधम्—हरिदास सिद्धान्त वागीश, 6 राधामाधवम्—विक्रमदेव शर्मा, 7 जरासन्धवधम्—कुट्टन तम्बुरान, 8 गोवर्धनविलासम्—श्री वी पद्मनाभाचार्य। 'गोवर्धनविलासम्' नाटक का दृश्य-विभाजन पाश्चात्य शिल्प का परिचायक है।

शिवकथा से सम्बद्ध नाटक—शिवकथा को सूचित करने वाले प्रमुख नाटक इस प्रकार हैं—1 विघ्नेशजन्मोदयम्—गौरीकान्त द्विज 2 पार्वतीपरिणय—शंकर लाल माहेश्वर, 3 मन्मथविजयम्—व्यंकटराघवाचार्य, 4 राट्विजयम्—रामस्वामी शास्त्री, 5 पारवतीपरिणय—इलत्तूर रामस्वामी इत्यादि। इन नाटको पर कालिदास के महाकाव्य 'कुमारसम्भव' का थोडा-सा प्रभाव परिलक्षित होता है।

कुछ अन्य पौराणिक नाटक—नल-दमयन्ती की कथा पर आधारित नाटको मे मन्दिकल रामशास्त्री का 'भैमीपरिणय' मजुल नैषध का 'मन्जुलनैषधम्', श्रीमती तम्बुरानी का 'नैषधम्', रामावतार शर्मा का 'धीरनैषधम्', कारीपदकाचार्य का 'नलदमयन्तीयम्' तथा देवीप्रसाद शुक्ल का 'नलचरितम्' प्रभृति नाटक प्रसिद्ध हैं। पाण्डवो के वध की कथा पर आधारित प्रमुख नाटक इस प्रकार है—पाँचालिकाकर्पगम् (काशीनाथ शास्त्री), सत्यवती शान्तनव एव भीष्मप्रभावम् (कुट्टमत्तु कुरुप्प), द्रौपदीविजयम् (कृष्णन थम्पी)। महाभारत की अन्य कथाओ को लेकर भी अनेक नाटको की रचना हुई। ययाति की कथा से सम्बद्ध वल्लीमहाय के दो नाटक प्रसिद्ध हैं—ययातितरुणानन्दनम् तथा ययातिशर्मिष्ठापरिणयम्। सुब्रह्मण्यम शास्त्री का 'शाकुन्तलम्' नाटक भी प्रसिद्ध है। चित्रकूट की शोभा को आधार बनाकर विजय रामवाचार्य ने 'चित्रकूट' नाटक की रचना की तथा मेधाव्रताचार्य ने 'प्रकृतिसौन्दर्यम्' नाटक की रचना की। लक्ष्मण सूरि ने 1911 ई मे 'दिल्लीसाम्राज्यम' नामक नाटक की रचना की जिसमे पचम जॉर्ज द्वारा समायोजित दिल्ली-दरबार की कथा है।

ऐतिहासिक नाटक—पचानन तर्करत्न (1866-1914 ई) ने राष्ट्रीयता की भावना के प्रसारार्थ महाराणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह के जीवन को आधार बनाकर 'अमरमगलम्' नामक ऐतिहासिक नाटक की रचना की। हरिदास सिद्धान्त वागीश (1876–1936 ई) ने 'विराजसरोजिनी,' 'वगीयप्रतापम्', 'मेवाडप्रतापम्' तथा 'शिवाजी चरितम्' नामक चार ऐतिहासिक नाटको की रचना की। मथुरा दीक्षित ने महाराणा प्रताप को लक्ष्य करके 'वीर प्रतापम्' तथा पृथ्वीराज चौहान से सम्बन्धित 'पृथ्वीराज विजयम्' नामक नाटक की रचना की। मूलशकर माणिकलाल ने 'छत्रपति साम्राज्य', 'प्रताप विजयम्' तथा 'सयोगितास्वयवरम्' नामक तीन नाटको की रचना की।

सामाजिक नाटक—एलत्तूर सुन्दरराज अय्यगार (1841-1905 ई) ने 'रसिक रजनम्' तथा 'स्नुषाविजयम्' नामक दो सामाजिक नाटक लिखे। 'स्नुषाविजयम्' नाटक मे पारिवारिक कलह का यथार्थवादी निरूपण है। रगनाथाचार्य ने सामाजिक कुरीतियो के चित्रण के लिए 'न्यायसभा' तथा 'कुत्सिताकुत्सित' नामक दो नाटको की रचना की। 1895 ई मे विद्याविनोद ने 'गर्वपरिणति' नामक नाटक की रचना की। इस नाटक मे आधुनिक शिक्षा और सभ्यता के ऊपर करारा व्यग्य है। वी कृष्णन थम्पी ने 'ललिता', 'प्रतिक्रिया', 'वङ्गज्योत्स्ना' तथा 'धर्मस्य सूक्ष्मा गति' नामक चार सामाजिक नाटक लिखे। अधिकांश सामाजिक नाटको का शिल्प पाश्चात्य नाट्य शिल्प से प्रभावित रहा है।

लाक्षणिक नाटक—लाक्षणिक नाटको मे प्रतीकात्मकता तथा व्यग्यात्मकता की प्रधानता रहती है। लाक्षणिक नाटको का नायक एव प्रतिनायक के रूप मे धर्म तथा अधर्म जैसे अमूर्त तत्त्व प्रस्तुत किये जा सकते है। सामयिक प्रवृत्तियो को प्रकटक रूप मे चित्रित करने का सफल माध्यम लाक्षणिक नाटक ही है। आधुनिक युग मे मुख्यत निम्नलिखित लाक्षणिक नाटको की रचना हुई—

1 तत्त्वमुद्राभद्रम् (अनन्ताचार्य), 2 कलिकोलाहलम् (रामानुजाचार्य), 3 शुद्धसत्वम् (मदहुषीव्यकटाचार्य), 4 अधर्मविधाकम् (अप्पाशास्त्री राशिवडेकर), 5 भ्रमभजननाटकम् (सत्यव्रत शर्मा), 6 मणिमजूषा (रामनाथ शास्त्री) इत्यादि।

अनूदित नाटक—आधुनिक सस्कृत साहित्य मे अग्रेजी तथा कुछ अन्य भाषाओ मे रचित नाटको के अनुवाद मिलते हैं। अनूदित नाटको मे कुछ नाटको के नाम इस प्रकार हैं—'भ्रान्तिविलासम्' (शैल दीक्षित), शेक्सपीयर के 'कॉमदी ऑफ अरर्स' का अनुवाद है। कृष्णमाचार्य ने शेक्सपीयर के 'एज यू लाइक इट' को यथामतम्' नाम से तथा 'ए मिड समर नाइटस् ड्रीम' को 'वासन्तिक स्वप्न' नाम से अनूदित किया। रामचन्द्राचार्य ने 'हैमलेट' का 'पितुरुपदेश' तथा 'एज यू लाइक इट' को 'पुरुपदशासप्तकम्' के रूप मे अनूदित किया है। रगाचार्य ने अग्रेजी के उपन्यास 'विकार ऑफ वेकफील्ड' को 'प्रेमराज्यम्' नाटक के रूप मे प्रस्तुत किया है। अत अनूदित नाटको मे नामत तथा रूपत कुछ कलात्मक परिवर्तन दर्शनीय हैं।

2. प्रहसन—'प्रहसन' रूपक का रोचक रूप है। प्रहसन मे हास्यात्मकता की प्रधानता रहती है। आधुनिक सस्कृत-साहित्य मे रामपाणिवाद का मदनकेतु-चरितम्' पहला प्रहसन है। इस प्रहसन मे विष्णुमित्रनम् नामक सन्यासी को अनगलेखा नामक वेश्या के ऊपर अनुरक्त दिखलाया गया। मुकुन्दराम शास्त्री ने 'गौरी दिगम्बर' नामक प्रहसन की रचना 1902 ई. मे की। मधुसूदन काव्यतीर्थ के 'पण्डितचरित' प्रहसनो मे पण्डितो की अहकार प्रवृत्ति को हास्यात्मक रूप प्रदान किया गया है। वटुकनाथ शर्मा के 'पाण्डित्यताण्डव' प्रहसन मे पण्डित-समूह पर कटाक्ष किया गया है। इन प्रहसनो के अतिरिक्त अनेकानेक प्रहसनो की रचना भी आधुनिक युग की देन है।

3 प्रकरण—रूपक के भेद 'प्रकरण' में धीरप्रशान्त नायक को लेकर प्रणय-गाथा को प्रस्तुत किया जाता है। आधुनिक युग मे रामानुजाचार्य का

आत्मवल्लीपरिणय' चन्द्रकान्त तर्कालंकार का 'कौमुदी सुधाकर' तथा नरसिंहाचार्य का 'वासवीपाराशरीयम्' नामक तीन प्रकरणों की रचना हुई।

4 भाण—भाण रूपक में विद्वान विट स्वानुभूत या परानुभूत धूर्तचरित का वर्णन करता है। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में कम से कम दो दर्जन भाणों की रचना हुई। घनश्याम के 'मदनसंजीवनी' भाण में काम-दहन की कथा का रोचक वर्णन है। अश्वीन तिरुनाल का 'शृंगार सुधाकर' तथा तम्बुरान का 'रससदनभाण' नम्बियार का 'रसरत्नाकर', माधवन नम्बूदरी का 'शृंगार तिलक' प्रभृति भाण आधुनिक युग की रचना है।

5 व्यायोग—इतिहास या पुराण की कथावस्तु को लेकर एक अंक में पुरुष पात्रों की प्रधानता करके व्यायोग की रचना होती है। पद्मनाभ का 'त्रिपुरविजय' शंकर द्वारा त्रिपुरासुरों के विनाश की कथा को लेकर लिखा गया व्यायोग है। नरसिंहाचार्य ने 'गजेन्द्रव्यायोग' नाम से पौराणिक कथा के आधार पर व्यायोग लिखा है। कुडगल्लूर कुंजि कुट्टन ने दो व्यायोग लिखे हैं—'किरातार्जुनीयम्' तथा सुभद्राहरणम्। 'किरातार्जुनीयम्' व्यायोग में किरात तथा अर्जुन नामक पुरुष पात्रों की प्रधानता है।

6 समवकार—रूपक के भेद समवकार में देव-दानवों से सम्बद्ध कथावस्तु को लेकर कपट तथा पुरुषार्थ का अद्भुत सम्मिश्रण रहता है। रामनुजाचार्य का 'लक्ष्मीकल्याणम्' एक सफल समवकार है।

7 डिम—'डिम' में अलौकिक पात्रों को सुयोजित करके चार अंकों में रूपक प्रस्तुत किया जाता है। इसमें प्रधान रस रौद्र होता है तथा अन्य रस अंग रसों के रूप में रहते हैं। रामानुजाचार्य का 'दक्षमखरक्षणम्' एक सफल डिम है। इसमें शंकर के शिष्य वीरभद्र का कोप प्रदर्शित किया गया है।

8 ईहामृग—ईहामृग में प्रतिनायक के माध्यम से देवांगना के अपहरण की कथा चार अंकों में प्रस्तुत की जाती है। रामानुजाचार्य का 'नहुषाभिलाप' एक रोचक ईहामृग है। इस ईहामृग में इन्द्राणी शची के अपहरण या प्राप्ति की कथा का सुन्दर चित्रण है।

9 अंक—करुण रस की प्रधानता से युक्त एक अंक का रूपक अंक कहलाता है। रामानुजाचार्य का 'अन्यायराज्यप्रध्वसनम्' तथा वीरराघवाचार्य का 'भोजराजांकम्' नामक अंक उल्लेखनीय है। राजा भोज के मन्त्री मुंज ने भोज को मारने का कपट किया था। 'अंक' मार्मिक रूपक होता है।

10 वीथी—शृंगार रस की प्रधानता से युक्त अंक की रचना 'वीथी' नाम से जानी जाती है। रामपाणिवाद ने 'चन्द्रिकावीथी' तथा 'लीलावती' नामक दो वीथी रूपकों की रचना की। रामानुजाचार्य की 'मुनित्रयविजय' तथा दामोदरन नम्बूदरी की 'मन्दारमालिका' वीथी प्रसिद्ध हैं।

शृंगार रस की प्रधानता से संयुक्त कल्पित तथा जन-प्रचलित कथावस्तु को लेकर नाटक के तत्त्वों की समायोजना के साथ नाटिका की रचना की जाती है।

विश्वेश्वर पाडेण्य की 'नवमालिका', सौठी भद्रादि रामशास्त्री की 'मुक्तावली' तथा अम्बिकादत्त व्यास की 'ललितनाटिका' प्रशसनीय हैं।

एकाँकी

अंग्रेजी साहित्य के 'वन एक्ट प्ले' को एकाँकी नाम दिया गया है। सस्कृत साहित्य के लिए एकाँकी एक नई विधा है। रामपाणिवाद ने 'दौर्भाग्य मजरी नामक एकाँकी की रचना की। प्रभाकराचार्य ने 'भ्रमरकाहली' नामक एकाँकी की नए शिल्प के आधार पर रचना की। राजराजवर्म कोइतम्बुरान ने 'गीर्वाण विजय' नामक एकाँकी की रचना की।'गीर्वाण विजय' एकाँकी मे सस्कृत भाषा की दुर्दशा को दूर करने के सुन्दर प्रयास प्रदर्शित किए गए हैं।

गीतनाट्य या छाया नाटक

गीतनाट्य मे गीतो की प्रधानता रहती है। इन गीतो के माध्यम से विवेच्य-विषय को सुस्पष्ट किया जाता है। शक्तन तम्बुरान ने एक शतक गीतनाट्यो की रचना की। उनके प्रसिद्ध गीतनाट्य इस प्रकार हैं—सीतास्वयवरम्, वालिवधम् नलचरितम्, सगरोपाख्यान, अजमिलमोक्ष, यज्ञरक्षा, अहिल्यामोक्ष, जरासन्ध पराजय इत्यादि। अश्वति तिरूनाल के अम्बरीषचरितम् तथा पौण्ड्रकवधम् नामक छायानाटक प्रसिद्ध हैं। उन्नीसवी शताब्दी मे अनेकानेक छायानाटको की रचना हुई है।

3 गद्य काव्य

गद्य-काव्य का श्रीगणेश आधुनिक युग मे ही हुआ है। गद्य-काव्य प्रवृत्ति के आधार पर तीन रूपो मे रचा गया है—राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत गद्य-काव्य, आश्रयदाताओ की प्रशसा से युक्त-काव्य तथा देवी-देवताओ की स्तुति से सम्बद्ध गद्य-काव्य।

(1) **राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत गद्य-काव्य**—चिन्तामणि रामचन्द्र शर्मा की 'राष्ट्रीयोपनिषद्' नामक गद्य-काव्य रचना मे उपनिषदो की शैली के आधार पर पाँच बल्लियाँ हैं। इस रचना मे राष्ट्र-भक्ति की प्रधानता है।

(2) **आश्रयदाताओ की प्रशसा से युक्त गद्य-काव्य**—अश्वति तिरूनाल ने 'वजिमहाराजस्वत ' गद्य-काव्य मे महाराजा वजि का स्तवन किया है। राजराजवर्म कोइतम्बुरान की कृति 'षष्ठिपूर्तिदण्डक' मे श्रीमूल तिरुनाल की प्रशस्ति है। नीलकठ शर्मा की रचना 'घोपपुरमहाराज्ञीस्तव ' मे भाट भूपाल राजधानी की प्रशसा चित्रित हुई है।

(3) **देवी-देवताओं की स्तुति से सम्बद्ध गद्य-काव्य**—शिव-स्तुति से सम्बद्ध पान्चूमूत्तत की 'खुट्यम' तथा अज्ञात लेखक की 'शिवताण्डवदण्डकम्' नामक गद्य-काव्य रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। पार्वती की स्तुति को सूचित करने वाली गद्य-काव्य कृतियाँ इस प्रकार हैं—'ललिताम्बिकादण्डक' नामक दो रचनाएँ केरलवर्म कोइतम्बुरान तथा रविवर्म कोइतम्बुरान ने लिखी हैं, रगाचार्य ने 'पादुकासहस्रावतार' तथा अश्वति तिरूनाल ने 'दशावतार दण्डक' नामक रचनाएँ अवतारो की स्तुति को

लक्ष्य करके प्रस्तुत की हैं। राजराजवर्म कोइतम्बुरान ने देवी की स्तुति मे 'देवीदण्डक' तथा रघुराजसिंह जूदेव ने विभिन्न देवी-देवताओ की स्तुति का सग्रह 'गद्यशतकम्' नाम से निकाला। इलत्तूर रामस्वामी का 'श्रीकृष्ण दण्डकम्' ईशावतार श्रीकृष्ण की स्तुति से सम्बद्ध है।

4 उपन्यास-साहित्य

आचार्य विश्वनाथ ने उपन्यास शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा है—'उपन्यास प्रसादनम्—साहित्य दर्पण' अर्थात् मनोरजक-तत्त्व ही उपन्यास है। सस्कृत साहित्य मे उपन्यास एक नवीन साहित्यिक विधा है। उपन्यास के शिल्प पर अग्रेजी-उपन्यास के शिल्प का पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है। विभिन्न श्रेणियो के उपन्यासो का विवेचन निम्नलिखित रूप मे किया जा सकता है—

(क) **अनूदित उपन्यास**—अम्बिकादत्त व्यास का 'शिवराजविजय' नामक उपन्यास सस्कृत का प्रथम उपन्यास है। इस उपन्यास का लेखन-काल 1870 है। यह उपन्यास बगला उपन्यासकार रमेशचन्द्रदत्त की बगला रचना 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' का अनुवाद है। प्रस्तुत उपन्यास मे शिवाजी की वीरता का मनोहारी चित्रण है। इस उपन्यास की शैली के ऊपर बाणभट्ट की कादम्बरी का स्पष्ट प्रभाव है। बगाली उपन्यासकार बंकिमचन्द्र के उपन्यासो को निम्नलिखित सस्कृत उपन्यासकारो ने अनूदित किया—

1 शैलताताचार्य के 'क्षत्रियरमणी' तथा 'दुर्गेशनन्दिनी', 2 अप्पाशास्त्री राशिवडेकर के 'देवीकुमुद्वती', 'इन्दिरा', 'लावण्यमयी', 'कृष्णकान्तस्य निर्वाणम्' तथा 3 हरिचरण भट्टाचार्य का 'कपालकुण्डला' आदि प्रमुख अनूदित उपन्यास हैं।

राजराजवर्म कोइतम्बुरान ने शेक्सपीयर की त्रासदी 'ओथेलो' को 'उद्दातचरितम्' उपन्यास का रूप दिया है। तिरुमलाचार्य ने शेक्सपीयर के 'कॉमेडी ऑफ अरर्स' का 'भारत-विलासम्' नाम से तथा रगाचार्य ने 'विकार ऑफ वेकफील्ड' का 'प्रेमराज्यम्' नाम से अनुवाद किया है। ये सब कृतियाँ औपन्यासिक है।

कुमारताताचार्य ने डोरा स्वामी के तमिल उपन्यास 'मेनका' का अनुवाद किया है। हिन्दी के लेखक जगन्नाथ प्रसाद के उपन्यास 'ससारचरितम्' का अनन्ताचार्य ने अनुवाद किया तथा मराठी उपन्यासकार नरसिंह चिंतामणि केलकर के 'बलिदानम्' उपन्यास को वासुदेव आत्माराम लाटकर ने अनूदित किया है।

(ख) **पौराणिक उपन्यास**—लक्ष्मण सूरि (1859—1919) ने तीन उपन्यास लिखे हैं—'रामायण सग्रह', 'भीष्मविजयम्' तथा 'महाभारत सग्राम'। शकरलाल माहेश्वर ने 'अनुसूयाभ्युदयम्', 'चन्द्रप्रभाचरितम्' तथा 'मलेश्वप्राणप्रिया' प्रभृति उपन्यास लिखे हैं। गोपालशास्त्री का 'अतिरूपचरितम्' तथा गणपतिमुनि का 'पूर्णा' नामक पौराणिक उपन्यास है। शेषशायी शास्त्री ने 'अष्टवक्रीयम्' नामक उपन्यास लिखा, जिसमे राजा जनक के गुरु अष्टावक्र की कथा का वर्णन है। श्री निवासाचार्य के उपन्यास 'कैरविणी' मे शक्तिमत के उपासको की आध्यात्मिक

निष्ठाओ को प्रस्तुत किया गया है। इन सभी पौराणिक उपन्यासो मे मौलिकता के लिए भी विशिष्ट स्थान है।

(ग) ऐतिहासिक उपन्यास—इतिहास के कथानक को लेकर लिखे गए उपन्यास ऐतिहासिक उपन्यास कहे गए है। कृष्णमाचार्य ने वररुचि' तथा 'चन्द्रगुप्त नामक दो ऐनिहासिक उपन्यास लिखे हैं। इन दोनो उपन्यासो मे मौर्यकालीन वैभव का वर्णन किया गया है। 1905 ई मे नरसिंहाचार्य ने 'सौदामिनी' नामक उपन्यास लिखा, जिसमे मगध के राजा शूरसेन तथा विदर्भ की राजकुमारी के प्रेम का मार्मिक वर्णन है। 1909 ई मे 'वीरमती' नामक उपन्यास लिखा गया। इस उपन्यास मे मुसलमान काल की घटना का वर्णन है।

(घ) अन्य उपन्यास—उपेन्द्रनाथ सेन ने तीन सामाजिक उपन्यास लिखे हैं—मकरन्दिका, कुन्दमाला तथा सरला। इन उपन्यासो मे नारी-जीवन की पीडा का मार्मिक चित्रण मिलना है। भट्ट श्री नारायण शास्त्री के 'सीमन्तिनी' उपन्यास मे नारी-दुर्दशा का यथार्थवादी चित्रण है। मनुजेन्द्रदत्त के 'सती-छाया' उपन्यास मे प्रेम-प्रपञ्च का मनोहारी वर्णन है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार कृष्णमाचार्य ने सामाजिक समस्याओ के चित्रणार्थ तीन उपन्यासो की रचना की—'पतिव्रता,' पाणिग्रहणम्' तथा 'सुशीला'। कुप्पूस्वामी के 'सुलोचना' उपन्यास को पढकर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की निम्न पक्तियाँ बरबस याद हो उठती है—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
है आँचल मे दूध और आँखो मे पानी॥ —यशोधरा

चिदम्बर शास्त्री की 'कमला कुमारी' तथा 'सतीकमला' नामक औपन्यासिक कृतियो मे समग्र नारी-जीवन का मूल्यांकन है। 1906 ई मे श्री बलभद्र शर्मा ने 'वियोगिनीबाला' नामक उपन्यास लिखा, जिसमे वर्षा ऋतु को विरहिणी के लिए घोर कष्टकारक सिद्ध किया है। अन्य उपन्यास-कृतियाँ इस प्रकार है—एक रोमानी उपन्यास के रूप मे 'सरला' हरिदास सिद्धान्त बागीश, 'कल्याणी'—नगेन्द्रनाथ सेन, 'विजयिनी'—परशुराम शर्मा, 'कुमुदिनी' तथा 'विलासकारी'—ए राजगोपालाचार्य, 'कुमुदनीचन्द्र'—मेधाव्रताचार्य, 'कुसुमकलिका'—परमेश्वर झा, 'दरिद्राणा हृदयम्' तथा 'दिव्यदृष्टि'—नारायण शास्त्री खिस्ते इत्यादि।

अन्य साहित्यिक विधाओ मे पत्र-लेखन, आलोचना, निबन्ध, जीवनी, यात्रा साहित्य तथा शब्दकोश सम्पादन जैसे विभिन्न कार्यो का श्रीगणेश आधुनिक युग की देन है।

आधुनिक साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ

भाव और शिल्प दोनो की दृष्टि ही से आधुनिक युग साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियाँ रही है जो मुख्यत इस प्रकार है—1 राष्ट्रीयता की भावना, 2 नारी-उद्धार, 3 नवीन साहित्यिक विधाओ का विकास 4 मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रधानता, 5 भाषागत विकास, 6 आलकारिकता।

1 राष्ट्रीयता की भावना—राष्ट्र-प्रेम को राष्ट्रीयता की भावना के नाम से अभिहित किया जाता है। डॉ श्रीधर भास्कर वर्णेकर ने 'विवेकानन्दविजयम्' नाटक मे भारत भूमि के प्रति अगाध आस्था व्यक्त की है। इस नाटक मे भारतवर्ष के मनीषियो के प्रति भी गहरी भक्ति-भावना प्रदर्शित की गई है। निम्नलिखित पक्तियो मे राष्ट्रीयता का दर्शन सहज सम्भव है—

अयोध्या शत्रूणा, त्वमसि मधुरा पावनहृदां
खलाना वा माया जननि ! खलु काशी सुतपमाम्।
अवन्ती चार्तानामपि विघूनकानची विमनसा
विमुक्तै द्वारावत्यपि दिविपदा त्व ननु पुरी॥

वस्तुत आधुनिक साहित्य मे वेदो की महिमा के गान द्वारा, भारतीय दर्शन की अद्वितीयता के माध्यम से, भारतीय महापुरुषो के चरित्र की अनुपमता के द्वारा तथा अनेकानेक अतीतकालीन गौरवो के आधार पर राष्ट्रीयता की भावना प्रदर्शित की गई है। विवेकानन्द के ज्ञान का समूचे ससार ने लोहा माना। इस सन्दर्भ मे निम्न शब्द प्रेक्षणीय है—

"Here is a man who is more learned than all the professors put together To ask for his Credentials is like asking the sun about its right to shine!"

—विवेकानन्द विजयम्, पृ 97

'मेवाडप्रतापम्' तथा 'शिवाजी चरितम्' और नाटको के माध्यम से महापुरुषो के आदर्शों से राष्ट्रीयता की भावना घोषित हुई है। 'राघवीयम्' तथा 'कसवधम्' जैसे महाकाव्यो के द्वारा राष्ट्रप्रेमी महापुरुषो के प्रति अटूट श्रद्धा एव भक्ति का प्रदर्शन राष्ट्रीयता का साक्षात् स्रोत है। आधुनिक युग के ऐतिहासिक उपन्यास भी राष्ट्रीय चरित्र को महापुरुषो के चरित्र के आधार पर उज्ज्वल रूप मे देखने को उत्सुक जान पडते है।

2 नारी उद्धार—आधुनिक युग मे मानवतावादी दर्शन के आधार पर नारी-उद्धार को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। हमारे देश के युग पुरुषो-प्रताप शिवाजी तथा विवेकानन्द आदि ने नारी की देवीवत् आराधना की है। वस्तुत महर्षि मनु का आदर्श गृहस्थ का यह सिद्धान्त-यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता। आधुनिक साहित्य में साकार होता प्रतीत होता है। कृष्णमाचार्य के 'पतिव्रता' नामक उपन्यास में पुरुष के द्वारा नारी की शोषित स्थिति का यथार्थवादी चित्रण किया गया है। आधुनिक युग के प्रेम-प्रपच का चित्रण करने के लिए मनुजेन्द्रदत्त का 'सती-छाया' उपन्यास उल्लेखनीय है। 'विवेकानन्द विजयम्' नाटक मे नारी-उद्धार का एक रोचक प्रसग है कलकत्ता विश्वविद्यालय के परिसर मे नरेन्द्र बनाम विवेकानन्द, मुस्लिम छात्र रहमान तथा अग्रेज छात्र विलियम नारी विषयक वार्तालाप मे जुटते है। विलियम तर्क-वितर्क करके कुछ सन्तुष्ट हो जाता है। रहमान शेफालिका नामक युवती के ऊपर व्यग्य बाणो की वृष्टि करता है। नरेन्द्र

रहमान का गला पकड लेता है। नरेन्द्र अनैतिक विवाह या बलपूर्वक किए गए या किए जाने वाले विवाह की भर्त्सना करता है। बलशाली नरेन्द्र के सामने रहमान कम्पायमान हो जाता है। शेफालिका नरेद्र को दिव्य मूर्ति मानकर अपने उद्गार व्यक्त करती है—

त्रातु नारीजनमिह खलै पीड्यमान प्रसह्य ।
सम्प्राप्त किं धृतनरतनु कोऽप्यय देव एव ।
यत् सच्छील विहरति मनोमन्दिरेऽस्य प्रसन्न ।
मत्सामर्थ्यं स्फुरति भुजयोर्नेत्रयोर्दिव्यतेज ॥

तेजस्वी नरेन्द्र विधवा-सधवा, कन्या-वृद्धा, शिक्षिता-अशिक्षिता सभी को प्रतिष्ठित जननी के रूप मे सिद्ध करता है। शेफालिका के वैधव्य के विषय मे सोच कर नरेन्द्र भाव-विभोर हो उठता है 'हा हन्त हन्त बाल्ये एव वयसि वैधव्यवज्राघात एव प्राया अशिक्षिता निरक्षरा बालविधवा गृहे गृहे भवेयु अस्मत्समाजे। हा परमात्मन्! ततस्तत'। अत आधुनिक साहित्य मे नारी-उद्धार की भावना को प्रबल महत्त्व दिया गया है।

3 नवीन साहित्यिक विधाओ का विकास—आधुनिक युग मे निबन्ध साहित्य प्रबलता को प्राप्त कर रहा है। निबन्धो को देखकर 'गद्य कवीना निकष वदन्ति' सूक्ति को चरितार्थ पाया जा रहा है। जीवनी साहित्य नामक गद्यविधा के विकास से महापुरुषो का जीवन-चरित्र सरल गद्य मे जन-समाज तक पहुँचाया जा रहा है। मेधाव्रताचार्य का 'महर्षि विरजानन्द चरितम्' एक जीवनी ही है, जिसमे विरजानन्दजी की विद्वता तथा कर्मनिष्ठा पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। लघुकथा या कहानी के विकास से साहित्य की मनोरजकता को बल मिला है। कहानी मे उपदेशात्मकता का भी सहज पुट सम्भव है। अप्पाशास्त्री राशिवडेकर का 'कथाकल्पद्रुम' नामक कहानी सग्रह कहानियो की रोचकता तथा प्रभावोत्पादकता के लिए प्रशसनीय है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे निबन्धो का विकास अ ग्रेजी हिन्दी तथा सस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन करने में सहायक सिद्ध हो रहा है। शब्द-बोध के लिए कोष-ग्रन्थो की रचना भी प्रशसनीय है। 'अत उपन्यास, एकाकी, ध्वनिरूपक, यात्रा-वृत्त, कहानी, निबन्ध, आलोचना जैसी नवसाहित्यिक विधाओ के विकास से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक सस्कृत मे गत्यात्मकता का सहज गुण विद्यमान है। यही आधुनिक प्रवृत्ति है।'

4 मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रधानता—आधुनिक युग मे 'रसात्मकम् वाक्य काव्यम्-अर्थात् सरस वाक्य ही काव्य है, को मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया गया है। उन्नीसवी शताब्दी मे फ्रॉइड तथा युग जैसे मनोवैज्ञानिको के उदय से चेतन, अवचेतन तथा अचेतन मन की गहराइयो को स्पष्ट करने के लिए यथेष्ट प्रयास किए गए हैं। रामापाणिवाद के 'दौर्भाग्यमजरी' नामक एकाकी मे स्वाभाविक मनोविज्ञान का स्वरूप देखने योग्य है—

अकारण दक्षिणमक्षि कम्पते
तथैव वामेतर बाहुरप्यहो ।

अत न्लितत्फलमत्र लभ्यते।
मृपा न जायेत निमित्तमीदृशम् ।।

अर्थात् नायिका सोचती है—अकारण ही दक्षिण आंख और भुजा फडकती हैं इसलिए आज निश्चित रूप से दुर्भाग्य रूपी फल प्राप्त होना है। इस प्रकार के निमित्त या सूचक चिह्न मिथ्या नही हुआ करते। वस्तुत दुर्भाग्य की साकार प्रतिमा दौर्भाग्यमजरी नामक नायिका का यह चित्रण उसके मन की चिन्ता, त्रास, विषाद, करुणा आदि को मनोवैज्ञानिक स्तर प्रदान करता है।

शिवगोविन्द त्रिपाठी के 'श्रीगान्धिगौरवम्' महाकाव्य मे मनोवैज्ञानिक चित्रण का एक सरस प्रसग है। जब गांधीजी बम्बई से अफ्रीका के लिए पोत या जलयान मे यात्रा कर रहे थे तो दैवयोग से तूफान तेजी से चलने लगा तथा उसके प्रभाव से जलयान खतरे मे पड गया। उस समय हिन्दू धर्म के अनुयायी राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, ईश्वर आदि नामो को लेकर, जैन लोग वर्धमान का नाम लेकर, बौद्ध अर्हत् सोचकर मुसलमान खुदा को पुकार कर तथा ईसाई गॉड को ध्यान मे लाकर अनेक प्रकार से प्रार्थना करने लगे। यथा

हे राम ! हे कृष्ण ! हरे मुरारे !
हे अल्ल ! हे देवि ! खुदा ! पुकारे !
हे 'गॉड' ! ईशो ! शिवदेव ! अर्हन् !
कृपाकटाक्ष मयि धेहि धीमन् !

उपर्युक्त छन्द मे आपत्ग्रस्त समाज का मनोवैज्ञानिक चित्रण देखते ही बनता है। आधुनिक युग के उपन्यासो मे नारी की दुर्दशा का मनोवैज्ञानिक चित्रण सहज सराहनीय है। जिस प्रकार हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रवृत्तियो के आधार पर लिखा जा चुका है, उस प्रकार सस्कृत का प्रवृत्तिगत इतिहास अभी तक दुर्लभ है। वस्तुत॰ मनोवैज्ञानिक उपन्यास नाम से अब एक औपन्यासिक धारा विकसित हो चली है। इस उपन्यास रूप की शैली मनोविश्लेषणात्मक अथवा आत्मकथात्मक होती है। आज नारी की समस्या का ही नही अपितु समस्त सामाजिक समस्याओ का चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया जा सकता है। सस्कृत के नाटको मे मनोवैज्ञानिकता का पुट बहुलता के साथ दृष्टव्य है। 'विवेकानन्दविजयम्' नाटक मे व्यक्ति की मनोदशा-प्रेम, घृणा तथा विरक्ति का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है। सुप्त मन मे स्थित मनोविकारो का चित्रण मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही सम्भव है,। अत आधुनिक साहित्य मनोवैज्ञानिक गहराइयो के चित्रण की ओर उन्मुख हुआ है।

5 भाषागत विकास—आधुनिक सस्कृत साहित्य का भाषागत विकास अनेक रूपो मे हुआ है। यथार्थत आधुनिक युग मे अंग्रेजी का सर्वाधिक प्रचार है। अंग्रेजी से पूर्व अरबी-फारसी ने भी भारतीय जन-समाज की भाषा पर बहुत कुछ प्रभाव डाला। कई भाषाओ के शब्दो का सस्कृतिकरण करने की आवश्यकता आधुनिक साहित्यकारो को प्रतीत हुई। अतएव साहित्यकारो ने प्रगतिशील युग के अनेक शब्दो का सस्कृतीकरण करके सस्कृत भाषा को आधुनिक बनाया है। प्रसिद्ध लेखक अम्बिकादत्त व्यास ने 'शिवराजविजय' उपन्यास मे अनेक शब्दो को सस्कृत रूप

दिया है। अफजलखाँ नामक मुसलमान सेनानी को 'अफजलखाँ' नाम सस्कृत व्याकरण के आधार पर ही दिया है। शिवगोविन्द त्रिपाठी ने श्रीगान्धिगौरवम्' काव्य मे अनेक अग्रेजी-फारसी शब्दो को सस्कृत का रूप प्रदान किया है। उन्होने तूफान को तूर्णफाण', स्टेशन को 'स्थेऽशन', अस्पताल या होस्पीटल को 'अस्वस्थपाल' रूप प्रदान किया है। विवेच्य काव्य मे अग्रेजी के शब्दो का प्रयोग करके सम्कृत भाषा को शब्द ग्रहण करने की प्रवृत्ति से युक्त कर दिया गया है। अग्रेजी के कुछ शब्दो का प्रयोग द्रष्टव्य है इन्डियन ओपिनियन, कोर्ट इत्यादि। इसी प्रकार सस्कृत के अनेक साहित्यकारो ने सस्कृत भाषा को नवीन या आधुनिक बनाने मे भाषागत विकास का परिचय दिया है।

6 आलकारिकता—आत्मगौरव नामक वृत्ति वाणी के क्षेत्र मे भी स्पष्टत देखी जाती है। साहित्यकार अपने मन्तव्य को ऊपर करने के लिए आलकारिकता का आधार अवश्य लेता है। डॉ श्रीधर भास्कर वर्णेकर के विवेकानन्दविजयम्' नाटक मे आलकारिक प्रयोग का स्वाभाविक स्वरूप स्पष्ट हुआ है। उपमा अलकार का प्रयोग व्यापक स्तर पर करता हुआ कवि यहाँ तक कह जाता है कि हमारे देश के राजा शासन को तृण-तुल्य मानते थे, धन को विष-तुल्य समझते थे, भौतिक सुख को दु ख के समान मानते थे, भोगो को सर्पो के समान समझते थे। यथा—

तृणप्राय राज्य, विषमिवधन, सौख्यमसुख
मता भोगा भोगा इव, तव सुतै राजभिरपि।

'श्रीगान्धिगौरवम्' काव्य मे प्राय सभी अलकारो का प्रयोग किया गया है। कवि ने पुनरुक्ति प्रकाश अलकार का प्रयोग अनेक बार किया है। यथा—'स्मार स्मार गौतम बुद्धदेव' 'नवैके नवैके' इत्यादि। कवि ने अर्थान्तरन्यास अलकार के प्रयोग मे महाकवि कालिदास के समान दक्षता प्रदर्शित की है। जब गांधीजी अफ्रीका से भारत लौटे तो वे बम्बई मे कवि राजचन्द्र से मिले। कवि राजचन्द्र मे शतावधानीत्व-शतप्रतिशत स्मरण शक्ति थी। जब गांधीजी ने राजचन्द्र की परीक्षा हेतु कुछ विचित्र वाक्य कहे तो कवि राजचन्द्र ने उन सब वाक्यो को क्रमबद्ध रूप मे सुना दिया। इसी तथ्य को कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

शतावधानीचय जिघृक्षुणा, श्रीगान्धिना शब्दमय स्वभाण्डकम्।
रिक्तीकृत पूरितवान् स उत्तरैर्मेधाविभिर्विश्वमिद न रिच्यते॥

अम्बिकादत्त व्यास ने 'शिवराजविजय' उपन्यास मे आचार्य बाणभट्ट की गद्य शैली की छाया को ग्रहण करके अपने उपन्यास को शैलीगत स्तर पर उदात्त बना दिया है। शिवाजी के व्यक्तित्व के निरूपण मे लेखक ने विरोधाभास अलकार का तूफान खडा कर दिया है। लेखक ने उल्लेख अलकार का प्रयोग भी असीमित रूप मे कर दिया है। श्लेष अलकार का प्रयोग करके प्राचीन परम्परा को यथावत् रखने मे भी अम्बिकादत्त व्यास जैसे लेखको ने पूर्व योगदान दिया है। अग्रेजी काव्य-शास्त्र से आए हुए ध्वन्यर्थव्यजक अलकार का प्रयोग भी नाना रूपो मे किया है। पक्षियो की ध्वनि तथा जल-प्रवाह के कलरव के रूप मे ध्वन्यर्थ-व्यजक अलकार का युक्तिसगत

प्रयोग किया गया है। वसुग्रहराज (1790-1860) का 'यदुग्घुनाथीयम्' महाकाव्य श्लेष अलकार के चमत्कार से परिपूर्ण है।

आधुनिक साहित्य के नाटको मे अग्रेजी के उपन्यासो का शिल्प भी अपनाया गया है। पद्मनाभाचार्य के नाटको मे अको के स्थान पर दृश्यो का प्रयोग किया गया है। कई नाटको मे प्रस्तावना को भी हटा दिया गया है। कुछ उपन्यासो मे मानवतावादी दर्शन का आधार लेकर आधुनिक समस्याओ के चित्रण के साथ-साथ वैदेशिक शिल्प को पूरी तरह से अपना लिया गया है। अत रचना चमत्कार को अनेक रूपो मे ग्रहण करके आधुनिक साहित्य पाठको के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक साहित्य मे प्राचीन और अर्वाचीन प्रवृत्तियो का अभूतपूर्व समन्वय है। हमारे देश का साहित्यकार अपनी सस्कृति को पाश्चात्य सस्कृति की चकाचौध से भी नही भुला सका है। रामापाणिवाद के 'कृष्ण चरित' नामक काव्य मे गोपियाँ वन के वृक्षो से कृष्ण का पता पूछती हुई प्रेम की प्रगाढ़ता का सुन्दर परिचय देती है—

अशोकवृक्ष त्व ब्रूहि सशोकमारा नो ऽद्यैव।
किमम्बुजाक्षो दृष्टोऽत्र समीक्षितश्चेदाख्याहि ।।
ककणकाचीकेयूर कुण्डलहारानङ्गेषु।
सकलयन् कोऽप्यारक्तपकजनेत्रो दृष्टो नु ।।

आधुनिक साहित्य मे छन्द-विधान पद्य के क्षेत्र मे विस्तृत होता जा रहा है। यहाँ तक कि गद्य-काव्य भी साहित्यिक विधा के रूप मे विकसित होकर अपना अलग अस्तित्व बना चुका है। गद्य के क्षेत्र मे आशातीत प्रगति हुई है। यदि आधुनिक साहित्य को 'गद्य-काल' नाम से अभिहित किया जाय तो प्रवृत्तिगत रूप मे किसी को कोई आपत्ति नही हो सकेगी। वस्तुत आधुनिक सस्कृत-साहित्य विभिन्न भाषाओ के साहित्य की भाँति विविध प्रवृत्तियो को अपनाता हुआ सतत् प्रवाहिनी धारा के समान अग्रसर हो रहा है।

शास्त्रीय साहित्य
(Classical Literature)

प्राचीन काल मे कला, विज्ञान और सामाजिक विज्ञान को शास्त्रीय साहित्य के अन्तर्गत रखने की परम्परा रही है। हम कला के अन्तर्गत व्याकरण तथा अलकार शास्त्र को गिन सकते हैं। विज्ञान के अन्तर्गत आयुर्वेद, गणित तथा ज्योतिष को गिना जाता है तथा सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत दर्शनशास्त्र, धर्म-शास्त्र, अर्थशास्त्र तथा तन्त्र जैसे विषयो को गिना जाता है।

व्याकरण शब्द-रचना तथा वाक्य-रचना के आधार भाषा को शासित करती है, इसलिए व्याकरण को एक शास्त्र माना गया है। व्याकरण का पहला प्रामाणिक ग्रन्थ पाणिनि द्वारा रचित 'अष्टाध्यायी' है। आचार्य पतजलि का 'महाभाष्य', आचार्य कात्यायन का 'वार्तिक' तथा आचार्य भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' व्याकरण-शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

काव्य का साहित्य को शासित करने के लिए अलकारशास्त्र की रचना हुई। आचार्य भरत का 'नाट्यशास्त्र' अलकारशास्त्र का जनक माना जाता है। अलकार-शास्त्र मे छ सम्प्रदाय प्रसिद्ध रहे हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं-रस-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय अलकार-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय तथा औचित्य-सम्प्रदाय। रस-सम्प्रदाय मे रस को काव्य की आत्मा मानकर काव्य को रसात्मक बनाने पर जोर दिया, ध्वनि-सम्प्रदाय मे ध्वनि को काव्य का प्राण मानकर ध्वनि काव्य को उत्तम काव्य कहा गया, अलकार-सम्प्रदाय मे काव्य का मूल तत्त्व अलकार सिद्ध किया गया, वक्रोक्ति सम्प्रदाय मे वाग्विदग्धता को काव्य का सर्वस्व माना गया, रीति-सम्प्रदाय मे विशिष्ट पद-रचना को काव्य की आत्मा घोषित किया गया, औचित्य सम्प्रदाय मे समस्त काव्य-तत्वो के उचित प्रयोग को कथाशास्त्र के रूप मे प्रस्तुत किया गया।

प्राचीन काल के वैज्ञानिक साहित्य को भी शास्त्रीय साहित्य माना गया है। क्रमबद्ध ज्ञान के रूप मे आयुर्वेद, गणित तथा ज्योतिष को शास्त्र कहा गया। प्राचीन भारत का आयुर्वेद चरक जैसे विद्वानो के विचार मन्थन के कारण शास्त्रीय रूप

प्राप्त कर सका। वराहमिहिर तथा लोकमान्य तिलक जैसे आचार्यों ने ज्योतिष को तथा श्रीधराचार्य एव आचार्य भास्कराचार्य के कारण गणित को शास्त्रीय रूप प्राप्त हुआ।

सामाजिक विज्ञान के रूप मे दर्शनशास्त्र सहज ज्ञान की समीक्षा के आधार पर समाज को प्रवृत्ति और निवृत्ति के माध्यम से शासित करता है। इसी प्रकार धर्माचरण के आधार पर धर्मशास्त्र, राजनीतिक विवेचन के आधार पर अर्थशास्त्र तथा गूढ साधना के आधार पर तन्त्र ने समाज शासित रखा है। अत ये सब सामाजिक विज्ञान हैं।

प्राचीन भारत का शास्त्रीय साहित्य सस्कृत भाषा मे सृजित हुआ, इसलिए सस्कृत साहित्य के इतिहास मे शास्त्रीय साहित्य को स्थान देकर सस्कृत इतिहास सस्कृत साहित्य के इतिहास मे शास्त्रीय साहित्य को स्थान देकर सस्कृत के इतिहास को साहित्यिक विधाओ तक ही परिसीमित नही रखा गया है। यहाँ हम शास्त्रीय साहित्य का सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

दार्शनिक साहित्य
(Philosophical Literature)

शास्त्रीय साहित्य मे दार्शनिक साहित्य का विशिष्ट स्थान है। भारतीय वाङ्मय मे प्रारम्भिक काल से ही दर्शनशास्त्र की प्रधानता रही है। सृष्टि मे जितना भी रहस्य है तथा ससार का एक सुनिश्चित प्रवाह विभिन्न विचारको को जिस-जिस रूप मे प्रतीत हुआ है, वही दर्शनशास्त्र का विषय बना है। 'दृश' धातु मे 'ल्युट' प्रत्यय के योग से 'दर्शन' शब्द निष्पन्न हुआ है। 'दर्शन' का अर्थ है—विशिष्ट दृष्टि या सहज ज्ञान। अत दर्शनशास्त्र की परिभाषा यही हो सकती है—सहज ज्ञान की समीक्षा ही दर्शन है। सहज ज्ञान की समीक्षा का आधार प्रत्यक्ष जगत ही है। प्रत्यक्ष का क्षेत्र प्रतीति तक पहुँचता है। सुख-दु खात्मक जगत को जीवन के साथ जोडने के लिए समय-समय पर अनेक परिकल्पनाएँ हुई है। ऐसी सभी विचारधाराओ को दु ख मुक्ति से जोडा गया है। इसीलिए मनुस्मृति मे यथार्थ ज्ञान को सभी कर्मों के प्रपच से छूटने का कारण बताया गया है तथा दर्शन के अभाव मे ससार मे भटकना पडता है यही सिद्ध किया है।[1] इसी रहस्य को आधारभूत बनाकर दर्शनशास्त्र का विविधमुखी विकास हुआ। प्राचीन युग मे वैदिक साहित्य को ईश्वर की वाणी के रूप मे प्रसिद्ध किया गया। वैदिक युगीन सत्य को आगे चलकर अनेक आडम्बरो से परिपूर्ण कर दिया गया। अतएव वेदो के प्रति अनास्था का भाव जाग्रत हुआ। वैसे तो प्रारम्भिक युग का व्यक्ति रोटी, कपडा और मकान को लेकर ही सभ्यता की ओर बढा होगा। अत भौतिकवादी दर्शन आध्यात्मवादी दर्शन से कही अधिक प्राचीन रहा होगा, यह तथ्य मनोवैज्ञानिक सत्य है। भौतिकवादी एव वेदवादी दर्शनो का पर्याप्त द्वन्द्व भी काल की धारा की देन है।

1 सम्यक् ज्ञान सम्पन्न कर्मभिन बद्धयते।
दर्शनेन विहीनस्तु ससार प्रतिपद्यते॥ —मनुस्मृति

भारतीय दर्शन की व्यापकता

प्राचीन तथा अर्वाचीन, हिन्दू तथा अहिन्दू, आस्तिक तथा नास्तिक—जितने प्रकार के भारतीय है, सबो के दार्शनिक विचारो को 'भारतीय दर्शन' कहते हैं। कुछ लोग भारतीय दर्शन को 'हिन्दू दर्शन' का पर्याय मानते हैं, किन्तु यदि 'हिन्दू' शब्द का अर्थ वैदिक धर्मावलम्बी हो तो 'भारतीय दर्शन का अर्थ केवल हिन्दुओ का दर्शन समझना अनुचित होगा। इस सम्बन्ध मे हम माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन-सग्रह' का उल्लेख कर सकते हैं। माधावाचार्य स्वय वेदानुयायी हिन्दू थे। उन्होने उपर्युक्त ग्रन्थ मे चार्वाक, बौद्ध तथा जैन मतो को भी दर्शन मे स्थान दिया है। इन मतो के प्रवर्त्तक वैदिक धर्मानुयायी हिन्दू नही थे। फिर भी, इन मतो को भारतीय दशन मे वही स्थान प्राप्त है जो वैदिक हिन्दुओ के द्वारा प्रवर्तित दर्शनो को है।

भारतीय दर्शन की दृष्टि व्यापक है। यद्यपि भारतीय दर्शन की अनेक शाखाएँ हैं तथा उनमे मतभेद भी है, फिर भी, वे एक-दूसरे की उपेक्षा नही करती हैं। सभी शाखाएँ एक-दूसरे के विचारो को समझने का प्रयत्न करती है। वे विचारो की युक्ति-पूर्वक समीक्षा करती हैं, और तभी किसी सिद्धान्त पर पहुँचती हैं। इसी उदार मनोवृत्ति का फल है कि भारतीय दर्शन मे विचार-विमर्श के लिए एक विशेप प्रणाली की उत्पत्ति हुई। इस प्रणाली के अनुसार पहले पूर्वपक्ष होता है, तब खण्डन होता है तथा अन्त मे उत्तर पक्ष या सिद्धान्त होता है। पूवपक्ष मे विरोधी मत की व्याख्या होती है। उसके बाद उसका खण्डन या निराकरण होना है। अन्त मे उत्तर-पक्ष आता है जिसमे दार्शनिक अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है।

इसी उदार दृष्टि के कारण भारतीय दर्शन की प्राय प्रत्येक शाखा अत्यन्त समृद्ध है। उदाहरण के लिए हम वेदान्त का उल्लेख कर सकते हैं। वेदान्त मे चार्वाक, बौद्ध, जैन, सांख्य, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक आदि सभी मतो पर विचार किया गया है। यह रीति केवल वेदान्त मे ही नही, किन्तु अन्य दर्शनो मे भी पाई जाती है। वस्तुत भारत का प्रत्येक दर्शन ज्ञान का एक-एक भण्डार है। यही कारण है कि जिन विद्वानो को केवल भारतीय दर्शन का ज्ञान भली-भाँति प्राप्त है वे बडी सुगमता से पाश्चात्य दर्शन की जटिल समस्याओ का भी समाधान कर लेते हैं।

भारतीय दर्शन की उदार-दृष्टि ही उसकी प्राचीन समृद्धि तथा उन्नति का कारण है। भारतीय दर्शन यदि अपने प्राचीन गौरव को पुन प्राप्त करना चाहता है तथा उसे सुदृढ बनाना चाहता है तो उसे प्राच्य तथा पाश्चात्य, आर्य तथा अनार्य यहूदी तथा अरबी, चीनी तथा जापानी—सभी दार्शनिक मतो का पूर्ण विवेचन करना चाहिए। अपनी ही विचार-परम्परा मे सीमित रह जाने से उसकी पुष्टि और वृद्धि नही हो सकती।[1]

1 डॉ सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एव डॉ धीरेन्द्र मोहन दत्त भारतीय दर्शन पृ 1-2

भारतीय दर्शन की शाखाएँ

प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार भारतीय दर्शन दो भागो मे बँटे गए है—

1 आस्तिक दर्शन, एव 2 नास्तिक दर्शन ।

वेदवादी दर्शन को आस्तिक दर्शन के रूप मे जाना जाता है । 'नास्तिकोवेद निन्दक'—अर्थात् वेद की निन्दा करने वाले को नास्तिक कहते है । अत वेद की प्रशसा करने वाले को आस्तिक कहते हैं, यह स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है । वेद की प्रशसा का केवल यही अर्थ है कि वैदिक साहित्य का प्रमाण रूप मे मानकर सहज ज्ञान की समीक्षा करने वाले दर्शनो को आस्तिक दर्शन कहा जाता है । यदि ईश्वरवाद को आस्तिकता माना जाएगा तो कई आस्तिक दर्शन भी नास्तिक सिद्ध हो जाएँगे अतएव आस्तिकता वेदवाद का ही दूसरा नाम है । भारतीय दर्शन मे छ दर्शनो—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त को आस्तिक दर्शन के रूप मे जाना जाता है । आस्तिक दर्शन षड्दर्शन के रूप मे भी प्रसिद्ध है ।

आस्तिक दर्शन का अर्थ ईश्वरवादी नही है । इन दर्शनो मे सभी ईश्वर को नही मानते हैं । इन्हे आस्तिक इसलिए कहा जाता है कि ये सभी वेद को मानते हैं । मीमांसा और सांख्य ईश्वर को नही मानते फिर भी वे आस्तिक कहे जाते है, क्योकि वे वेद को मानते हैं । इन छह आस्तिक दर्शनो के अतिरिक्त और भी कई आस्तिक दर्शन हैं । यथा—शैव दर्शन, पाणिनीय दर्शन रसेश्वर दर्शन (आयुर्वेद), इत्यादि । इन दर्शनो का उल्लेख माधवाचार्य ने 'सर्व दर्शन-सग्रह' मे किया है । नास्तिक दर्शन तीन हैं—चार्वाक, बौद्ध तथा जैन । ये नास्तिक इसलिए कहे जाते है कि ये वेदो को नही मानते । आधुनिक भारतीय साहित्य मे आस्तिक का अर्थ 'ईश्वरवादी' है तथा नास्तिक का अर्थ 'अनीश्वरवादी' है । किन्तु प्राचीन दार्शनिक साहित्य के अनुसार आस्तिक का अर्थ 'वेदानुयायी' तथा नास्तिक का अर्थ 'वेदविरोधी' है । प्राचीन दार्शनिक साहित्य के अनुसार इन दोनो शब्दो मे से प्रत्येक का एक दूसरा भी अर्थ है । इस दूसरे अर्थ के अनुसार आस्तिक परलोक में विश्वास रखने वाले को तथा नास्तिक परलोक नहीं मानने वाले को कहते है । ऊपर के वर्गीकरण के अनुसार मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक को आस्तिक दर्शन इसलिए कहा गया है कि ये वेदो को मानते हैं । भारतीय दर्शनो का वर्गीकरण यदि परलोक में विश्वास के अनुसार किया जाए तो जैन तथा बौद्ध दर्शन भी आस्तिक दर्शन कहे जाएँगे, क्योकि वे भी परलोक को मानते हैं । षड्दर्शन को दोनो ही अर्थों में आस्तिक कह सकते है । अर्थात् वे वेद को मानने के कारण भी आस्तिक है । चार्वाक दर्शन दोनो में से किसी भी अर्थ में आस्तिक नही कहा जा सकता । वह न तो वेद को मानता, न परलोक को मानता है अत दोनो ही अर्थों में नास्तिक है ।[1]

आस्तिक तथा नास्तिक की भिन्नता समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि भारतीय विचार-परम्परा में वेद का क्या स्थान है । वेद भारत का आदि

1 डॉ सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एव डॉ धीरेन्द्र मोहन दत्त वही, पृ 2-3

भारतीय दर्शन की व्यापकता

प्राचीन तथा अर्वाचीन, हिन्दू तथा अहिन्दू, आस्तिक तथा नास्तिक—जितने प्रकार के भारतीय हे, सबो के दाशनिक विचारो को 'भारनीय दर्शन' कहते हैं। कुछ लोग भारतीय दशन को 'हिन्दू दर्शन' का पर्याय मानते है, किन्तु यदि 'हिन्दू' शब्द का अर्थ वैदिक धर्मावलम्बी हो तो 'भारतीय दर्शन का अथ केवल हिन्दुओ का दर्शन समझना अनुचित होगा। इस सम्बन्ध मे हम माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन-सग्रह' का उल्लेख कर सकते है। माधवाचार्य स्वय वेदानुयायी हिन्दू थे। उन्होने उपर्युक्त ग्रन्थ मे चार्वाक, बौद्ध तथा जैन मतो को भी दशन मे स्थान दिया है। इन मतो के प्रवत्तक वैदिक धर्मानुयायी हिन्दू नही थे। फिर भी, इन मतो को भारतीय दर्शन मे वही स्थान प्राप्त है जो वैदिक हिन्दुओ के द्वारा प्रवर्तित दर्शनो को है।

भारतीय दर्शन की दृष्टि व्यापक है। यद्यपि भारतीय दर्शन की अनेक शाखाएँ हैं तथा उनमे मतभेद भी है फिर भी, वे एक-दूसरे की उपेक्षा नही करती हैं। सभी शाखाएँ एक-दूसरे के विचारो को समझने का प्रयत्न करती हे। वे विचारो की युक्ति-पूर्वक समीक्षा करती है, और तभी किसी सिद्धान्त पर पहुँचती है। इसी उदार मनोवृत्ति का फल है कि भारतीय दर्शन मे विचार-विमर्श के लिए एक विशेप प्रणाली की उत्पत्ति हुई। इस प्रणाली के अनुसार पहले पूर्वपक्ष होता है, तब खण्डन होता है तथा अन्त मे उत्तर पक्ष या सिद्धान्त होता है। पूवपक्ष मे विरोधी मत की व्याख्या होती है। उसके बाद उसका खण्डन या निराकरण होना है। अन्त मे उत्तर-पक्ष आता है जिनमे दार्शनिक अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है।

इसी उदार दृष्टि के कारण भारतीय दर्शन की प्राय प्रत्येक शाखा अत्यन्त समृद्ध है। उदाहरण के लिए हम वेदान्त का उल्लेख कर सकते हैं। वेदान्त मे चार्वाक, बौद्ध, जैन, सांख्य, मीमांसा, न्याय, वैशेपिक आदि सभी मतो पर विचार किया गया है। यह रीति केवल वेदान्त मे ही नही, किन्तु अन्य दर्शनो मे भी पाई जाती है। वस्तुत भारत का प्रत्येक दर्शन ज्ञान का एक-एक भण्डार है। यही कारण है कि जिन विद्वानो को केवल भारतीय दर्शन का ज्ञान भली-भाँति प्राप्त है वे बड़ी सुगमता से पाश्चात्य दर्शन की जटिल समस्याओ का भी समाधान कर लेते है।

भारतीय दर्शन की उदार-दृष्टि ही उसकी प्राचीन समृद्धि तथा उन्नति का कारण है। भारतीय दर्शन यदि अपने प्राचीन गौरव को पुन प्राप्त करना चाहता है तथा उसे सुदृढ बनाना चाहता है तो उसे प्राच्य तथा पाश्चात्य, आर्य तथा अनार्य यहूदी तथा अरबी, चीनी तथा जापानी—सभी दार्शनिक मतो का पूर्ण विवेचन करना चाहिए। अपनी ही विचार-परम्परा मे सीमित रह जाने से उसकी पुष्टि और वृद्धि नही हो सकती।[1]

1 डॉं सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एव डॉं धीरेन्द्र मोहन दत्त भारतीय दशन पृ 1-2

भारतीय दर्शन की शाखाएँ

प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार भारतीय दर्शन दो भागों मे बाँटे गए हैं—

1 आस्तिक दर्शन, एव 2 नास्तिक दर्शन ।

वेदवादी दर्शन को आस्तिक दर्शन के रूप मे जाना जाता है । 'नास्तिकोवेद निन्दक'—अर्थात् वेद की निन्दा करने वाले को नास्तिक कहते है । अत वेद की प्रशसा करने वाले को आस्तिक कहते हैं, यह स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है । वेद की प्रशसा का केवल यही अर्थ है कि वैदिक साहित्य का प्रमाण रूप मे मानकर सहज ज्ञान की समीक्षा करने वाले दर्शनो को आस्तिक दर्शन कहा जाता है । यदि ईश्वरवाद को आस्तिकता माना जाएगा तो कई आस्तिक दर्शन भी नास्तिक सिद्ध हो जाएँगे अतएव आस्तिकता वेदवाद का ही दूसरा नाम है । भारतीय दर्शन मे छ दर्शनो—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त को आस्तिक दर्शन के रूप मे जाना जाता है । आस्तिक दर्शन षड्दर्शन के रूप मे भी प्रसिद्ध है ।

आस्तिक दर्शन का अर्थ ईश्वरवादी नही है । इन दर्शनो मे सभी ईश्वर को नही मानते हैं । इन्हे आस्तिक इसलिए कहा जाता है कि ये सभी वेद को मानते हैं । मीमांसा और सांख्य ईश्वर को नहीं मानते फिर भी वे आस्तिक कहे जाते है, क्योंकि वे वेद को मानते हैं । इन छह आस्तिक दर्शनो के अतिरिक्त और भी कई आस्तिक दर्शन हैं । यथा—शैव दर्शन, पाणिनीय दर्शन रसेश्वर दर्शन (आयुर्वेद), इत्यादि । इन दर्शनो का उल्लेख माधवाचार्य ने 'सर्व दर्शन-सग्रह' मे किया है । नास्तिक दर्शन तीन हैं—चार्वाक, बौद्ध तथा जैन । ये नास्तिक इसलिए कहे जाते हैं कि ये वेदो को नही मानते । आधुनिक भारतीय साहित्य मे आस्तिक का अर्थ 'ईश्वरवादी' है तथा नास्तिक का अर्थ 'अनीश्वरवादी' है । किन्तु प्राचीन दार्शनिक साहित्य के अनुसार आस्तिक का अर्थ 'वेदानुयायी' तथा नास्तिक का अर्थ 'वेदविरोधी' है । प्राचीन दार्शनिक साहित्य के अनुसार इन दोनो शब्दो मे से प्रत्येक का एक दूसरा भी अर्थ है । इस दूसरे अर्थ के अनुसार आस्तिक परलोक में विश्वास रखने वाले को तथा नास्तिक परलोक नही मानने वाले को कहते है । ऊपर के वर्गीकरण के अनुसार मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक को आस्तिक दर्शन इसलिए कहा गया है कि ये वेदों को मानते है । भारतीय दर्शनो का वर्गीकरण यदि परलोक में विश्वास के अनुसार किया जाए तो जैन तथा बौद्ध दर्शन भी आस्तिक दर्शन कहे जाएँगे, क्योंकि वे भी परलोक को मानते है । षड्दर्शन को दोनो ही अर्थो में आस्तिक कह सकते हैं । अर्थात् वे वेद को मानने के कारण भी आस्तिक हैं । चार्वाक दर्शन दोनो में से किसी भी अर्थ में आस्तिक नही कहा जा सकता । वह न तो वेद को मानता, न परलोक को मानता है अत दोनो ही अर्थों में नास्तिक है ।[1]

आस्तिक तथा नास्तिक की भिन्नता समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि भारतीय विचार-परम्परा में वेद का क्या स्थान है । वेद भारत का आदि

1 डॉ सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एव डॉ धीरेन्द्र मोहन दत्त वही, पृ 2-3

माहित्य है। वेद के बाद की जो भारतीय विचारधारा चली वह वेद से बहुत अधिक प्रभावित हुई है। दार्शनिक विचारधारा पर तो इसका अत्यधिक प्रभाव पडा है। भारतीय दर्शन पर वेद का प्रभाव दो प्रकारो से पडा है। हम ऊपर कह आए है कि कुछ दर्शन वेद को मानते हैं तथा कुछ वेद को नही मानते। वेद को मानने वाले छह दर्शन 'षड्दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। इनमे मीमांसा और वेदान्त तो वैदिक सस्कृति की ही देन हैं। वेद मे दो विचारधाराएँ थी। एक का सम्बन्ध कर्म से था तथा दूसरे का ज्ञान से। ये क्रमश वैदिक कर्म-काण्ड तथा वैदिक ज्ञान-काण्ड के नाम से विदित है। मीमांसा मे कर्म-काण्ड का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन हुआ है। वेदान्त मे ज्ञान-काण्ड का पूरा विवेचन किया गया है और इस तरह वेदान्त जैसे एक विशाल दर्शन की सृष्टि हुई है। चूँकि मीमांसा और वेदान्त मे वैदिक विचारो की मीमांसा हुई है इसलिए दोनो को कभी-कभी मीमांसा कहते हैं। भेद के लिए मीमांसा को पूर्व-मीमांसा या कर्म-मीमांसा तथा वेदान्त को उत्तर-मीमांसा या ज्ञान मीमांसा कहते हैं।[1]

सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शनो की उत्पत्ति वैदिक विचारो से नही हुई है। इनकी उत्पत्ति लौकिक विचारो से हुई है किन्तु इस कथन से यह नही समझना चाहिए कि ये वेद-विरोधी थे। इनके सिद्धान्तो मे तथा वैदिक विचारो मे पारस्परिक विरोध नही था। वैदिक सस्कृति के विरुद्ध जो प्रतिक्रियाएँ हुई थी उनसे चार्वाक, बौद्ध तथा जैन-दर्शनो की उत्पत्ति हुई। ये वेद को प्रमाण नही मानते थे—ये वेद-विरोधी थे।

उपर्युक्त विचारो का सक्षेप नीचे लिखे ढग से किया जा सकता है[2]—

1, 2 डॉ सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एव डॉ धीरेन्द्र मोहन दत्त वही, पृष्ठ 2–3
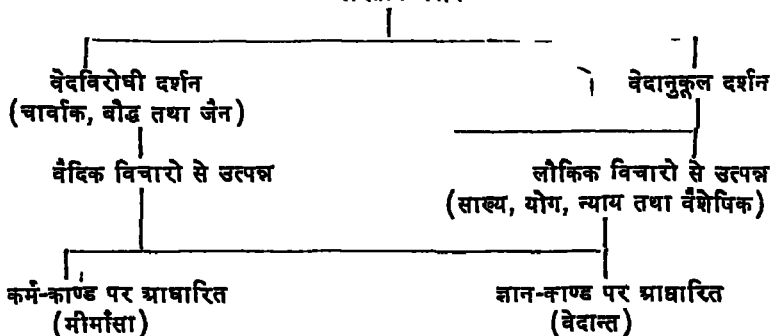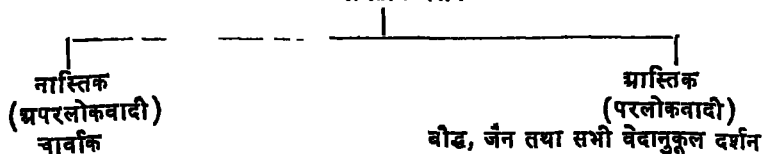
अब हम सर्वप्रथम आस्तिक दर्शन अथवा षड्दर्शन का और तत्पश्चात नास्तिक दर्शनो का सिहावलोकन करेंगे ।

साँख्य दर्शन

साँख्य दर्शन द्वैतवादी है । साँख्य को प्राचीनतम दर्शन माना जाता है 'साँख्य' शब्द गणना एव ज्ञान का वाचक है । अत जिस दर्शन मे त्रिविध दु: दैहिक, दैविक तथा भौतिक के निवारण के लिए आठ सिद्धियो, नौ ऋद्धियो प क्लेशो की गणना ज्ञानमार्ग के स्तर पर की गई है, वही साँख्य दर्शन के रूप अभिधेय है ।

साँख्य दर्शन की उत्पत्ति (700 ई पू)

पौराणिक कपिल[1] ने साँख्यसूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना करके साँख्य द का आविर्भाव किया । प्रस्तुत दर्शन की उत्पत्ति सहज ज्ञान की समीक्षा आधार पर 'सत्कार्यवाद' को लेकर हुई । कपिल ने जीवात्मा को 'पुरुष' के रूप तथा प्रकृति को 'प्रधान' के रूप मे प्रस्तुत करके साँख्य को द्वैतवादी दर्शन के रूप प्रस्तुत किया । साँख्याकार का कोई अन्य ग्रन्थ मौलिक रूप मे उपलब्ध नही है परन्तु आधुनिक 'साँख्यसूत्र' को कपिल के विचारो का आधारभूत ग्रन्थ मान साँख्य के उद्गम को स्वीकार किया गया है । पुरुष और प्रधान को स्वीकार क साँख्य ईश्वर के विषय मे कोई सकेत नही कर पाता । कपिल ने अपने दर्शन द्व जनता को जो दिशाबोध दिया, वही साँख्य दर्शन का उद्गम माना जाता है ।

साँख्यकार ने प्रकृति और पुरुष के सयोग से महतत्त्व को अद्भुत मा 'महतत्त्व' को बुद्धि-तत्त्व के रूप मे जाना जा सकता है । इसी बुद्धि तत्त्व के सतोगु अश से सत्वप्रधान अहकार का जन्म माना तथा तम प्रधान अश से तम अहकार का । सत्वप्रधान अहकार से पच कर्मेन्द्रिय, पच ज्ञानेन्द्रिय तथा उभयेन्द्रिय की उत्पत्ति स्वीकार की गई है । तमोमय अहकार से पचमहाभू आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के गुण या तन्मात्रा स्वरूप क्रमश स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को उद्भूत माना । पच तत्त्वो से निर्मित सृष्टि के प्र कारण के रूप से पचतन्मात्राओ को महत्त्व दिया गया । साँख्यकार ने सभी तथा दोषो का विश्लेषण तर्क प्रणाली को अपनाकर किया जिससे उसे ज्ञान दर्शन के रूप मे आविर्भूत दर्शन स्वीकार किया गया ।

साँख्य दर्शन का विकास

साँख्य दर्शन के विकास का श्रेय कपिल की शिष्य-परम्परा मे हुआ । 6 पूर्व मे रचित 'साँख्यसूत्र' को आधार बनाकर विभिन्न ऋषियो ने साँख्य को

1 भागवत्, 3/21/32 तथा रामचरितमानस, बालकाण्ड

स्वयभुव मनु अरु शतरूपा । जिनते भई नर सृष्टि अनूपा ।।
देवहूति पुनि तासु कुमारी । जो मुनि कर्दम के प्रिय नारी ।।
आदिदेव प्रभु दीन दयाला । जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला ।।
साँख्य शास्त्र जिन प्रकट बखाना । तत्त्व विचार निपुण भगवाना ।।

2 उपाध्याय गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग-2, पृ 106

अपने ग्रन्थो मे स्थान दिया। 600 ई पू से 1600 ई तक सांख्य का विकास साहित्यकार और दर्शन के ग्रन्थो के रूप मे होता रहा है। ऋग्वेद का 'नासदीय' सूक्त कपिल के विचारो को स्पष्ट करने वाला माना गया है। इस सूक्त मे सृष्टि की अनिर्वचनीयता का सकेत करके सत्‌तत्त्व को अवश्य स्वीकार किया है। अत कपिल का 'सत्कार्यवाद' ऋग्वेद मे भी प्रतिबिम्बित है। उपनिपद् साहित्य मे जो सांख्य-तत्त्व विकीर्ण है, उन्ही को ध्यान मे रखकर कपिल की शिष्य परम्परा मे आधुनिक सांख्यसूत्र' का प्रणयन हुआ है। यही ग्रन्थ गीता जैसे दार्शनिक ग्रन्थ को किसी न किसी रूप मे प्रकाशित करने वाला रहा है। इसके अतिरिक्त विन्ध्यवासी, ईश्वर कृष्ण, गौडवाद, माठराचार्य प्रभृति दार्शनिको न सांख्य दर्शन के विकास मे योगदान दिया, जिनका यहाँ सक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

पचम शती ई पू मे महाभारत तथा गीता नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हो चुके थे। गीता मे 'सांख्य' शब्द का प्रयोग ही नही हुआ अपितु सांख्य के सिद्धान्तो को भी अनेक रूपो मे स्पष्ट किया गया है। 'गीता' मे सांख्य और योग को तत्त्वत एक ही कहा गया है। जो व्यक्ति सांख्य और योग को तत्त्वत पृथक् मानता है, वह उक्त दर्शनो के रहस्य से परिचित नही है।[1] गीता मे 'सांख्य' के ज्ञान-मार्ग का विस्तृत रूप मे प्रतिपादन हुआ है। सांख्य सूत्र मे प्रोक्त कर्मसिद्धि के तत्त्व—अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टाएँ तथा दैव को 'गीता' मे स्थान दिया गया है।[2] सांख्य मे सभी कार्यो को प्रकृति सिद्ध माना गया है। गीता मे भी यही स्पष्ट किया गया है कि जो व्यक्ति अपने आपको कार्य का कर्त्ता मानता है, वह अहकार से लिप्त होने के कारण विमूढ है—

प्रकृते क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वश ।
अहकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥[3]

'गीता' के दूसरे अध्याय मे दु खो से मुक्ति के रूप मे सांख्य सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया है। आत्मा की अविनश्वरता तथा प्रकृति के गुण—सत्, रज तथा तम के स्वाभाविक उदय एव विकास को समझने से व्यक्ति को यथार्थ ज्ञान होता है तथा व्यक्ति उसी ज्ञान के आधार पर दु ख विमुक्त होता है।[4] 'गीता' मे सम्पूर्ण ज्ञानमार्ग का उद्‌भव एव उद्‌गम स्रोत 'सांख्य' को ही कहा है।[5] 'गीता' मे सांख्य के स्वभाववाद का भी अनुपालन किया गया है अत सांख्य दर्शन के प्रभाव को ग्रहण करके उसे एक आस्तिकवादी दर्शन सिद्ध करने मे गीता का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

1 सांख्ययोगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिता ।
एक सांख्य च योग च य पश्यति स पश्यति ॥—गीता, 2/4 5
2 वही 18/14
3 वही 3/27
4 वही 2/12-17
5 गीता 3/3

442 ई के गुप्तकालीन शिलालेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महाभारत' को एक लाख श्लोको के बृहदाकार ग्रन्थ का श्रेय पचम शताब्दी के मध्य तक प्राप्त हो चुका था। इसलिए यदि यह कह दिया जाय कि सॉख्य दर्शन को कपिल के पश्चात् चौथी शताब्दी तक विकसित रखने का श्रेय गीता को ही रहा है तो कोई अत्युक्ति न होगी। फिर भी गीता के माध्यम से सॉख्य की कीर्ति का विकास हुआ, उसके तात्विक विवेचन पर न तो पृथकत प्रकाश डाला गया और न ही अलग से सॉख्य का विचारक ही हुआ। तीसरी शती मे कोई विन्ध्यवासी नामक विचारक हुए, जिन्होने सॉख्य दर्शन से सम्बद्ध कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा, परन्तु सम्प्रति उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है। बौद्ध भिक्षु परमार्थ ने विन्ध्यवासी या रुद्रिल के विषय मे यहाँ तक कह डाला है कि उन्होने बौद्ध आचार्य वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को अयोध्या मे शास्त्रार्थ करके पराजित किया था। अत विन्ध्यवासी ने बौद्धो के असत्कार्यवाद का खण्डन करके सॉख्य के सत्कार्यवाद का ही मण्डन किया। इस प्रकार विन्ध्यवासी ने सॉख्य के विकास मे योगदान अवश्य दिया।

चौथी शताब्दी मे बौद्धाचार्य वसुबन्धु ने सॉख्य का खण्डन करके बौद्ध मत का खण्डन किया था। ईश्वर कृष्ण ने आचार्य वसुबन्धु के मत का खण्डन करने के लिए 'साख्यकारिका' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ मे केवल 78 कारिकाएँ हैं। सॉख्यकारिका को सॉख्यदर्शन को उच्चतम कृति माना जाता है। आचार्य ईश्वर कृष्ण ने महर्षि कपिल द्वारा प्रतिपादितपच्चीस तत्वो को वैज्ञानिक, आधार देकर सॉख्य दर्शन का विकास किया। 'सॉख्यसूत्र' मे त्रिगुणमयी माया को एक तत्व के रूप मे गिना गया। उस माया या प्रकृति से महतत्त्व की उत्पत्ति हुई। महत् से अहकार का जन्म हुआ। इस प्रकार अहकार तक तीन तत्व गिनाते गए। अहकार से पचतन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को उद्भूत बताया तथा उनसे पचमहाभूतो को उत्पन्न बताया गया। आँख, कान, नाक, रसना, तथा त्वचा को ज्ञानेन्द्रिय तथा हाथ पैर, वाक्, उपस्थ एव वायु को कर्मेन्द्रिय सिद्ध करके मन को उभयेन्द्रिय सिद्ध कर दिया गया। उपर्युक्त चौबीस तत्वो मे 'पुरुष' को जोडकर तत्व-सख्या पच्चीस मानी गई। ईश्वर कृष्ण ने भी इसी सख्या को बरकरार रखा। उन्होने मूल प्रकृति को 'प्रधान' के रूप मे रखा। कपिल की भाँति ही ईश्वरकृष्ण ने भी प्रधान को निर्विकार कहा। महतत्वादि को प्रकृति के सात विकारो-महतत्व, अहकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के रूप मे प्रस्तुत किया। सोलह विकारो के रूप मे ग्यारह इन्द्रियो तथा पचमहाभूतो को प्रस्तुत किया। पच्चीसवें तत्व के रूप मे पुरुष को रखा। ईश्वरकृष्ण ने प्रधान को अनेक गुणो से विभूषित सिद्ध किया। सॉख्यकारिका मे प्रधान के स्वरूप को विकसित करने के लिए अग्रलिखित लक्षण प्रतिपादित किए है। प्रधान को अनादि तत्व सिद्ध करके, उसे 'स्वतोऽव्यक्त' सिद्ध कर दिया है चूंकि प्रधान एक अमर तत्व है, अत उसे 'नित्य' सिद्ध किया गया है। प्रधान मूल प्रकृति के रूप मे एक ही है, अत उसका तीसरा लक्षण 'एक' ---- गया है। प्रधान को निरपेक्ष या स्वतन्त्र तत्व सिद्ध करके 'निराश्रय' सिद्ध

किया गया है। विधर्मी अवयवहीन प्रधान को 'निरवयव' भी कहा गया है। प्रधान को स्वतन्त्र सिद्ध करके 'स्वतन्त्र' लक्षण भी दिया गया है। मूल प्रकृति सदैव अदृश्य रहती है, अतएव उसे 'अव्यक्त' कहा गया है। सत्, रज तथा तम नाम त्रिगुण से युक्त होने के कारण प्रधान को 'त्रिगुणमयी' कहा गया है। सृष्टि रचना के रूप मे प्रधान को 'प्रसवधर्मिणी' कहा गया है। प्रकृतिबद्ध जीवो को मोक्ष दिलाने मे भी प्रधान का विशेष हाथ रहता है, अत उसे 'पुरुष' की सहायिका' भी बताया गया है।

ईश्वर कृष्ण ने कपिल द्वारा प्रतिपादित 'पुरुष' के स्वरूप को भी स्पष्ट किया। उन्होने पुरुष को साक्षी' के रूप मे जीव के भोगो का साक्षी कहा है। विशुद्ध पुरुष की निर्लिप्तता सिद्ध करके उसे भोगास्वाद के रूप मे 'मध्यस्थ' कहा है। पुरुष को 'दृष्टा', 'अकर्त्ता', 'चेतन', 'गुणातीत', 'विवेकशील', 'अप्रसवधर्मी' तथा 'अव्यक्त' सिद्ध किया गया है। ईश्वरकृष्ण ने सभी जीवो को युगपत् चेष्टा न करने के आधार पर पुरुष बहुत का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। पुरुष का अबन्धत्त्व सिद्ध करते समय ईश्वर कृष्ण ने सांख्य को ज्ञानमार्ग की कसौटी पर कस दिया है। हम निम्नलिखित उदाहरण को वेदान्तवादियो के लिए भी एक महान् प्रेरणा का स्रोत मान सकते हैं—

तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बद्धयते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति ॥

ईश्वर कृष्ण ने सत्कार्यवाद को स्पष्ट करने के लिए भी सांख्यकारिका मे बहुत कुछ कह दिया है। 'सांख्यकारिका' मे सत्कार्यवाद का स्वरूप असदकरण, उपादान ग्रहण, सर्वसंभवा-भाव, शक्तस्य शक्यकरण तथा कारणभाव नामक पाँच कारणो को प्रस्तुत किया है।[1] सांख्यकारिका' मे योगदर्शन मे प्रसिद्ध अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एव अभिनिवेश नामक पाँच तत्त्वो को तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र के नाम से पुकारा है। 'सांख्यसूत्र' के सभी तत्त्वो की गणना का कार्य सांख्यकारिका मे हुआ है।

'सांख्यकारिका' के सुप्रसिद्ध भाष्यकारो के रूप मे आचार्य माठर तथा आचार्य गौडपाद उल्लेखनीय हैं। ये दोनो ही आचार्य छठी शताब्दी की उपज है। आचार्य माठर की 'माठरवृत्ति' सांख्यदर्शन की विलक्षण कृति है। आचार्य गौडपाद ने भी सांख्यदर्शन के विकास मे प्रशसनीय योगदान दिया है।

आचार्य कपिल के दो ग्रन्थो—'सांख्यषडाध्यायी' तथा 'तत्त्वसमास' को मिलाकर ही 'सांख्यसूत्र' बना है। इन दोनो ही ग्रन्थो के अनेक व्याख्याकार हुए है।

सांख्य षडाध्यायी व्याख्याकार

- सांख्य षडाध्यायी के व्याख्याकारो मे अनिरुद्ध, महादेव तथा विज्ञानभिक्षु उल्लेखनीय है। डॉ गार्बे ने अनिरुद्ध का स्थितिकाल पन्द्रहवी शताब्दी स्वीकार

1 असदकरणादुपादानग्रहणात सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकारणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ —सांख्यकारिका, 9.

किया है परन्तु अब यह मत अप्रामाणिक माना जाता है, क्योकि 1300 ई मे होने वाले महादेव वेदांती ने अनिरुद्ध के 'अनिरुद्धवृत्ति' नामक ग्रन्थ को आधार बनाकर 'सांख्यसूत्र' के ऊपर 'वृत्तिसार' लिखा। दर्शनशास्त्र के विभिन्न विद्वानो ने विज्ञान भिक्षु का स्थितिकाल 1550 ई स्वीकार किया है। सस्कृत साहित्य के इतिहासकार कीथ ने इस समय-सीमा को एक शताब्दी आगे बढाकर विज्ञान भिक्षु का समय 1650 ई माना है। पी के गोडे ने अनेक विद्वानो के मतो की मीसांसा करके यही सिद्ध किया है कि विज्ञान भिक्षु 1515–1580 ई के बीच रहे होगे। शास्त्री सांख्यदर्शन के इतिहास मे 'सांख्यपडाध्यायी' के प्रमुख व्याख्याकारो का क्रम इस प्रकार रखा है—

अनिरुद्ध	1100 ई के लगभग
महादेव	1300 ई के लगभग
विज्ञानभिक्षु	1400 ई के लगभग

स्वामी दयानन्द ने आचार्य भागुरि को भी सांख्यसूत्र का भाष्यकार माना है।

तत्त्वसमास के व्याख्याकार

आचार्य कपिल के 'तत्त्वसमाससूत्र' पर भी अनेक विद्वानो ने व्याख्याएँ लिखी। चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी ने 1918 ई मे 'तत्त्वसमाससूत्र' से सम्बद्ध व्याख्याओ को प्रकाशित किया है। उक्त सकलन मे व्याख्या-क्रम इस प्रकार रहा है—

महादेव	सर्वोपकारिणी टीका	(1300 ई)
भावागणेश	तत्वयाथार्थ्यदीपन	(1400 ई)
मिषानन्द	सांख्यतत्त्वविवेचन	(1700 ई)
केशव	सांख्यतत्त्व प्रदीपिका	(1700 ई)

सांख्यदर्शन को विकसित करने मे वेदान्तविद् जगद्गुरु शकराचार्य का भी योगदान है। जगद्गुरु ने 'सांख्य' शब्द को केवल गणना का वाचक न मानकर ज्ञान का भी वाचक माना हैं। 'जयमगला' नामक ग्रन्थ को शकराचार्य कृत माना जाता है। आचार्य कपिल के 'सांख्यसूत्र' को आधार बनाकर जो तत्त्व-मीमांसा हुई, उससे सांख्य दर्शन का तो विकास हुआ, परन्तु अन्य दर्शनो को विकसित होने की अमूल्य प्रेरणाएँ भी मिली। सांख्य की पदार्थ मीमांसा को प्राय सभी दर्शनो ने किंचित् हेर फेर से अपनाया है। सांख्य का ज्ञानमार्ग विश्व के सभी दार्शनिको के लिए प्रेरणा का स्रोत रहा है।

कपिल का सांख्यसूत्र

इस समय जो 'सांख्यसूत्र' उपलब्ध है, उसी को कपिल की कृति मान लिया गया है। इस ग्रन्थ मे छ अध्याय है। इस ग्रन्थ मे पदार्थ विवेचन को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। यहाँ हम 'सांख्यसूत्र' के तत्त्व विवेचन को सक्षेपत प्रस्तुत कर रहे हैं।

मूल प्रकृति को 'प्रधान' नाम दिया गया है। यह पद्धति अनादि होने के कारण किसी की विकृति नही है। सत्त्व, रज तथा तम नामक त्रिगुण की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है। प्रकृति का सत्त्वगुण सुखात्मक, रजोगुण दु खात्मक तथा तमोगुण मोहात्मक माना गया है। प्रकृति को स्वयसिद्ध तथा अनादि मानकर तत्त्व-विवेचन को अनवस्था दोष से शून्य कर दिया गया है।

'सांख्यसूत्र' मे दूसरा तत्त्व 'पुरुष' है। इसी को जीवात्मा के नाम से जाना जा सकता है। पुरुष चेतन है जड नही। पुरुष सृष्टि के पदार्थों का भिन्न-भिन्न रूपो मे उपभोग करने के लिए है। पुरुष के सन्दर्भ मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वह भोगो का भोग करने के कारण भोक्ता है इसीलिए पुरुष को सुख-दु ख का भागी माना गया है। पुरुष ज्ञान के अभाव मे ससार मे ससरण करता है। जब उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता है तो वह यही अनुभव करता है कि प्रकृति ही ससरण रही है, वह तो नित्य मुक्त है।

सांख्य मे सृष्टि के निर्माण को 'सत्कार्यवाद' के ऊपर आधारित किया है। प्रकृति सत् तत्त्व है, क्योकि असत् तत्त्व से सत् तत्त्व का निर्माण असम्भव है। अनादि कालीन प्रकृति की साम्यावस्था मे पुरुष के सयोग से विकार उत्पन्न होता है। पहले महत्तत्व उत्पन्न होता है तथा तदनन्तर अहकार। अहकार के सत् तत्त्व से पच कर्मेन्द्रिय तथा पच ज्ञानेन्द्रिय एव एक उभयेन्द्रिय, अर्थात् मन की उत्पत्ति होती है। अहकार के तमप्रधान तत्त्व से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध नामक पच तन्मात्राओ की उत्पत्ति होती है। पच तन्मात्राओ से पचमहाभूत आविर्भूत होते हैं। इस प्रकार से सृष्टि-रचना मे प्रकृति चौबीस रूपो मे तथा पुरुष एक चेतन तत्त्व के रूप मे सयुक्त होकर योगदान करते हैं।

सांख्य दर्शन मे निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति का आधार ज्ञान माना गया है। 'ज्ञानान्ऋते न मुक्ति'—अर्थात् ज्ञान के बिना मोक्ष नही मिलता। इसी प्रकार से 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'—अर्थात् समाधि, सुषुप्ति एव मोक्ष मे ब्रह्माकारता का अनुभव होता है। निर्वाण को आनन्द का धाम/माना गया है।

अर्वाचीन सांख्य मे ईश्वर का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है, जो हम निर्वाण के सन्दर्भ मे स्पष्ट कर चुके हैं। कपिल का 'सांख्यसूत्र' विभिन्न दर्शनो का प्रेरणा-स्रोत रहा है। सांख्य की तत्त्व विवेचन प्रणाली की वैज्ञानिकता का दर्शन-जगत् मे अत्यधिक आदर हुआ है।

योग दर्शन

पतजलि का 'योगसूत्र,' योग दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है। द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व के इस ग्रन्थ मे चित्त की वृत्तियो के निरोध से सम्बद्ध सहज ज्ञान की समीक्षात्मक विद्या को योग दर्शन कहा गया है।

योग दर्शन

ज्ञाननिष्ठा स्वरूप योग की परम्परा वैदिक युग से ही चली आ रही है। ईश्वर ने सूर्य नामक ऋषि को योग का रहस्य समझाया था। सूर्य ने उसी यौगिक

रहस्य को अपने पुत्र मनु को समझाया। मनु ने योग-तत्त्व का वर्णन अपने पुत्र इक्ष्वाकु के सम्मुख किया।[1] बीच मे योग विद्या का विलोप-सा हो गया था। परन्तु अनेक राजर्षियो ने योग के रहस्य को यथासमय समझा। उसी रहस्यपूर्ण योग तत्त्व को भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सम्मुख प्रस्तुत किया। 500 ई पू मे गीता ने योग दर्शन को साँख्य दर्शन के साथ सम्पृक्त करके उसकी प्राचीनता सिद्ध कर दी। उपनिषदो मे योगविद्या का सुन्दर निदर्शन है। श्वेताश्वतरोपनिषद् मे योग के चमत्कारो का सुन्दर वर्णन हुआ है। पुराणो मे शकर को आदि देव कहने के साथ-साथ उन्हे योगिराज भी सिद्ध किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि शकर ने ज्ञानमार्ग का प्रवर्तन किया था। शिवपुराण मे शकर का देवताओ के विरुद्ध रोमांचक सघर्ष प्रस्तुत किया गया है। कहा जाता है कि शकर के आडम्बर विहीन योगमार्ग से आर्य एव अनार्य अत्यधिक प्रभावित हुए थे। देववश की भोगवादिता के विरोध मे शकर का योगमार्ग प्रसिद्धि को प्राप्त होता चला गया। देव और देवेतर जातियो मे समन्वय स्थापित करने के लिए प्रयाग मे एक सभा आयोजित की गई। शकर के श्वसुर दक्ष को सभापति बनाया गया। सभापति के स्वागत मे शकर ने दो शब्द तक न कहे। शकर ने समन्वय न होने की स्थिति देखकर सभा से बहिर्गमन किया। शकर के अनुयायी नन्दकेश्वर ने देव सस्कृति के पक्षधरो को दण्ड देने का उस समय प्रण भी कर डाला, जबकि भृगु, पूषा आदि ने शकर का उपहास किया। कालान्तर मे शकर के विरोध हेतु उनके हरिद्वार स्थित आश्रम के पास ही कनखल नामक स्थान पर देवयज्ञ सम्पादित किया गया। उस यज्ञ मे दक्ष की पुत्री तथा शकर की पत्नी सती ने शकर का अपमान समझकर यज्ञ की ज्वाला मे आत्मदाह कर डाला। शकर ने वीरभद्र नेतृत्व मे ज्ञानमार्गी राजाओ को एकत्रित करके देवयज्ञ का विध्वस करा दिया। इस घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि शंकर निश्चयत योगवादी थे। योग, साँख्य, वेदान्त आदि सभी दर्शन ज्ञानमार्ग के पोषक एव अनुगामी हैं। नाथ सम्प्रदाय के भक्त भी शकर को आदिनाथ मानते हैं। शकर को समाधि-सिद्ध व्यक्ति के रूप मे पुराणो में अनेक बार याद किया गया है। अत आडम्बरो का विरोध करने के लिए एक वैज्ञानिक मार्ग की आवश्यकता पडी। अतएव योग दर्शन का विकास उसी परम्परा मे हुआ। वेद, आरण्यक, उपनिषद् तथा गीता मे जो योग-तत्त्व विकीर्ण है, उसी को सग्रहीत करके आचार्य पतजलि ने 'योगसूत्र' को दार्शनिक स्तर पर प्रस्तुत किया। ई पू द्वितीय शती मे पतजलि ने योग के आठ अगो को आधार मानकर समस्त विभूतियो के प्रति वैराग्य रखकर कैवल्य को प्राप्त करने के लिए योग-तत्त्व को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया।

योग दर्शन का विकास

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में गौतम बुद्ध के अष्टांग योग का उदय यह सिद्ध करता है कि वैज्ञानिक साधना का पक्षधर योगदर्शन प्राचीनकाल से ही विकासमान

1 गीता, 4/1

था । सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल भी योगविद्या के जानकार थे । योग से सम्बद्ध प्राचीन ग्रन्थो मे वैदिक कालीन अंगिरा का 'योग-प्रदीप' प्रसिद्ध रहा है । पौराणिक युग त्रेता मे रावण का दलन करने वाले श्रीरामचन्द्र के श्वसुर सीरध्वज जनक ने 'योग-प्रभा' नामक ग्रन्थ की रचना की । पौराणिक कश्यप ने 'योग-रत्नाकर' नामक ग्रन्थ की रचना करके योगदर्शन का विकास किया । सूर्यवंश के राजा रघु के समकालीन कौत्स ने 'योग-विलास' नामक योग-तत्त्व से सम्बद्ध ग्रन्थ की रचना की । शकर के अनुयायी महर्षि मरीचि ने 'योगसिद्धान्त' की रचना की । आदि आर्य मनु के पिता सूर्य ने 'योग-मार्तण्ड' नामक ग्रन्थ लिखा । आचार्य सजय का 'प्रदर्शन योग' ग्रन्थ भी योगशास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ रहा है । परन्तु खेद का विषय तो यह है कि उपर्युक्त सभी योगशास्त्रीय ग्रन्थ उल्लेख के रूप मे योगशास्त्र के इतिहास की परम्परा के पोषक हैं । आज उनके सिद्धान्त 'महाभारत', 'गीता', 'पुराणमहिमा' आदि मे बिखरे हुए मिलते है ।

पतजलि का योगसूत्र

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे महर्षि पतजलि ने योग-तत्व को सूत्रबद्ध करके 'योगसूत्र' नामक प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना की । 'योगसूत्र' ग्रन्थ को चार भागो मे बाँटा गया है । ये चार भाग इस प्रकार हैं—1 समाधिपाद, 2 साधनपाद, 3 विभूतिपाद तथा 4 कैवल्यपाद ।

समाधिपाद मे योग को परिभाषित करके योग के रहस्य की ओर आगे बढा गया है । चित्त की वृत्तियो को निरोध करने का नाम योग बताया गया है ।[1] जिस समय पुरुष या द्रष्टा अपने स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है तो उसे स्वरूपाकारता की ही प्रतीति होती है ।[2] परन्तु समाधि तोड देने पर व्यक्ति को प्रवृत्ति के अनुरूप अपना स्वरूप पतीत होने लगता है ।[3] समाधिपाद मे योगमार्ग पर चलने के लिए आवश्यक श्रद्धा को जगाने का भी उपक्रम है । प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम नामक तीन प्रमाणो का भी सीधा-सीधा विवेचन किया गया है । इसी पाद या अध्याय मे ईश्वर के स्वरूप को भी प्रतिपादित किया गया है । योगदर्शन का ईश्वर क्लेश, कर्म, भाग्य तथा सांसारिक हलचलो से नितान्त अछूता पुरुष ही है ।[4] ईश्वर के विषय मे विवेचन करते समय पतजलि ने स्वभाववाद का आधार लिखा है । पतजलि प्रतिपादित ईश्वर पूर्वकालिक गुरुजनो का भी गुरु कहा गया है । परन्तु वह सृष्टि का कर्ता पालक तथा सहारक नही बताया गया है । 'समाधिपाद' अध्याय मे समाधि के लिए आवश्यक मन स्थिति के निर्माण पर बल देकर सबीज तथा निर्बीज

1 योगश्चित्तवृत्तिनिरोध । —योगदर्शन, 1/2
2 वही, 1/3
3 वही 1/4
4 वही, 1/24 (क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर)

समाधि की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। निर्बीज समाधि को पुरुष या आत्मा के यथार्थ आनन्द का घर कहा है।

'योगसूत्र' का दूसरा पाद साधन है। साधनपाद मे योग के साधनो या अगो का विस्तार दिया हुआ है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि योग के अष्टांग है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश नामक पच क्लेशो को दूर करने के अष्टांग योग आवश्यक है। तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान को 'क्रियायोग' नाम दिया गया है। यह क्रियायोग पच क्लेशो को हल्का बनाने मे अत्यन्त सहायक है। अनित्य, अपवित्र तथा दु ख स्वरूप तत्वो को अमर, पवित्र तथा सुखरूप मानने को 'अविद्या' कहा है।[1] आत्म-दृष्टि तथा व्यक्ति-दृष्टि के भेद को 'अस्मिता' कहा है।[2] सुख की प्रतीति के पीछे रहने वाले तत्त्व को 'राग' कहा जाता है।[3] दु खानुभूति के पीछे रहने वाले क्लेश को 'द्वेष' कहा जाता है।[4] विवेकशीलो और अज्ञानियो को भयभीत करने वाले क्लेश को या मृत्यु-तत्त्व को 'अभिनिवेश' कहा है।[5] क्लेशो के कारण सस्कारो का निर्माण होता है तथा सस्कारो के फलस्वरूप पुनर्जन्म होता है। इसी अध्याय मे तीन प्रकार के दु खो की चर्चा की गई है—1 परिणाम दु ख, 2 ताप दु ख, 3 सस्कार दु ख। त्रिगुणो की वृत्तियो मे परस्पर विरोधी होने के कारण अज्ञानियो को ही नही, विवेक-शीलो को भी दु ख मिलता है।[6] अत यह ससार दु खमय है। सभी दु खो का विनाश करना ही पुरुषार्थ है। अष्टांग योग का पहला साधन 'यम' है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह नामक लक्षणो को पच यम के रूप मे प्रस्तुत किया गया है।[7] इनमे से एक लक्षण ही चरम सीमा पर पहुँचकर महाव्रत का रूप धारण कर लेता है।[8] शुचिता, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान को 'नियम' कहा गया है।[9] यम और नियमो के लाभो का भी वर्णन इसी पाद मे किया गया है। अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर योगी के समीप के व्यक्ति सभी विरोधो को त्याग देते हैं।[10] सत्य की प्रतिष्ठा होने पर योगी मे शाप और वरदान देने की शक्ति आ जाती है। सुखपूर्वक एव स्थिर बैठने को 'आसन' कहा गया है।[11] बाह्य, अभ्यन्तर तथा

1 योगदर्शन, 2/5
2 वही, 2/6
3 'सुखानुशयी राग' वही, 2/7
4 वही, 2/8
5 वही, 2/9
6 वही, 2/15
7 वही 2/30
8 वही 2/31
9 वही, 2/32
10 वही, 2/35
11 वही, 2/46

स्तम्भवृत्ति के तीन प्राणायामो का भी विवेचन किया गया है ।[1] विषयो से मन को हटाने की वृत्ति को प्रत्याहार कहा गया है ।[2]

विभूतिपाद का श्रीगणेश 'धारणा' नामक योगांग से किया गया है । धारण तथा ध्यान को समाधि के बाह्यांग बताकर तीनो के योग को 'सयम'[3] कहा गया है । समाधि की सिद्धि होने पर योगी को अनेक विभूतियो को प्राप्त करने का अवसर मिलता है । बल, बुद्धि, प्रकाश, क्षुधा-पिपासा से निवृत्ति दिलाने वाले उपायो का वर्णन करके अन्तत योगी को उनसे भी विरक्त रहने का अनुदेश दिया गया है । विभूतिपाद मे कैवल्य को पाने की सुदृढ भूमिका का वर्णन किया गया है ।

योगसूत्र का चौथा अध्याय कैवल्यपाद है । विभूनिपाद मे ही सत्व और पुरुष की शुद्धिसमता को कैवल्य कह दिया गया है ।[4] जब योगी ध्यानजनित चित्त की स्थिति मे आ जाता हे तो उसके कर्म सस्कारो का क्षय होने लगता है । योगी के कर्म भी पाप-पुण्य अतीत हो जाते है । योगी सर्वज्ञ होने पर भी कैवल्यान्मुख होने के कारण धर्ममेघ समाधि की स्थिति मे पहुँचकर क्लेशकर्मो से पूर्णतया निवृत्त हो जाता है ।[5] जब चैतन्य शक्ति-स्वरूप योगी त्रिगुणो से अतीत हो जाता है तो वह अपने केवल ज्ञान रूप मे अवस्थित होकर कैवल्य को प्राप्त हो जाता है, पुरुषरूपता को प्राप्त कर लेता है ।[6]

योगदर्शन के अन्य ग्रन्थ—पातजल योगसूत्रो पर व्यास नामक किसी व्यक्ति ने एक भाष्य लिखा है । 'व्यास' एक उपाधिमूलक शब्द है । व्यास-भाष्य मे दशमलव गणना का सकेत है । दशमलव पद्धति का श्रीगणेश चौथी शताब्दी मे हुआ । अत व्यास चौथी शताब्दी की उपज माने जा सकते हैं । 'सांख्यकारिका' के प्रणेता ईश्वर कृष्ण का समय चौथी शताब्दी है । ईश्वर कृष्ण ने सांख्य के सन्दर्भ मे योग के प्रकाशक व्यास को याद नही किया है । अतएव 'व्यास' ईश्वर कृष्ण का परवर्ती होना चाहिए । व्यास-भाष्य के आधार पर ग्यारही शताब्दी मे राजा भोज ने 'भोजवृत्ति' नामक योगशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की । वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्ववैशरदी' भी व्यास-भाष्य के ऊपर आधारित है । चतुर्दशम शताब्दी मे विज्ञान भिक्षु ने 'योगवार्तिक' नामक ग्रन्थ की रचना की ।

हठयोग भी योग की ही एक शाखा है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सम्प्रदाय' नामक पुस्तक मे हठयोग के रहस्य का वर्णन किया है । हठयोग का आदि ग्रन्थ 'शिवसहिता' माना जाता है । शिव को आदिनाथ भी माना गया है ।

1 वही, 2/50
2 वही, 2/54
3 वही, 3/4
4 योगसूत्र, 3/55
5 वही, 4/30
6 वही, 4/34

नवी शताब्दी मे मत्स्येन्द्रनाथ की देखरेख मे गुरु गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की। हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदि काल प्राथमिक रूप मे नाथो के साहित्य की गरिमा से पूर्ण है। सरहपा, लुईपा आदि सन्तो ने भी योगदर्शन की परम्परा को विकसित किया है।

योगदर्शन मे दूसरे शास्त्रो के तर्कों को खण्डित करने की स्थिति नाममात्र है। यह दर्शन अपने गन्तव्य की ओर आगे बढता हुआ या तत्त्व प्रतिपादित करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। दर्शनशास्त्र के गार्वे जैसे विद्वान भी योगदर्शन के ईश्वर के स्वरूप को समझने मे चक्कर खा गए है। वस्तुत स्वभाववादी योगदर्शन अपने ईश्वर को नित्यान्दमय रूप मे ही प्रदर्शित कर पाया है। स्वाभाविक शक्ति का सम्बन्ध जागतिक क्रियाओ से है तथा समाधि लभ्य आनन्द का धाम 'योगसूत्र' मे प्रतिपादित ईश्वर ही है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन को आन्वीक्षिकी विद्या के रूप मे माना जाता है। न्याय के लिए तर्कशास्त्र, न्यायविद्या, न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, हेतुविद्या[1], तर्कविद्या आदि नाम दिए गए हैं। न्याय दर्शन के प्रवर्त्तन का श्रेय गौतम को है।

न्याय दर्शन की उत्पत्ति—महर्षि गौतम ने प्रमाण, प्रमेय, सशय, दृष्टान्त जैसे सोलह प्रमेयो या तत्त्वो के आधार पर ज्ञान के द्वारा न्याय या मुक्ति प्राप्त करने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। जहाँ प्रमेयो का ज्ञान है, न्याय वही है। इसी सिद्धात को आधारभूत मानकर न्याय दर्शन की उत्पत्ति हुई। यद्यपि न्याय दर्शन के प्रवर्तक मेधातिथि गौतम का समय 600 ई पू माना गया है, परन्तु न्याय की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ मे यहाँ गौतम के सम्बन्ध और समय के विषय मे विचार कर लेना आवश्यक है।

न्याय दर्शन के सन्दर्भ मे 'गौतम' शब्द को उपाधिमूलक मानकर हमे पौराणिक कथाओ मे प्रसिद्ध सीरध्वज जनक के गुरु गौतम की ओर बढना पडना है। गौतम का निवास आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी उत्तरी बिहार स्थित नैमिषारण्य मे रहा था। दक्षिण भारत या मध्य भारत मे अमरावती मे राज्य करने वाले इन्द्र ने सीरध्वज जनक को अनेक बार सहायता प्रदान करके उन्हे नैमिषारण्य मे निर्वासित राक्षसो के प्रकोप से बचाया था। इसीलिए सीरध्वज जनक इन्द्र का सम्मान करते थे। सयोगवश मिथिला मे इन्द्र का आगमन हुआ। इन्द्र राजा जनक के कुलगुरु गौतम से भी मिला। दैवयोग से उनकी दृष्टि गौतम की पत्नी अहिल्या के ऊपर पडी। इन्द्र ने युक्ति के बल पर अहिल्या का सहवास प्राप्त किया। गौतम और अहिल्या से यह कटु सत्य छिपा नही रह सका। गौतम ने राजा जनक से न्याय की माँग की। राजा जनक अपने राजनीतिक सरक्षक इन्द्र के विरुद्ध न्याय करने मे

1 ऋषिभि बहुधा गीत छन्दोभिर्विविधै पृथक्,।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितै ॥ —गीता, 13/4

असमर्थ रहे। गौतम ने सामाजिक दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर अहिल्या को एकान्तवास का दण्ड दिया। वह पत्थर की मूर्ति के समान जडवत् व्यवहार करने लगी। निरपराध महिला पत्थर-सा दिल लेकर रहने लगी। इन्द्र की अपकीर्ति सहस्रो रूपो मे फैली। जिम न्याय के लिए आचार्य सना से छटपटाते रहे, उसी को गौनम ने विशेष परिस्थितियो मे न्याय दर्शन का जामा पहनाया। नय के भाव को न्याय कहा जाता है। जहाँ नीति नही है, वहाँ अन्याय है। न्याय परिपक्व ज्ञान के ऊपर आधारित रहता है। अत नैमिषारण्य विद्या केन्द्र के कुलपति गौतम ने ही न्याय दर्शन का सूत्रपात किया, यद्यपि इसका कोई ठोस प्रमाण नही है। परन्तु, हमे यह मानने मे कोई आपत्ति नही है कि कोई विचारधारा विशेष परिस्थितियो मे ही उत्पन्न होती है। अन पुराण-वर्णित परिस्थितियो मे रहने वाले गौतम ने यदि न्याय दर्शन का प्रवर्तन किया हो तो इसमे कोई आश्चर्य नही है। हम योग-दर्शन के सन्दर्भ मे राजा जनककृत 'योगप्रभा' ग्रन्थ का हवाला दे चुके हैं। अत सांख्य और योग से कुछ हट कर तर्क की कसौटी पर आधारित न्याय दर्शन को महर्षि गौतम ने समाज के मच पर प्रस्तुत किया हो तो मनोविज्ञान के आधार पर हम इसे अस्वीकार नही कर सकते। वस्तुत प्राचीन ऋषियो के नाम उपाधि बन गए है। अत गौतम के अनुयायी न्याय दर्शन के विकास की दृष्टि से गौतम उपाधि से यदा-कदा विभूषित रहे है, यह सत्य भी सिद्ध करता है कि सीरध्वज जनक के गुरु महर्षि गौतम ने न्याय दर्शन का सूत्रपात किया होगा।

न्याय दशन का विकास—ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे किन्ही मेधातिथि गौतम ने न्याय दर्शन के विषय मे विचार किया होगा। परन्तु 'न्यायसूत्र' का प्रणयन करने का श्रेय अक्षपाद गौतम को है। अक्षपाद गौतम का स्थिति काल दूसरी शताब्दी माना जाता है। न्याय दर्शन की प्राचीनता के प्रमाण महाभारत ग्रन्थ के अनेक उल्लेख प्रस्तुत करते हैं। गीता में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में वर्णन करते समय न्यायदर्शन को हेतुविद्या के रूप में याद किया गया है। पुराणो में न्याय दर्शन की प्राचीनता के स्पष्ट संकेत हैं। पुराणो में न्याय दर्शन को आन्वीक्षिकी विद्या कहा गया है। 'न्याय-सूत्र' पर पहला प्रामाणिक भाष्य आचार्य वात्स्यायन ने लिखा। वात्स्यायन का समय चौथी शती सुनिश्चित है। गौतम के न्याय के बढते प्रभाव को देखकर बौद्ध दार्शनिक दिङनाग ने वात्स्यायन के 'न्याय-सूत्र भाष्य' की कटु आलोचना की। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गौतम तथा बुद्ध क्रमश आस्तिक तथा नास्तिक हुए है। दोनो ही न्याय दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित हुए हैं। परन्तु महर्षि गौतम का न्याय आस्तिक दर्शन है, क्योकि उसमें वेद को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु गौतम बुद्ध ने वेद-विरोधी स्वर में बौद्ध न्याय का प्रवर्तन किया। आचार्य दिङनाग का समय छठी शताब्दी माना गया है। वात्स्यायन के न्यायसूत्र भाष्य की मान्यताओ को खण्डित करने एव न्याय को नवीन रूप देने के कारण दिङनाग को बौद्ध न्याय का पिता माना गया। परन्तु सातवी शताब्दी के आरम्भ में आचार्य उद्योतकर ने दिङनाग की मान्यताओ को निर्मूल सिद्ध करके 'न्यायवार्तिक' की रचना

की। 'न्यायवार्तिक' के प्रकाश में आने पर बौद्ध दार्शनिको में कुहराम मच गया। सातवी शताब्दी में ही आचार्य धर्मकीर्ति ने बौद्ध न्याय की पुन स्थापना हेतु 'न्यायवार्तिक' की युक्तियो को सबल प्रमाणो और तर्को के आधार पर खण्डन किया। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति का न्यायबिन्दु' नामक ग्रन्थ बौद्ध न्याय का प्रतिष्ठित ग्रन्थ है। वाचस्पति मिश्र ने 'तात्पर्य टीका' लिखकर धर्मकीर्ति के तर्कों को खण्डित करके आस्तिक न्याय का विकास किया। आचार्य धर्मोत्तर ने नवम शताब्दी मे 'न्यायबिन्दु टीका ग्रन्थ की रचना की तथा दशम शताब्दी मे आचार्य जयन्त भट्ट ने 'न्यायमजरी' नामक ग्रन्थ प्रणीत किया। ये दोनो ही ग्रन्थ आस्तिक न्याय के पोषक सिद्ध हुए।

11वी शताब्दी मे आचार्य वरदराज ने 'तार्किक रक्षा' नामक न्याय ग्रन्थ की रचना की। बारहवी शताब्दी मे आचार्य केशव मिश्र ने 'तर्कभाषा' नामक ग्रन्थ लिखकर नव्य न्याय का प्रवर्तन किया। केशव की 'तर्कभाषा' मे वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तो का भी आदर किया गया है। वस्तुत दशम् शती के पश्चात् न्याय दो रूपो मे विभाजित हो गया। प्रथम तो प्रकृत न्याय के रूप में तथा द्वितीय नव्य न्याय के रूप मे। नव्य न्याय के दार्शनिको ने ऐसा शैलीगत चमत्कार प्रस्तुत किया कि दार्शनिक तत्त्वो को अपेक्षाकृत शब्द-जाल मे ढक-सा दिया। गणेश उपाध्याय का तत्त्वचिन्तामणि' नव्य न्याय का प्रतिष्ठित ग्रन्थ माना जाता है। 15वी शताब्दी मे आचार्य वासुदेव सार्वभौम ने 'तत्त्वचिन्तामणि व्याख्या' नामक टीका 'तत्त्वचिन्तामणि' ग्रन्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत की। अन्य नव्य न्याय के ग्रन्थो मे अन्नभट्ट का 'तर्कसग्रह' तथा लौगादि भास्कर की 'तर्क कौमुदी' आदि ग्रन्थ अतिशय प्रसिद्ध हैं। मूलत प्रकृत न्याय एव नव्य न्याय ज्ञानमार्गी दर्शन है।

महर्षि गौतम का न्याय सूत्र

गौतम के 'न्यायसूत्र मे पांच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय दो-दो आह्निको मे विभाजित किया गया है। 'न्याय सूत्र' मे विभिन्न दर्शनो के मतो पर विचार करके लम्बे तर्क-वितर्क के उपरान्त ही अपने मत को स्थापित किया गया है। यहाँ हम 'न्यायसूत्र' के पाँचो अध्यायो का सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

'न्यायसूत्र' के प्रथम अध्याय मे मोक्ष की प्राप्ति के सोलह तत्त्व-रूप साधनो को भूमिका के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। प्रमाण, प्रमेय, सशय प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान के तत्त्वज्ञान से परमकल्याण या अपवर्ग की प्राप्ति होती है।[1] प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द नामक चार प्रमाणो को स्वीकार किया गया है।[2] न्याय मे इच्छा प्राप्ति की बाधा को दुख कहा गया है[3] तथा दुखो से अत्यन्त मुक्ति को

1 न्याय-सूत्र, 1/1/1
2 वही, 1/1/3
3 वही, 1/1/21

अपवर्ग माना गया है ।[1] प्रथम अध्याय मे प्रमाण से लेकर निर्णय नामक तत्त्वो तक का सरल और सक्षिप्त परिचय दिया गया है ।

'न्यायसूत्र' के दूसरे अध्याय मे प्रमाण-विवेचन की गहनताओ का वर्णन है। न्याय दर्शन का अनुमान प्रमाण अत्यन्त व्यापक तथा तर्कपूर्ण माना जाता है। अनुमान करने के लिए किसी वस्तु के कार्यरूप या परिणाम को देखकर मूल वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। धूम्र को देखकर अग्नि का अनुमान करना अनुमान प्रमाण का ही परिणाम है। अनुमान के पाँच तत्त्व बनाए गए है। पहला तत्त्व 'प्रतिज्ञा' है। लक्ष्य निर्देशन को प्रतिज्ञा के नाम से पुकारा जाता है,यथा, वहाँ अग्नि है।' अनुमान का दूसरा तत्त्व 'हेतु' है। कारण का निर्देश 'हेतु' कहलाता है, यथा, 'क्योकि वहाँ धूम्र है।' अनुमान का तीसरा तत्त्व 'उदाहरण' माना गया है। प्रतिपादित की सिद्धि से सम्बद्ध उक्ति उदाहरण कहलाती है, यथा, जहाँ-जहाँ धूम्र होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। 'उपनय' अनुमान का चौथा तत्त्व माना गया है। लक्ष्य से सम्बद्ध चिह्न का निर्देश उपनय कहलाता है, यथा, यहाँ पर धूम्र है।' 'निर्गमन' पाँचवाँ तत्त्व है, जो निष्कर्ष के रूप मे माना जाता है, यथा, 'अत वहाँ पर आग है।' अनुमान प्रमाण की सीमा मे अर्थापत्ति, ऐतिह्य, अभाव आदि को समाहित कर लिया गया है ।[2] आप्त वाक्य को शब्द प्रमाण तथा सादृश्य ज्ञान के साधन को उपमान प्रमाण कहा गया है। न्याय दर्शन मे शब्द को आकाश के गुण के रूप मे नित्य तथा विभिन्न वस्तुओ के योग मे उसे अनित्य माना है ।[3]

'न्यायसूत्र' के तीसरे अध्याय मे पुनर्जन्म का सिद्धान्त युक्तियुक्त रूप मे प्रस्तुत किया गया है। कोई व्यक्ति पूर्वजन्म के सस्कारो के फलस्वरूप विशेप प्रवृत्तियो वाला होता है। शरीर को पचभूतो से निर्मित सिद्ध करने के लिए बौद्ध मत का खण्डन किया गया है ।[4] न्याय दर्शन मे आत्मा का अस्तित्व एक ज्ञाता के रूप में स्वीकार किया गया है। मन स्मरण का साधन है तथा बुद्धि ज्ञान-साधना का उपकरण है। अत ज्ञान आत्मा का धर्म है, मन और बुद्धि का नही। मन और बुद्धि को अन्त करण की विशेष दिशाएँ कहा है। सिद्ध चेतन तत्त्व को आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करके आत्मा को ज्ञान कहा गया है ।[5]

'न्यायसूत्र' के चौथे अध्याय में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश को तत्वत अमर माना गया है तथा सभी वस्तुओ क्षयात्मकता को प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर सिद्ध किया गया है। यथा—

1 वही, 1/1/22
2 न्याय सूत्र, 2/2/2
3 वही, 2/2/13–24
4 वही, 3/1/31
5 वही, 3243

सर्वनित्य पञ्चभूतनित्यत्वात ।
नोत्पत्ति विनाशकारणो पलब्धे ।।—न्यायसूत्र, 4/1/19–30

धर्म की साधना को उसी प्रकार आवश्यक माना गया है, जिस प्रकार वृक्ष तैयार करने के लिए बीज को बोना आवश्यक है। सुषुप्ति अवस्था के आधार पर मोक्ष को जन्म-मरण से मुक्त माना गया है। जिस व्यक्ति के क्लेश ज्ञानाग्नि से भस्म हो जाते हैं, उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] क्लेश-मुक्त व्यक्ति का बन्धन सकल्प के अभाव मे नही हो सकता—'न सकल्पनिमित्तत्वच्च रागादीनाम्।' समाधि के अभ्यास से तत्त्व-ज्ञान की सिद्धि का निर्देश भी दिया गया है।

'न्यायसूत्र' के पाँचवें अध्याय मे निग्रह स्थान का युक्तियुक्त वर्णन किया गया है। जाति के ऊपर तर्कसगत विचार भी इसी अध्याय मे हुआ है। पूर्वपक्षी के विचारो को सुनने तथा अपने विचार को प्रस्तुत करते समय निग्रह स्थान का आश्रय लेना चाहिए। अनुमान के पाँचो खण्डो का प्रयोग वाद-विवाद की पकड स्वरूप निग्रह स्थान के सन्दर्भ मे होनी चाहिए।[2]

न्यायदर्शन मे तर्क का ऐसा जाल है कि जिसमे पडकर बडे-बडे विद्वान् भी प्राय उलझ जाते हैं। न्याय दर्शन सृष्टि की व्यवस्था के लिए ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार करता है। इस दर्शन की सबसे बडी देन यही है कि तत्त्व ज्ञान तक पहुँचने के लिए शब्द-ज्ञान तथा साधना-ज्ञान का तादात्म्य होना चाहिए। इसीलिए निग्रह स्थान तथा समाधि को तत्त्वज्ञान मे अत्यन्त सहायक माना गया है।

वैशेषिक दर्शन

महर्षि कणाद् 'वैशेषिक सूत्र' के प्रणेता माने जाते हैं। कणाद् का स्थितिकाल चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व स्वीकार किया गया है। बिखरे हुए अन्न कणो को खाने के कारण वैशेषिक सूत्रपात को 'कणाद्' नाम मिला। कणाद् के मूल नाम का कोई पता नही चलता। सात पदार्थो-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव मे 'विशेष' नामक पदार्थ को स्थान देने के कारण कणाद् दर्शन को वैशेपिक दर्शन के नाम से जाना जाता है। पदार्थ ज्ञान की विशेषता पर बल देने के कारण भी इस दर्शन को वैशेपिक नाम मिला है।

वैशेषिक दर्शन की व्युत्पत्ति

ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मे महर्षि कणाद् ने 'वैशेषिक सूत्र' की रचना करके वैशेपिक दर्शन का प्रवर्तन किया। विशेषत जनसाधारण को लक्ष्य बना कर प्रस्तुत दर्शन को व्युत्पन्न किया गया। इस दर्शन मे धर्म के रहस्य को स्पष्ट करने के लिए धर्म को ही मोक्ष का आधार माना गया।[3] सभी पदार्थों के धर्मो का वर्णन करने के लिए वैशेपिक दर्शन को एक नई दिशा मे प्रस्तुत किया गया। सात पदार्थों-द्रव्य,

1 वही, 4/1/64
2 वही 5/2/1
3 यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म । —वैशेपिक सूत्र, 1/1/2

गुण, कर्म, जाति, विशेष समवाय और अभाव को सधर्म प्रस्तुत करके वैशेपिक दर्शन को मोक्ष की आधारभून विचारधारा के रूप मे प्रतिपादित किया गया है।

वैशेषिक दर्शन का विकास

महर्षि कणाद् के 'वैशेपिक सूत्र' के विपय मे आचार्य प्रशस्तपाद ने चौथी शताब्दी मे 'प्रशस्तपादभाष्य' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ मे वैशेपिक सूत्रो के रहस्य को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया गया है। इनके ग्रन्थ को 'पदार्थ-धर्म-सग्रह' के नाम से भी जाना जाता है। कालान्तर मे 'पदार्थ-धर्म सग्रह' को ही मौलिक दर्शन कृति मानकर आचार्य उदयन ने दशवी शताब्दी मे 'किरणावली' नामक टीका लिखी। श्रीधराचार्य की 'न्याय कदली' टीका भी इसी समय लिखी गई। ग्यारहवी शताब्दी मे न्याय और वैशेपिक का समन्वय होने से वैशेपिक दर्शन मे विकास का एक नया अध्याय जुड गया। अत धर्म प्रधान वैशेपिक पदार्थ मे तत्त्व ज्ञान का समर्थन होने लगा। शिवादित्य मिश्र द्वारा लिखित 'सप्त पदार्थ' नामक ग्रन्थ न्याय और वैशेपिक का समन्वय प्रस्तुत करने वाला पहला प्रामाणिक ग्रन्थ है।[2] प्रशस्तपाद के भाष्य को आधार मानकर वारहवी शताब्दी मे आचार्य वल्लभ ने 'न्यायलीलावती' नामक टीका की रचना की। सोलहवी शताब्दी मे 'सेतु' तथा 17वी शती मे जगदीश भट्टाचार्य ने 'सूक्ति' नामक टीका लिखकर प्रशस्तपाद-भाष्य को महत्त्व प्रदान किया। अठारहवी शताब्दी मे आचार्य विश्वनाथ ने 'भाषा-परिच्छेद' तथा अन्नभट्टाचार्य ने 'तर्क सग्रह' नामक ग्रन्थ लिखकर वैशेषिक दर्शन के विकास मे योगदान दिया।

कणाद् का वैशेषिक सूत्र

'वैशेपिक सूत्र' मे दश अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय को दो-दो आह्निको मे बाँटा गया है। कणाद् ने धर्म को मोक्ष का कारण सिद्ध किया है।[1] वैशेपिक दर्शन में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए अन्त करण की पवित्रता पर अत्यधिक बल दिया है। महर्षि कणाद् ने परमाणुवादी होने पर भी आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। धर्माचरण की प्रधानता रहने के कारण वैशेपिक दर्शन अपना अलग ही प्रभाव छोडता है 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम, सूत्र से ग्रन्थ का श्रीगणेश हुआ है।

वैशेपिक दर्शन मे सात पदार्थ तथा नौ द्रव्यो की चर्चा हुई है। 'द्रव्य' पहला पदार्थ है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन नौ द्रव्य हैं। द्रव्य पर आश्रित पदार्थों को गुण कहा गया है। 'पृथ्वी' द्रव्य पर आधारित गन्ध एक गुण ही है। द्रव्य मे रहने वाले तथा सयोग-वियोग की परवाह न करने वाले तत्त्व को 'कर्म' कहा गया है। जाति को 'सामान्य' के नाम से पुकारा है। सामान्य का उलटा 'विशेप' है। तत्त्व से तत्त्व की पृथकता सूचित करने वाली चीज को 'विशेप' कहा गया है। तत्त्व और वस्तु के नित्य सम्वन्ध को 'समवाय' कहा गया है। कल्पित, कल्पिताश्रय तथा सभावनामूलक तत्त्व को 'अभाव' कहा है।

वैशेषिक दर्शन मे चार प्रकार के शरीरो का वर्णन है। अण्डज, स्वेदज, जरायुज तथा उद्भिज चार प्रकार के शरीरो की चर्चा हुई है। वैशेषिक दर्शन कम पढ़े-लिखे लोगो के लिए रचा गया है। इस दर्शन का धार्मिक विवरण निश्चयत जन-जीवन की वस्तु है। इसीलिए कणाद ने समस्त वेदविहित धर्मानुष्ठानो को करणीय और आदरणीय बताया है। इस दर्शन का परमाणुवाद वास्तव मे महान् विचारधारा है।[1]

मीमांसा दर्शन

वैदिक कर्मयोग को प्रामाणिक रूप देने का श्रेय मीमांसा दर्शन को है। आचार्य जैमिनि[2] के 'मीमांसासूत्र' से मीमांसा दर्शन का सूत्रपात माना जाता है। कर्म की मीमांसा या समीक्षा करने के कारण प्रस्तुत दर्शन को 'मीमांसा' नाम मिला है।

मीमांसा दर्शन की व्युत्पत्ति

550 ई पू मे आचार्य जैमिनि ने धर्मसूत्रो मे बिखरे हुए कर्मकाण्ड को 'मीमांसासूत्र' ग्रन्थ मे सूत्रबद्ध करके मीमांसा दर्शन को व्युत्पन्न किया। जब वैदिक कर्मकाण्ड का बोलबाला था, तब जैमिनि ने समाज कर्मयोग की ओर प्रेरित करने के लिए वेदो के पूर्व भाग—कर्मकाण्ड भाग को लक्ष्य करके एक विशिष्ट दिशा-बोध प्रस्तुत किया। नित्य नैमित्तिक तथा काम्य-निषिद्ध कर्मों के विवेचन को आधारभूत बनाकर यज्ञ की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करके के लिए मीमांसा दर्शन की व्युत्पत्ति हुई। प्रस्तुत दर्शन मे जीवात्मा, ससार, ईश्वर जैसे गहन विषयो मे प्राय न पडकर कर्ममार्ग को ही मीमांसित किया गया है।

मीमांसा दर्शन का विकास

'मीमांसासूत्र' को आधार बनाकर शाबर स्वामी ने 'शाबर-भाष्य' की रचना की। इसीलिए मीमांसा दर्शन की परम्परा को जीवित रखने का श्रेय शबर स्वामी को है। 'शाबर-भाष्य' पर तीन विद्वानो—कुमारिल, प्रभाकर तथा मुरारि ने तीन टीकाएँ लिखी। इन तीनो टीकाओ के आधार पर तीन सम्प्रदायो की भी स्थापना हुई। कुमारिल का मत भाट्टमत, प्रभाकर का मत गुरुमत तथा मुरारि का मत मुरारिमत नाम से जाना जाता है। कुमारिल को शकराचार्य का समकालीन माना जाता है। परन्तु कुमारिल स्वामी सातवी शताब्दी की उपज हैं तथा शकराचार्य का जीवन-काल 787 ई से 820 ई पर्यन्त है, अत दोनो की समकालीनता सदिग्ध है। मीमांसा दर्शन के प्रभाव से बौद्ध न्याय को धक्का लगा तथा वैदिक धर्म मे आस्था का पुनरोदय हुआ। कुछ उल्लेखनीय मीमांसको के नाम इस प्रकार हैं—अप्पयदीक्षित, वाचस्पति मिश्र, आपदेव (मीमांसा न्यायप्रकाश), लौगाक्षि भास्कर (अर्थसग्रह), पार्थसारथी मिश्र, अनन्तदेव, खण्डदेव शालिकानाथ इत्यादि।

1 वाचस्पति गैरोला सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ 485
2 बलदेव उपाध्याय सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ 362

मीमांसासूत्र

'मीमांसासूत्र' मे 12 अध्याय हैं तथा कुल पाद सख्या 60 है। इस दर्शन मे कर्मकाण्ड की प्रधानता पर ही बल दिया गया है। वेदो का निन्नानवें प्रतिशत भाग कर्मकाण्ड से पूर्ण है तथा ज्ञान मार्ग का केवल एक प्रतिशत भाग है। मीमांसा दर्शन को इसीलिए-अर्थात् कर्मकाण्ड का विवेचन करने के कारण पूर्व मीमांसा भी कहते है। पराविद्या का सम्बन्ध ज्ञान से तथा अपरा विद्या का सम्बन्ध कर्म से है। इसीलिए मीमांसा दर्शन मे कर्ममार्ग की प्रधानता है। वेदो मे यज्ञ की प्रधानता है, इसलिए मीमांसा मे भी यज्ञ की प्रधानता है। वेदो मे देवताओ और ईश्वर के अस्तित्व को स्पष्टत स्वीकारा है, परन्तु मीमांसा केवल कर्म और उसके प्रतिपादक वचनो के अतिरिक्त न किसी देवता को स्वीकार करता है और न किसी ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करता है।

मीमांसा दर्शन मे विषय का विवेचन करने के लिए विषय की प्रस्तावना, सशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष तथा सिद्धान्त नामक पाँच भागो को प्रस्तुत किया गया है। विषय के प्रस्तुतीकरण मे ग्रन्थ के तात्पर्य-निर्णय तथा प्रमाणो को पूरी तरह से ध्यान मे रखा गया है। मीमांसा दर्शन मे शब्द प्रमाण के रूप मे श्रुतिवाक्यो को सम्मान देकर अपनी आस्तिकता का भी परिचय दे दिया गया है। मीमांसा दर्शन जनदर्शन के रूप मे प्रस्तुत हुआ है।

जैमिनि ने प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द नामक तीन प्रमाणो को स्वीकार किया। प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति को जोडकर प्रमाण सख्या पाँच कर दी। तत्पश्चात् कुमारिल ने 'अभाव' को प्रमाण-रूप मे जोडकर प्रमाण-सख्या छ कर दी। अत मीमांसा दर्शन मे प्रमाणो की अधिकतम सख्या छ मिलती है।

मीमांसा दर्शन मे तीन प्रकार के कर्मो-काम्य, निषिद्ध और नित्य का प्रतिपादन हुआ है। धन-धान्य, सन्तान, वैभव एव ऐश्वर्य या स्वर्ग-प्राप्ति आदि के लिए किए गए कर्म काम्य कर्म हैं। वेद-वर्जित कर्म निषिद्ध कर्म हैं। दिनचर्या के महाव्रत जैसे कर्म नित्य कर्म है। नित्य कर्मों के सम्पादन से ही मुक्ति सम्भव है। इसी तथ्य को गीता के अठारहवें अध्याय मे प्रतिपादित किया गया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर ॥

कुमारिल ने पाँच पदार्थ स्वीकार किए है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव। प्रभाकर ने आठ पदार्थ गिनाए हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, सादृश्य और सख्या। पदार्थ विवेचन की दृष्टि से प्रभाकर के मत मे मौलिकता है।

मीमांसा दर्शन मे जीव, ब्रह्म तथा जगत् के स्वरूप को प्रतिपादित नही किया गया। वस्तुत यह दर्शन आम समाज के लिए रचित हुआ, इसलिए गूढ विषयो की ओर दार्शनिको ने न चलकर मुख्य या सहज तत्त्वो का विवेचन करना ही उचित समझा। यूनानी दार्शनिक सुकरात का स्वभाव भी ऐसा ही था। हमारे पुण्यपुरुष गौतम बुद्ध ने इस कर्मवादी पद्धति को एक नया रूप दिया था। कुमारिल

तथा प्रभाकर ने क्रमश अह प्रत्यय तथा ज्ञाता चैतन्य तत्त्व को आत्मा के रूप मे स्वीकार किया है। इन मीमांसको के अनुसार ज्ञान और आत्मा स्वत प्रकाशित तत्त्व है, वे जड तत्त्व नही हैं।

वेदान्त दर्शन

वैदिक सहिताओ मे वेद या ज्ञान का अन्त--अर्थात् चरम सीमा उपनिषद् तत्त्व है। यह उपनिषद् तत्त्व मुख्यत वेदो के अन्तिम भागो मे ही मिलता है, इसीलिए उपनिषदो के ऊपर आधारित दर्शन को वेदान्त दर्शन के नाम से जाना जाता है। वेदान्त दर्शन के आधार पर निम्नलिखित ग्रन्थ है—1 उपनिषद् ग्रन्थ-ईशावास्य, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, कौषीतक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर तथा बृहदारण्यक, 2 श्रीमद्भगवद्गीता तथा 3 ब्रह्मसूत्र। इन तीनो को मिलाकर प्रस्थानत्रयी भी कहा जाता है।

वेदान्त दर्शन की व्युत्पत्ति

वेदान्त दर्शन 'प्रस्थानत्रयी' के ऊपर आधारित है। अत उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र नामक ग्रन्थो को वेदान्त दर्शन की उत्पत्ति मे आधारभूत माना गया है। उपनिषद् वेदो के अन्त मे अवस्थित हैं, गीता वेदान्त का प्रबल पोषक ग्रन्थ है तथा ब्रह्मसूत्र वेदान्त दर्शन का सर्वाधिक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। यदि हम आचार्य बादरायण द्वारा रचित 'ब्रह्मसूत्र' को दार्शनिक स्तर वेदान्त दर्शन को व्युत्पन्न करने वाला कहे, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। फिर भी वेदान्ताचार्यों ने वेदान्त को स्पष्ट करने के लिए उपनिषदो को 'श्रुति' के रूप, मे गीता को 'स्मृति' के रूप मे तथा ब्रह्मसूत्र को 'शास्त्र' के रूप मे मानकर वेदान्त दर्शन को व्युत्पन्न माना है। ज्ञान की पराकाष्ठा का ब्रह्म को आधारभूत मानकर प्रतिपादित करने का सूत्रपात की वेदान्त दर्शन से ही होता है। ब्रह्म मे सबको तथा सबको ब्रह्म मे अवस्थित मानने की परम्परा वेदान्त से ही प्रवर्तित हुई है। कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने गीता तथा ब्रह्मसूत्र की रचना की। उपनिषद् वैदिकाल की रचनाएँ है। कृष्णद्वैपायन से पूर्व अनेक वेदान्ताचार्य हो चुके हैं, जिनके नाम 'ब्रह्मसूत्र' मे जगह-जगह दिए गए हैं। वेदान्ताचार्यों के मतो की परीक्षा के उपरान्त ही 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थ लिखा गया है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने ही 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की—यह कोई प्रामाणिक तथ्य नही है। 'ब्रह्मसूत्र' का प्रणेता बादरायण नामक ऋषि मान्य है। यदि बादरायण कृष्णद्वैपायन को ही कहा गया है तो भी 'जय' काव्य के रूप मे महाभारत का प्रणेता कृष्णद्वैपायन व्यास मूल गीता का प्रणेता तो माना जा सकता है, परन्तु 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थ तथा आधुनिक गीता का प्रणेता नही। 'ब्रह्मसूत्र' मे पूर्ववर्णित पाँचो दर्शनो के मतो की समीक्षा की गई है। अत वेदान्त दर्शन का आधार 'ब्रह्मसूत्र' कोई बहुत प्राचीन रचना नही है। वेदान्त दर्शन के स्तम्भ गीता ग्रन्थ मे भी न्यायदर्शन, सांख्य, योग, मीमांसा आदि को याद किया गया है, अत आधुनिक गीता भी ईसा पूर्व की रचना नही है। अत यहाँ यही माना जा सकता है कि उपनिषदो के अतिरिक्त प्रस्थानत्रयी के अन्य ग्रन्थ

ईसा पूर्व की रचना नही है। 'ब्रह्मसूत्र' मे जिस प्रकार से युक्ति प्रतिपादन किया गया है, उससे तो यह भी लगता है कि यदि 'ब्रह्मसूत्र' ईसा पूर्व की रचना भी हो तो उसका आधुनिक रूप तो भक्ति-आन्दोलन की छाया से भी युक्त है। यथा—

प्रतीके न हि स । ब्रह्मदृष्टि उत्कर्पात् । —ब्रह्मसूत्र

महमूद गजनवी ने भारत पर ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम चरण मे आक्रमण किया था तथा सोमनाथ के मन्दिर को लूटा था। उस समय अवतारवाद की भावना को या बहुदेववाद को बडा धक्का लगा। ऐसे अवसर पर ब्रह्मवादी वेदान्त दर्शन के पास केवल यही युक्ति समाधान बचा कि ईश्वर मूर्ति मे या उसके किसी प्रतीक मे अपने वास्तविक रूप मे नही है, परन्तु ईश्वर की मूर्ति या उसके प्रतीक का उपयोग ईश्वर तत्त्व की ओर उन्मुख होने मे किया जा सकता है। वस्तुत हमारे यहाँ प्रक्षेप करने की नीति बहुत अधिक रही है। इसीलिए बडे-बडे ग्रन्थो मे परवर्ती आचार्यो ने न जाने कितना प्रक्षेप भर दिया है। वथार्थत वेदान्त, दर्शन ईसा पूर्व 1000 से लेकर दूसरी शती ई तक अवश्यमेव व्युत्पन्न हो चुका था।

वेदान्त दर्शन का विकास

प्रस्थानत्रयी-उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र नामक ग्रन्थो के आधार पर शकराचार्य, रामानुज, माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य तथा वल्लभाचाय ने विभिन्न विचारधाराओ की स्थापना की। वेदान्त का विकास इन्ही आचार्यो के विचारो के आधार पर जाना जाता है, जिसका सक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है।

शकराचार्य (788-820 ई)—शकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी के ग्रन्थो के भाष्य लिखकर 'अद्वैतवाद' की स्थापना की। आदि शकराचार्य केरल के निवासी थे। इन्होने बत्तीस वर्ष की अवस्था मे दार्शनिक क्षेत्र मे अनेक चमत्कारी कार्य किए। आचार्य शकर के प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार है–1 बारह उपनिषदो के भाष्य, 2 शाकर गीता भाष्य, 3 ब्रह्मसूत्र भाष्य (प्रस्थानत्रयी) 4 विवेकचूडामणि, 5 उपदेशसाहस्री, 6 आनन्द लहरी, 7 शतश्लोकी, 8 सौन्दर्य लहरी, 9 हरिमीडे स्तोत, 10 दक्षिणामूर्ति स्तोत्र।

रामानुजाचार्य (1037-1137 ई)—इन्होने भी प्रस्थानत्रयी के भाष्य किए तथा शकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन करके विशिष्टाद्वैत की स्थापना की। विशिष्टद्वैतवाद मे प्रकृति जीव और ब्रह्म को विशिष्ट रूपो मे देखा गया है। इन तीनो की एकता मे भी इनके स्वरूप की विशिष्टता या पृथकता अपना अलग महत्त्व रखती है। रामानुज ने जगत् को सत्य माना तथा केवल विदेहमुक्ति को स्वीकार किया। रामानुज का श्रीभाष्य ग्रन्थ उनकी दार्शनिक प्रतिभा का द्योतक है।

माध्वाचार्य (11वीं शताब्दी)—इन्होने द्वैतवाद की स्थापना की तथा प्रस्थानत्रयी के भाष्य किए। आचार्य मध्व ने भक्ति-क्षेत्र मे विशेप कार्य किया। भक्ति द्वैत दर्शन के आधार पर ही अधिक सरस हो सकती है।

निम्बार्काचार्य (11वीं शताब्दी)—इन्होने द्वैताद्वैतवाद की स्थापना की। इनकी कीर्ति का केन्द्र ग्रन्थ 'वेदान्त पारिजात सौरभ' है। आचार्य निम्बार्क के

अनुसार जीव मुक्तावस्था मे भी ईश्वर की उपासना करता है। इनके दर्शन का मुख्य आधार भक्तिमार्ग है। इन्होने श्रीकृष्ण को ब्रह्म के रूप मे तथा राधा को उसकी शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित किया है।

वल्लभाचार्य (1481–1533 ई)—इन्होने शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की। इनके अनुसार माया ईश्वर की शक्ति है तथा समस्त जगत् भगवान् की लीला का परिणाम है। ईश्वर ही अनेक रूपो मे भक्ति का आनन्द प्राप्त करता रहता है। आचार्य वल्लभ का 'अणुभाष्य' एक दार्शनिक प्रतिभा का सूचक ग्रन्थ है। इन्होने प्रस्थानत्रयी के ग्रन्थो के भाष्य के साथ 'श्रीमद्भागवत' पुराण का भी भाष्य किया। वल्लभ ने कृष्ण को भक्ति का आधार सिद्ध किया।

वेदान्त के अन्य विचारको मे स्वामी विवेकानन्द, डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आदि प्रमुख है। 'ब्रह्मसूत्र' मे प्राचीन आचार्यो के मतो की समीक्षा के सन्दर्भ मे वेदान्ताचार्यो का भी उल्लेख किया गया है। वेदान्त के क्षेत्र मे सर्वाधिक प्रसिद्धि शकराचाय के 'अद्वैतवाद' को ही मिली। आचार्य शकर के अद्वैतवाद को अनेक आचार्यों ने खण्डित करना चाहा, परन्तु अद्वैतवाद आज तक सर्वाधिक सुस्पष्ट और अकाट्य दार्शनिक विचारधारा है। डॉ राधाकृष्णन् ने शकर और रामानुज को वेदान्त का महान् विचारक सिद्ध करते हुए लिखा है–"Shankar and Ramanuj were two great thinkers of Vedant, the best qualities of each were defects of the other"–Indian Philosophy, Vol II, p 720

वादरायण का ब्रह्मसूत्र—वेदान्त दर्शन का सूत्रशैली मे लिखा हुआ एकमात्र दार्शनिक ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' है। आचार्य वादरायण का यह ग्रन्थ चार अध्यायो मे विभक्त है। इसका प्रत्येक अध्याय चार पदो मे विभक्त है। इस ग्रन्थ मे सूत्रो की अधिकतम सख्या 223 मानी गई है।

'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम अध्याय का नाम 'समन्वय' है। इस अध्याय मे ब्रह्म का निरूपण करने के लिए विभिन्न श्रुतियो—सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एव उपनिषद् का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। यह अध्याय ब्रह्म की जिज्ञासा से शुरू हुआ है।[1] जिस अनन्त शक्तिमान तत्त्व से सभी चीजें उत्पन्न होती हैं तथा जिसमे सबका पालन एव विलय होता है, वही तत्त्व ब्रह्म है।[2] इस अध्याय मे ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिपादित करने के लिए शास्त्र सगति का विशेष ध्यान रखा गया है।

'ब्रह्मसूत्र' का दूसरा अध्याय 'अविरोध नाम से जाना जाता है। इस अध्याय मे सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, चार्वाक, बौद्ध एव जैन दर्शनो के मतो का युक्तियुक्त निराकरण करके यह निष्कर्ष निकाला गया है कि जिस ब्रह्म-तत्त्व से विभिन्न दर्शन इधर-उधर भटकते रहे, वह प्रकारान्तर से विभिन्न दर्शनो मे भी मान्य रहा है। दूसरे अध्याय मे विषय, सशय, सगति, पूर्वपक्ष, तथा उत्तर पक्ष का

1 अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। –ब्रह्मसूत्र 1/1/1
2 जन्माद्यस्य यत। –वही, 1/1/2

विशेप ध्यान रखा गया है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थ मे उक्त पचावयव के साथ-साथ आक्षेप सगति, प्रत्युदाहरण सगति तथा प्रासगिक सगति का विशेप ध्यान रखा गया है, जिसकी पराकाष्ठा दूसरे अध्याय मे देखी जा सकती है।

'ब्रह्मसूत्र' का तीसरा अध्याय 'साधन' है। इस अध्याय मे जीव और ब्रह्म के लक्षणो को प्रतिपादित करके मुक्ति के बाह्य आन्तरिक साधनो का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय मे योगदर्शन के यम, नियम, प्राणायाम जैसे अष्टाग योग को भी स्थान मिला है। मुक्ति के साधनो मे चिन्तन, मनन तथा निदिध्यासन को विशिष्ट स्थान दिया गया है। आत्मज्ञान को मुक्ति का स्वरूप बतलाया गया है।

ब्रह्मसूत्र का चौथा अध्याय 'फल' है। इस अध्याय मे जीवन्मुक्ति तथा ईश्वर के सगुण एव निर्गुण रूपो की उपासना का निर्देशन किया गया है। यह अध्याय मुक्त-पुरुष के स्वरूप का वर्णन करके इतिश्री को प्राप्त हुआ है। जो जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो, उसी को मुक्त पुरुप कहा गया है।

बादरायण का ब्रह्मसूत्र वेदान्त दर्शन की सम्पूर्ण सामग्री का प्रतिनिधित्व करता है। अत यह ग्रन्थ वेदान्तदर्शन का सर्वश्रेष्ठ एव आधारभूत ग्रन्थ है।

वेदान्त दर्शन मे तत्व निरूपण—प्रस्थानत्रयी-उपनिषद् गीता तथा ब्रह्मसूत्र नामक ग्रन्थो के आधार पर वेदान्त दर्शन मे विवेचित दार्शनिक तत्त्वो की मीमांसा सम्भव है। मूलत वेदान्त दर्शन मे निम्न सक्षिप्त तत्त्वो का विवेचन हुआ है—प्रमाण, ईश्वर, जीव, जगत्, माया और मोक्ष। यहाँ हम इनका वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

वेदान्त दर्शन मे प्रमाण—वेदान्त मे प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि नामक छ प्रमाणो को स्वीकार किया गया है। प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा सिद्ध होता है। अनुमान मे प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त नामक तीन अवयवो को स्वीकार किया गया है। आगम—शास्त्रीय प्रमाण का सूचक है। उपमान के माध्यम से सादृश्य-ज्ञान होता है। अर्थापत्ति के माध्यम से प्रत्यक्ष के विषय मे कुछ सुनकर उससे सम्बद्ध रहस्य के विषय मे जाना जाता है। यथा—देवदत्त मोटा है, परन्तु दिन मे नही खाता। अत देवदत्त रात्रि मे अच्छी तरह भोजन करता होगा, तभी तो वह मोटा है। ऐसा अर्थ निकालना ही अर्थापत्ति है। किसी वस्तु को न देखकर उसकी अनुपस्थिति का बोध होना ही अनुपलब्धि प्रमाण है। उदाहरण के लिए कमरे मे घडा न देखकर घडे के अभाव की सूचना देना ही अनुपलब्धि प्रमाण के अन्तर्गत गिना जाएगा।

वेदान्त दर्शन मे ईश्वर—'ब्रह्मसूत्र' का श्रीगणेश 'अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा' से होता है। ब्रह्म विषयक जिज्ञासा के परितोषार्थ 'जन्माद्यस्य यत' अर्थात् जन्म वृद्धि और क्षय की लीला का जो मूल है, वही ब्रह्म है, यह सूत्र प्रस्तुत किया गया है। वस्तुत सांख्य दर्शन में ईश्वर का प्रतिपादन इस रूप में नही किया गया कि वह्म समस्त क्रीडाओ का या क्रियाओ का आधार है। सांख्य और योग स्वभाववाद की धारा में बहकर प्रकृति को ही जगत् का कारण मानते रहे। परन्तु वेदान्त ने प्रकृति को

या चैतन्य शक्ति को ईश्वर के रूप में देखा। वस्तुत सभी क्रियाएँ एक अनन्तशक्ति के द्वारा ही सचालित है। वेदान्त मे ब्रह्म को समस्त हलचलो से ऊपर प्रतिष्ठित करके भी उसके चैतन्य भाग में समस्त हलचलो को प्रदर्शित करा दिया है। इसलिए जगद्गुरु शकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना करके ईश्वर या ब्रह्म के 'पर' एव 'अपर' दो रूप बतलाए। 'पर' ईश्वर का नित्यानन्दम रूप है तथा अपर चैतन्य रूप है। वेदान्त दर्शन मे 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' की स्थापना भी इसीलिए हुई है। वेदान्त का ईश्वर या ब्रह्म सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता तथा सहारकर्त्ता है। वह सब कुछ करके भी अकर्त्ता है। वह जादूगर की भाँति सृष्टि-क्रिया के जादू से प्रभावित नही होता। गीता मे भी ब्रह्म के स्वरूप का ऐसा ही वर्णन है—

मया ततमिद सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाह तेष्ववस्थित ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन ॥

—गीता, अध्याय 9, श्लोक 4 व 5

वेदान्त जीव का स्वरूप—गीता मे जीव को ईश्वर का अश बतलाया गया है, यथा—

ममैवाशो जीवलोके जीवभूति सनातन।
मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ —गीता, 15/7

जीव ईश्वर का अश है, अनादि है। वह प्राकृतिक द्वन्द्व मे फँसी इन्द्रियो को आकर्षित या विषयोन्मुख भी करता है। ऐसी स्थिति मे वेदान्त का जीव भोक्ता है। परन्तु वह अपने निर्मल रूप मे सभी वासनाओ से परे है। चार अवस्थाओ—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय का जीव अन्तत आत्मा रूप मे ब्रह्म ही है। माण्डूक्य उपनिषद् मे कहा भी है—सोऽयमात्मा ब्रह्म। जीव का माया के द्वन्द्व मे फँसा रहना केवल प्रतीति है। अन्यथा शुद्ध, बुद्ध एव मुक्त स्वभाव वाला जीव नित्यमुक्त है। जीव अपने आत्मरूप अथवा—ब्रह्मरूप को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है—'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।' जीव ज्ञानस्वरूप है और वह अपने ज्ञातृस्वरूप को प्राप्त करके परमात्मा या आनन्द-रूप ही हो जाता है—

ज्ञानेन तु तदज्ञान येषा नाशितमात्मन।
तेषामादित्यवज्ज्ञान प्रकाशयति तत्परम् ॥

वेदान्त मे जगत् का स्वरूप—वेदान्तवादी विवर्तवाद को महत्त्व देते है। आचार्य सदानन्द के वेदान्तसार ग्रन्थ मे विवर्त का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरित।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युच्यते ॥

सत्य तत्त्व के विपरीत नियम विकार कहलाता है तथा तत्त्व के बिना ही हमे अनावश्यक प्रतीत होने लगे तो उसे विवर्त नाम से पुकारा जाता है। अत विवर्त रस्सी को साँप समझकर डरने के रूप मे माना जाता है। इसीलिए वेदान्त

मे जगत को मिथ्या तक घोषित कर दिया गया है । आचार्य शकर ने ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या कहा है—'ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या ।' हमे यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि वेदान्त मे ससार के ससरण को ही जगत् का नाम दिया गया है । इसीलिए जीव की उसके स्वरूप से भिन्नरूपता तथा वस्तुओ की प्रतीति अन्तत भ्रम या मिथ्या ही है । इतना होने पर भी शकराचार्य ने जगत् को अनिर्वचनीय कहा है, क्योकि यह आकाश-वाटिका तथा शश-विषाण के समान असत्य नही है ।

वेदान्त मे माया—सत्व, रज तथा तम नामक त्रिगुणरूपा प्रकृति ही माया है । ससार के सभी जीव इसी माया के वशीभूत है । जो व्यक्ति वेदान्त के पथ पर चलते है, वे इस दुरत्यय माया का अतिक्रमण कर जाते है—

दैवी ह्येपा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते ।।

ईश्वर की माया ही प्रकृति है । इस प्रकृति के बल पर ईश्वर समस्त सृष्टि की रचना करता है । प्रकृति के वशीभूत समस्त जीव समुदाय है, यथा—

मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।। -गीता, 9/10

वेदान्त मे माया को जीव को मोहित करने वाली शक्ति ही न मानकर उसे जीव की सहायिका भी सिद्ध किया है—'अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा' । (ईशोपनिषद्)

वेदान्त मे मोक्ष का स्वरूप—मोक्ष ससारातीत विकार-शून्य स्थिति का नाम है । जो व्यक्ति जीवितावस्था मे काम तथा क्रोध जैसे विकारो को जीत लेते है, वे मोक्ष मे ही स्थित रहते है । गीता मे मोक्ष ईश्वर का धाम बताया गया है । मोक्ष को सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि का तेज अलौकिक नही करता । उसे पाकर जीव का पुनर्जन्म नही होता—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावक ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। —गीता, 15/6

उपनिषदो मे मोक्ष को एक निर्विकार समुद्र के समान स्वीकार किया गया है । जिस प्रकार सतत् प्रवाह परायण नदियाँ समुद्र मे मिलकर समुद्ररूपता को प्राप्त कर लेती हैं, उसी प्रकार जीव साधना धारा मे बहकर आत्मरूपता या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । मोक्ष को पाकर जीव के लिए ससार-चक्र की भयावहता समाप्त हो जाती है । वेदान्त मे जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति दोनो को ही स्वीकार किया गया है ।

वेदान्त दर्शन मे 11वी शताब्दी मे भक्तिमार्ग का प्रबल प्रवेश होने से एक नई विचारणा उत्पन्न हुई । भक्तिमार्गी वेदान्तियो ने भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा सरल, तथा सरस बताकर वेदान्त को भक्ति-भावना से परिपूरित कर दिया । यथार्थत वेदान्त मे प्रस्थानत्रयी के आधार पर जो तत्त्व-विश्लेषण हुआ, शिव शकर के अद्वैतवाद की प्रतिस्पर्द्धा मे अनेक तत्त्वो का आगमन हुआ । ज्ञान के

स्थान पर भक्ति तथा अद्वैत के स्थान विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि विचारधारा स्वरूप तत्त्वो का समावेश हो गया। आचार्य रामानुज ने केवल विदेहमुक्ति को ही स्वीकार किया, जीवन्मुक्ति को नही। अत वेदान्त दर्शन मे तत्त्व-निरूपण की विविधताएँ दर्शनीय हैं।

नास्तिक दर्शन चार्वाक, जैन एव बौद्ध

नास्तिको वेद निन्दक अर्थात् वेद की निन्दा करने वाला व्यक्ति नास्तिक होता है। अत इस सिद्धान्त के आधार पर भारतीय दर्शन मे वेदो को प्रमाण-स्वरूप न मानने वाले दर्शन तीन हुए हैं। चार्वाक दर्शन एक भौतिकवादी दर्शन है तथा बौद्ध एव जैन दर्शन आध्यात्मवादी दर्शन हैं। बौद्ध और जैन दर्शनो के आचार्यों ने वेद को प्रामाण्य स्वीकार नही किया, इसलिए वे आध्यात्मवादी होने पर भी नास्तिक दर्शन कहे गए हैं। यहाँ हम नास्तिक दर्शनो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे है।

चार्वाक दर्शन

सहज प्रकृति के आधार पर अनुशीलन करने से यह निर्विवाद हो जाता है कि मानव प्रारम्भ मे भौतिकवादी ही रहा होगा, रहता है। मनोवैज्ञानिको के अनुसार व्यक्ति के मानस के तीन स्तर हैं—उपाहम्, अहम् तथा पराहम्। बच्चो का सम्पर्क 'उपाहम्' या खाने-पीने तथा मौज करने मे रहता है, महत्त्वाकांक्षियो या तरुणो का सम्पर्क प्राय 'अहम्' से रहता है, महापुरुषो या परिपक्व व्यक्तित्व-सम्पन्न व्यक्तियो का सम्बन्ध पराहम् से रहता है। अत 'अहम्' की पराकाष्ठा तथा 'पराहम्' की भूमिका आध्यात्म का पथ प्रदर्शित करती है। इस मनोवैज्ञानिक विश्लेपण को प्रत्यक्ष प्रमाण भी प्रमाणित करता है अतएव चार्वाक दर्शन आध्यात्मवादी दर्शन से प्राचीन है इसी धारणा का सपोपक सिद्धान्त विकासवाद है।

चर्वणा-प्रधान व्यक्ति को चार्वाक कहा जाता है। 'चर्वणा' रस-चर्वणा का नाम है। दुनिया के प्रपच मे अलमस्त प्रकृति आनन्ददायक मानी जाती है। 'भावुका सीदन्ति विचारका प्रसीदन्ति च' नामक सिद्धान्त चार्वाको को अलमस्त विचारक सिद्ध करता है। चार्वाक कोई ऋषि तो रहे है, परन्तु वे ऋषि चर्वणवादी होने के कारण ही चार्वाक कहलाए। उनके वास्तविक नाम का कोई पता नही चलता। चार्वाक दर्शन के आदि विचारक आचार्य बृहस्पति माने जाते हैं। परन्तु 'बृहस्पति' शब्द स्वय उपाधि मूलक है। ऐसा लगता है कि कोई देवगुरु (व्यक्ति) बृहस्पति के नाम से विख्यात है। वेदो के अनुशीलन से पता चलता है कि देव वशी व्यक्ति भोगवादी या भौतिकवादी ही थे। उनके वशज आर्य द्रविडो के सम्पर्क से ही आध्यात्मवादी बने थे। आध्यात्मवाद का ज्ञानमार्ग आडम्बर विहीन है, जबकि उसका कर्मकाण्ड आडम्बरो का घर है। जब वेदो मे कर्मकाण्ड का बोलबाला हुआ तो जन-समाज रूढिग्रस्त हो गया। समाज मे दान-दक्षिणा का राज्य हो गया, घोर अराजकता फैल गई। ऐसे सभी आडम्बरो का मूल केन्द्र कोई ईश्वर नामक तत्त्व ही रहा। अत चार्वाको ने वेद की निन्दा प्रारम्भ कर दी। उन्होने ईश्वर के अस्तित्व

को एक विचित्र कल्पना बताया। चार्वाक दर्शन के प्रारम्भ मे बृहस्पति नामक विद्वान् का स्तवन किया गया है। यथा

प्रत्यक्षमेव किल यस्य कृते प्रमाण
भूतार्थवादमथ यो नितरा निविष्ट।
वेदादिनिन्दनपर सुखसेव धत्ते
सोऽय बृहस्पतिर्मुनिर्मम रक्षकोऽस्तु ॥

चार्वाक दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार है—1 प्रत्यक्ष प्रमाण ही प्रमाण है, 2 शरीरपर्यन्त विचार, 3 वेदो की निन्दा, 4 भौतिक तत्त्वो की सृष्टि, 5 मृत्यु ही मोक्ष है, 6 कुछ नवीन व्याख्याएँ।

1 प्रत्यक्ष प्रमाण ही प्रमाण है—चार्वाको ने इन्द्रिय गोचर तत्त्वो का ही अस्तित्व स्वीकार किया है। मन तथा बुद्धि अनुभव के ज्वलन्त विषय हैं, इसलिए चार्वाको ने इन सूक्ष्म तत्त्वो का स्वाभाविक अस्तित्व स्वीकारा है। अनुभव प्रमाण के विषय मे चार्वाक की मान्यता यह है कि जिस प्रकार धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार से 'व्यक्ति' नामक जाति मे सामान्य तत्त्व निश्चित नही किया जा सकता। फिर दूरवर्ती तत्त्व के दर्शन मे दोष की आशका होने से अनुमान प्रमाण ज्ञान का साधन न रहने से अपने प्रामाण्य को खो बैठना है। इतने पर भी एक अनुमान की सिद्धि के लिए दूसरा अनुमान तथा दूसरे अनुमान की सिद्धि के लिए तीसरे अनुमान की कल्पना करने से अनवस्था-दोष उत्पन्न हो जाएगा। अत प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान कोई प्रमाण नही है। चार्वाक ने शब्द-प्रमाण को शक्ति-ग्रहण की अशक्तता के कारण तथा उपमान प्रमाण को व्याप्ति ज्ञान तथा उपाधिज्ञान के अन्योन्याश्रय दोष के कारण खण्डित करके प्रत्यक्ष प्रमाण को ही एकमात्र प्रमाण सिद्ध कर दिया है। अत चार्वाक का चिन्तन प्रत्यक्षवादी है।

2 शरीर पर्यन्त विचार—चार्वाक शरीर को सर्वसिद्धियो का केन्द्र मानते हैं, इसलिए चार्वाक दर्शन को लोकायत दर्शन के नाम से भी पुकारा जाता है। चार्वाको ने शरीर को ही व्यक्ति मानकर उसे प्रसन्न और सुखमय रखने का नारा लगाया है। इसीलिए चार्वाको का यह सिद्धान्त विश्व विदित है—

"यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वापि घृत पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥"

अर्थात् व्यक्ति जब तक जीवित रहे, तब तक सुखपूर्वक जीए। जब शरीर का दाह-सस्कार हो जाता है, तो फिर उसकी पुनरावृत्ति की सम्भावना कहाँ? इसी तरह बान्धवो के वियोग मे बिलखने की निन्दा करते हुए चार्वाक लिखा—

यदि गच्छेत् पर लोक देहादेव विनिर्गत।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुल ॥

यदि व्यक्ति के शरीर से चेतन बाहर निकलकर किसी दूसरे लोक मे चली जाती है तो भी हमे अपने सम्बन्धी के वियोग मे व्याकुल नही होना चाहिए क्योकि वह चेतना या व्यक्ति हमारे दुःख को देखकर फिर पीछे लौटकर आने वाला नही है।

चार्वाको की यह धारणा सांख्य दार्शनिको के मत से किंचित् तथा प्रत्यक्ष दर्शन से पूर्णत मेल खाती है। अत यह सुखमय जीवन का आधार है। चार्वाको के इस सिद्धान्त का जगत् मे सर्वाधिक प्रचार रहा है।

3 वेदो की निन्दा—चार्वाको ने वेदो के ऊपर प्रहार करके कर्मकाण्ड का भण्डाफोड कर दिया है। चार्वाको के अनुसार भण्डो, धूर्तो तथा राक्षसो ने वेदो की रचना की। वेदवादियो ने दुनिया को ठगने के लिए वेद की वाणी को ईश्वर की वाणी कहा है। अश्वमेध यज्ञ मे यजमान की पत्नी द्वारा घोडे का लिंग ग्रहण कराने का विधान है, जो ईश्वरकृत न होकर वेदवादी राक्षसो द्वारा निर्मित सिद्धान्त मानना चाहिए, यही सिद्ध होता है। इसी तरह से पशु-हत्या को अमानवीय बनाते हुए चार्वाक ने लिखा है कि यदि यजमान पशु की बलि देने से पशु को स्वर्गधाम भेज देता है तो वह अपने पिता को बलि का बकरा बनाकर शीघ्र ही स्वर्ग क्यो नही भेज देता ? इसी तरह से पौराणिको की निन्दा करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि यदि श्राद्ध तर्पणादि से किसी दिवगत को भोजन और जलादि मिल जाते है तो यात्राकाल मे घर पर की हुई व्यवस्था ही काम मे आ जानी चाहिए। यथा—

गच्छतामिह जन्तूना व्यर्थ पाथेयकल्पनम् ।
गेहस्थकृत श्राद्धेन पथि तृप्तिर वारिता ।।

4 भौतिक तत्त्वो की सृष्टि—चार्वाक के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु नामक तत्त्वो के योग से सृष्टि का निर्माण हुआ है। जिस प्रकार पान, सुपारी और चूना के योग से पान मे पहले से अविद्यमान होते हुए भी लालिमा उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार पृथ्वी, जलादि चार तत्त्वो के योग से शरीर मे चेतना उत्पन्न हो जाती है। जब शरीरान्त होता है तो वह चेतना इन्ही तत्त्वो मे विलीन हो जाती है। चार्वाक दर्शन की यही छाया भगवद् गीता मे भी प्रतिबिम्बित होती है। यथा—

असत्यमप्रतिष्ठ ते जगदाहुरनीश्वरम्
अपरस्परसभूत किमन्यत्कामहैतुकम् ।। —गीता, 16/8

चार्वाको के सृष्टि-तत्त्व का सन्दर्भ वैज्ञानिक जान पडता है। अत वस्तुवादी चार्वाको के मत का समर्थन आज का विज्ञान करता है। यदि कुछ गहराई से देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि चार्वाको ने अपने सिद्धान्त मे सापेक्षवाद (आइन्स्टीन-सिद्धान्त) को पहले ही पुष्ट कर रखा है। यथा—

जडभूत विकारेषु चैतन्य यत् दृश्यते ।
ताम्बूलपूगचूर्णाना योगाद् राग इवोत्थितम् ।।

5 मृत्यु ही मोक्ष है—उपनिषदो तथा दर्शनो मे ज्ञान से मुक्ति या मोक्ष-सिद्धि स्वीकार की गई है। परन्तु चार्वाक केवल शरीर-नाश को ही मुक्ति मानते है। अत शरीर का विनाश होते ही हम दुनिया की दौड से हट जाते है, व्यक्ति की यही मुक्ति है। यथा—'देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते।'

उपर्युक्त दृष्टिकोण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चार्वाक ने पुनर्जन्म जैसे गूढ तत्त्वो को एकदम अस्वीकार किया है। यह सब उनकी स्थूल बुद्धि का फल है।

6 कुछ नवीन व्याख्याएँ—चार्वाक ने स्त्री के स्पर्श सुख को पुरुपार्थ कहा है। व्यक्ति को कांटे लगाने से तथा व्याधियो के प्रकोप से जो दु ख मिलता है, वही नरक है। ससार द्वारा स्वीकृत राजा ही परमेश्वर होता है। 'मै मोटा हूँ' जैसी उक्तियाँ ही यह सिद्ध करती है कि चैतन्य युक्त व्यक्ति ही आत्मा है। कोई सूक्ष्म तथा अमर तत्त्व नामक आत्मा नही है। अत चार्वाक ने आदर्शवादी कल्पनाओ को एक ओर से साफ कर दिया है।

चार्वाक दर्शन जगत् मे सदा से प्रधान रहा है। हमारा समाज आदर्श मे श्वास लेने की चेष्टा करता हुआ भी स्वार्थ-चक्र मे चक्रित रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व स्वार्थ का एक अखाडा मात्र है। अथवा 'स्वारथ लागि करहिं सब प्रीति।'

बौद्ध दर्शन

वेद विरोधी दर्शनो मे बौद्ध दर्शन का शीर्पस्थ स्थान है। बौद्ध दर्शन के प्रवर्तन का श्रेय गौतम बुद्ध को है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे राजा शुद्धोदन के घर मे सिद्धार्थ नापक पुत्ररत्न का उदय हुआ। यही सिद्धार्थ क्षत्रियोचित वीरता से युक्त होने पर भी क्षत्रिय राजाओ के रोहिणी नदी के जल-विवाद के कारण भारी मारकाट की आशका से क्षत्रिय धर्म को छोडकर सन्यास के पथ पर अग्रसर हुए। जव सिद्धार्थ ने एक चील द्वारा किसी मूषक को पजे मे दबाते हुए देखा तो समस्त समाज की दुदशा का अनुमान करके उनका हृदय क्रन्दन कर उठा। कपिलवस्तु मे आयोजित होने वाले हलोत्सव मे सुपुष्ट बैलो को रक्त-रजित देखकर गौतम का हृदय कम्पायमान हो गया। सिद्धार्थ ने अपनी पत्नी यशोधरा के सुन्दर शरीर को काल के गाल मे जाने का अनुमान किया तथा वे ससार को काल का खिलौना समझने के लिए बाध्य हो गए। सिद्धाथ की माता महामाया तो अपने पुत्र को प्रसूत करने के कुछ दिन बाद ही दिवगत हो गई थी। जव सिद्धार्थ समस्त परिवार एव समाज को क्षणिकता का स्वरूप समझने लगे तो उनके आत्म-चिन्तन का विकास यथाथ की ओर हुआ। सिद्धार्थ को दर्शन की ओर अग्रसर करने वाली एक किंवदन्ती और है। एक बार सिद्धार्थ अपने घर से अपने सारथी के साथ रथ पर आरूढ होकर निकले। मार्ग मे उन्हे एक शव-यात्रा का दर्शन हुआ। गौतम ने शव-यात्रा का रहस्य सारथी से जाना। उस रहस्य को समझकर गौतम ने समार की नश्वरता का आभास किया। आगे चलकर उन्हें एक भिखारी मिला। गौतम ने भिखारी की दरिद्रता का रहस्य भी समझा। वे शोषित वर्ग या दीन वर्ग के प्रति सार्वभौम करुणा का अनुभव करने लगे। आगे चलने पर उन्हे एक वृद्ध व्यक्ति देखने को मिला। गौतम' ने उसका रहस्य समझा तथा यही अनुभव किया कि व्यक्ति जरावस्था के प्रकोप से कितना दुर्बल और व्याकुल हो जाता है। अन्तत गौतम ने एक प्रसन्नचित सन्यासी को देखा। सन्यासी की निर्द्वन्द्वता को समझकर गौतम ने सन्यास धारण करने का निश्चय किया। सिद्धार्थ ने गृह-त्याग करके अघोर तपस्या करके यथार्थ बोध प्राप्त किया। ससार की रात्रि मे जागने का एकमात्र उपाय यथार्थ ज्ञान ही प्रतीत हुआ। गौतम जाग गए और बुद्ध बन गए। 'बुद्ध' शब्द का

अर्थ है—जगा हुआ। अत गौतम बुद्ध ने विशेष परिस्थितियो मे क्षणिकता तथा दुखवादिता का अनुभव करके ससार के त्राण का उपाय सोचा।

गौतम बुद्ध के विचारो को सकलित करने के लिए उनके परिनिर्वाण के चार महीने पश्चात् प्रथम सगीति का आयोजन हुआ। आयोजन के आयोजक राजा अजातशत्रु थे तथा सभापति महाकश्यप। बुद्ध के परिनिर्वाण के सौ वर्ष पश्चात् द्वितीय सगीति आयोजित की गई। अजातशत्रु के वशज कालाशोक ने द्वितीय सगीति का आयोजन किया तथा सर्वकामी उसके सभापति बने। सम्राट अशोक सरक्षण मे तृतीय सगीति का आयोजन हुआ। अशोक के गुरु तिस्स मोग्गलि पुत्त इस सगीति के सभापति बने। बौद्ध धर्म की चौथी एव अन्तिम सगीति 100 ई मे कनिष्क के सरक्षण मे हुई। इन चारो सगीतियो मे अनेक बौद्ध भिक्षुओ ने भाग लिया तथा बौद्ध दर्शन एव धर्म का स्वरूप निश्चित करके 'विनयपिटक', 'सुत्तपिटक' तथा 'अभिधम्मपिटक' नामक त्रिपिटको का सकलन किया। तीन पटरियो को त्रिपिटक कहा गया। 'सुत्तपिटक' अनुशासन की पटरी है, 'विनयपिटक' उपदेश की पटरी है तथा 'अभिधम्मपिटक' मनोविज्ञान की पटरी है। प्रथम तीन सगीतियो मे ही तीनो पिटको का निर्माण हो चुका था। 'धम्मपद' बौद्ध धर्म का एक सरल, किन्तु महान् ग्रन्थ है।

बौद्ध दर्शन का स्वरूप

बौद्ध दर्शन दुखवाद तथा क्षणिकता के ऊपर अवलम्बित है। क्षणिक्तावादी सिद्धान्त को 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के नाम से जाना जाता है। सांसारिक प्रवाह को बारह रूपो मे स्पष्ट करने के कारण प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादशआयतन माने गए है। तत्त्व-ज्ञान के अभाव या अस्थिर तत्त्वो को स्थिर मानने की भावना को 'अविद्या' कहा गया है। पूर्वजन्म के पुण्य-पाप स्वरूप कर्मों को 'सस्कार' कहा गया है। सस्कारो के वशीभूत होने के कारण प्राणी गर्भ मे आता है तथा दुनिया के प्रपच मे तल्लीन रहता है। इसी स्थिति को 'विज्ञान' के नाम से पुकारा गया है। ऐसी वैज्ञानिक प्रतीतियो के समूह को ही आत्मा कहा गया है। बौद्धदर्शन मे किसी अविनाशी आत्मा के लिए कोई स्थान नही है। बौद्ध दर्शन मे मनोभावो तथा शारीरिक रूप रचनाओ को 'नामरूप' के नाम से जाना जाता है। आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा तथा मन को 'षडायतन' कहा जाता है। वासनाओ के सयोग को 'स्पर्श' कहा गया है। विकारो के प्रकोप से प्राणो को सुखात्मक, दुखात्मक, तथा उदासीनता स्वरूप 'वेदना' का अनुभव होता है। त्रिविध वेदना के कारण पदार्थो को पाने की लालसा को 'तृष्णा' के नाम से पुकारा गया है। तृष्णा के कारण विषय-भोग की जो आसक्ति होती है, उसे 'उपादान' कहा गया है। आसक्ति के फलस्वरूप प्राणी का जन्म होना 'भव' कहा गया है। विभिन्न योनियो को 'जाति' कहा गया है। वृद्धावस्था तथा मृत्यु को 'जरामरण' कहा गया।

बौद्ध दर्शन स्थिर तत्त्व की मान्यता का कट्टर विरोधी रहा है, ब्राह्मण धर्म के प्रभाव के कारण समाज अनेक बुराइयों से आक्रान्त हो गया था। समस्त आडम्बर ईश्वरवादी मान्यताओं के पीछे विकसित हो रहे थे। अत बुद्ध ने ऐसे किसी स्थिर तत्त्व को स्वीकार नही किया, जिसके कारण कर्मकाण्ड का बोलबाला हो सके। इसीलिए ब्राह्मणवाद का आश्रय लेकर विकसित होने वाले ईश्वरवाद का विरोध करने के लिए ईश्वर और आत्मा नामक तत्त्वो को ही स्वीकार नही किया गया। जैनधर्म मे विकसित होने वाले स्थिर जीव को भी बौद्धो ने स्वीकार नही किया। ससार की रचना मे पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु को स्वीकार करके आकाश को महत्त्व नही दिया गया। मूलत आधुनिक विज्ञान के सापेक्षतावाद को बौद्धो ने दार्शनिक धरातल पर प्रस्तुत कर दिया था।

बौद्धदर्शन प्रत्यक्ष तथा अनुमान नामक दो प्रमाणो को स्वीकार करता है। अनुमान प्रमाण मे केवल कार्य और कारण नामक दो अवयवो को ही स्वीकार किया गया है। बौद्ध वेद, स्मृति तथा शास्त्र आदि को नही मानते, इसलिए वे शब्द-प्रमाण को स्वीकार नही करते। वेद-निन्दक होने के कारण बौद्ध दर्शन नास्तिक दर्शन माना जाता है। बौद्ध ईश्वर, आत्मा आदि के अस्तित्व को भी इसीलिए स्वीकार नही करते कि ऐसे स्थिर तथा कल्पित तत्त्वो के पीछे अनेक आडम्बर विकसित हो जाते है। अत बौद्ध चार्वाक की अपेक्षा 'प्रमाण' के सन्दर्भ मे उदार रहे हैं।

समस्त सस्कार क्षणिक है। अत क्षणिक सस्कारो का उच्छेद वासना के उच्छेद से ही सम्भव है। जब तृष्णा नामक वासना पूर्णत नष्ट हो जाती है तो व्यक्ति 'निर्वाण' को प्राप्त हो जाता है। 'निर्वाण' महाशून्यता का नाम है। जिस प्रकार प्याज की पर्तों को छीलते जाने से अन्त मे प्याज नाम की कोई वस्तु नही रह जाती, उसी प्रकार समस्त वासनाओ की पर्तो को हटा देने से व्यक्ति महाशून्यता को प्राप्त हो जाता है। 'व्यक्ति' उसी प्रकार से एक कल्पना है, जिस प्रकार से 'रथ'। 'रथ' धुरा, पहिये, जूआ, वस्त्र आदि तत्त्वो की एक विशेष रचना है। जिस प्रकार रथ के सभी अवयवो को अलग-अलग कर देने पर रथ नाम की कोई चीज नही रहती, उसी प्रकार व्यक्ति के नाम रूप का पूर्ण नाश होने पर निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। निर्वाण की प्राप्ति मे अष्टांग योग साधक है। यह यहाँ विचारणीय है कि 'निर्वाण' किसका होता है ? बौद्ध उत्तर देते हैं कि 'रथ' की भाँति 'व्यक्ति' नामक एक अद्भुत् परन्तु कल्पित वस्तु का। बौद्धो के इस मत का खण्डन वेदान्त-वादियो ने बडी कट्टरता के साथ किया है। यदि 'निर्वाण' सभी वासनाओ से ऊपर कोई तत्त्व है तो उसका अनुभव जो तत्त्व करता है, वह भी सभी वासनाओ से ऊपर होना है—यही सिद्ध होता है। 'तत्त्व तत्त्व मे ही मिलता है' अत वासना-शून्य तत्त्व—जीवात्मा ही मोक्ष को प्राप्त होती है—यही सिद्ध होता है। अत बौद्ध दार्शनिक वेदान्तियो की भाँति ससार को मिथ्या सिद्ध करके 'निर्वाण' के रूप मे अद्वैत-तत्त्व को अप्रत्यक्षत मानकर उसका मण्डन नही कर पाये। [illegible]

है कि बौद्धदर्शन की भाँति सभी दर्शन परिस्थितियों की देन है। बौद्ध दर्शन मे निर्वाण के विषय मे निम्नरूपत तत्त्व-प्रतिपादना की है—

क्षणिका सव सस्कारा इति या वासना स्थिरा।
स मार्ग इति विज्ञेय स च मोक्षोऽभिधीयते ॥

बौद्ध दर्शन मे तत्त्व-विश्लेषण के सन्दभ मे विज्ञान, वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा रूप नामक पाँच स्कन्धो का वर्णन किया गया है। बौद्ध पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु नामक चार तत्त्वो की सत्ता स्वीकार करते है। आकाश शून्य होने से कोई तत्त्व नही। बौद्धो ने किसी 'सामान्य' तत्त्व को स्वीकार नही किया, क्योंकि वह भी शून्य का भाव या कल्पना से सम्बद्ध है। बौद्धो ने 'सघातवाद' के आधार पर आत्मा को विभिन्न प्रवृत्तियो का सघात सिद्ध किया है। इसीलिए बौद्धो को अनात्मवादी कहा जाता है। बौद्ध 'सन्तानवाद' के आधार पर—एक प्रवृत्ति को दूसरे के लिए समर्पित कर देने के सिद्धान्त के रूप मे जगत् को भी अनित्य सिद्ध कर देते है। इसीलिए बौद्ध सांख्य दर्शन की भाँति स्वभाववादी के रूप मे ससार-क्रम को सिद्ध करने के लिए कुछ हेर-फेर करके स्वाभाविकता को अवश्य मान बैठते हैं।

अग्निरुष्णो जल शीत, शीतस्पर्शस्तथानिल ।
केनेद चित्रित तस्माद् स्वभाव्यस्तद् व्यवस्थिति ॥

अर्थात् अग्नि को उष्ण, जल को शीतल, वायु को शीतल, तथा स्पर्शी रूप मे किसने बनाया ? उत्तर, किसी ने नही। अत ये सभी तत्त्व स्वत अपने-अपने स्वाभाविक गुणो से युक्त हैं। इसीलिए 'ससार किसने बनाया' ? जैसे प्रश्नो के उत्तर के लिए स्वाभाविकता को ही उत्तरदायी बताना चाहिए। अत बौद्ध ईश्वर के चक्कर मे बिल्कुल नही फँसे। परन्तु आश्चर्यजनक वात तो यह है कि बौद्धो ने क्षणिकवाद को अपनाकर भी निर्वाण को वासना-शून्य तत्त्व स्वीकार कर लिया। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि निर्वाण स्थिर तत्त्व है या चचल अथवा अनित्य ? यदि 'निर्वाण' स्थिर तत्त्व है तो बौद्धो का क्षणिकवाद खण्डित होता है और यदि निर्वाण चचल तत्त्व है तो बौद्धो का दु खशून्य-तत्त्व 'निर्वाण' अनित्य अथवा असत्य होने के कारण व्यक्ति को दु खो से मुक्त रखने मे असमर्थ है। बौद्धो की इसी उलझन के कारण उनके विभिन्न सम्प्रदायो मे अनेक प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हो गईं। ऐसी मान्यताओ का विरोधमूलक स्वरूप निम्न विश्लेषण मे देखा जा सकता है—

वैभाषिक प्रत्यक्षवादी ससार सत्य निर्वाण सत्य ।
सौत्रान्तिक बाह्यर्थनुमेयवादी ससार सत्य निर्वाण असत्य ॥
योगाचार विज्ञानवादी ससार असत्य निर्वाण सत्य ।
माध्यमिक शून्यवादी ससार असत्य निर्वाण असत्य ॥

अत बौद्ध दर्शन कर्म काण्ड का विरोध करने के लिए कर्म-भावना को समाज मे सचारित करने के लिए उदित हुआ। यदि गौतम बुद्ध 'ईश्वर' तथा

'आत्मा' जैसे स्थिर तत्त्वो को मानकर ब्राह्मणवाद का विरोध करते तो उन परिस्थितियो मे यह सब असम्भव था । अत बौद्ध दर्शन का स्वरूप तत्कालीन परिस्थितियो का अनुपम प्रतिबिम्ब है।

बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय

बुद्ध की शिक्षाओ को लेकर बौद्ध दर्शन की चार शाखाएँ प्रचलित हुई, जिनका यहाँ सक्षिप्त विवेचन किया जा रहा

1 **वैभाषिक**—बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा का सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय वैभाषिक नाम से जाना जाता है । अशोक के राज्यकाल मे आचार्य व सुमित्र की अध्यक्षता मे पाँच सौ भिक्षुओ की बौद्ध सगीति ने आर्य कात्यायनी-पुत्र द्वारा रचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर एक टीका लिखी थी, जिसे 'विभाषा' नाम दिया गया । 'विभाषा' के मतानुयायियो को वैभाषिक नाम से पुकारा गया । वैभाषिको मे आचार्य वसुमित्र तथा सघभद्र नामक प्रमुख आचार्य हुए हैं । वसुमित्र का ईसापूर्व तीसरी शती तथा सघभद्र का समय चौथी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है । मनोरथ नामक आचार्य भी सर्वास्तिवादी हुए है । इनका समय भी ईसा की चौथी शताब्दी निर्धारित है । सर्वास्तिवाद मे सभी तत्त्वो का अस्तित्व स्वीकार किया गया है । अत बौद्ध दर्शन का यह सम्प्रदाय गौतम बुद्ध के मूल सिद्धान्त का विरोध करके आगे बढा है ।

2 **सौत्रान्तिक**—बुद्ध के उपदेश के अन्तिम भाग को या सूत्र के अन्त वाले भाग को अपनाने के कारण सौत्रान्तिक मत प्रचलित हुआ । इन्होने समस्त पदार्थो का ज्ञान अनुमानजनित स्वीकार किया है । पदार्थो को नाशवान् मानकर भी इन्होने ससार को सत्य माना है । सौत्रान्तिक ने निर्वाण को असत्य बतलाया है । बाहरी पदार्थों को अनुमान द्वारा गृहीत मानने के कारण सौत्रान्तिको को बाह्यार्थानुमेय-वादी भी कहा गया है ।

3 **योगाचार**—महायान सम्प्रदाय की पहली शाखा दार्शनिक धरातल पर 'योगाचार' नाम से विख्यात हुई । इस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा का श्रेय आचार्य मैत्रेयनाथ को है । इनका स्थिति काल तीसरी शताब्दी माना जाता है । इनके परवर्त्ती आचार्यो मे चौथी शताब्दी मे आचार्य असग, पाँचवी शताब्दी मे आचार्य स्थिरमति, छठी शताब्दी मे आचार्य दिड्नाग, सातवी शताब्दी मे आचार्य धर्मकीर्ति योगाचारवादी हुए हैं । इन आचार्यो के अतिरिक्त योगाचारवादी कुछ अन्य विचारक भी हुए हैं । योग के द्वारा बोधिसत्व की प्राप्ति को मानने के कारण इन्हे योगाचारवादी कहा जाता है । योगाचारवादी विज्ञान या विशिष्ट विचारो के कारण ही सांसारिक पदार्थों की प्रतीति स्वीकार करते है, इसलिए इन्हे विज्ञानवादी भी कहा जाता है । विज्ञानवादियो के अनुसार ससार असत्य है तथा निर्वाण सत्य है । *योगाचारवादी आचार्य दिड्नाग को बौद्ध-न्याय का पिता माना जाता है ।* दिड्नाग ने सांसारिक पदार्थों को असत्य सिद्ध करके ज्ञान को भी असत्य सिद्ध कर दिया है । विज्ञानवादियो के अनुसार ज्ञान तीन प्रकार का होता है—

1 कल्पकाश्रित या परिकल्पित ज्ञान, 2 सापेक्ष्य या परतन्त्र ज्ञान तथा 3 सत्याश्रित या परिनिप्पन्न ज्ञान । विज्ञानवादी सत्याश्रित ज्ञान के आधार प॰ ही निर्वाण को सत्य मानते है ।

4 माध्यमिक—माध्यमिको को शून्यवादी भी कहा जाता है । दूस॰ी शताब्दी मे आचार्य नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' नामक ग्रन्थ की रचना की । आचार्य नागार्जुन का शून्यवाद सभी वस्तुओ के धर्मो को शून्य-स्वभावयुक्त मानता है । आचार्य नागार्जुन के अनुसार शून्य एक अनिर्वचनीय परम तत्त्व है । इसी तत्त्व को लेकर शकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना की है । नागार्जुन के पश्चात् तीसरी शताब्दी मे आचार्य आर्यदेव, पाँचवी शताब्दी मे स्थविर बुद्धपालित तथा भावविवेक, छठी शताब्दी मे आचार्य चन्द्रकीर्ति तथा सातवी शताब्दी मे आचार्य शान्तिदेव नामक शून्यवादी प्रमुख रूप से प्रतिष्ठित रहे हैं । नागार्जुन की कृतियो के चीनी तथा तिब्बती भाषाओ मे अनुवाद हुए हैं । सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से शून्यवाद एक महान् दार्शनिक विचारधारा है । नागार्जुन ने आर्य सत्य, अष्टाग मार्ग तथा क्षणिकवाद एव दुखवाद जैसे सभी सिद्धान्तो को शून्यधर्मासिद्ध करके असत्य सिद्ध कर दिया है । शून्यवादी ससार और निर्वाण दोनो को ही असत्य मानते हैं ।

उपर्युक्त चारो सिद्धान्तो को बौद्ध दर्शन मे सांकेतिक रूप मे निम्नरूपत व्यक्त किया है—

अर्थो ज्ञानचितो वैभाषिकेण बहुमन्यते ।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्ष ग्राह्यार्थो न बहिर्मत ।।
आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य समता ।
केवला सविद स्वस्था मन्यते माध्यमा पुन ।।

जैन दर्शन

ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे वर्धमान या महावीर स्वामी ने जैन दर्शन का प्रवर्तन किया । जब वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड की प्रबलता ने समाज को अन्धविश्वासो का घर बना रखा था तथा मानव समाज धार्मिक कट्टरताओ से दूर हट कर रक्षा का मार्ग अपनाने के लिए व्याकुल था, उसी समय बुद्ध एव महावीर का उदय हुआ । पूर्ववर्ती तीर्थंकरो की परम्परा मे विकसित होने वाले जैन धर्म को एक वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय वर्धमान को ही है । वर्धमान ने बारह वर्ष तक उग्र तपस्या करके समस्त वासनाओ को जीता । केवल ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ससार के उद्धारार्थ जैन दर्शन को समाज के मच पर प्रस्तुत किया । महावीर का सम्बन्ध बिहार के वैशाली नामक नगर से रहा ।

महावीर के शुभ्र वेश के आधार पर जैनियो का श्वेताम्बर सम्प्रदाय विकसित हुआ । महावीर ने नग्नावस्था मे रहकर पूर्ण त्याग का उदाहरण प्रस्तुत किया था और उसी को लक्ष्य करके जैनियो मे दिगम्बर सम्प्रदाय का सूत्रपात हुआ । इन दोनो ही सम्प्रदायो मे जैन दर्शनो के सिद्धान्तो का पूर्णतया आदर किया गया है । जैनदर्शन के साहित्य का वृहद् विकास हुआ है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्यो

'आत्मा' जैसे स्थिर तत्त्वो को मानकर ब्राह्मणवाद का विरोध करते तो उन परिस्थितियो मे यह सब असम्भव था। अत बौद्ध दर्शन का स्वरूप तत्कालीन परिस्थितियो का अनुपम प्रतिबिम्ब है।

बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय

बुद्ध की शिक्षाओ को लेकर बौद्ध दर्शन की चार शाखाएँ प्रचलित हुई, जिनका यहाँ सक्षिप्त विवेचन किया जा रहा

1 **वैभाषिक**—बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा का सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय वैभाषिक नाम से जाना जाता है। अशोक के राज्यकाल मे आचार्य व सुमित्र की अध्यक्षता मे पाँच सौ भिक्षुओ को बौद्ध सगीति ने आर्य कात्यायनी-पुत्र द्वारा रचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर एक टीका लिखी थी, जिसे 'विभाषा' नाम दिया गया। ,विभाषा' के मतानुयायियो को वैभाषिक नाम से पुकारा गया। वैभाषिको मे आचार्य वसुमित्र तथा सघभद्र नामक प्रमुख आचार्य हुए हैं। वसुमित्र का ईसापूर्व तीसरी शती तथा सघभद्र का समय चौथी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। मनोरथ नामक आचार्य भी सर्वास्तिवादी हुए हैं। इनका समय भी ईसा की चौथी शताब्दी निर्धारित है। सर्वास्तिवाद मे सभी तत्त्वो का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। अत बौद्ध दर्शन का यह सम्प्रदाय गौतम बुद्ध के मूल सिद्धान्त का विरोध करके आगे बढा है।

2 **सौत्रान्तिक**—बुद्ध के उपदेश के अन्तिम भाग को या सूत्र के अन्त वाले भाग को अपनाने के कारण सौत्रान्तिक मत प्रचलित हुआ। इन्होने समस्त पदार्थो का ज्ञान अनुमानजनित स्वीकार किया है। पदार्थो को नाशवान् मानकर भी इन्होने ससार को सत्य माना है। सौत्रान्तिक ने निर्वाण को असत्य बतलाया है। बाहरी पदार्थों को अनुमान द्वारा गृहीत मानने के कारण सौत्रान्तिको को बाह्यार्थानुमेय-वादी भी कहा गया है।

3 **योगाचार**—महायान सम्प्रदाय की पहली शाखा दार्शनिक धरातल पर 'योगाचार' नाम से विख्यात हुई। इस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा का श्रेय आचार्य मैत्रेयनाथ को है। इनका स्थिति काल तीसरी शताब्दी माना जाता है। इनके परवर्त्ती आचार्यो मे चौथी शताब्दी मे आचार्य असग, पाँचवी शताब्दी मे आचार्य स्थिरमति, छठी शताब्दी मे आचार्य दिङ्नाग, सातवी शताब्दी मे आचार्य धर्मकीर्ति योगाचारवादी हुए हैं। इन आचार्यो के अतिरिक्त योगाचारवादी कुछ अन्य विचारक भी हुए हैं। योग के द्वारा बोधिसत्व की प्राप्ति को मानने के कारण इन्हे योगाचारवादी कहा जाना है। योगाचारवादी विज्ञान या विशिष्ट विचारो के कारण ही सासारिक पदार्थों की प्रतीति स्वीकार करते हैं, इसलिए इन्हे विज्ञानवादी भी कहा जाता है। विज्ञानवादियो के अनुसार ससार असत्य है तथा निर्वाण सत्य है। योगाचारवादी आचार्य दिङ्नाग को बौद्ध-न्याय का पिता माना जाता है। दिङ्नाग ने साँसारिक पदार्थों को असत्य सिद्ध करके ज्ञान को भी असत्य सिद्ध कर दिया है। विज्ञानवादियो के अनुसार ज्ञान तीन प्रकार का होना है—

1 कल्पकाश्रित या परिकल्पित ज्ञान, 2 सापेक्ष्य या परतन्त्र ज्ञान तथा 3 सत्याश्रित या परिनिष्पन्न ज्ञान । विज्ञानवादी सत्याश्रित ज्ञान के आधार पर ही निर्वाण को सत्य मानते हैं।

4 माध्यमिक—माध्यमिको को शून्यवादी भी कहा जाता है। दूसरी शताब्दी मे आचार्य नागार्जुन ने 'माध्यमिक कारिका' नामक ग्रन्थ की रचना की। आचार्य नागार्जुन का शून्यवाद सभी वस्तुओ के धर्मों को शून्य-स्वभावयुक्त मानता है। आचार्य नागार्जुन के अनुसार शून्य एक अनिर्वचनीय परम तत्व है। इसी तत्व को लेकर शकराचार्य ने अद्वैतवाद की स्थापना की है। नागार्जुन के पश्चात् तीसरी शताब्दी मे आचार्य आर्यदेव, पाँचवी शताब्दी मे स्थविर बुद्धपालित तथा भावविवेक, छठी शताब्दी मे आचार्य चन्द्रकीर्ति तथा सातवी शताब्दी मे आचार्य शान्तिदेव नामक शून्यवादी प्रमुख रूप से प्रतिष्ठित रहे हैं। नागार्जुन की कृतियो के चीनी तथा तिब्बती भाषाओ मे अनुवाद हुए हैं। सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से शून्यवाद एक महान् दार्शनिक विचारधारा है। नागार्जुन ने आर्य सत्य, अष्टाग मार्ग तथा क्षणिकवाद एव दु खवाद जैसे सभी सिद्धान्तो को शून्यधर्मासिद्ध करके असत्य सिद्ध कर दिया है। शून्यवादी ससार और निर्वाण दोनो को ही असत्य मानते है।

उपर्युक्त चारो सिद्धान्तो को बौद्ध दर्शन मे सांकेतिक रूप मे निम्नरूपत व्यक्त किया है—

अर्थो ज्ञानचितो वैभाषिकेण बहुमन्यते।
सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्ष ग्राह्यार्थो न बहिर्मत ।।
आकारसहिता बुद्धियोंगाचारस्य समता।
केवला सविद स्वस्था मन्यते माध्यमा पुन ।।

जैन दर्शन

ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे वर्धमान या महावीर स्वामी ने जैन दर्शन का प्रवर्तन किया। जब वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड की प्रबलता ने समाज को अन्धविश्वासो का घर बना रखा था तथा मानव समाज धार्मिक कट्टरताओ से दूर हट कर रक्षा का मार्ग अपनाने के लिए व्याकुल था, उसी समय बुद्ध एव महावीर का उदय हुआ। पूर्ववर्ती तीर्थंकरो की परम्परा मे विकसित होने वाले जैन धर्म को एक वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय वर्धमान को ही है। वर्धमान ने बारह वर्ष तक उग्र तपस्या करके समस्त वासनाओ को जीता। केवल ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ससार के उद्धारार्थ जैन दर्शन को समाज के मच पर प्रस्तुत किया। महावीर का सम्बन्ध बिहार के वैशाली नामक नगर से रहा।

महावीर के शुभ्र वेश के आधार पर जैनियो का श्वेताम्बर सम्प्रदाय विकसित हुआ। महावीर ने नग्नावस्था मे रहकर पूर्ण त्याग का उदाहरण प्रस्तुत किया था और उसी को लक्ष्य करके जैनियो मे दिगम्बर सम्प्रदाय का सूत्रपात हुआ। इन दोनो ही सम्प्रदायो में जैन दर्शनों के सिद्धान्तो का पूर्णतया आदर किया गया है। जैनदर्शन के साहित्य का वृहद् विकास हुआ है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों

ने विभिन्न सभाऐं आयोजित करके बारह आगमिक ग्रन्थो का सग्रह किया। इन ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है—1 'आचारागसूत्र,' 2 'सूत्रकृताग', 3 'स्थानांग', 4 'समवायाग', 5 'भगवतीसूत्र', 6 'ज्ञानधर्म-कथा', 7 'उपासक-कथा', 8 'अतक्रुनदशा', 9 'अनुत्तरौपपादिक दशा', 10 'प्रश्नव्याकरणानि', 11 'विपाकश्रुत', तथा 12 'दृष्टिवाद'। दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यो मे स्वामी कार्तिकेय का 'उत्प्रेक्षा' नामक ग्रन्थ जैन धर्म के अग विशेष श्रावक धर्म को प्रतिष्ठित करने वाला सिद्ध हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'चरित्रपाहुड' नामक ग्रन्थ की रचना करके श्रावक धर्म को प्रतिष्ठित किया। उमास्वामी का 'तत्वार्थसूत्र' दार्शनिक प्रतिभा का ग्रन्थ है। स्वामी समनभद्र का 'रत्नकरण्ड' जैन धर्म और दर्शन को प्रतिपादित करने वाला सिद्ध हुआ है। जैन दर्शन को परिलक्षित करने वाले जैन साहित्यकारो ने भी जैन दर्शन को विकसित करने मे योगदान दिया। नवम शताब्दी मे महाकवि धनजय ने 'राघवपाण्डवीय' नामक महाकाव्य की रचना की। विमलसूरि का 'पउमचरिउ' प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध कथा-साहित्य-स्वरूप ग्रन्थ है। जैन-दर्शन को विकसित करने वाले आचार्यो मे भद्रबाहु, शाकटायन, स्वयमु आदि के नाम उल्लेखनीय है।

जैन दर्शन का स्वरूप

'जिन' शब्दो मे 'अण' प्रत्यय लगाने से जैन शब्द निष्पन्न हुआ है। वासनाओ को जीतने वाले व्यक्ति को जैन कहा जाता है। वर्धमान वासनाओ को जीतने के कारण जैन बने। जैन दर्शन का तात्विक विश्लेषण उदार रहा है। यहा हम जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तो का सक्षिप्त विश्लेषण कर रहे है।

जैन दर्शन मे सात तत्त्वो का विश्लेषण किया गया है जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा तथा मोक्ष को सात तत्त्वो के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। जैन दर्शन मे जीव के स्वरूप का विवेचन करते समय मनोविज्ञान का भी ध्यान रखा गया है। तीर्थंकर की स्थिति को प्रकट करने के लिए चौदह गुणो का वर्णन किया गया है। ससार के जीव सत्य सिद्धान्तो मे विश्वास न रखने का कारण 'मिथ्यात्व' के शिकार होते है। जब कोई व्यक्ति असत्य मार्ग को ग्रहण करता है तो उसे 'सासादन' नामक गुण से युक्त माना जाता है। मनुष्य की सत्यासत्य दृष्टि को 'मिश्र' नामक लक्षण के रूप मे रखा गया है। जब व्यक्ति सत्सगति को पाकर सत्य सिद्धान्तो को जान जाता है, परन्तु वह वासनाओ के वशीभूत रहता है तो उसे 'असयत सम्यक्दृष्टि' गुण स्थान वाला बताया जाता है। जब व्यक्ति सयम की ओर बढता है तो उसे 'सयतासयत' गुण स्थान वाला माना जाता है। जब व्यक्ति काम क्रोध जैसे विकारो को जीतने की सामर्थ्य वाला होता है तो उसे 'प्रमत्तसयत' लक्षण वाला माना जाता है। वासनाओ पर सहज विजय की भूमिका 'अप्रमत्तसयत' गुणस्थान कहलाती है। 'अपूर्वकरण' के माध्यम से महापुरुष के कर्मोदय का शमन होने लगता है। इच्छाओ और वृत्तियो के विनाश को अनिवृत्तिकरण' के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। अन्तरग से इच्छाओ को उन्मूलित करने के गुणस्थान को 'सूक्ष्मान्तराय'

कहा गया है। कर्मशमन से मिली आत्म-शान्ति 'अपशांतकषाय' गुणस्थान कहलाती है। भावावेगो को नष्ट करने को 'क्षीणकषाय' कहा गया है। मन, वचन और शरीर पर पूर्ण विजय को 'सयोग केवली गुणस्थान कहा गया है। सिद्धावस्था या कैवल्य की स्थिति को 'अयोग केवली' नाम दिया गया है। जीव को कैवल्य दिलाने वाले उपर्युक्त गुणस्थानो का विकासपरक अवतारवाद के मनोवैज्ञानिक रूप को सुपुष्ट करता है।

जीव के स्वरूप का विवेचन जैन दर्शन की तर्कवादिता को प्रस्तुत करता है। जीव को ससरण और मुक्त दोनो रूपो मे रखकर उसके आठ लक्षणो की ओर निर्देश किया गया है। जीव का 'उपयोगमय' रूप उसे प्रकृति से पृथक् रूप प्रदान करता है। ज्ञान जीव का धर्म या लक्षण है, प्रकृति का नही। जड प्रकृति को कथमपि ज्ञाना नही माना जा सकता। जीव का स्वरूप सूक्ष्म है, अत वह अदृश्य होने के कारण 'अमूर्तिक' कहा गया है। जीव शरीर मे स्थित होकर शुभाशुभ का कर्त्ता बनता है। अतएव वह 'कर्त्ता' कहलाता है। जीव जिस शरीर को धारण करता है, उसी के आकार का हो जाता है। जैन दर्शन का यह विश्लेषण प्रत्यक्ष सिद्धान्त के ऊपर आधारित है। शुभ कार्य करने के कारण जीव सुखी होता है और अशुभ कार्य करने के कारण दु खी। जब जीव को कर्त्ता कह दिया गया है तो उसे 'भोक्ता' मानना स्वत तर्कसगत हो जाता है। जीव विषयो से विरक्त होना चाहता है तथा वह सदैव आनन्द की ओर अग्रसर रहता है, अत जीव 'ऊर्ध्वगामी' कहलाता है। जब तक जीव मिथ्या चरित्र, मिथ्या ज्ञान तथा मिथ्या दर्शन के वशीभूत रहता है, तब तक वह 'ससारी' कहलाता है। ससारी जीव जन्म-मरण के चक्र में घूमने के लिए विवश हो जाता है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र वाला जीव मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है। वही तीर्थंकर कहलाता है। उसी को सिद्ध कहा जाता है।

जैन दर्शन मे दूसरा तत्त्व 'अजीव' बताया गया है। अजीव तत्त्व के पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल। रूप रस तथा गन्ध से युक्त तत्त्वो को पुद्गल कहा है। जीवो तथा पुद्गल तत्त्वो की गति मे सहायक तत्त्व धर्म है तथा तत्त्वो के ठहराव में सहायक तत्त्व ही अधम है। चेतन-अचेतन तत्त्वो के आधारभूत तत्त्व को 'आकाश' कहा है। स्वत गतिशील तत्त्व विशेष को काल कहा गया है। काल अपने यथार्थ रूप मे गतिशून्य भी कहा गया है।

जैन दर्शन का तीसरा तत्त्व 'आस्रव' है। शुभाशुभ कर्मों के उदय को आस्रव कहा गया है। आत्मा का कर्मों मे लिप्त हो जाना 'बन्ध' कहलाता है। कर्मों के उदय को रोकने की आत्म-शक्ति को 'सवर' के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। व्यक्ति के सचित कर्मो को फलीभूत करके अपने आप दूर हो जाने वाली स्थिति को 'निर्जरा' कहा गया है। कर्मो तथा कर्म के कारणो को आत्मा से पृथक् करके प्राप्त होने वाली विशुद्धावस्था को 'मोक्ष' कहा गया है।

जैन दर्शन मे प्रमाण-विवेचन को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया गया है। जैन दार्शनिको ने प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा आगम नामक प्रमाणो को स्वीकार किया है। प्रत्यक्ष प्रमाण मे चार तत्त्वो को स्वीकार किया गया है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष से वस्तु का प्राथमिक ज्ञान 'अवग्रह' कहलाता है, यथा–किसी वस्तु के रग का ज्ञान। अवग्रह के उपरान्त वस्तु का सम्बन्ध विशेष जानने की इच्छा को 'ईहा' नाम दिया गया है। श्वेत रग की वक्र-पक्ति की सम्भावना को ईहा के अन्तर्गत ही रखा जाएगा। ईहा के उपरान्त निर्णयात्मक ज्ञान की भूमिका उपस्थित होती है, जिसे 'अवाय' कहा गया है, यथा–बगुलो या वको के पखो की फडफडाहट का ज्ञान। अवाय के पश्चात् यह धारणा बन जाती है कि वह श्वेत पक्ति बको की ही पक्ति है। इस स्थिति को 'धारणा' कहा गया है। जैन दर्शन मे पूर्ण पवित्र ज्ञान के प्रत्यक्षीकरण को 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' नाम से अभिहित किया गया है।

जैन दार्शनिको ने अनुमान प्रमाण का विवेचन करते समय नैयायिको तथा बौद्धो की अनुमान प्रमाणपरक धारणाओ का खण्डन किया है। अनुमान को व्यक्तिगत सन्दर्भ मे 'स्वार्थानुमान' तथा समष्टिगत सन्दर्भ मे 'परानुमान' कहा गया है। नैयायिको ने अनुमान प्रमाण के पच अवयव—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निर्गमन को तथा बौद्धो के अनुमान प्रमाण के तीन अवयवो को आडे हाथो लिया है–

अन्यथानुपपन्नतत्त्व यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्त्व यत्र तत्र त्रयेण किम्॥
अन्यथानुपपन्नत्त्व यत्र किं तत्र पञ्चभि।
नान्यथानुपपन्नत्त्व यत्र किं तत्र पञ्चभि॥

जैन दार्शनिको के प्रमाण-विवेचन के इतिहास मे व्याप्ति सम्बन्ध की अटूटता पर बल देकर एक नया अध्याय अवश्य जोड दिया है। फिर भी बौद्धो तथा नैयायिको के अनुमान प्रमाण को स्पष्टता की दृष्टि से उल्लेखनीय मानना चाहिए। जैन दर्शन मे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क तथा आगम प्रमाणो का स्वातन्त्र्य भी तर्कसगत रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

जैन दर्शन ज्ञान को अनेक रूपो मे प्रतिफलित मानता है। इसीलिए अनेकान्तवाद का सिद्धान्त प्रचलित है। 'स्यात्' का अर्थ है–सभवत तथा 'वाद' का अर्थ है–विचारधारा का ज्ञान। यदि किसी वस्तु का ज्ञान अनेक रूपो मे हो सकता है तो ऐसी ज्ञान प्रक्रिया को स्याद्वाद कहा जाएगा। यहाँ स्याद्वाद का सांकेतिक वर्णन किया जा रहा है। स्याद्वाद के सात रूप मानने का आधारभूत मन्त्र निम्न है––

भङ्गा सत्त्वादय सप्त, सशया सप्त तद्गता।
जिज्ञासा सप्त, सप्त स्यु प्रश्ना सप्तोत्तराण्यादि।

अर्थात् भग या रूप सात हैं, उन सात रूपो से सम्बद्ध सात सशय हैं, सात प्रकार की ही जिज्ञासाएँ हैं, सात ही प्रकार के प्रश्न तथा सात ही प्रकार के उत्तर हैं। ये सात रूप या वाक्य इस प्रकार हैं–1 स्यादस्ति, 2 स्यान्नास्ति, 3 स्यादस्ति नास्ति च, 4 स्यादस्ति अवक्तव्यश्च, 5 स्यान्नास्ति अवक्तव्यश्च, 6 स्यादवक्तव्य

तथा 7 स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च । अत किसी दृष्टि से कोई चीज है और दूसरी दृष्टि से वही चीज उस रूप मे नही भी है । यह स्थिति अनिर्वचनीय होने स सात प्रकार की हो जाती है । इसी सन्दर्भ मे जैन दार्शनिको ने सांख्य तथा बौद्ध मतो का खण्डन किया है ।

जैन मुनि विशुद्ध अहिंसावादी होने के नाते अपने मुँह पर पट्टी तक बांधे रहते है, ताकि उनके मुँह मे कीटादि जाकर हिंसित न हो सकें । यह सम्पूर्ण पृथ्वी जीव-जन्तुओ से भरपूर है । अत इसमे जान-बूझकर हिंसा करने वाले व्यक्ति पापी है तथा अपने स्वार्थ को छोडकर सात्विक भावना से कर्मपरायण व्यक्ति नितान्त अहिंसावादी होते हैं । अहिंसा के स्वरूप को जानने के लिए हिंसा का स्वरूप जानना भी आवश्यक है । जैन दर्शन मे सांकल्पिकी तथा असांकल्पिकी नाम से हिंसा के दो भेद किए गए है--मन, वचन तथा तन द्वारा अनुमोदित हिंसा को सांकल्पिकी हिंसा कहा जाता है क्योकि ऐसी हिंसा मे हिंसक का सकल्प विद्यमान रहता है । असांकल्पिकी हिंसा सकल्पहीन होती है । इनके तीन प्रकार हैं--आरम्भी, उद्योगी तथा विरोधी । चक्की, चूल्हा, स्नानघर आदि मे जो हिंसा होती है, वह 'आरम्भी' कहलाती है । जीविका चलाने के लिए न्याय पथ पर चलते समय जो हिंसा होती है उसे 'उद्योगी' हिंसा कहते हैं । यथा कृषक के खेत मे कीडे-मकोडो की हिंसा । जब सामर्थ्यवान् व्यक्ति न्याय की रक्षा के लिए विरोधी को हानि पहुँचाते हैं तो उसे 'विरोधी' हिंसा कहा जाता है । अत हमे सांकल्पिकी हिंसा का त्याग करके न्याय पथ पर चलकर अहिंसा का पालन करना चाहिए । अहिंसा की महिमा निम्न श्लोको मे दर्शित है--

श्रूयते सर्वशास्त्रेषु सर्वेषु समयेषु च ।
अहिंसा लक्षणो धर्म अधर्मस्तद् विपर्यय ॥

अर्थात् सभी कालो तथा सभी शास्त्रो मे अहिंसा को धर्म का लक्षण बतलाया गया है । अहिंसा का विरोध अधर्म कहलाता है । इस प्रकार--

अहिंसैव जगन्माता अहिंसैवानन्दपद्धति ।
अहिंसैव गति साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥

अर्थात् अहिंसा ही ससार की माता है, अहिंसा ही आनन्द प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है, अहिंसा ही श्रेष्ठ गति या प्रगति है तथा अहिंसा ही अविनाशी धन है।

जैन दार्शनिको ने जातिवाद की कटु आलोचना की है । जैन दर्शन ने सहज ज्ञान की समीक्षा के आधार पर मनुष्यत्व पशुत्व आदि को मानव तथा पशु-जातियो के रूप मे ग्रहण किया है । मानव जाति कर्मप्रधान जाति है । इस मानव जाति को आचरण के आधार पर अनेक वर्णों मे विभाजित किया गया है । ब्राह्मण, ब्राह्मण वर्ण के गुणो को धारण करने से ही ब्राह्मण कहलाता है, न कि ब्राह्मण के घर मे जन्म लेने से । अत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी मानव जाति से सम्बद्ध हैं। मानव को मानव समझने की शक्ति 'रत्नत्रय' की सिद्धि मे सहायक है । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैन दर्शन मे वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया गया है । यथा--

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि भारतीय दर्शन केवल नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र है। यह सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। भारतीय दर्शनों में व्यावहारिक उद्देश्य अवश्य है किन्तु हम इसका मिलान नीति-शास्त्र से नहीं कर सकते। भारतीय दर्शनों में युक्ति-विचार की उपेक्षा नहीं की गयी है। भारतीय तत्त्व विज्ञान, प्रमाण-विज्ञान तथा तर्क-विज्ञान के विचारों की दृष्टि से किसी भी पाश्चात्य दर्शन से हीन नहीं है।/

2 आध्यात्मिक असंतोष से दर्शन की उत्पत्ति—भारतीय दर्शन के व्यावहारिक उद्देश्य की प्रधानता का कारण इस प्रकार है। संसार में अनेक दुःख हैं, जिनसे जीवन सर्वथा अन्धकारमय बना रहता है। दुःखों के कारण मन में सर्वथा अशान्ति बनी रहती है। मानसिक अशान्ति से विचार की उत्पत्ति होती है। वेदानुकूल या वेद-विरोधी जितने भी दर्शन हैं, सबमें दुःख-निवारण के लिए ही विचार की उत्पत्ति हुई है। मनुष्य के दुःखों का क्या कारण है—इसे जानने के लिए भारत के सभी दर्शन प्रयत्न करते हैं। दुःखों का किस तरह नाश हो—इसके लिए सभी दर्शन संसार तथा मनुष्य के अन्तर्निहित तत्त्वों का अनुसंधान करते हैं।

नैराश्य मन की एक प्रवृत्ति है जो जीवन को विषादमय समझती है। कुछ लोगों का कथन है कि भारतीय दर्शन पूरा नैराश्यवादी है। अतः व्यावहारिक जीवन पर उसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है किन्तु यह विचार सर्वथा असत्य है। हाँ, भारतीय दर्शन इस अर्थ में अवश्य नैराश्यवादी है कि वह संसार की वस्तु-स्थिति को देखकर चिन्तित और व्यथित हो जाता है किन्तु वह यथार्थतः निराश नहीं होता वरन् संसार की दुःखमय परिस्थिति को दूर करने के लिए पूरा प्रयत्न करता है।/

भारतीयों में एक आध्यात्मिक मनोवृत्ति है जिससे वे सर्वथा निराश नहीं होते वरन् जिसके कारण उनमें आशा का संचार होता रहता है। इसे हम विलियम जेम्स के शब्दों में 'आध्यात्मवाद' (Spiritualism) कह सकते हैं। जेम्स साहब के अनुसार आध्यात्मवाद उसे कहते हैं जो यह विश्वास दिलाता है कि जगत् में एक शाश्वत नैतिक व्यवस्था है और जिससे प्रचुर आशा मिलती रहती है।

3 जगत् की शाश्वत नैतिक व्यवस्था—भारत के सभी दर्शनों में नैतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा का भाव वर्तमान है। चार्वाक का भौतिकवाद ही इसका एकमात्र अपवाद है। चार्वाक के अतिरिक्त और जितने भारतीय दर्शन हैं—चाहे वे वैदिक हों या अवैदिक, ईश्वरवादी हों या अनीश्वरवादी—श्रद्धा एवं विश्वास की भावना से ओतप्रोत हैं।

यह नैतिक व्यवस्था सार्वभौम है। यही विश्व की शृंखला और धर्म का मूल है। यही देवताओं में, ग्रह-नक्षत्रों में तथा अन्यान्य वस्तुओं में वर्तमान है। वैदिक काल में भी इसके प्रति लोगों की श्रद्धा थी। ऋग्वेद की ऋचाएँ इसे प्रमाणित करती हैं। इस अलक्ष्य नैतिक व्यवस्था को ऋग्वेद में 'ऋत' कहते हैं। वैदिक काल के बाद मीमांसा में इसे 'अपूर्व' कहते हैं। वर्तमान जीवन के कर्मों का उपभोग परवर्ती जीवन में अपूर्व के द्वारा ही किया जा सकता है। न्याय वैशेषिक में इसे 'अदृष्ट' कहते हैं, क्योंकि यह दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका प्रभाव परमाणुओं पर

भी पडना है। वस्तुओ का उत्पादन तथा घटनाओ का उत्कर्न इसी के अनुसार होना है। यही नैतिक व्यवस्था आगे चलकर कर्मवाद कहलाती है। कर्मवाद को प्राय भारत के सभी दर्शन मानते है। कर्मवाद के अनुसार नैतिक उत्कर्ष, अर्थात् कर्मो के धर्म तथा अधर्म सर्वथा सुरक्षित रहते हैं।

कर्म-शब्द के दो अर्थ हैं। एक से कर्म के नियम का बोध होता है, दूसरे अर्थ से कर्म से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसका बोध होता है। इसी शक्ति के द्वारा कर्मफल उत्पन्न होते हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार कर्म के तीन भेद है—(1) सचित कर्म, (2) प्रारब्ध कर्म तथा (3) सचीयमान कर्म। (1) सचित कर्म उस कर्म-शक्ति को कहते है जो अतीत, कर्मों से उत्पन्न होता है, किन्तु जिसके फलो का प्रारम्भ नही हुआ रहता। (2) प्रारब्ध कर्म भी पूर्व जीवन मे ही उत्पन्न होता है, किन्तु उसके फलो का प्रारम्भ इस जीवन मे हो चुका है। वर्तमान शरीर तथा धन-सम्पत्ति आदि प्रारब्ध कर्म के फल हैं। (3) सचीयमान या क्रियमाण कर्म उसे कहते है जिसका सचय वर्तमान जीवन मे होता है।

ससार मे नैतिक व्यवस्था है, यह विश्वास होने से ही लोगो मे आशा का सचार होता है। ऐसी हालत मे लोग अपने को ही अपना भाग्य निर्माता समझते हैं। भारतवासी अपने वर्तमान जीवन के दुखो को अपने पूर्ववर्ती जीवन के बुरे कर्मों का परिणाम मानते हैं तथा वर्तमान जीवन के सुकर्मों से अपने भविष्य जीवन को सुखमय बनाने की आशा रखते हैं। मनुष्य जीवन मे इच्छा की स्वतन्त्रता तथा पुरुषार्थ दोनो ही सम्भव है। इससे यह स्पष्ट है कि कर्मवाद का अर्थ भाग्यवाद या नियतिवाद नही है।

पूर्व-जन्मकृत कर्म की पूँजीभूत शक्ति का नाम ही दैव है। इस जीवन के प्रबल प्रयत्नो के द्वारा उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है जैसे—जीवन के बद्ध-मूल अभ्यासो को नवीन प्रबलतर अभ्यासो के द्वारा दबाया जा सकता है।

4 ससार मानो एक रगमच है—भारतीय दर्शनो का एक और सामान्य धर्म है जिसका कर्मवाद के साथ गहरा सम्बन्ध है। इसके अनुसार ससार मानो एक रगमच है जिसमे मनुष्य को कर्म करने का अवसर मिलता है। जिस तरह रगमच पर नाटक के पात्र सज-धजकर आते है और पात्र-भेद के अनुसार नाट्य करते है, उसी तरह इस ससार के रगमच पर शरीर, इन्द्रिय, आदि उपकरणो से सज्जित होकर आता है तथा योग्यतानुसार अपना कर्म करता है। मनुष्य से आशा की जाती है कि वह अपना कर्म नैतिक ढग से करे जिससे उसका वर्तमान तथा भविष्य सुखमय हो। शरीर, ज्ञानेन्द्रिय, बाह्य परिस्थिति आदि विषय ईश्वर से अथवा प्रकृति से तो मिलते हैं किन्तु उनकी प्राप्ति पूर्वार्जित कर्म के अनुसार ही होती है।

5 अज्ञान बन्धन का कारण है, अत तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है—भारतीय दर्शनो की एक समानता यह भी है कि वे अज्ञान को बन्धन का कारण मानते है। अर्थात् तत्त्वज्ञान के अभाव से ही शरीर-बन्धन होता है और दुखो की उत्पत्ति होती है। इनमे मुक्ति तभी मिल सकती है जब ससार तथा

कुछ पाश्चात्य विद्वानो का कथन है कि भारतीय दर्शन केवल नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र है। यह सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। भारतीय दर्शनो मे व्यावहारिक उद्देश्य अवश्य है किन्तु हम इसका मिलान नीति-शास्त्र से नही कर सकते। भारतीय दर्शनो मे युक्ति-विचार की उपेक्षा नही की गयी है। भारतीय तत्त्व विज्ञान, प्रमाण-विज्ञान तथा तर्क-विज्ञान के विचारो की दृष्टि से किसी भी पाश्चात्य दर्शन से हीन नही है।

2 आध्यात्मिक असंतोष से दर्शन की उत्पत्ति—भारतीय दर्शन के व्यावहारिक उद्देश्य की प्रधानता का कारण इस प्रकार है। संसार मे अनेक दुःख हैं, जिनसे जीवन सर्वथा अन्धकारमय बना रहता है। दुःखो के कारण मन मे सर्वथा अशान्ति बनी रहती है। मानसिक अशान्ति से विचार की उत्पत्ति होती है। वेदानुकूल या वेद-विरोधी जितने भी दर्शन हैं, सबमे दुःख-निवारण के लिए ही विचार की उत्पत्ति हुई है। मनुष्य के दुःखो का क्या कारण है—इसे जानने के लिए भारत के सभी दर्शन प्रयत्न करते हैं। दुःखो का किस तरह नाश हो—इसके लिए सभी दर्शन संसार तथा मनुष्य के अन्तर्निहित तत्त्वो का अनुसंधान करते हैं।

नैराश्य मन की एक प्रवृत्ति है जो जीवन को विषादमय समझती है। कुछ लोगो का कथन है कि भारतीय दर्शन पूरा नैराश्यवादी है। अतः व्यावहारिक जीवन पर उसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है किन्तु यह विचार सर्वथा असत्य है। हाँ, भारतीय दर्शन इस अर्थ मे अवश्य नैराश्यवादी है कि वह संसार की वस्तु-स्थिति को देखकर चिन्तित और व्यथित हो जाता है किन्तु वह यथार्थतः निराश नही होता वरन् संसार की दुःखमय परिस्थिति को दूर करने के लिए पूरा प्रयत्न करता है।

भारतीयो मे एक आध्यात्मिक मनोवृत्ति है जिससे वे सर्वथा निराश नही होते वरन् जिसके कारण उनमे आशा का संचार होता रहता है। इसे हम विलियम जेम्स के शब्दो मे 'आध्यात्मवाद' (Spiritualism) कह सकते हैं। जेम्स साहब के अनुसार आध्यात्मवाद उसे कहते है जो यह विश्वास दिलाता है कि जगत् मे एक शाश्वत नैतिक व्यवस्था है और जिससे प्रचुर आशा मिलती रहती है।

3 जगत् की शाश्वत नैतिक व्यवस्था—भारत के सभी दर्शनो मे नैतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा का भाव वर्तमान है। चार्वाक का भौतिकवाद ही इसका एकमात्र अपवाद है। चार्वाक के अतिरिक्त और जितने भारतीय दर्शन हैं—चाहे वे वैदिक हों या अवैदिक ईश्वरवादी हो या अनीश्वरवादी—श्रद्धा एवं विश्वास की भावना से ओतप्रोत हैं।

यह नैतिक व्यवस्था सार्वभौम है। यही विश्व की शृंखला और धर्म का मूल है। यही देवताओ मे, ग्रह-नक्षत्रो मे तथा अन्यान्य वस्तुओ मे वर्तमान है। वैदिक काल मे भी इसके प्रति लोगो की श्रद्धा थी। ऋग्वेद की ऋचाएँ इसे प्रमाणित करती है। इस अलघ्य नैतिक व्यवस्था को ऋग्वेद मे 'ऋत' कहते हैं। वैदिक काल के बाद मीमांसा मे इसे 'अपूर्व' कहते हैं। वर्तमान जीवन के कर्मों का उपभोग परवर्ती जीवन मे अपूर्व के द्वारा ही किया जा सकता है। न्याय वैशेषिक में इसे 'अदृष्ट' कहते है, क्योंकि यह दृष्टिगोचर नही होता। इसका प्रभाव परमाणुओ पर

भी पड़ता है। वस्तुओं का उत्पादन तथा घटनाओं का उत्थान इसी के अनुसार होता है। यही नैतिक व्यवस्था आगे चलकर कर्मवाद कहलाती है। कर्मवाद को प्राय भारत के सभी दर्शन मानते हैं। कर्मवाद के अनुसार नैतिक उत्कर्ष, अर्थात् कर्मो के धर्म तथा अधर्म सर्वथा सुरक्षित रहते हैं।

कर्म-शब्द के दो अर्थ है। एक से कर्म के नियम का बोध होता है, दूसरे अर्थ मे कर्म से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसका बोध होता है। इसी शक्ति के द्वारा कमफल उत्पन्न होते है। दूसरे अर्थ के अनुसार कर्म के तीन भेद है—(1) सचित कर्म, (2) प्रारब्ध कर्म तथा (3) सचीयमान कर्म। (1) सचित कर्म उस कर्म-शक्ति को कहते हैं जो अतीत, कर्मो से उत्पन्न होता है, किन्तु जिसके फलो का प्रारम्भ नही हुआ रहता। (2) प्रारब्ध कर्म भी पूर्व जीवन मे ही उत्पन्न होता है, किन्तु उसके फलो का प्रारम्भ इस जीवन मे हो चुका है। वर्तमान शरीर तथा धन-सम्पत्ति आदि प्रारब्ध कर्म के फल हैं। (3) सचीयमान या क्रियमाण कर्म उसे कहते हैं जिसका सचय वर्तमान जीवन मे होता है।

ससार मे नैतिक व्यवस्था है, यह विश्वास होने से ही लोगो मे आशा का सचार होता है। ऐसी हालत मे लोग अपने को ही अपना भाग्य निर्माता समझते हैं। भारतवासी अपने वर्तमान जीवन के दुखो को अपने पूर्ववर्ती जीवन के बुरे कर्मो का परिणाम मानते हैं तथा वर्तमान जीवन के सुकर्मों से अपने भविष्य जीवन को सुखमय बनाने की आशा रखते हैं। मनुष्य जीवन मे इच्छा की स्वतन्त्रता तथा पुरुषकार दोनो ही सम्भव है। इससे यह स्पष्ट है कि कर्मवाद का अर्थ भाग्यवाद या नियतिवाद नही है।

पूर्व-जन्मकृत कर्म की पूँजीभूत शक्ति का नाम ही दैव है। इस जीवन के प्रबल प्रयत्नो के द्वारा उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है जैसे—जीवन के बद्ध-मूल अभ्यासो को नवीन प्रबलतर अभ्यासो के द्वारा दबाया जा सकता है।

4 ससार मानो एक रगमच है—भारतीय दर्शनो का एक और सामान्य धर्म है जिसका कर्मवाद के साथ गहरा सम्बन्ध है। इसके अनुसार ससार मानो एक रगमच है जिसमे मनुष्य को कर्म करने का अवसर मिलता है। जिस तरह रगमच पर नाटक के पात्र सज-धजकर आते है और पात्र-भेद के अनुसार नाट्य करते है, उसी तरह इस ससार के रगमच पर शरीर, इन्द्रिय आदि उपकरणो से सज्जित होकर आता है तथा योग्यतानुसार अपना कर्म करता है। मनुष्य से आशा की जाती है कि वह अपना कर्म नैतिक ढग से करे जिससे उसका वर्तमान तथा भविष्य सुखमय हो। शरीर, ज्ञानेन्द्रिय, वाह्य परिस्थिति आदि विषय ईश्वर से अथवा प्रकृति से तो मिलते हैं, किन्तु उनकी प्राप्ति पूर्वार्जित कर्म के अनुसार ही होती है।

5 अज्ञान बन्धन का कारण है, अत तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है—भारतीय दर्शनो की एक समानता यह भी है कि वे अज्ञान को बन्धन का कारण मानते है। अर्थात् तत्त्वज्ञान के अभाव से ही शरीर-बन्धन होता है और दुखो की उत्पत्ति होती है। इनसे मुक्ति तभी मिल सकती है जब ससार तथा

आत्मा का तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो। पुन-पुन जन्म ग्रहण करना तथा जीवन के दु खो को सहना ही मनुष्यो के लिए बन्धन है। पुनर्जन्म की सम्भावना का नाश मोक्ष से ही हो सकता है। जैन-मत, बौद्ध-मत, सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति जीवन के रहते भी हो सकती हैं अर्थात् यथार्थ मुक्त-जीवन-काल मे भी प्राप्त हो सकता है।

बन्धन से मोक्ष पाने की जो शिक्षा दी गई है उसका तात्पर्य यह नही कि हम ससार से पराङ्मुख होकर केवल परलोक-चिन्ता मे लगे रहे वरन्, इसका तात्पर्य यह है कि हम केवल इहलोक तथा इहकाल को ही महत्त्व न दें। अपनी दृष्टि को केवल इस लोक मे सीमित न रखें और अदूरदर्शिता से बचें।

मनुष्य के दु खो का मूल कारण अज्ञान है। अत दु खो को दूर करने के लिए ज्ञान की प्राप्ति परमावश्यक है। इससे यह नही समझना चाहिए कि भारतीय दार्शनिको के अनुसार दु खो को दूर करने के लिए केवल तत्त्वज्ञान काफी है। तत्त्वज्ञान को स्थायी तथा सफल बनाने के लिए दो तरह के अभ्यासो की आवश्यकता है (1) निदिध्यासन अर्थात् स्वीकृत सिद्धान्तो का अनवरत चिन्तन तथा (2) आत्म-सयम।

6 अज्ञान को दूर करने के लिए निदिध्यासन आवश्यक है—जीवन के आदर्श को प्राप्त करने के लिए एकाग्र चिंतन तथा ध्यान की इतनी अधिक आवश्यकता है कि भारतीय दर्शन मे इनके लिए एक बडी पद्धति का विकास हुआ है। इस पद्धति का विस्तृत वर्णन योग दर्शन मे मिलता है। बौद्ध, जैन, सांख्य, वेदान्त तथा न्याय-वैशेषिक दर्शनो मे भी इसका वर्णन किसी-न-किसी रूप मे पाया जाता है। केवल तार्किक युक्ति के द्वारा जो दार्शनिक सिद्धान्त स्थापित होते हैं, वे स्थायी नही होते। उनका प्रभाव क्षणिक होता है। अत कोरे तत्त्वज्ञान से ही अज्ञान का नाश नही होता। भ्रांत सस्कारवश दैनिक जीवन बिताने के कारण हमारा अज्ञान और बद्धमूल हो जाता है। इसलिए हमारे विचार, वचन तथा कर्म, अज्ञान के रग मे रग जाते हैं। फल यह होता है कि विचार, वचन तथा कर्म से पुष्ट होने के कारण अज्ञान और भी दृढतर होता जाता है। ऐसे प्रबल अज्ञान का निराकरण करने के लिए तत्त्वज्ञान का निरन्तर अनुशीलन आवश्यक है। जिस प्रकार निरन्तर सांसारिक प्रपचो मे सलग्न रहने से मिथ्या ज्ञान या कुसस्कार की पुष्टि होती है, उसी प्रकार विपरीत दिशा मे दीर्घकालीन चिन्तन एव अभ्यास के द्वारा ही उनका क्षय तथा नाश हो सकता है। अत ज्ञान की परिपक्वता के लिए ज्ञान को शरीर, मन और वचन के द्वारा जीवन मे उतारने की साधना निरन्तर करते रहने की आवश्यकता है। साधना के बिना न तो अज्ञान का नाश ही हो सकता है, न तत्त्वज्ञान के प्रति हमारा विश्वास ही जम सकता है।

7 आत्म-सयम से वासनाओ का निरोध—सिद्धान्तो का एकाग्रचित्त से मनन करने के लिए तथा उन्हे जीवन मे चरितार्थ करने के लिए आत्मसयम की आवश्यकता है। हमारे कर्म स्वभावत धार्मिक नही होते। उनकी उत्पत्ति बहुधा

वासनाओ तथा नीच प्रवृत्तियो के कारण होती है। अत जब तक तृष्णाओ तथा नीच प्रवृत्तियो का पूर्ण नियन्त्रण नही हो तब तक हमारे कर्म पूर्णतया नैतिक या धार्मिक नही हो सकते।' इस विचार को चार्वाक के अतिरिक्त और सभी भारतीय दर्शन मानते हैं। ठीक ही कहा है कि

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति ।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति ।।" —पचदशी, 6,176

सांसारिक वस्तुओ के मिथ्या ज्ञान से वासनाओ तथा कुसस्कारो की उत्पत्ति होती है। उनके वशीभूत होने के कारण कर्म तथा वचन हमारे सिद्धान्तो के अनुसार नही होते। भारतीय दार्शनिको ने मनुष्य की वासनाओ तथा सस्कारो का भिन्न-भिन्न ढग से वर्णन किया है किन्तु सबो ने राग तथा द्वेष को ही प्रमुख माना है। "साधारणत हमारे कर्म राग-द्वेष से ही उत्पन्न होते है। हमारे ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय राग-द्वेष के अनुसार ही कार्य करते हैं। इन प्रवृत्तियो के अनुसार बराबर काय करते रहने से ये और तीव्र हो जाते है। ससार सम्बन्धी मिथ्याज्ञान का तथा राग-द्वेष जैसी प्रवृत्तियो का नाश तत्त्वज्ञान से ही हो सकता है। यह सही है कि इद्रियो का विवेक-मार्ग पर चलना नितात कठिन है, किन्तु यह परम वांछनीय है। इसके लिए अखण्ड अभ्यास तथा सदाचार की आवश्यकता है।' अत भारतीय दाशनिक अभ्यास को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। उचित दिशा मे अखण्ड प्रयत्न करना ही 'अभ्यास' है।

मन, राग-द्वेष, ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो का नियन्त्रण ही आत्म-सयम कहलाता है। आत्म-सयम का अर्थ इन्द्रियो की वृत्तियो का निरोध करना ही नही है, परन्तु उनकी कुप्रवृत्तियों का दमन कर उन्हे विवेक के मार्ग पर चलाना भी है।

कुछ लोग कहते है कि भारतीय दर्शन आत्म-निग्रह तथा सन्यास ही सिखलाता है और मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियो का उच्छेद आवश्यक समझता है किन्तु यह दोषारोपण युक्ति-सम्मत नही है। उपनिषद्-युग के समय से ही भारतीय दार्शनिक यह मानते आ रहे हैं कि यद्यपि मनुष्य जीवन मे आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ है तथापि मनुष्य का अस्तित्व शरीर प्राण, मन आदि पर भी निर्भर करता है। छान्दोग्य उपनिषद् मे हम पाते है कि श्वेतकेतु नामक एक शिष्य को पन्द्रह दिन बिना अन्न के रखकर गुरु ने समझाया कि शरीर की पुष्टि पर मन की क्रियाएँ भी निर्भर हैं। अत ब्रह्मलाभ करने के लिए भी शरीर, इद्रिय प्राण आदि की पुष्टि के लिए प्रार्थना की जाती है—'आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षु श्रोत्रम् अथो बलम् इन्द्रियाणि च सर्वाणि।' वे यह नही कहते थे कि हमारी प्रवृत्तियो का नाश हो जाए वरन् वे उनके सुधार की शिक्षा देते थे जिससे हम धार्मिक विचारो का अनुशीलन कर सकें। प्रवृत्तियो को बुरे मार्ग मे हटाने के साथ-साथ अच्छे कर्म करने का भी निर्देश रहता था। ऐसा निर्देश हमे योग जैसे कट्टरपथी मत मे भी मिलता है। योग दर्शन मे योगांगो के नाम से 'यम' तथा 'नियम' दोनो का उपदेश है। यम तो निवृत्तिमूलक है ही, साथ साथ नियमो के पालन का भी निर्देश है। यम पाँच

है—(1) हिंसा नही करनी चाहिए। (2) झूठ नही बोलना चाहिए। (3) चोरी नही करनी चाहिए। (4) काम-वासना मे नही पडना चाहिए। (5) लोभ नही करना चाहिए। इन पाँच यमो के नाम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह हैं। किन्तु इनके साथ-साथ नियमो के पालन का भी निर्देश है। शौच, सतोप, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान, ये पाँच नियम है। ये केवल योगदर्शन मे ही नही, वरन् अन्यान्य आस्तिक दर्शनो, बौद्ध एव जैन मतो मे भी पाए जाते हैं। अन्य दर्शनो मे भी मैत्री, करुणा तथा मुदिता (प्रसन्नता) के अनुशीलन करने का उपदेश दिया गया है। गीता मे भी इद्रियो को निष्क्रिय बनाने की शिक्षा नही दी गयी है वरन् उन्हे विवेक के अनुसार परिचालित करने का उपदेश दिया गया है।

रागद्वेपविमुक्तैस्तु विपयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

अर्थात् जो व्यक्ति इद्रियो को रागद्वेप से रहित कर तथा अपने वश मे लाकर आत्म-विजयी हो जाते है, वे इन्द्रियो के द्वारा विपयो का भोग करते हुए भी प्रसाद या सन्तोप प्राप्त करते हैं।

8 मुक्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है—चार्वाक के अतिरिक्त और सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं किन्तु भिन्न-भिन्न दर्शनो मे मोक्ष के भिन्न-भिन्न अर्थ है। यह तो सभी स्वीकार करते है कि मोक्ष की प्राप्ति से जीवन के दुखो का नाश हो जाता है किन्तु कुछ दर्शनो के अनुसार मोक्ष से केवल दुखो का नाश ही नही होता वरन् आनन्द की भी प्राप्ति होती है। वेदान्त जैन आदि मतो के अनुसार मोक्ष से आनन्द की प्राप्ति होती है। कुछ विद्वानो का कथन है कि बौद्धो का भी यही मत था।

भारतीय दर्शन और निराशावाद

भारतीय दर्शन वेदवादी एव वेदविरोधी दृष्टि से क्रमश आस्तिक और नास्तिक कहा गया है। आस्तिकदर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त दैहिक, दैविक तथा भौतिक दुखो को दूर करने के लिए निवृत्तिमार्ग की मुक्त कण्ठ से प्रशसा करते जान पडते है। नास्तिक दर्शनो मे बौद्ध तथा जैन दर्शन भी निवृत्तिमार्ग के सपोषक सिद्ध हुए है। चार्वाक दर्शन के सुखवाद को उक्त सभी दर्शनो ने अमान्य ठहराकर प्रवृत्तिमार्ग की अपेक्षा निवृत्तिमार्ग को ही अनुकरणीय एव प्रशसनीय सिद्ध किया है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर डॉ राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन के निराशावाद की ओर इगित करते हुए लिखा है—"भारतीय दर्शन एव सस्कृति के प्राय प्रत्येक समीक्षक ने इसे एक स्वर से निराशावादपरक बताया है।"[1] चैले ने भारतीय दर्शन को आलस्य और शास्वत विश्राम की भावना से उत्पन्न बताया है।[2] अत प्रवृत्तिमार्ग को आशावाद व निवृत्तिमार्ग को निराशावाद के नाम से पुकारने की परम्परा है।

1 डॉ राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन (भाग 1), पृष्ठ 43
2 चैले एडमिनिस्ट्रेटिव प्राब्लम्स, पृष्ठ 67

प्रवृत्ति मार्ग भौतिक जगत् के कार्य-व्यापार पर बल देता है। हम अपना कार्य करते हुए ससार को सुख और उपभोगमय मानकर वैभव-सम्पन्न हो सकते हैं। इसी दृष्टिकोण के आधार पर बड़ी-बड़ी राजसत्ताएँ स्थापित होती है। परन्तु जब हम ससार की असारता, मिथ्यात्व तथा दु खरूपता का अनुभव करके इन दु खो से बचने का मार्ग ढूढते हुए निवृत्ति पथ की ओर अग्रसर हो जाते है तो हमारा जीवन निराशा से परिपूर्ण हो जाता है। इसी तथ्य को उजागर करने के लिए डॉ राधाकृष्णन् यहाँ तक कह डालते हैं—"भारतीय विचारक निराशावादी इन अर्थो मे है कि वे इस जगत् की व्यवस्था को बुराई व मिथ्या रूप देखते है।"[1] सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मे निराशावाद की प्रधानता का एकमात्र आधार निवृत्तिमार्ग का प्राबल्य ही है, जिसे हम निम्न बिन्दुओ के आधार पर देख सकते हैं—1 बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद, 2 जैन दर्शन मे अहिंसा और त्याग, 3 वेदान्त का मायावाद, 4 योगदर्शन का योग एव कैवल्य, 5 सांख्य का पुरुष एव मोक्ष 6 न्यायदर्शन का अपवर्ग तथा 7 वैशेषिक एव मीमांसा का धर्म।

1 बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद

बौद्ध दर्शन मे ससार को क्षणिक सिद्ध करने के लिए 'द्वादशायतन' को प्रतिपादित किया गया है। द्वादशायतन मे तृष्णा, भव, जरा, मरण आदि को स्थान देकर यही बताया गया है कि यह ससार दुख का स्वरूप है। सस्कार हमारे पुनर्जन्म के कारण हैं। सांसारिक मरक्षण के रूप मे अविद्या को प्रधान कारण माना गया है। वस्तुत ससार की क्षणिकता का अनुभव करने के कारण ही बौद्ध दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। जिस प्रकार से प्याज की पर्तो को छीलते जाने से अन्तत कुछ भी शेष नही रहता, उसी प्रकार अविद्या एव तृष्णा का उच्छेद कर देने से पुनर्जन्म बन्ध निर्बन्ध हो जाता है अथवा निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

बौद्ध दर्शन ने सम्पूर्ण जगत् को तृष्णा का विलास कहकर व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा पर कुठाराघात किया। इस दर्शन की मान्यता के कारण महत्त्वाकांक्षा के मोती को कठोरता की सीपी मे पल्लवित करने का अवसर ही न मिल सका। समाज के द्वन्द्वात्मक रूप से त्राण पाने के लिए बौद्ध दर्शन का अष्टांग योग कोई सुकर एव व्यावहारिक दर्शन प्रस्तुत नही कर सका। वासनाओ के शासन के लिए भिक्षुओ और भिक्षुणियो के समूह आगे बढे, परन्तु वासना के वेग ने उनके त्याग और वैराग्यमय जीवन को भोग और रागमय बना दिया। बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद के आधार पर वीरता का विलोप-सा होता चला गया तथा शान्ति के नन्दन वन को बर्बर जातियो ने प्रचण्ड महिषो के रूप मे मानो मर्दित कर डाला। अत बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध समाज को निवृत्तिमार्ग की ओर अभिप्रेरित करने वाला सिद्ध हुआ। केवल इतना ही नही, अपितु बौद्ध दर्शन मे योगाचारवादियो ने विज्ञानवाद के आधार पर तथा माध्यमिको ने शून्यवाद के आधार पर सृष्टि के अस्तित्व तक को नकार दिया। जो बौद्ध ससार के अस्तित्व तक को अस्वीकारते

1 डॉ राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन, पृ 44

है—(1) हिंसा नहीं करनी चाहिए। (2) झूठ नहीं बोलना चाहिए। (3) चोरी नहीं करनी चाहिए। (4) काम-वासना मे नही पडना चाहिए। (5) लोभ नही करना चाहिए। इन पाँच यमो के नाम अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह है। किन्तु इनके साथ-साथ नियमो के पालन का भी निर्देश है। शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान, ये पांच नियम हैं। ये केवल योगदर्शन मे ही नही, वरन् अन्यान्य आस्तिक दर्शनो, बौद्ध एव जैन मतो मे भी पाए जाते हैं। अन्य दर्शनो मे भी मैत्री, करुणा तथा मुदिता (प्रसन्नता) के अनुशीलन करने का उपदेश दिया गया है। गीता मे भी इन्द्रियो को निष्क्रिय बनाने की शिक्षा नही दी गयी है वरन् उन्हे विवेक के अनुसार परिचालित करने का उपदेश दिया गया है।

रागद्वेषविमुक्तंस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

अर्थात् जो व्यक्ति इन्द्रियो को रागद्वेष से रहित कर तथा अपने वश मे लाकर आत्म-विजयी हो जाते हैं, वे इन्द्रियो के द्वारा विषयो का भोग करते हुए भी प्रसाद या सन्तोष प्राप्त करते है।

8 मुक्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है—चार्वाक के अतिरिक्त और सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं किन्तु भिन्न-भिन्न दर्शनो मे मोक्ष के भिन्न-भिन्न अर्थ है। यह तो सभी स्वीकार करते है कि मोक्ष की प्राप्ति से जीवन के दुखो का नाश हो जाता है किन्तु कुछ दर्शनो के अनुसार मोक्ष से केवल दुखो का नाश ही नही होता वरन् आनन्द की भी प्राप्ति होती है। वेदान्त जैन आदि मतो के अनुसार मोक्ष से आनन्द की प्राप्ति होती है। कुछ विद्वानो का कथन है कि बौद्धो का भी यही मत था।

भारतीय दर्शन और निराशावाद

भारतीय दर्शन वेदवादी एव वेदविरोधी दृष्टि से कमश आस्तिक और नास्तिक कहा गया है। आस्तिकदर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त दैहिक, दैविक तथा भौतिक दुखो को दूर करने के लिए निवृत्तिमार्ग की मुक्त-कण्ठ से प्रशसा करते जान पडते है। नास्तिक दर्शनो मे बौद्ध तथा जैन दर्शन भी निवृत्तिमार्ग के सपोषक सिद्ध हुए हैं। चार्वाक दर्शन के सुखवाद को उक्त सभी दर्शनो ने अमान्य ठहराकर प्रवृत्तिमार्ग की अपेक्षा निवृत्तिमार्ग को ही अनुकरणीय एव प्रशसनीय सिद्ध किया है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर डॉ राधाकृष्णन् ने भारतीय दर्शन के निराशावाद की ओर इगित करते हुए लिखा है—"भारतीय दर्शन एव सस्कृति के प्राय प्रत्येक समीक्षक ने इसे एक स्वर से निराशावादपरक बताया है।"[1] चैले ने भारतीय दर्शन को आलस्य और शास्वत विश्राम की भावना से उत्पन्न बनाया है।[2] अन प्रवृत्तिमार्ग को आशावाद व निवृत्तिमार्ग को निराशावाद के नाम से पुकारने की परम्परा है।

1 डॉ राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन (भाग 1), पृष्ठ 43
2 चैले एडमिनिस्ट्रेटिव प्राब्लम्स, पृष्ठ 67

प्रवृत्ति मार्ग भौतिक जगत् के कार्य-व्यापार पर बल देता है। हम अपना कार्य करते हुए ससार को सुख और उपभोगमय मानकर वैभव-सम्पन्न हो सकते हैं। इसी दृष्टिकोण के आधार पर बडी-बडी राजसत्ताएँ स्थापित होती हैं। परन्तु जब हम ससार की असारता, मिथ्यात्व तथा दु खरूपता का अनुभव करके इन दु खो से बचने का मार्ग ढूढते हुए निवृत्ति पथ की ओर अग्रसर हो जाते है तो हमारा जीवन निराशा से परिपूर्ण हो जाता है। इसी तथ्य को उजागर करने के लिए डॉ राधाकृष्णन् यहाँ तक कह डालते है—"भारतीय विचारक निराशावादी इन अर्थों मे हैं कि वे इस जगत् की व्यवस्था को बुराई व मिथ्या रूप देखते हैं।"[1] सम्पूर्ण भारतीय दर्शन मे निराशावाद की प्रधानता का एकमात्र आधार निवृत्तिमार्ग का प्राबल्य ही है, जिसे हम निम्न बिन्दुओ के आधार पर देख सकते हैं—1 बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद, 2. जैन दर्शन मे अहिंसा और त्याग, 3 वेदान्त का मायावाद, 4 योगदर्शन का योग एव कैवल्य, 5 सांख्य का पुरुष एव मोक्ष 6 न्यायदर्शन का अपवर्ग तथा 7 वैशेषिक एव मीमांसा का धर्म।

1 बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद

बौद्ध दर्शन मे ससार को क्षणिक सिद्ध करने के लिए 'द्वादशायतन' को प्रतिपादित किया गया है। द्वादशायतन मे तृष्णा, भव, जरा, मरण आदि को स्थान देकर यही बताया गया है कि यह ससार दुख का स्वरूप है। सस्कार हमारे पुनर्जन्म के कारण हैं। सांसारिक मरक्षण के रूप मे अविद्या को प्रधान कारण माना गया है। वस्तुत ससार की क्षणिकता का अनुभव करने के कारण ही बौद्ध दर्शन का आविर्भाव हुआ। जिस प्रकार से प्याज की पर्तों को छीलते जाने से अन्तत कुछ भी शेष नही रहता, उसी प्रकार अविद्या एव तृष्णा का उच्छेद कर देने से पुनर्जन्म बन्ध निर्बन्ध हो जाता है अथवा निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

बौद्ध दर्शन ने सम्पूर्ण जगत् को तृष्णा का विलास कहकर व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा पर कुठाराघात किया। इस दर्शन की मान्यता के कारण महत्त्वाकांक्षा के मोती को कठोरता की सीपी मे पल्लवित करने का अवसर ही न मिल सका। समाज के द्वन्द्वात्मक रूप से त्राण पाने के लिए बौद्ध दर्शन का अष्टांग योग कोई सुकर एव व्यावहारिक दर्शन प्रस्तुत नही कर सका। वासनाओ के शासन के लिए भिक्षुओ और भिक्षुणियो के समूह आगे बढे, परन्तु वासना के वेग ने उनके त्याग और वैराग्यमय जीवन को भोग और रागमय बना दिया। बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद के आधार पर वीरता का विलोप-सा होता चला गया तथा शान्ति के नन्दन वन को बर्बर जातियो ने प्रचण्ड मद्विपो के रूप मे मानो मर्दित कर डाला। अत बौद्ध दर्शन का प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्ध समाज को निवृत्तिमार्ग की ओर अभिप्रेरित करने वाला सिद्ध हुआ। केवल इतना ही नही, अपितु बौद्ध दर्शन मे योगाचारवादियो ने विज्ञानवाद के आधार पर तथा माध्यमिको ने शून्यवाद के आधार पर सृष्टि के अस्तित्व तक को नकार दिया। जो बौद्ध ससार के अस्तित्व तक को अस्वीकारते

1 डॉ राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन, पृ 44

रहे, उनकी भौतिकवादी प्रवृत्ति मे आशावाद कैसे पाया जा सकता है ? अत बौद्ध दर्शन मे निराशावाद का अतिरेक है ।

2 जैन दर्शन मे अहिंसा और त्याग

जैन दर्शन मे छ प्रकार के जीवो–पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रस-जीवो के प्रति सयमपूर्ण व्यवहार को अहिंसा कहा गया है ।[1] जैन धर्म के अनुयायियो ने अहिंसा को इसी आधार पर हास्यास्पद रूप तक दे डाला। इस विषय मे विमलचन्द्र पाण्डेय का यह कथन दृष्टव्य है—"जहाँ कुछ अनुयायियो ने अहिंसा के इस व्यापक सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप देने का प्रयास किया, वहाँ वह उपहासास्पद बन गया। उदाहरणार्थ, इस भय से कि कही कोई कीटाणु साँस लेते समय वायु के साथ भीतर जाकर न मर जाय, कुछ जैन अपने नाक-मुँह पर पट्टी बाँधने लगे ।"[2]

जैन दर्शन मे अस्तेय और अपरिग्रह के साथ अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य को स्थान देकर त्याग की चरम सीमा प्रस्तुत की गई है । जीव के भौतिक तत्व का दमन करने के लिए काया-क्लेश को भी आवश्यक माना गया है ।[3] जैन दर्शन कैवल्य की प्राप्ति के लिए तपस्या, व्रत तथा अनशन आदि का पक्षधर रहा है । इस निवृत्ति मार्ग के आधार पर जैन दर्शन का भौतिकता के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है ।

3 वेदान्त का मायावाद

वेदान्त मे ससार के अस्तित्व को मिथ्या सिद्ध करने के लिए 'अध्यारोप' को प्रस्तुत किया गया । जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार मे रस्सी को साँप समझकर व्यक्ति डर जाय तो उस व्यक्ति को भय-ग्रसित कहा जाएगा । उसी प्रकार यह ससार हमे अज्ञान के कारण नितान्त भयावह एव दु खात्मक दिखलाई पडता है । परन्तु, यथार्थत ससार का अस्तित्व उसी प्रकार है जैसा रस्सी रूपी सर्प । इसी तथ्य को विवर्त या मायावाद नाम भी दिया गया । वेदान्तसार मे इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

सतत्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरित ।
अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरित ।।

वेदान्त मे समस्त ससार को मायायिक कहा गया है । सूक्ष्म शरीरमे निवसित सस्कारो के विनाश के लिए यौगिक क्रियाओ के साथ-साथ आत्मज्ञान को विशेष महत्व दिया गया है । जब व्यक्ति मुमुक्षा को अपनाकर अपने मन को विषय वासनाओ की ओर ले जाने से पूर्णत अवरुद्ध हो जाता है तो उसे आत्म प्रसाद की प्राप्ति होती है । निर्विकल्प समाधि के द्वारा सस्कारो का क्षय हो जाता है । सचित कर्मो

1 दस वैकालिक सूत्र, 6/9
2–3 विमलचन्द्र पाण्डेय प्राचीन भारत का राजनैतिक एव सांस्कृतिक इतिहास, पृ 295

के भोग के लिए शरीर कुछ काल तक उसी प्रकार बना रहता है, जिस प्रकार धनुष से छूटा बाण शक्ति के अनुसार दूरी पर जाकर ही गिरता है। अन्तत सिद्ध व्यक्ति अपने शरीर का त्याग करके अनन्त प्रकाश और आनन्द के धाम परमात्मा मे विलीन हो जाता है।

शकराचार्य ने जगत् को मिथ्या कहा तथा ब्रह्म को सत्य। उनका निम्न श्लोक दर्शन जगत् मे अत्यधिक प्रसिद्ध है—

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्त ग्रन्थ कोटिभि ।
ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर ॥

जगद् गुरु ने 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' औपनिषदिक सिद्धान्त की पुष्टि मे अद्वैतवाद को एक नया रूप दिया। रामानुज ने जगत् को सत्य मानकर भी भक्ति तत्व पर इतना जोर दिया कि सब कुछ ईश्वर के लिए समर्पित करने का ही सिद्धान्त बना दिया। वीरता-धीरता जैसे गुणो को छोडकर समाज को दासता की ओर मोडने मे विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि भक्तिमार्गी वेदान्त दर्शन के विभिन्न रूपो का हाथ रहा है। यथार्थत वेदान्त मे ससार के अस्तित्व को नकारने के लिए ब्रह्म की विचित्र कल्पनाएँ हुईं और जब ससार को सत्य मानने के लिए उसी धारा मे आगे बढा गया तो दार्शनिको ने अपने आपको ईश्वर का दास मानकर ही सतोष की श्वासें ली। वेदान्त दर्शन मोक्ष की उस स्थिति को स्वीकार नही सका, जिसमे मुक्त व्यक्ति ईश्वर के समान शक्तिमान होकर दुष्टो का विनाश करने के लिए अपने हाथ मे शस्त्र धारण करता है। अवतारवाद की उल्टी गगा बहाकर जन-जीवन मे दासता और निराशा का मन्त्र फूंकने का श्रेय वेदान्त दर्शन को ही है।

4 योग दर्शन का योग एव कैवल्य

योगदर्शन मे चित्त की वृत्तियो का निरोध[1] करने का योगोपदेश दिया गया है। सभी व्यक्तियो को दु ख के समुद्र मे गिरा देखकर दु खो से मुक्ति हेतु एक वैज्ञानिक मार्ग प्रदान करना योगदर्शन की सबसे बडी देन है। योगदर्शन मे समस्त वैभवो को प्राप्त करने के साधन बताए गए है। परन्तु साथ ही उन सभी वैभवो मे विरक्त या अनासक्त रहने का भी उपदेश और अनुदेश दिया गया है। कैवल्य की प्राप्ति को चरमोन्नत पुरुषार्थ बतलाया गया है। कैवल्य को पाने के लिए उद्यत पुरुष या जीव ससार का उपकार करने की बात प्राय नही सोचता, वह तो कैवल्य मे अनन्त आनन्द को पाने के लिए विलीन हो जाना चाहता है। धर्ममेघ समाधि के द्वारा वह कैवल्य मे भी प्रवेश कर जाता है। योगदर्शन का ईश्वर भी ससार के सामने कोई उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए लीला नही करता। चित्त की शुद्धि के लिए जो उपाय बतलाए हैं, वे सभी दु ख-जनित निराशा को दूर करने वाले अवश्य हैं, परन्तु योगदर्शन से यह आशा नही की जा सकती कि योगसिद्ध व्यक्ति अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति और अनन्त तेज को पाकर ससार को सुव्यवस्थित करें। अत

1 योगश्चित्तवृत्तिनिरोध । —योगदर्शन 1/2

योगदर्शन दु खो से मुक्ति दिलाने का एक आशावादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, परन्तु उस वैज्ञानिकता और विभूतिमत्ता को ससार के उद्धार के लिए प्रयुक्त करने का निर्देश नही करता ।

5 सांख्य का पुरुष और मोक्ष

सांख्य प्राचीनतम दर्शन है । इस दर्शन के अनुसार सृष्टि सत्य है । सभी पदार्थ जीव के उपभोग हेतु बने हैं, ऐसा भी माना गया है । परन्तु सांख्य दर्शन ने 'पुरुष' को मूलत निबन्ध घोषित कर दिया है । जीव अन्धा है और प्रकृति पगु । अत जीव अपने ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रकृति को चेतनामय बनाकर मोक्ष की प्राप्ति करने मे समर्थ होना है । पुरुष यथार्थत बधा न था, प्रकृति ही बंधी थी, पुरुष स्वत मुक्त था, प्रकृति रूप जीव ही प्रकृति मे बँधा था, पुरुष ससार चक्र मे नही घूम रहा था, प्रकृति ही घूम रही थी—

> तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि समरति कश्चित् ।
> ससरति बद्धयते मुच्यति च नानाश्रया प्रकृति ।।
>
> —सांख्यकारिका

वस्तुत सांख्य दर्शन की इस अवधारणा ने वेदान्त दर्शन के मायावाद को अच्छा रास्ता दे दिया । सांख्य ने सृष्टि को सत्य मानकर भी प्रवृत्ति मार्ग पर ऐसा अकुश लगाया कि पुरुष को उसके विशुद्ध रूप मे लाने का प्रयास करके भी ससार की सुव्यवस्था का कोई प्रवृत्तिमार्गी उपाय नही सोचा ।

6 न्याय दर्शन का अपवर्ग

न्याय दर्शन मे सृष्टि को सत्य और असत्य या नित्यानित्य रूप मे बडे तर्क विवेचन के पश्चात् ग्रहण किया गया । नैयायिको ने दु खो से मुक्ति पाने के लिए 16 तत्वो को स्वीकारा, जिनके विषय मे न्यायदर्शन के सन्दर्भ मे प्रकाश डाला गया है । न्यायदर्शन ने धार्मिक कार्यों को भी महत्व दिया । पूर्ण दु ख-विमुक्ति को मोक्ष या अपवर्ग तक कह डाला--'तदत्यन्तविमुक्तिमोक्षोऽपवर्ग ।' परन्तु न्यायदर्शन ने ससार को ऐसा कुछ नही सुझाया कि त्रिविध दु ख मे जो भौतिक दु ख हैं, जिसमे मारकाट, साम्प्रदायिक सघर्ष, अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि तक को गिना जाता है, उससे जूझने के लिए कोई ठोस उपाय सामने नही रखा । नैयायिक जीव के दु ख को दूर करने के लिए चरम सीमा पर अवश्य पहुँचे, परन्तु वे प्रवृत्ति मार्ग के पक्ष पर चलता-सा ही विचार कर पाए ।

7 वैशेषिक एव मीमांसा का धर्म

वैशेषिक दर्शन मे धर्म को मोक्ष का कारण बनाया गया है तथा मीमांसा मे भी । ये दोनो ही दर्शन साधारण बुद्धि वाले लोगो के लिए बनाए गए । इनमे धर्म की व्याख्या भी वैज्ञानिक रूप मे की गई । समाज को व्यवस्थित करने का एक सुन्दर उपाय भी इन दर्शनो मे दर्शनीय है । परन्तु मीमांसा दर्शन तो यज्ञवाद मे उलझा हुआ प्रतीत होता है जो प्रवृत्ति मार्ग का विशुद्ध पक्ष नही कहा जा सकता । बच

जाता है वैशेषिक दर्शन, जो निःश्रेयस की सिद्धि के लिए दार्शनिक गहराइयों का स्पर्श करता हुआ व्यक्ति को मोक्ष के द्वार पर ले जाकर खड़ा कर देता है। मीमांसा दर्शन का कर्मवादी दृष्टिकोण भी वेद पर आधारित होने के कारण पूर्ण स्वतन्त्रता के वातावरण को प्रस्तुत करने मे असमर्थ रहता है।

जब हम निराशावाद की ओर देखते है तो ऐसा लगता है कि 'खाओ-पीओ मौज करो' या 'ऋण कृत्वापि घृत पिबेत' सिद्धान्त भी निराशा से शून्य नही है। जब हम दुःखी रहेगे तो किस प्रकार से ठीक तरह से मौज कर सकेंगे ? अत त्रिविध दुःख का निराकरण करने के लिए जितने भी दर्शनो का उदय हुआ, वह एक आशावादी कदम ही है। वेदान्त का अवतारवाद विशुद्ध आशावादी कदम है, परन्तु अवतार की बराबरी अन्य कोई व्यक्ति नही कर सकता, यह पराजय की स्वीकृति है तथा दासता को निरन्तर बनाए रखने की सस्तुति है। फिर सामाजिक व्यवस्थाओ के विषय मे स्वच्छन्द विचार विमर्श के अभाव मे भी प्रवृत्ति मार्ग का कोई विशेष पहलू नही रखा गया। वैदिक साहित्य मे भोग और योग का समन्वय विशुद्ध प्रवृत्ति मार्ग के रूप मे सामने आया था। परन्तु आगे के विकासशील शास्त्रो मे उस प्रत्यक्षवाद को बहुत कम महत्त्व दिया गया और हमारे सामने रह गए तीनो दुःख और मोक्ष। यहाँ यह सकेत कर देना भी उचित है कि भारतीय दर्शन मे शैव-दर्शन को भी स्थान मिला है। परन्तु प्राय शैव-दर्शन को नास्तिक एव आस्तिक दर्शनो मे स्थान नही दिया जाता। शैव-दर्शन वेदान्त दर्शन की भाँति बहुमुखी तथा गहन दर्शन है। शैव सृष्टि को आनन्दमय मानते है। वे भोग और योग को समन्वित महत्त्व देते हैं। दुःख को शिव की ओर बढाने का प्रेरक-तत्त्व स्वीकार करते है। अत शैव-दर्शन मे सर्वत्र आनन्दवादिता को महत्त्व देकर प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का समन्वय करके एक आशावादी ही नही, अपितु विश्वासवादी दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है। प्रसाद ने कामायनी मे इसी रहस्य को प्रकट करते हुए लिखा है—

> काम मगल से मण्डित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम।
> तिरस्कृत कर उसको तुम भूल, बनाते हो असफल भव धाम॥
>
> —श्रद्धा सर्ग

धर्मशास्त्र
(Dharam Shastra)

धर्मशास्त्र शब्द एक व्यापक अर्थ का बोधक है। धर्मशास्त्र के अन्तर्गत राजा-प्रजा के अधिकार एव कर्तव्य, सामाजिक आचार-विचार एव व्यवस्था, वर्णाश्रमधर्म, नीति, सदाचार और शासन-सम्बन्धी नियमो का उल्लेख किया जाता है। 'श्रुति' शब्द से वैदिक साहित्य का बोध होता है तथा 'स्मृति' शब्द से स्मृति-साहित्य का। आज सीमित रूप मे स्मृति-साहित्य को ही 'धर्मशास्त्र' कहा जाता है। पी वी काणे ने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' पुस्तक मे वैदिक साहित्य से लेकर पुराण-साहित्य पर्यन्त धर्मशास्त्र का उल्लेख किया है। उसका सक्षिप्त रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

	रचना	रचना-काल
1	वैदिक सहिताएँ, ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थ।	— चार हजार ई पू से एक हजार ई पू तक
2	श्रौत्रसूत्र (आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन, सत्याषाढ) गृह्यसूत्र (आपस्तम्ब एव आश्वलायन)	आठ सौ ई पू से पाँच सौ ई पू तक
3	जैमिनि का पूर्व मीमांसा सूत्र	— पाँच सौ ई पू से दो सौ ई पू तक
4	भगवद्गीता	— पाँच सौ ई पू से दो सौ ई पू तक
5	कौटिल्य का अर्थशास्त्र	— तीन सौ ई पू
6	मनुस्मृति	— दो सौ ई पू से सौ ई पू तक
7	याज्ञवलक्य स्मृति	— सौ ई उ से तीन सौ ई उ तक
8	विष्णु धर्मसूत्र	— सौ ई उ से तीन सौ ई उ तक
9	नारद स्मृति	— सौ ई उ से चार सौ ई उ तक
10	पुराण (वायु, विष्णु, मार्कण्डेय मत्स्य, कूर्म)	— तीन सौ ई उ से छ सौ ई उ तक

काणे साहब ने वैयाकरणो के समय तथा उनकी रचनाओ का उल्लेख भी उसी सन्दर्भ मे प्रस्तुत किया है। वस्तुत धर्मशास्त्र का युक्तियुक्त इतिहास उपर्युक्त रूप मे ही जाना जाता है। प्राचीनकाल मे भी धर्मशास्त्र का व्यापक ग्रथ ही स्वीकार किया गया है। यथा--

अर्थशास्त्रमिद प्रोक्त धर्मशास्त्रमिद महत्।
कामशास्त्रमिद प्रोक्त व्यासेनमतिबुद्धिना ॥

—महाभारत, आदिपर्व

हम वैदिक तथा पौराणिक साहित्य के सन्दर्भ मे पहले ही कह चुके हैं। अत हम यहाँ केवल स्मृति-साहित्य के सन्दर्भ मे ही विवेचन करेंगे।

प्रमुख स्मृति-ग्रन्थ—पुराणो की भाँति स्मृतियाँ भी मुख्यत अठारह ही मानी जाती हैं—(1) मनुस्मृति, (2) याज्ञवल्क्य स्मृति, (3) अत्रि स्मृति, (4) विष्णु स्मृति, (5) हारीत स्मृति, (6) उशनस् स्मृति, (7) अगिरा स्मृति, (8) यम स्मृति, (9) कात्यायन स्मृति, (10) बृहस्पति स्मृति, (11) पराशर स्मृति, (12) व्यास स्मृति, (13) दक्ष स्मृति, (14) गौतम स्मृति, (15) वशिष्ठ स्मृति, (16) नारद स्मृति, (17) भृगु स्मृति तथा (18) आपस्तम्ब स्मृति।

स्मृतियों का रचना-काल—स्मृति-ग्रन्थो मे 'मनुस्मृति' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (300 ई पू) मे मनु के नाम का उल्लेख है। कौटिल्य ने कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो का भी उल्लेख किया है। परन्तु हमे यही मानना चाहिए। कि वे सभी राजनीति शास्त्र के विचारक थे, स्मृतिकार नही। महाकवि भास के नाटक मे केवल राजनीति शास्त्र के निर्माता प्राचेतस मनु की चर्चा है। अत मनुस्मृतिकार का समय निर्धारित करने के लिए हमे प्रथम शताब्दी मे होने वाले

महाकवि अश्वघोष की ओर जाना पडता है। अश्वघोष ने मनुस्मृति के श्लोकों को उद्धृत किया है। अत मनुस्मृति की रचना प्रथम शती पूर्व ही माननी पडेगी। हमे इस भ्रम मे नही पडना चाहिए कि मनुस्मृति पौराणिक 'मनु' के नाम पर रचित है, अत वह हजारो वर्ष ईसा पूर्व की रचना होनी चाहिए। मनु', 'वशिष्ठ' 'भृगु' आदि शब्द उपाधिमूलक हैं। अत इन उपाधिमूलक नामो के साथ रचनाकारो के मूल नामो का लोप होने से एक भ्रम उत्पन्न हो जाता है। यथार्थत -सूत्रकाल के पश्चात् ही स्मृतिकाल प्रारम्भ होता है। अत, स्मृतियो की पूर्व सीमा दो सौ ई पू ही माननी चाहिए। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि/पौराणिक सिद्धान्तो से प्रभावित होकर स्मृतिकारो ने अपनी स्मृतियो का नामकरण भी पौराणिक ऋषियो के नाम पर ही किया है।/

स्मृतिग्रन्थो की परम्परा आगे भी विकसित रही है। तेरहवी शताब्दी मे देवण्णभट्ट ने 'स्मृतिचन्द्रिका', चौदहवी शताब्दी मे चण्डेश्वर ने 'स्मृतिरत्नाकर', पन्द्रहवी शताब्दी मे वाचस्पति ने 'चिन्तामणि', सोलहवी शताब्दी मे प्रताप रुद्रदेव ने 'सरस्वती-विलास' तथा सत्रहवी शताब्दी मे कमलाकर भट्ट ने 'निर्णयसिन्धु' की रचना की। अत स्मृति-ग्रन्थो का रचना-काल दो सौ ई पू से लेकर सत्रहवी शताब्दी तक रहा है। स्मृति-ग्रन्थो की टीकाओ के आधार पर स्मृतियो के रचना-काल की सीमा मे और भी वृद्धि हो जाती है।

धर्मशास्त्र का प्रतिपाद्य

धर्मशास्त्र मे मुख्यत निम्नलिखित विषयो पर प्रकाश डाला गया है—
1 सृष्टि-रचना का वर्णन, 2 वर्ण-व्यवस्था, 3 आश्रम-व्यवस्था, 4 राजधर्म, 5 सामाजिक व्यवस्थाएँ।

1 सृष्टि रचना का वर्णन—स्मृतिग्रन्थ वैदिक सिद्धान्तो के आधार पर लिखे गए हैं। वेदो में सृष्टि-रचना का सविस्तार वर्णन है, जिसका प्रमाण ऋग्वेद का 'पुरुष-सूक्त' है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त मे ईश्वर की इच्छा को सृष्टि-रचना का कारण सिद्ध किया गया है। मनुस्मृति मे भी ईश्वर की इच्छा से ही सृष्टि-निर्माण की बात कही गई है। सृष्टि-निर्माण का वर्णन करते समय पचमहाभूतो—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के गुणो का भी विवेचन किया गया है। पृथ्वी मे गन्ध, जल मे तरलता या रस, अग्नि मे रूप, वायु मे स्पर्श या वहनशीलता तथा आकाश मे शब्द गुण विद्यमान है। मनुस्मृति मे ऋग्वेद की रचना अग्नि के द्वारा, यजुर्वेद की रचना वायु के द्वारा आँगिरस ने की थी। यथा—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रय ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु, सामलक्षणम्।
अध्यापयामास पितृन् शिशुरागिरस कवि ॥

इस स्मृति-प्रदत्त पहेली का रहस्य यह है कि अग्नि, वायु और सूर्य नामक तीन ऋषि थे, जो प्राचीनकाल की विभूति समझे जा सकते हैं। 'ब्रह्म शब्द ज्ञान का

वाचक है । अत ज्ञान के विस्तारको को ब्रह्मा कहा गया । अतएव वेदो की रचना ब्रह्म या ब्रह्माओ ने की, यह परम्परा विकसित हो गई । उपर्युक्त तीन ब्रह्माओ की परवर्ती पीढी मे अगिरा हुए । उन्होने अपने अनुमन्धान को अथर्ववेद के रूप मे प्रस्तुत किया । अगिरा ने अथर्ववेद का प्रामाणिक ज्ञान उपर्युक्त तीनो ब्रह्माओ को भी कराया । अत यह प्रसिद्ध हो गया कि ब्रह्मा जैसे पिता को उमके पुत्र अगिरा ने पढाया । पुराणो मे ब्रह्मा के अनेक मानस-पुत्रो की चर्चा है । 'मानस-पुत्र' शिष्य के रूप मे ग्रहण करना चाहिए । अत मनुस्मृति मे भी पौराणिक शैली को अपनाया गया है ।

2 **वर्ण व्यवस्था**—स्मृतियो मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों की व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख है । मनुस्मृति मे ब्रह्माण्डों के छ कार्यो का स्पष्ट उल्लेख किया गया है । ब्राह्मणो के षड् कर्म इस प्रकार हैं—अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान एव प्रतिदान ।

अध्ययन अध्यापन याजन तथा ।
दान प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणस्य कर्म स्मृतम् ।।

क्षत्रिय वर्ण का कार्य समाज-रक्षण, वैश्यो का काय व्यापार तथा शूद्रो का काय सेवा है। स्मृति-ग्रन्थो मे वर्ण-व्यवस्था पर अत्यधिक बल दिया गया है । हमारे धर्मशास्त्र मे शूद्रो के प्रनि न्याय नही हुआ । शूद्रो को पूजा के अधिकार से वचित रखा गया है । शूद्र दूर से ही ईश्वर की प्रतिमा का दर्शन कर सकता है । हाँ, धर्मशास्त्र मे एक बडी अच्छी बात कही है कि वयोवृद्ध शूद्र भी नमस्करणीय होता है । यह अभिवादन उच्च वर्णों द्वारा देय माना गया है ।

3 **आश्रम-व्यवस्था** – धर्मशास्त्र मे चार आश्रमो—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास की व्यवस्था है । मनुष्य की आयु को चार भागो मे विभाजित किया गया है । अत सौ वर्ष की आयु मे से प्रत्येक आश्रम के लिए 25 वर्ष की आयु-सीमा निर्धारित की गई है । ब्रह्मचर्य आश्रम 25 वर्ष की अवस्था तक माना गया है । ब्रह्मचारी कभी कामुकता की बातें नही करता, काम-वासना के विषय मे नही सोचता तथा स्पर्शादि क्रियाओ से सर्वथा दूर रहकर विद्याध्ययन करता है । केवल इतना ही नही, अपितु उसका भोजन हल्का होना चाहिए, सात्त्विक होना चाहिए । ब्रह्मचारी प्रात ब्रह्ममुहूत मे उठकर शौचादिक क्रियाओ से निवृत्त होकर ध्यान करने वाला होना चाहिए । उमे 'ॐ' का जप करना चाहिए । ब्रह्मचारी को अपने शरीर को बलिष्ठ बनाने के लिए प्राणायाम तथा व्यायाम का भी नित्य अभ्यास एव क्रिया करनी चाहिए । वस्तुत यही आश्रम निर्माण-काल है ।

जब ब्रह्मचारी 25 वर्ष की अवस्था को पाकर शारीरत तथा मनसा परिपक्व हो जाता है तो उसके गुरु उसे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने की आज्ञा देते हैं । एक सद्गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने योग्य युवती से विवाह करे । गृहस्थ मे रहता हुआ व्यक्ति भी इतना सदाचारी रहे कि वह अपनी पत्नी को भी छीकती हुई, जभाई लेती हुई, वस्त्र-धारण करती हुई आदि अवस्थाओ मे न देखने

की कोशिश करे। एक सद्गृहस्थ को सोलह संस्कार सम्पन्न करने चाहिएँ। उसे पंच महाव्रतों का पालन करना चाहिए। धनार्जन की प्रक्रिया में पूर्ण कर्मठता तथा ईमानदारी का परिचय देना चाहिए। मनुस्मृति में गृहस्थ को सबसे बड़ा आश्रम बतलाया है।

सर्वेषां आश्रमाणां गृहस्थाश्रम विशिष्यते। —मनुस्मृति

जब गृहस्थी व्यक्ति पचास वर्ष का हो जाए तथा उसके पुत्र पुत्री समर्थ एवं सुव्यवस्थित हो जाएँ तो उसे गृहस्थ का कार्यभार अपने पुत्रों के ऊपर छोड़कर घर-त्याग करना चाहिए। वह इधर-उधर विचरण करता हुआ, उपदेश देता, समाज-सेवा भी करे। ऐसे अतिथियों की सेवा गृहस्थियों को ही करनी होती है। वानप्रस्थ में ध्यान और आत्म-चिन्तन की प्रधानता कही गई है।

पचहत्तर वर्ष की अवस्था में व्यक्ति को समाज से भी सन्यास लेकर एकान्त-वास करना चाहिए। सन्यासी वासनाओं का त्याग करने से ही ज्ञानमार्ग पर चलकर मोक्ष का भागी होता है।

4 राजधर्म—धर्मशास्त्र में राजा को सर्वगुण-सम्पन्न घोषित करके एक आदर्श स्थापित किया गया है। यूनानी विचारक प्लेटो की यह धारणा कि 'राजा दार्शनिक होना चाहिए' को धर्मशास्त्र में व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है। मनुस्मृति में राजा को इन्द्र के समान पराक्रमी, कुबेर के समान धनाढ्य तथा यम के समान न्यायप्रिय घोषित किया गया है। राजा को मुख के समान होना चाहिए, जिससे कि प्रजा को समुचित न्याय मिल सके। यदि राजा ही अपनी प्रजा को न्याय नहीं दे पाएगा तो अराजकता का बोलबाला हो जाएगा। इसीलिए धर्म में साम, दाम, दण्ड तथा भेद नामक चार राजनीतिक चरणों की व्यवस्था भी रखी गई। दण्ड के विषय में मनुस्मृतिकार की यह धारणा मनोवैज्ञानिक जान पड़ती है—

दण्डेन शास्ति प्रजा दुर्लभो हि शुचिर्नर।

एक राजा कितना ही सक्षम क्यों न हो, उसे अपने शासन-सूत्र को संचालित करने के लिए सुयोग्य पार्षदों किंवा सांसदों की आवश्यकता रहती ही है। राजकार्य की व्यवस्था के लिए सन्धि-विग्रह को विशेष महत्त्व दिया गया है।

5 सामाजिक व्यवस्थाएँ—स्मृतियों में आठ प्रकार के विवाहों की ओर संकेत करके वैवाहिक पद्धति पर युक्तिसंगत प्रकाश डाला गया है। ब्राह्म दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य जैसे विवाहों को वैधानिक तथा गांधर्व, पैशाच, आसुर एवं राक्षसी विवाहों को उत्पात एवं कलहमूलक सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार वृद्ध माता-पिता के निर्वाह के लिए मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में सेवा-भाव का प्रतिपादन किया गया है। यदि एक व्यक्ति सौ वर्ष तक भी माता-पिता की निरन्तर सेवा करे तो भी वह माता-पिता के ऋण से उऋण नहीं हो सकता। यदि कोई द्विज विद्याध्ययन एवं गृहस्थ के कार्यों की अवहेलना करके मोक्ष-धर्म को अपनाकर अपने जीवन को सार्थक बनाने की चेष्टा प्रदर्शित करता है तो उस व्यक्ति को धर्मशास्त्र ने पतनोन्मुख ही सिद्ध किया है। यथा—

अवधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य सुतानपि ।
अनिष्ट्वा शक्तितो यज्ञं मोक्षमिच्छन् पतत्यध ॥ —मनुस्मृति

धर्मशास्त्र से नारी-उद्धार की चेतना भी आंशिक रूप मे झलकती है । मनु ने नारी सम्मान की बात युक्तियुक्त रूप मे प्रस्तुत की है । वे स्त्री को पति और पुत्रो के अधीन बतलाकर भी उसकी पूजा या सम्मान की बात पर सहमत जान पडते हैं ।

यत्र नार्य्यंतु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता ।

नारी को गृहिणी का रूप प्रदान करके भी हमारा धर्मशास्त्र इस आधार पर विवेचन करने मे असमर्थ रहा है कि नारी भी पुरुष के समान स्वतन्त्र होकर आश्रम-धर्म का निर्वाह कर सकती है ।

धर्मशास्त्र मे एक-दूसरे के कार्यों मे सहयोग करने के लिए आर्थिक लेन-देन पर भी विचार किया गया है । जहाँ तक हो सके विना ब्याज ही ऋण देना चाहिए । यदि बहुत ही आवश्यक समझा जाए तो ऋण की व्यवस्था साधारण ब्याज पर भी करनी चाहिए । अधिक ब्याज की व्यवस्था को अधर्ममूलक कहा गया है ।

धर्मशास्त्र के अनुसार पापो के प्रायश्चित के लिए अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ है । निष्कर्षत धर्मशास्त्र व्यक्ति और समाज से सम्बद्ध सभी विधानो पर प्रकाश डालने वाला शास्त्र है ।

मनुस्मृति
(200 ईसा पूर्व)

स्मृति ग्रन्थो मे मनुस्मृति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है । वैदिक काल मे मनु नामक कोई राजर्षि हुए हैं । मनु की सन्तान को मानव कहा जाता है । 'मनु' एक उपाधिमूलक शब्द है । इसीलिए अनेक मनुओ को पुराणो मे पढा और देखा जा सकता है । जिस प्रकार से महाभारत का बीज रूप 'जय' काव्य मे ही मिल जाता है, उसी प्रकार हमे सूर्यवश के आदि राजा मनु के विचारो को किसी स्मति के रूप मे वैदिक युग की ही उपज मानना होगा । जिन विचारो से वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् प्रभावित हैं तथा जिन विचारो की वृद्धि कल्पसूत्रो तथा पुराणो मे हुई है, वे ही विचार मनुस्मृति मे दर्शनीय हैं । अत मनुस्मृति का वर्तमान स्वरूप भले ही दो सौ वर्ष ई पू मे निर्धारित हुआ हो, परन्तु उसका मूल रूप प्राचीनकाल से ही किसी न किसी भाषायी माध्यम के रूप मे सुरक्षित रहा होगा । मनुस्मृति के निर्माता के रूप मे भृगु का नाम भी लिया जाता है ।[1] परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रामक है, क्योकि 'भृगु स्मृति' तो एक पृथक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ है । 'नारदस्मृति' मे मनुस्मृति को किसी भार्गव की कृतिमाना है । यह तो सम्भव है कि मनु के विचारो को पुस्तक का रूप देने मे किसी भार्गव ब्राह्मण का योगदान रहा हो । यथार्थत मनु के नाम पर अनेक धर्माचार्यो ने मिलकर मनुस्मृति की रचना की है । फिर

1 वाचस्पति गैरोला सस्कृति साहित्य का इतिहास, पृ 745

भी पौराणिक विस्तार के युग मे मनुस्मृति की रचना हुई है। विभिन्न विद्वानो ने इसी निष्कर्ष पर मनुस्मृति का रचना-काल दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व स्वीकार किया है।[1]

'मनुस्मृति' मे बारह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय मे सृष्टि-रचना का वर्णन हुआ है। ब्रह्मा ने अहकार तथा महतत्त्व को अपने अधीन करके इस विशाल सृष्टि का निर्माण किया। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक पांच तत्वों को क्रमश गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द नामक तन्मात्राओ से युक्त बताया गया है। सृष्टि के निर्माण के पीछे ईश्वर की कामना को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इसी अध्याय मे सृष्टि के चार युगो सत्युग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग की कालावधि का निर्णय किया गया है। सम्पूर्ण सृष्टि मे मानव को सर्वश्रेष्ठ जैविक रचना माना गया है। यथा—

भूताना प्राणिन श्रेष्ठा प्राणिना बुद्धिजीविन ।
बुद्धिमत्सु नरा श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणा स्मृता ॥

—मनुस्मृति, 1/96

दूसरे अध्याय मे अभिवादन पद्धति पर प्रकाश डाला गया है। माता को पिता की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया है। माता-पिता से अधिक गुरु को आदर दिया गया है। ब्राह्मण की श्रेष्ठता ज्ञान से होती है। क्षत्रिय का श्रेष्ठत्व बल के ऊपर निर्भर होता है। वैश्यो को धन-धान्य के आधार पर श्रेष्ठ माना जाता है। शूद्रो मे श्रेष्ठता का निर्धारण अवस्था के आधार पर होता है। आचार्य और गुरु के पावन सम्बन्धो को भी इसी अध्याय मे स्पष्ट किया है। सहनशीलता, वेदाभ्यास की महिमा नित्य स्नान तथा तर्पण आदि को भी सम्यक् स्थान दिया गया है। माता-पिता के आदर के विषय मे मनु के विचार दर्शनीय हैं—

य माता पितरौ क्लेश सहेते सम्भवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृति शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥

—मनुस्मृति, 2/226

'मनुस्मृति' के तीसरे अध्याय मे आठ प्रकार के विवाहो का वर्णन किया गया है। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच नामक विवाहो के विषय मे युक्तियुक्त प्रकाश डाला गया है। राक्षस तथा पैशाचिक विवाह की निन्दा की गई है। क्षत्रियो के प्रसग मे राक्षस तथा पैशाचिक विवाह का समर्थन किया गया है।[2] वेदज्ञ ब्राह्मण वर को बुलाकर तथा उसकी पूजा करके कन्या एव वर को वस्त्रो एवं आभूषणो से सुसज्जित करके विवाह सम्पन्न होने को 'ब्राह्म' विवाह का लक्षण कहा गया है। ज्योतिष्टोम जैसे यज्ञ मे विधिपूर्वक कर्म करते हुए ऋत्विक के लिए कन्यादान करना 'दैव' विवाह का लक्षण माना गया है।

1 सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट सिरीज, भूमिका, पृ 97-98
2 मनुस्मृति, 3/26

आर्ष विवाह वर पक्ष से गाय अथवा बैल को लेकर धर्म-कर्म सम्पादित कराकर कन्यादान कर दिया जाता है। वर-वधू को धर्माचरण का उपदेश देकर विवाह सम्पन्न कराना 'प्राजापत्य' विवाह की विधि मानी गयी है। कन्या पक्ष को यथासम्भव धन देकर कन्या को स्वीकार करना 'आसुर' विवाह माना जाता है। प्रेमपूर्वक या इच्छापूर्वक विवाह को 'गान्धर्व' विवाह का नाम दिया गया है। कन्या पक्ष को पीडित करके या कन्या के साथ बलपूर्वक विवाह 'राक्षस' विवाह कहलाता है। छलपूर्वक किसी कन्या के साथ विवाह करना 'पैशाचिक' विवाह माना गया है। इस अध्याय मे गृहस्थ के ऊपर विशद् प्रकाश डाला गया है।

मनुस्मृति के चौथे अध्याय मे गृहस्थाश्रम के विधि-निषेध का रोचक वर्णन कया गया है। भोजन, वस्त्र-धारण तथा यात्रा आदि के सम्बन्ध मे पर्याप्त नियम-निर्देशन हुआ है। दान लेने तथा दान देने के विषय मे भी पर्याप्त विचार किया गया है। यम-नियमादि की भी सविस्तार चर्चा की गई है। चारो वर्गों के अन्न का स्वरूप भी बतलाया गया है। यज्ञादि इष्ट कर्मों का तथा तालाब, कूप, बावडी, प्याऊ आदि पूत कर्मों की विधियो का उल्लेख किया है।

पचम अध्याय मे मृत्यु, भक्ष्य, अभक्ष्य, आदि का विचार किया है जो व्यक्ति मास नही खाता है, वह लोकप्रिय होता है तथा व्याधियो से पीडित नही होता।[1] 'मांस' शब्द की एक रोचक व्युत्पत्ति भी हो गई है। 'मा' अर्थात् मैं जिसके मांस को यहां खाता हूं, 'स' अर्थात् वह मेरे मांस को परलोक मे खाएगा अत मांस खाना निषिद्ध है। किसी पारिवारिक सदस्य की मृत्यु हो जाने के कारण शुद्धि के समस्त विधानो का भी वर्णन किया गया है। स्त्रियो के अशौच के विषय मे भी तर्कसगत प्रकाश डाला गया है। चतुर्वर्ण के शुद्धिकाल मे भी पर्याप्त विषमताएँ प्रदर्शित की गई है। यथा—

> शुद्धयेद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिय ।
> वैश्य पचदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्धयति ॥
>
> —मनुस्मृति, 5/82

'मनुस्मृति' के छठे अध्याय मे वानप्रस्थ आश्रम के कर्त्तव्यो का निर्देश किया गया है। जब गृहस्थी व्यक्ति अपने पौत्र का मुख देखले तथा अपने पुत्रो को कार्य मे समर्थ देखे तो उसे वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करना चाहिए। वानप्रस्थी यज्ञ की आवश्यक सामग्री लेकर ग्राम से बाहर रहे। पचमहायज्ञ का विधिपूर्वक निर्वाह वानप्रस्थी के लिए आवश्यक है। वानप्रस्थी मृगचर्म, चीर तथा जटा धारण करे।[2] वेदाभ्यास करना, मान-अपमान मे समान रहना तथा सभी जीवो पर दया करना वानप्रस्थी के प्रमुख धर्म-कृत्य हैं, वानप्रस्थी के लिए भिक्षान्न पर आश्रित रहना

1 वही, 5/50
2 मनुस्मृति, 6/6

आवश्यक माना गया है। अल्पाहार के आधार पर इन्द्रियो का निग्रह भी आवश्यक माना गया है।

सातवें अध्याय मे राजधर्म का विवेचन किया गया है। राजा मे इन्द्र, वरुण, अग्नि, कुबेर आदि देवताओ का निवास माना गया है। राजापमान का निषेध मनुस्मृति की महान् देन है। दण्ड से प्रजा को शासित रखना आवश्यक बतलाया गया है। दण्ड के विधान से सोये हुए लोग जागते है तथा दण्ड विद्वानो के लिए धर्म रूप होता है। दूत के कार्यो का सविस्तार उल्लेख भी किया है। न्यायोचित वेतन तथा कर-विधान को मनुस्मृति मे महत्त्व मिला है। राजमन्त्र की रक्षा के उपायो पर भी विचार किया गया है।

अष्टम अध्याय मे सभा के नियमो का वर्णन किया गया है। न्यायालय के नियमो को भी सविस्तार बनाया गया है। असत्य साक्षी देने वाले व्यक्ति को नरकगामी बतलाया गया है। गवाह सत्य से पवित्र होता है। सत्य से धर्म की वृद्धि होती है अत गवाहो को सत्याचरण करना चाहिए। यात्रा-किराया, क्रय-विक्रय आदि के विषय मे भी नियम-निर्देशन किया गया है।

नवम् अध्याय मे स्त्री-पुरुष के धर्म की चर्चा की गई है। स्त्रियो के विषय मे कहा गया है कि स्त्री की रक्षा बचपन मे पिता करता है, युवावस्था मे पति करता है तथा वृद्धावस्था मे पुत्र करते हैं। अत स्त्री स्वतन्त्र रहने योग्य नही है। यथा—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥

—मनुस्मृति, 9/3

स्त्रियो के छ दोष[1] इस प्रकार है—मादक द्रव्यो का पान, दुष्टो का ससर्ग, पति का वियोग, इधर-उधर विचरण, असामयिक शयन तथा परगृह मे नीवास। दत्तक पुत्र आदि का विधान भी तर्कपूर्वक विवेचित हुआ है। पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के सभी नियमो का भी प्रतिपादन किया गया है। इस अध्याय मे दण्ड-विधान का भी वर्णन हुआ है।

दशम अध्याय मे ब्राह्मणो के कार्य तथा क्षेत्र और बीज का वर्णन किया गया है। वर्णसकर की निन्दा की गई है। धर्मयुक्त धनागम की सात विधियो का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभ क्रयो जय।
प्रयोग कर्मयोगश्च सप्तप्रतिग्रह एव च ॥

—मनुस्मृति, 10/115

शूद्र को मन्त्रहीन धर्मकार्य करने का निर्देश किया गया है। शूद्र को धन-सचय करने का अधिकार नही दिया गया है। सेवक शूद्र के लिए जूठे अन्नादि को देना उचित माना गया है।

1 वही, 9/14

ग्यारहवें अध्याय मे स्नातको के धर्म का यथाविधि उल्लेख हुआ है। कन्या, विवाहिता युवती, अल्पज्ञ व्यक्ति, मूर्ख, रोगी और यज्ञोपवीत सस्कार से हीन व्यक्तियो को अग्निहोत्र करने का अधिकार नही दिया गया है। यदि कोई ब्राह्मण अग्निहोत्र नही करता है तो उसे चान्द्रायण व्रत धारण करने से ही शुद्धि प्राप्त होती है। सभी प्रकार के प्रायश्चितो का वर्णन विधिपूर्वक किया गया है। यदि कोई व्यक्ति सूअर का वध करता है तो उसे घी से भरा घडा दान करना चाहिए। तीतर का वध हो जाने पर एक सेर तिल दान करना चाहिए। तोते का वध कर देने पर दो वर्ष का बछडा और क्रौंच पक्षी का वध होने पर तीन वर्ष का बछडा दान मे देना चाहिए। यथा—

घृत कुम्भ वराहे तु तिलद्रोण तु तित्तिरौ।
शुके द्विहापन वत्स क्रौंच हत्वा त्रिहायनम् ॥

—मनुस्मृति, 11/134

चान्द्रायण व्रत[1] मे त्रिकाल स्नान करना आवश्यक माना गया है। कृष्ण पक्ष मे व्यक्ति प्रतिदिन 1-1 ग्रास भोजन घटाता जाए तथा शुक्ल पक्ष मे 1-1 ग्रास भोजन बढाया जाए। चार वर्णों के तप का भी सम्यक् वर्णन किया गया है।

बारहवें अध्याय मे सत्व, रज तथा तम नामक त्रिगुण का विवेचन किया गया है।[2] वेदाभ्यास, ज्ञान, पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, धर्मकार्य और आत्मचिन्तन सतोगुण के लक्षण है। कर्म मे अरुचि होना, अधीरता, शास्त्रवर्जित कर्म का आचरण तथा विषयो मे आसक्ति होना रजोगुण के लक्षण हैं। लोक, निद्रा, अधैर्य क्रूरता, नास्तिकता, नित्य कर्म का त्याग, माँगने का स्वभाव होना तथा प्रमाद तमोगुणी लक्षण हैं। स्वर्ग-नरक, मोक्ष तथा आत्मा के विषय मे सक्षिप्त विचार किया गया है।

यथार्थत 'मनुस्मृति' एक महान् धर्म-शास्त्रीय ग्रन्थ है परन्तु इस ग्रन्थ मे ब्राह्मणवाद का एक-छत्र राज्य है। आधुनिक युग के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के सम्मुख 'मनुस्मृति' का नारी पारतन्त्र्य तथा शूद्र-धर्म नही ठहर सकता। सृष्टि-रचना के प्रसग मे कुछ अवैज्ञानिकता भी दिखलाई पडती है फिर भी 'मनुस्मृति' मे राजदण्ड, शिक्षा, गृहस्थ इत्यादि विषयो पर युक्तियुक्त विचार हुआ है। इसी कारण से 'मनुस्मृति' का आज भी आदर किया जाता है।

अर्थशास्त्र
(Arthashastra)

'अर्थ' वित्त या धन का वाचक शब्द है। जो शास्त्र धर्म पर शासन या व्यवस्था करना सिखाता है, उसे अर्थशास्त्र का नाम दिया गया है। सस्कृत साहित्य का अर्थशास्त्र आधुनिक 'इकॉनोमिक्स' से अत्यधिक भिन्न है। आधुनिक अर्थशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु धन है, परन्तु प्राचीन अर्थशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु शासन-व्यवस्था है।

1 मनुस्मृति, 11/216
2 वही, 12/31-33

हमारे देश मे अर्थशास्त्रियो या राजनीत्याचार्यों की कमी तो नही रही, परन्तु दुस्सयोगवश राजनीति के विचारो के प्रामाणिक अनुपलब्ध है। अग्रेजो ने भारतीय साहित्य को विनष्ट करने का एक और मुन्दर एव आश्चर्यजनक अभियान चलाया कि समस्त भारतीय वाड्मय कल्पित है। यहाँ के राम, कृष्ण, चाणक्य, शकराचार्य आदि सभी कल्पना-पात्र हैं परन्तु आधुनिक अनुसन्धानो ने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारा प्राचीन साहित्य कल्पित नही है। हमे वैदिक साहित्य को रूपक शैली के आधार पर, पौराणिक साहित्य को अतिशयोक्तिपूर्ण शैली के आधार पर तथा ज्योतिष को स्वभावोक्तिपूर्ण शैली के आधार पर ही परखना चाहिए। वस्तुत गवेषणापूर्ण दृष्टिकोण से यथार्थ की जानकारी हो सकती है।

'महाभारत' के शान्ति पर्व मे 'वैशालाक्ष' नामक ग्रन्थ की चर्चा हुई है। इस ग्रन्थ के प्रणेता आदि देव शकर थे। 'वैशालाक्ष' ग्रन्थ केवल अर्थशास्त्र न होकर, धर्मशास्त्र भी है। आचार्य पुरन्दर ने 'वहुदन्तक' नामक अर्थशास्त्र की रचना थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे बृहस्पति को एक महान् अर्थशास्त्रकार के रूप मे याद किया गया है। पौराणिक युग मे नारद, शुक्राचार्य एव बृहस्पति मूधन्य अर्थशास्त्रकार हुए हैं। 'महाभारत' काल मे विदुर तथा भीष्म महान् अर्थशास्त्री हुए है। भारद्वाज ऋषि को भी महान् अर्थशास्त्री बतलाया गया है। पौराणिक साहित्य मे राजनीति की व्यापक चर्चा है। हमारा अर्थशास्त्र राजतन्त्र का ही पक्षधर रहा है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

इतिहास-पुरुष विष्णुगुप्त ही अपनी कुटिल या पेचीदी नीति के कारण कौटिल्य कहलाए। विष्णुगुप्त के पिता का नाम चणक था, अतएव विष्णुगुप्त को चणक पुत्र होने के नाते चाणक्य भी कहा गया। आजकल 'चाणक्य' नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है। सस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' मे चाणक्य की कूटनीति का एक चमत्कार प्रदर्शित किया गया है। अत चाणक्य या कौटिल्य कोई कल्पित व्यक्ति न होकर चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु विष्णुगुप्त ही है। चाणक्य ने मगध वश के राजा नन्द का उन्मूलन करके चन्द्रगुप्त को मगध-सम्राट् बनाया था। अन्त साक्ष्य के आधार पर चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधानमन्त्री था।[1] चन्द्रगुप्त मौर्य का समय 325 ई पू है अत कौटिल्य के अर्थशास्त्र का रचना-काल तीसरी शती ई पू निर्धारित किया जा सकता है। बीसवी शताब्दी के आरम्भ में पण्डित शाम शास्त्री ने कौटिल्य-अर्थशास्त्र को सानुवाद प्रकाशित कराकर उद्धरित किया। आचार्य वात्स्यायन (300 ई) के 'कामसूत्र' मे कौटिल्य को महान् अर्थशास्त्रकार के रूप मे आदर दिया गया है। 200 ई पू तक अथवा सूत्रकाल की समाप्तिपर्यन्त अर्थशास्त्र (कौटिल्य) समादृत हो चुका था अत कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक प्रामाणिक रचना है।

अन्य अर्थशास्त्रकार

नवम् शताब्दी मे 'बृहस्पति-सूत्र' प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ अपने मूल

1 मुद्राराक्षस, अतिम अध्याय।

रूप मे प्राचीन रहा होगा। दशम् शताब्दी मे आचार्य सोमदेव ने 'नीतिवाक्यामृत' नामक अर्थशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। ग्यारहवी शताब्दी मे धारा नरेश राजा भोज ने 'युक्तिकल्पतरु' तथा चण्डेश्वर ने 'नीतिरत्नाकार' तथा 'नीतिप्रकाशिका' नामक अथशास्त्रीय ग्रन्थो की रचना की। बारहवी शताब्दी मे आचार्य महेन्द्र ने 'लघ्वर्हंनीति' नामक ग्रन्थ की रचना की। इन अर्थशास्त्रकारो के पश्चात् चन्द्रशेखर ने 'राजनीतिरत्नाकार' नामक ग्रन्थ की रचना की। मित्र मिश्र ने 'वीरमित्रोदय' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसका प्रकाशन चौखम्बा सस्कृत सीरीज (काशी) से हो चुका है। नीलकण्ठ ने 'राजनीतिमयूख' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसकी एक प्रति स्व बाबू गोविन्ददास, काशी के पुस्तकालय मे सुरक्षित है। लक्ष्मीवर ने 'राजनीति कल्पतरु' नामक ग्रन्थ की रचना की। इन अर्थशास्त्रियो के अतिरिक्त अनेक ऐसे अर्थशास्त्रियो का उल्लेख मिलता है, जिनकी रचनाओ का कोई पता नही है। वस्तुत भारतीय राजनीतिशास्त्र-साहित्य बहुत ही धनी रहा है। परन्तु दुर्भाग्य का विषय यह है कि राजनीति विज्ञान के विचारको मे कौटिल्य और गांधी के अतिरिक्त अभी तक किसी भारतीय राजनीतिक विचारक को विश्व के राजनीतिक विचारको की शृ खला मे स्थान नही दिया गया।

अर्थशास्त्र का वर्ण्य-विषय

अर्थशास्त्र के विवेच्य विषय इस प्रकार है—1 राजा तथा मन्त्रियो का स्वभाव, 2 मन्त्रि-परिपद् का निर्माण, 2 मन्त्रणा कक्ष की स्थिति, 4 विधान-रचना, 5 सन्धि-विग्रह।

1 राजा तथा मन्त्रियो का स्वभाव—राजा का धीर, वीर एव गम्भीर होना आवश्यक माना गया है। कौटिल्य ने राजमन्त्रि-मण्डल के लिए यह आवश्यक माना है कि सभी व्यक्तियो की बातो को सुने एव किसी की अवमानना न करे। किसी बच्चे के भी अर्थपूर्ण वाक्य को कार्य मे लेने वाले राजनीतिविद् ही पण्डित या चतुर होते हैं। यथा—

न कतिचदवमन्येत सर्वस्य श्रणुयान्मतम्।
बालस्पाप्यर्थवद् वाक्ययुपयुञ्जीत पण्डित॥

कौटिल्य ने यह भी आवश्यक माना है कि राजनीतिविद् सम्भवत महापारखी होना चाहिए। उसे मित्र को भी पूर्ण विश्वास की दृष्टि से नही देखना चाहिए। यदि मित्र कभी कुपित हो जाएगा तो वह समस्त रहस्य को स्पष्ट कर देगा। मन्त्रियो मे राष्ट्र के लिए समर्पणशीलता अपरिहार्य है। मन्त्रियो के लिए राष्ट्र आत्मा समान होता है तथा उन्हें राष्ट्र-आत्मा के हित के लिए सब कुछ त्याग करने के लिए तत्पर रहना चाहिए—'आत्मार्थं पृथिवी त्यजेत।' आचार्य शुक्र ने शत्रु का प्रतिकार न करने वाले कायर राजा की भर्त्सना करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सर्प चूहो को निगल जाता है तथा जैसे प्रवास न करने वाला ब्राह्मण भ्रष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कदर्य-स्वभाव का राजा नष्ट हो जाता है—

1 आश्वलायन गृह्यसूत्र, 3, 12, 16

द्वावेव ग्रसते भूमि सर्पो बिलशयानिव ।
राजान चाविरोद्धार ब्राह्मण चाप्रवासिनम् ।।

अत राजा को नितान्त निर्भीकमना होना चाहिए। 'मनुस्मृति' मे उन सभासदो को मृतकप्राय बताया गया है, जो धर्म को धर्म तथा अधर्म को अधर्म नही कह सकते। धर्म की रक्षा करने वाले व्यक्ति की रक्षा धर्म द्वारा होती है तथा अधर्मी व्यक्ति अपने अधर्म के भार से ही नष्ट हो जाता है। राजा तथा उसके मन्त्रियो को धर्मपरायण, विवेकशील तथा सहज निर्भीक होना चाहिए।

2 मन्त्रि परिषद् का निर्माण—कौटिल्य ने राज्य के विकास के लिए कुछ विभाग बनाए। मन्त्रि-परिषद् मे कितने मन्त्री होने चाहिए, इस समस्या का समाधान भी युक्तिपूर्वक किया गया है। आचार्यमनु ने मन्त्रि-परिषद् मे बारह मन्त्रियो की सख्या निर्धारित की। आचार्य बृहस्पति ने मन्त्रिमण्डल की सदस्य सख्या सोलह निर्धारित की। आचार्य शुक्र ने इस सख्या को बीस तक पहुँचा दिया है। आचार्य कौटिल्य ने सर्वाधिक युक्तिसगत मत प्रस्तुत करके मन्त्रि-परिषद् की सदस्य सख्या के निर्धारण हेतु केवल यही कहा कि मन्त्रियो की सख्या यथा-सामर्थ्य या यथावश्यकता होनी चाहिए। यथा—

'मन्त्रि-परिषद द्वादशामात्यान् कुर्वीत' इति मानवा ।
'षोडश' इति बार्हस्पत्या ।
'विंशतिम्' इत्यौशनसा ।
'यथासामर्थ्यम्' इति कौटिल्य । —कौटिलीय अर्थशास्त्र

कौटिल्य ने राजा को अकेले ही निर्णय लेने से विनाशोन्मुख सिद्ध किया है। यदि राजा मन्त्रि-परिषद् मे से भी कुछ मन्त्रियो को साथ लेकर मन्त्रणा करता है तो उससे मन्त्र की गोपनीयता बनी रहती है। राजा के लिए यह भी आवश्यक है कि वह मन्त्रियो की योग्यता के अनुसार उन्हे विभाग सौंपे।

3 मन्त्रणा-कक्ष की स्थिति—कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे उल्लेख है कि राजा योजना का भेद पशु-पक्षियो के आचरण से भी स्पष्ट हो सकता है—अर्थात् मन्त्रणा करने वाले मन्त्री अपने व्यवहार मे कभी-कभी प्रमादवश अपनी गुप्त नीति को प्रकट कर बैठते हैं। अत मन्त्रणा-कक्ष ऐसे स्थान पर होना चाहिए, जहाँ अन्य कोई भी व्यक्ति न कुछ सुन सके और न कुछ देख सके। जिस प्रकार एक कच्छप अपने अगो को अपनी कमठ मे ही छिपा लेता है, उसी प्रकार सभी मन्त्री मन्त्रणा-कक्ष मे छिप जाने चाहिए। जिस प्रकार एक अवेयज्ञ ब्राह्मण श्राद्ध-भोग के लिए अनुपयुक्त रहता है, उसी प्रकार राजनीति को न जानने वाले अपने पक्ष के व्यक्ति से मन्त्रणा करना तथा उसे मन्त्रणा के विषय मे सुनाना अनुपयुक्त होता है। यथा—

नास्य गुह्य परे विद्यु छिद्र विद्यात्परस्य च ।
गूहेत् कूर्म इवागानि यत्स्याद् विवृतमात्मन ।।
यथा ह्यश्रोत्रिय श्राद्ध न सता भोक्तुमर्हति ।
एवमश्रुतशास्त्रार्थो न मन्त्रे श्रोतुमर्हति ।।

4 विधान-रचना—कानून का निर्माण करने के लिए प्रजाहित की जानकारी अति आवश्यक है। राजा को उपस्थित या निकटवर्ती व्यक्ति के साथ कार्यो को देखकर मन्त्र या कानून-रचना के विपय मे सोचना चाहिए। जो व्यक्ति अनुपस्थित या दूर हैं, उनके विगय मे अपने प्रतिनिधियो के माध्यम से पत्राचार द्वारा जानकारी प्राप्त करके विधान बनाना चाहिए। विधान बनाते समय पाँच तत्वो को ध्यान मे रखना चाहिए। सर्वप्रथम वैधानिक कार्य प्रारम्भ करने के उपायो के विषय मे सोचना चाहिए। द्वितीय अपनी सैन्य-शक्ति तथा धन को ध्यान मे रखकर ही कानून बनाना चाहिए। तृतीय स्थान और समय के अनुसार ही कानून निर्मित करना चाहिए। चतुर्थ विघ्नो के विनाश की सम्भावनाओ का अनुमान करके ही विधान विनिर्मित करना चाहिए। पचम कार्य सिद्धि को ध्यान मे रखकर ही कानून को अन्तिम रूप देना चाहिए। राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह मन्त्र-सिद्धि के पाँचो अगो के विपय मे अपने मन्त्रियो से विचार-विमर्श करे। किसी भी कानून को बनाते समय विधिवेत्ताओ से विचार-विमर्श करना चाहिए। कानून-रचना के परिप्रेक्ष्य मे निर्धारित समय का ध्यान रखना चाहिए। मन्त्रणा के समय शत्रु-पक्ष को कमजोर करने का ध्यान रखना चाहिए। कौटिल्य ने मन्त्रियो को या सांसदो को अथवा राजा के प्रतिनिधियो की आँखो को राजा की ही आँखें बतलाया है। उदाहरण के लिए इन्द्र की सभा मे पाँच सौ सभासद थे, अतएव इन्द्र सहस्त्राक्ष था। यथा—

"इन्द्रस्य मन्त्रिपरिपद्‌पीणा सहस्त्रम्। तच्चक्षु। तस्मादिम द्वयक्ष सहस्त्राक्षमाह।"

—कौटलीय अर्थशास्त्र

मन्त्रणा के समय राजा कम से कम दो-तीन मन्त्रियो को साथ ले। अधिक मन्त्रियो को साथ लेने से बहुमत का प्रश्न उठता है। यदि राजा अकेला ही मन्त्र-सिद्धि का प्रयास करता है तो वह तानाशाह बन सकता है। मन्त्र-चिन्तन के लिए अपने पक्ष के चिन्तन के साथ प्रतिपक्ष का चिन्तन आवश्यक है।

5 सन्धि-विग्रह—कौटिल्य ने सन्धि-विग्रह के सम्बन्ध मे अपना अनुभव व्यक्त किया है। कौटिल्य ने नन्द का उन्मूलन करने के लिए अनेक राजाओ से सन्धि की थी, परन्तु चन्द्रगुप्त को एक महान् सम्राट् बनाने के लिए उसने विग्रह या सघर्ष का पथ अपना लिया था। कौटिल्य ने अपने भागुरायण जैसे विनीत शिष्यो को राजा पर्वतक के पुत्र मलयकेतु के राज्य मे भेज दिया था। ये सभी सेनापति कम वेतन मिलने का आरोप लगाकर मलयकेतु की शरण मे चले गए थे—यह कौटिल्य की कुटिल नीति थी। नन्द का प्रधान मन्त्री राक्षस भी चाणक्य से बदला लेने के लिए कमर कसे हुए था परन्तु चाणक्य ने अपनी कूटनीति का प्रयोग करके मलयकेतु को सहायता देने वाले राजाओ मे ही विग्रह कर दिया। मलयकेतु और राक्षस पकडे गए तथा चन्द्रगुप्त को एक महान् सम्राट् घोपित कर दिया गया। चाणक्य ने सिल्यूकस को पराजित करने के लिए भी सन्धि-विग्रह की नीति का सफल परिचय दिया। राजा को अपनी शक्ति बढाने के लिए सामन्तो की सख्या मे वृद्धि करनी चाहिए। अपने पडौसी महाप्रतापी राजा से सन्धि करना सफल राजनीति है। राजा

की दृष्टि मे जो प्रतिपक्षी राजा कटक-तुल्य चुभता है, उसको समूल नष्ट करने के लिए विग्रह-नीति को अपनाना चाहिए। जब शत्रु के साथ विग्रह शुरु हो जाए तब तक विग्रह-नीति का भेद नही खुलना चाहिए। अत राजा की चिकीर्षा की जानकारी केवल कायरूपता द्वारा ही मिलनी चाहिए। यथा—

तस्मान्नास्य परे विद्यु कर्म किंचिच्चिकीर्षितम् ।
आरब्धारस्तु जानीयुरारब्ध कृतमेव वा ॥

गुप्त-साम्राज्य के महान् सम्राट् समुद्रगुप्त की नीति उत्खात-स्थापन की थी। समुद्रगुप्त जिस राजा को पराजित करता था, उसे या उसके प्रतिनिधि को ही सन्धिवद्ध करके तद्राज्य का शासन-सूत्र सौंप देना था, अत इस नीति के माध्यम विग्रहजन्य असन्तोष को दूर करने का श्रेय सन्धि-स्थापक को मिलता था। कौटिल्य के परवर्ती अर्थशास्त्रकारो ने दुर्बल राजा को सिंहासनच्युत करने की नीति पर भी विचार किया है।

भारतीय अर्थशास्त्रकारो ने जनमत को पक्ष मे रखने की नीति पर भी विशेष बल दिया। भारतवर्ष मे केन्द्रीय शक्ति की स्थापना के प्रयास अनेक अर्थशास्त्रकारो की कृतियो मे सुस्पष्ट हैं। राजसूय एव अश्वमेध यज्ञ केन्द्रीय शक्ति की सस्थापना के ही राजकार्य थे। चाणक्य नीति मे केन्द्रीय शक्ति के निर्माण की स्वस्थ धारणा का उल्लेख है—

त्यजेदेक कुलार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत् ।
ग्राम जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत् ॥

अलकार शास्त्र
(Poetics)

ईसा की छठी शताब्दी मे भामह तथा दण्डी जैसे आचार्यों की अलकार-परम्परा का प्रवर्तन हुआ। इस परम्परा मे अलकारो का इतना विवेचन हुआ कि काव्य की आत्मा के रूप मे अलकार प्रसिद्ध हो गए। सभी सम्प्रदायो के आचार्यों ने अलकार तत्व का विवेचन किया। इन सभी कारणो के फलस्वरूप काव्य-शास्त्र को अलकार शास्त्र नाम से जाना गया। अलकार मे छ सम्प्रदाय भी प्रवर्तित हुए। काव्य-शास्त्र के छ सम्प्रदायो—1 रस-सम्प्रदाय, 2 ध्वनि-सम्प्रदाय, 3 अलकार-सम्प्रदाय, 4 रीति-सम्प्रदाय, 5 वक्रोक्ति-सम्प्रदाय तथा 6 औचित्य-सम्प्रदाय के आधार पर अलकार शास्त्र का इतिहास भी सरलतापूर्वक जाना जा सकता है।

1 रस-सम्प्रदाय—रस के रहस्य की चर्चा छान्दोग्योपनिषद् मे ही कर दी गई है—"सर्वेषा भूताना पृथिवी रस । ऋच साम रस । साम्न उद्गीथो रस ।" रस-सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय आचार्य भरत को है। भरत का समय द्वितीय शताब्दी निर्धारित हैं। इनका 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ रस-विवेचन के लिए पहला प्रामणिक ग्रन्थ है। आचार्य भरत ने नाटक के आठ रसो की चर्चा की है—

शृ गार हास्य करुणा रौद्रवीरभयानका ।
वीभत्सादभुतसज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्यरसा स्मृता ॥

आचार्य भरत के रस-निष्पत्ति विषयक सूत्र को लेकर भट्टलोल्लट, शकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त जैसे आचार्यो ने रस की दार्शनिक व्याख्याएँ भी की। आचार्य भरत का उल्लेख्य सूत्र यह है– 'विभावानुभावव्यभिचारीसयोगाद्रस निष्पत्ति ।" अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावो के सयोग से रस व्युत्पन्न होता है। आचार्य भट्टलोल्लट, जिनका कि रसवादी आचार्यो के ग्रन्थो मे उल्लेख किया गया है, कोई गन्थ उपलब्ध नही है। इन्होने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के परिप्रेक्ष्य मे रसोद्रेक पर विचार किया है। इन्होने भावोत्पत्ति तथा रस की प्रतीति या आरोप पर बल दिया हैं। इनके रसवादी सिद्धान्त को 'उत्पत्तिवाद' या 'आरोपवाद' का नाम दिया गया हैं। इन्होने रस का प्रेक्षक की दृष्टि से विचार नही किया।

आचाय शकुक ने रस की व्याख्या-न्यायदर्शन के सन्दर्भ मे की। इनका रस-सिद्धान्त 'अनुमतिवाद' के नाम से जाना जाता हैं। आचार्य शकुक ने रस को विचित्रानुभूति सिद्ध किया। डॉ नगेन्द्र के अनुसार रस की विचित्रता का उल्लेख शकुक की मान्यताओ के फलस्वरूप आरम्भ हुआ। शकुक ने रस की व्याख्या करते समय 'चित्रतुरगन्याय' की कल्पना की हैं। शकुक ने रस के इतिहास मे सामाजिको की अनुभूति को भी महत्व दिया। यथा—

'रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकाना वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशकुक ।'

शकुक का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही हैं। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' तथा आचार्य अभिनवगुप्त के 'अभिनव भारती' ग्रन्थ मे शकुक को रस का आचार्य बताया हैं। यदि शकुक का ग्रन्थ उपलब्ध होना तो रस को कोई नई दिशा अवश्य मिलती।

रस के तीसरे महान् व्याख्याकार भट्टनायक हुए हैं। भट्टनायक ने रस-सम्प्रदाय मे साधारणीकरण नामक विशिष्ट तत्व को सम्मिलित किया। इन्होने साँख्य दर्शन के आधार पर 'भुक्तिवाद' का प्रवर्तन किया। रस की आनन्दमयता को स्पष्ट करने के लिए भट्टनायक ने रस को सतोगुण से उत्पन्न माना। इन्होने रस के इतिहास मे 'व्यजना' के स्थान पर 'भावकत्व व्यापार' को तथा रसानुभूति या उत्पत्ति के स्थान पर 'भुक्ति' का प्रयोग किया। भट्टनायक दशवी शताब्दी से पूर्व के आचार्य माने जाते हैं।

दशवी शताब्दी मे आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती नामक ग्रन्थ लिखकर रस के स्वरूप को स्पष्ट किया। इनका रस-सिद्धान्त 'अभिव्यक्तिवाद' के नाम से जाना जाता हैं। रस अभिव्यक्त होता हैं, उत्पन्न नही। अभिनवगुप्त ने रसास्वाद के वैचित्र्य का उल्लेख करते समय उसे 'पानक रस' की सज्ञा दी। प्रत्यभिज्ञा या शैव दर्शन के आधार पर रस को अभिव्यक्त सिद्ध किया गया। इन्होने रस को निर्विघ्न 'प्रतीतिग्राह्य' माना हैं। अभिनवगुप्त को रस के क्षेत्र मे सर्वाधिक सम्मान मिला हैं।

आचार्य धनजय ने दशवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे अभिनवगुप्त की रसवादी मान्यता का खण्डन करके भट्टनायक की मान्यता का कुछ मण्डन किया। ये ध्वनि

विरोधी आचार्य थे। इनका 'दशरूपक' नाट्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे रस के विषय मे भी विचार किया गया है। इनके रसास्वाद की मान्यता का स्वरूप द्रष्टव्य है—

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैव्यभिचारिभि ।
आनीयमान स्वाद्यत्व स्थायी भावो रस स्मृत ॥

—दशरूपक, 4/1

एकादश शती के उत्तरार्द्ध मे आचार्य मम्मट ने ध्वनि के सन्दर्भ मे रस पर भी विचार किया। इन्होने शान्त रस को रस नही माना। इसकी लोकोत्तरता को सिद्ध करने के लिए आचार्य मम्मट का विशेष योगदान है। 'व्याक्याप्रकाश' के आधार पर रस के चार आचार्यो—लोल्लट, शकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त की धारणाओ पर प्रकाश डालने का अद्भुत श्रेय मम्मटाचार्य को ही है।

बारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे आचार्य हेमचन्द्र के दो शिष्यो—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र ने रस को सुख-दु खात्मक सिद्ध किया। इनका 'नाट्य दर्पण' ग्रन्थ उल्लेखनीय है। 'नाट्यदर्पण' मे अन्तत रस के वैचित्र्य को स्वीकार किया गया है। यथा—कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धा परमानन्दरूपता दु खात्मकेन्वपि करुणादिषु सुमेधस प्रतिजानते। पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णस्वादेन दु खास्वादेन सुतरा सुखानि स्वदन्ते। —हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ 292

14वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' नामक काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। विश्वनाथ ने रस को महत्व देने के लिए रस की परिभाषा देते समय रसपूर्ण वाक्य को ही काव्य कहा—'रसात्मक वाक्य काव्यम्।' आचार्य विश्वनाथ ने रसास्वाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सहृदयो के अन्त करण के रति जैसे स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावो के द्वारा व्यक्त होकर रसरूपता को प्राप्त करते है—

विभावेनानुभावेन व्यक्त सचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादि स्थायी भाव सचेतसाम्॥ —साहित्य दर्पण

साहित्य दर्पणकार ने रस के वैचित्र्य को सिद्ध करने के लिए पूर्ववर्ती रसवादी आलोचको के मत का निष्कर्ष इस प्रकार दिया है—

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मय ।
वेद्यान्तर स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदर ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित्प्रमातृभि ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस ॥

उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर रस का स्वरूप बिन्दुत इस प्रकार जाना जा सकता है—

1 रस सतोगुण के उद्रेक से आस्वाद्य होता है।
2 रस अपने आप मे अखण्ड होता है।
3 रस स्वय प्रकाशित रहता है, अर्थात् प्रकाश स्वरूप होता है।
4 रस का चैतन्य रूप मे अनुभव होता है।

5 रसानुभूति के समय अन्य सभी भाव विलीन हो जाते हैं।
6 रसास्वाद ब्रह्मानन्द की भाँति मधुर होता है।
7 रस अलौकिक एव मूलत चमत्कारी होता है।
8 रस सहृदयो के द्वारा आत्माकार के रूप मे अनुभूत किया जाता है।

सत्रहवी शताब्दी मे पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रस-गगाधर' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ मे रस की विस्तारपूर्वक मीमाँसा की गई है। जगन्नाथाचार्य ने अद्वैतवाद के सन्दर्भ मे रस की व्याख्या की। इनका मत साराँशत इस प्रकार है—"काव्य और नाटक मे कवि और नट के द्वारा विभवादि के रूप मे व्यजना शब्द-शक्ति के व्यापार से दुष्यन्त एव शकुन्तला आदि प्रकाशित किए जाते है या प्रस्तुत किए जाते है। उन्ही विभावादि को देखकर सहृदय अपने हृदय के विशेष भाव रूपी दोप के महत्व द्वारा कल्पित दुष्यन्तादि मे चितवृत्ति की तल्लीनता के आधार पर स्वात्मा के ऊपर अन्य ज्ञान का आवरण न होने पर साविभाव्य के द्वारा इत्यादि भावो के अनिर्वचनीय रूप मे उत्पन्न होने से रसरूपता को प्राप्त करते हैं।"

अत आचार्य जगन्नाथ ने चित्तवृत्ति की तल्लीनता के आधार पर रस के वैचित्र्य को अधिक स्पष्ट कर दिया है। ,उन्होने 'साविभाव्य' के आधार पर यह भी स्पष्ट करना चाहा है कि जिस प्रकार सीपी मे रजत की अनिर्वचनीय प्रतीति होती है, उसी प्रकार कल्पित विभवादि के प्रस्तुतीकरण के आधार पर अनिर्वाच्य रस की प्रतीति होती है। जगन्नाथ ने अद्वैतवाद के आधार पर काव्यानुभूति को भी अज्ञान रूप माना है। इनके रसवाद का साराँश यह है—

'भग्नदावरणचिद्विशिष्टो रत्यादि ।'—अर्थात् अज्ञान-रूप आवरण से मुक्त शुद्ध चैतन्य का विषयगत इत्यादि स्थायी भाव ही रस है।

रस-सिद्धान्त

आचार्य भरत के 'विभावानुभावव्यभिचारी सयोगाद्रस निष्पत्ति' सूत्र के आधार पर रस-सिद्धान्त परिपक्वता को प्राप्त हुआ। रस के अवयवो को लेकर साधारणीकरण को आधार बनाकर रस-निष्पत्ति का निरूपण रस-सिद्धान्त का प्रमुख विषय रहा है। आचार्य भरत के पश्चात् लोलट्ट, शकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त जैसे आचार्यो ने रस-निष्पत्ति को आधार बनाकर रस-सिद्धान्त का विकास करने मे जो योगदान दिया, उसका वर्णन हम रस-सम्प्रदाय के सन्दर्भ मे कर चुके है। यहाँ हम रस-सिद्धान्त की प्रमुख सामग्री पर ही सक्षिप्त प्रकाश डाल रहे है।

रस के अवयव

विभाव, अनुभव, सचारीभाव तथा स्थायी भाव रस के अवयव कहलाते हैं। विभाव को रस की उत्पत्ति का मूल कारण बताया जाता है। विभाव विषयीगत तथा विषयगत नामक दो रूपो मे देखा जाता है। रस का अनुभव करने वाले विभाव को 'आश्रय' कहा जाता है। यदि दुष्यन्त को शकुन्तला के सौन्दर्य को देखकर प्रेम का अनुभव करता बताया जाए तो हम दुष्यन्त को रस का आश्रय कहेगे। विषयगत

रूप मे विभाव दो प्रकार काहोता है। प्रथम भेद आलम्बन कहा जाता है तथा द्वितीय भेद उद्दीपन नाम से जाना जाता है। भक्त के लिए भगवान् का सौन्दय एव अनुपम चरित्र भक्ति-रस के क्षेत्र मे आलम्बन ही कहा जाएगा। राम के लिए सीता की छवि आलम्बन ही कहा जा सकता है। हृदय के स्थायी भाव को उद्दीप्त करने वाले कारण को उद्दीपन विभाग कहा जाता है। प्रेमी के उर में एकान्त स्थान प्रेम को उद्दीप्त करता है।

प्रेम या रति की अनुभूति शारीरिक चेष्टाओ से स्पष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अन्य स्थायी भावो के सन्दर्भ मे जानना चाहिए। रसानुभूति की पहचान कराने वाले भाव अनुभाव कहे जाते हैं। सात्विक अनुभाव, स्वेद, रोमांच वैवर्ण्य, कम्पन आदि के रूप मे होते हैं तथा समस्त शारीरिक चेष्टाएँ कायिक अनुभाव के रूप मे गिनी जाती है। अनुभाव रस की अभिव्यक्ति के तत्काल पश्चात् उत्पन्न होते हैं।

जो भाव थोडी देर तक व्यक्त होकर विलीन हो जाते हैं, उन्हें सचारी भाव कहते हैं। सचारी भावो की सख्या 33 कही गई है। निर्वेद, ग्लानि, शका, असूया, अवहित्था, गर्व, दैन्य, अमर्ष, वितर्क, मति आदि सचारी भाव है। विभिन्न रसो से विभिन्न सचारी भावो का पृथक्-पृथक् सम्बन्ध रहता है।

जो भाव हृदय मे सदैव विद्यमान रहते हैं, स्थायी भाव कहलाते है। रसो के क्रम से स्थायी भावो का रूप इस प्रकार है—

	रस	स्थायी भाव
1	शृङ्गार	रति
2	हास्य	हास
3	करुण	शोक
4	रौद्र	क्रोध
5	वीर	उत्साह
6	भयानक	भय
7	वीभत्स	जुगुप्सा
8	अद्भुत	विस्मय
9	शान्त	शम
10	भक्ति	भगवद् रति
11	वात्सल्य	सन्तान रति

रस-निष्पत्ति—रसास्वाद को लेकर जो शास्त्रार्थ चला, उसकी एक ऐतिहासिक झाँकी प्रस्तुत की जा चुकी है। रस-निष्पत्ति के क्षेत्र मे सबसे अधिक महत्व साधारणीकरण को मिला। यहाँ साधारणीकरण का सक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है—राम तथा दुष्यन्तादि विशेष पात्रो के अनुभव को जनसाधारण का अनुभव बना देने की कला का नाम साधारणीकरण है। भट्टलोलट्ट ने साधारणीकरण के विषय मे नायक, कवि तथा श्रोता या पाठक के अनुभव की एकाकारता को महत्व

दिया है–'नायकस्य कवे श्रोजु समानोऽनुभवस्तत ।' हिन्दी काव्यशास्त्र मे इसी सिद्धान्त को लेकर डॉ नगेन्द्र ने कवि की अनुभूति के साथ तालमेल को ही साधारणीकरण का मूल केन्द्र बताया है। वस्तुत कवि या साहित्यकार अपने पात्रो को जिन-जिन रूपो मे जिस-जिस प्रकार से व्यक्त करेगा, पाठको को तदनुसार अनुभूति होगी। यही अनुभूति साधारणीकरण के द्वारा होती है अत साधारणीकरण रस की पीठिका है। सस्कृत अलकारशास्त्र मे साधारणीकरण के विषय मे इतना विचार हुआ है कि उससे रसास्वाद की आनन्दमयता सुस्पष्ट हो जाती है।

करुण रस की आनन्दमयता—करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' है। शोक दु खजन्य होता है, परन्तु उससे साहित्य के क्षेत्र का आनन्द प्राप्त होता है, यही रस का वैचित्र्य है। आचार्य विश्वनाथ ने इस विषय मे बहुत ही स्पष्ट लिखा है—

करुणादावपि जायते यन परम सुखम्।
सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम् ॥ —साहित्य दर्पण

करुण रस के आस्वाद के सन्दर्भ मे पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे भय और दया के सन्तुलन पर बल दिया गया है। हिन्दी काव्यशास्त्र मे जीवन की सतुलित सवेदना को काव्य मे चित्रित होने के फलस्वरूप करुण रस को भी आनन्दमय सिद्ध किया है। इस सन्दर्भ मे डॉ नगेन्द्र के विचार द्रष्टव्य हैं—

"जीवन के कटु अनुभव भी काव्य मे, अपने आधारभूत सवेदनो के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते है।"

—डॉ नगेन्द्र रीतिकाव्य की भूमिका (तृ स) पृ 64

रस-सख्या—सस्कृत साहित्य की धारा मे ग्यारह रसो को मान्यता मिली हैं। ये ग्यारह रस इस प्रकार है–1 शृङ्गार, 2 हास्य, 3 करुण, 4 रौद्र, 5 वीर 6 भयानक, 7 वीभत्स, 8 शान्त, 9 अद्भुत, 10 वात्सल्य तथा 11 भक्ति-रस। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र मे शान्त रस को छोडकर अन्य प्रारम्भिक आठ रसो को मान्यता मिली। दशवी शताब्दी मे धनन्जय ने 'दशरूपक' ग्रन्थ लिखकर काव्य की दृष्टि से शान्त रस के अस्तित्व को नवम् रस के रूप मे स्वीकार किया। 14वी शती मे आचार्य विश्वनाथ ने अपने सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' मे 'वात्सल्य' को दशम रस के रूप मे स्वीकार किया। हिन्दी साहित्य की कृष्ण-भक्ति शाखा के कवि सूरदास ने वात्सल्य रस का अनूठा चित्रण किया है। आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' मे भक्ति के सन्दर्भ मे केवल इतना ही कहा है कि देवादि से सम्बद्ध रति केवल एक सचारी भाव है—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाजित ।
भाव प्रोक्त ॥

आगे चलकर महाप्रभु चैतन्य द्वारा प्रचारित भक्ति-सिद्धान्त को गौडीय वैष्णवो ने समर्थन प्रदान किया। कालान्तर में वैष्णवो ने भक्ति-रस को आदिरस के रूप में प्रतिष्ठित किया। श्रीरूप गोस्वामी के 'भक्तिरसामृत सिन्धु' तथा 'उज्ज्वल

नीलमणि' नामक ग्रन्थो से भक्ति-रस का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। भक्ति-रस का स्थायी भाव भगवत्‌विषयक रति है अत 'भक्ति-रस' ग्यारहवाँ रस है। इन ग्यारह्-रसो के अतिरिक्त कुछ अन्य रसो की उद्‌भावना भी की गई। नवम् शताब्दी मे आचार्य रुद्रट ने 'प्रेयान' रस की कल्पना की। गौडीय वैष्णवो ने 'मधुर-रस की भी कल्पना की है। अत रसो की सख्या मे पर्याप्त वृद्धि हुई है।

रसराज

रसराज के प्रश्न पर अत्यधिक विवाद रहा है। रसराज की समस्या से सम्बद्ध प्रमुख विवाद निम्नलिखित है—

भवभूति और करुण रस का रसराजत्व—आचार्य कवि भवभूति ने सप्तम् शताब्दी मे 'उत्तररामचरित' नामक नाटक की रचना करके करुण रस को मूल रस के रूप मे मान्यता देकर उसका उदाहरण भी उक्त नाटक के रूप मे प्रस्तुत किया। आचार्य भवभूति के ये शब्द द्रष्टव्य है—

> एको रस करुण एव निमित्तभेदाद्
> भिन्न पृथक् पृथगिनाश्रयते विवर्तान्।
> आवर्त बुदबद-तरगमयान् विकारान्
> अम्भो यथा, सलिलमेव तु तत् समग्रम्।
>
> —उत्तररामचरित, तृतीय अक

अर्थात् मुख्य रस करुण ही है। अन्य श्रृङ्गारादि रस कारणो-विभावादि के भेद से उसी प्रकार पृथक्-पृथक् रूप मे प्रतीत होते है, जिस प्रकार जल की मूल धारा मे तरगें, भँवर तथा बुलबुले जल के ऊपर होने पर भी अलग-अलग प्रतीत होते हैं।

यद्यपि करुण रस के रसराजत्व को लेकर पर्याप्त आलोचना हुई है।[1] परन्तु हमे करुण रस के रसराजत्व की पुष्टि मे बौद्ध दर्शन के आधार पर बहुत कुछ कहने मे सकोच नही करना चाहिए। करुण रस को रस-सम्राट् घोषित करने के कुछ तर्क इस प्रकार दिए जा सकते हैं—

1 ससार मे करुणा की प्रधानता निर्विवाद है।
2 साहित्यिक सवेदना का अटूट सम्बन्ध करुणा से ही है।
3 करुणा सहानुभूति का मूल स्रोत है।
4 सभी रसो का मार्मिकता से स्पष्ट सम्बन्ध है।
5 साहित्यिक करुण रस सहानुभूति के ही कारण आनन्दजन्य होता है।

शान्त रस का रसराजत्व—दशवी शताब्दी मे आचार्य अभिनवगुप्त ने रस को दार्शनिक कसौटी पर कसा। उन्होने अपने ग्रन्थ 'अभिनव भारती' में शान्तरस को प्रधान या अगी तथा मूलरस घोषित किया है। दूसरी शताब्दी में आचार्य भरत ने शान्तरस की महिमा पर जो प्रकाश डाला था, उसी को अभिनवगुप्त ने शान्तरस

1 अलौकिक-विभावत्व नीतेभ्यो रतिलीलया।
सदुक्त्या च सुख तेभ्य स्यात् सुव्यक्तमिति स्थिति॥
— श्री रूपगोस्वामी भक्तिरसामृतसिंधु,' 2/5/106

के रसराजत्व का प्रमुख आधार बनाया। आचार्य भरत ने शान्त रस को मूल रस कहा है तथा सभी रस व्यक्त होकर उसी मे विलीन हो जाते हैं। यथा—

स्व स्व निमित्तमादाय शान्ताद् भाव प्रवर्तते।
पुनर्निमित्ता पाये च शान्त एवोपलीयते ॥—नाट्यशास्त्र, अध्याय 6

अभिनवगुप्त ने शैव दर्शन के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि शान्त रस का सम्बन्ध सवित् सागर शिव से है। समूचे विश्व के दर्शन मे इस तत्त्व से बढकर कोई खोज नही हो सकी है। शिव-तत्त्व आनन्द का अखण्ड और अनन्त समुद्र है। वही तत्त्व या महाशान्ति अन्य रसो के रूप मे विभिन्न निमित्तो को पाकर प्रतिविम्बित हो जाती है। प्रत्यभिज्ञावादी शैव दार्शनिक हृदय को अष्टदल कमल की उपमा द्वारा सम्बोधित करते हैं। आठो स्थायी भाव-रति, हास, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा तथा विस्मय रस हृदय-कमल के आठ दल हैं। शान्त रस का स्थायी भाव 'शम' है। जहाँ 'रति' नामक स्थायी भाव समरसता को प्राप्त हो जाता है, वह शान्तरस अद्वितीय रस है। इस पुस्तक के लेखक ने भी शान्त रस को रसराज घोषित करते हुए लिखा है—

शान्त रस-धारा केवल मूल
अन्य रस ऊर्मि तरग समान,
होकर प्रकट क्षिप्र तिरोहित
मिलते मूल धारा मे अम्लान। —शिवचरित, पृ 13

महाकवि जयशकर प्रसाद ने समरसता की दुहाई देते हुए, शान्त रस की अनिर्वचनीय स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

समरस थे जड या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था। —कामायनी, आनन्द सर्ग

दार्शनिक आधार पर शान्तरस को रसराज घोषित करने मे किसी विद्वान् को कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। यथार्थत सभी रस आनन्दानुभूति की दृष्टि से समान है।

शृ गार रस का रसराजत्व—शृङ्गार रस के सयोग तथा विप्रलम्भ नाम से दो पक्ष होते हैं। इसका स्थायी भाव रति है। ससार की सृष्टि का कारण रति ही है। इसलिए बारहवी शताब्दी मे आचार्य भोजराज ने 'शृङ्गारप्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना की तथा तर्क के आधार पर यही सिद्ध किया कि शृ गार रस ही रसराज है। यथा—

शृङ्गार वीर करुणाद्भुत रौद्रहास्य
वीभत्सवत्सल भयानक शान्तताम्न।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वय तु
शृङ्गारमेय रसनाद् रसमामनाम ॥

आधुनिक युग मे 'काम' को महत्त्व देकर शृगार रस का रसराजत्व सिद्ध किया गया है। शृङ्गार के पक्षधर एक मूल चीज को भूल जाते हैं। मूल बिन्दु यह है कि 'रति' नामक भाव का आनन्द भी आनन्दधारा का अशमात्र है। शान्त रस का केन्द्र ईश्वर ही मूल रस है। अन 'रसो वै स' जैसी उक्तियो को विस्मृत करके हम इधर-उधर के नगण्य तत्वो के आधार पर शृङ्गार रस को रसराज सिद्ध करने की हठ करते हैं। हिन्दी के आचार्य कवि केशवदास ने शृङ्गार रस की मूर्ति कृष्ण मे सभी रसो को देखने की सुन्दर कल्पना की है परन्तु आचार्य केशव यह भूल गए हैं कि उनके कृष्ण शृङ्गार की मूर्ति न होकर मूलत शान्तरस की ही मूर्ति हैं। अत शृगार शान्त रस की आंशिक अभिव्यक्ति मात्रा है। श्रीकृष्ण का दार्शनिक रूप शान्त रस का ही पोषक है। यथा—

अव्यक्त व्यक्तिमापन्न मन्यते मामबुद्धय ॥
पर भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।
नाह प्रकाश सर्वस्य योगमाया समावृत ।
मूढोऽय नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

—गीता, 7/24-25

अद्भुत रस का रसराजत्व—आचार्य विश्वनाथ के पूर्वज नारायण पण्डित ने अद्भुत रस को मूल रस माना है। रस अपने आप मे अद्भुत है अत रसराजत्व के निर्धारण मे अद्भुत रस की ओर ध्यान जाना बहुत कुछ युक्तिसगत है। साहित्य से अद्भुत तत्वो के समावेश से ही कुतूहल उत्पन्न होता है। आचार्य कुन्तक (दशवी शती) ने काव्य की परिभाषा देते समय विदग्धता को महत्त्व दिया है—'वैदग्ध्यभगी भणिति'। फिर भी अद्भूत ईश्वर का स्वरूप शान्त-प्रशान्त ही है। अत दार्शनिक कसौटी पर शान्त रस के अतिरिक्त अन्य किसी रस का रसराजत्व त्रिकाल मे भी सम्भव नही है। अत जो बात आचार्य भरत ने कही तथा जो दर्शन मे मान्य है उसके पीछे हटना मूर्खता मात्र है।

सस्कृत आलोचना में रस की उपयोग विधि

रस को काव्य की आत्मा मानने के कारण सस्कृत आलोचना मे रस की उपयोग विधि को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। सस्कृत आलोचना मे रस-समावेश के परीक्षण के प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं—

रसो का समावेश करने के सन्दर्भ मे आचार्यों का यह मत है कि किसी महाकाव्य में शृङ्गार, वीर, शान्त जैसे रसो मे से कोई रस अगी रस होना चाहिए तथा अन्य रस अगभूत रसो के रूप मे प्रयुक्त होने चाहिए। नाटक मे केवल शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र वीर, भयानक, अद्भुत तथा वीभत्स नामक आठ रसो का प्रयोग ही सम्भव माना गया है। शान्त रस अभिनय का विषय नही हो सकता, अत उसे नाटक मे स्थान नही चाहिए।

किसी कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह शाश्वत सत्य को प्रकट करने के लिए अपने भावो को इस रूप में प्रस्तुत करे कि पाठक या श्रोता उसके द्वारा प्रस्तुत

पात्रो के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करते हुए साधारणीकृत स्थिति मे पहुँचकर काव्य का रसास्वादन करते रहे। इस विषय मे कहा भी है—"नायकस्य कवे श्रोतु समानोऽनुभवस्तत।" रस अभिव्यक्ति मे अलकार का सतुलित प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण बिन्दु है।

विभिन्न रसो से विभिन्न अनुभावो, स्थायी भावो तथा सचारी भावो का सम्बन्ध रहता है। अत उनका ध्यान रखकर ही काव्य मे रस-सामग्री को स्थान दिया जाता है। यदि कवि वीर रस का समावेश करता है तो उसके लिए यह आवश्यक कि वह अपने काव्य मे वीर हृदय के पात्रो को प्रस्तुत करके उनके हृदय के स्थायी भाव को जगाने के लिए समुचित प्रतिपक्ष को प्रस्तुत करे। यदि प्रतिपक्ष की उदात्तता का चित्रण नही होगा तो काव्य मे वीर रस हास्यास्पद स्थिति को पहुँच जाएगा अथवा 'नही गजारि जस वधे शृगाला' उक्ति चरितार्थ हो जाएगी। भारतीय आलोचनाशास्त्र मे रूपक का प्रणेता तथा काव्य का रचयिता कवि ही माना जाता है। अत कोई कवि किस प्रकार से अनेक नाटक या काव्य को सरस बना पाता है, उसके लिए विशिष्ट स्थितियो का प्रतिपादन किया गया है।

रस-मैत्री तथा रस-विरोध नामक सिद्धान्त भी रस की उपयोगविधि का प्रमुख पहलू है। शृगार और हास्य, वीर और रौद्र मित्र रसो के रूप मे जाने जाते है। करुण और शान्त, वीर और भयानक रस विरोधी रसो के उदाहरण हैं। इसी प्रकार से कुछ सचारी भाव भी विशिष्ट रसो से ही सम्बद्ध रहते हैं। यदि कोई कवि रस के ऐसे उपयोग को भुलाएगा तो वहाँ उसके काव्य मे रस दोष उत्पन्न हो जाएगा। स्थायी भाव को व्यक्त न दिखाकर शब्दत प्रस्तुत किया जाता है। तो 'स्वपदवाच्यत्व' दोष माना जाता है। देवता, माता-पिता आदि की रति को शृगार की अतिवादिता का विषय बना देने मे रस का व्याघात माना जाता है। अत सस्कृत आलोचना मे रस उपयोग विधि अत्यन्त विस्तृत है।

ध्वनि सम्प्रदाय

नवम् शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ की रचना द्वारा ध्वनि-सम्प्रदाय को जीवित करके ध्वनि-सिद्धान्त को मण्डित किया। आचार्य आनन्दवर्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे। 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ के ऊपर दशवी शताब्दी मे आचार्य अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक लोचन' नामक प्रामाणिक टीका की। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना हैं—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति यत्पूर्वं सूरिभि कथित।'

प्रत्येक अक्षर की एक ध्वनि होती है। जब अनेक ध्वनियो के योग से शब्दो का निर्माण होता है तथा वे शब्द प्रतीयमानार्थ को प्रस्तुत करने मे समर्थ सिद्ध होते है, तो वे ध्वनि कहलाते है। ध्वन्यालोककार ने लिखा भी है—

यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यक्त काव्यविशेष स ध्वनिरित सूरिभि कथित॥

अर्थात् 'जहाँ अर्थ या शब्द या दोनो अपने आपको प्रतीयमानार्थ के लिए समर्पित कर देते हैं तथा प्रतीयमानार्थ के माध्यम से जो काव्य व्यक्त होता है, उसी को विद्वानो ने ध्वनि या ध्वनि काव्य कहा है।' आचार्य आनन्दवर्धन ने 'सूरिभि कथित' पदबन्ध से यह स्पष्ट कर दिया है कि ध्वनि के विषय मे आचार्य पहले ही से विचार कर रहे है। अत प्रतीयमानार्थ ही ध्वनि है। शब्द से अर्थ स्फुटित होना है, अत वह स्फोट ही ध्वनि है इसलिए ध्वनि-सम्प्रदाय का सम्बन्ध व्याकरण शास्त्र के स्फोटवाद से भी जोडा जाता है। 'स्फुटति अर्थं अस्माद् इति स्फोट' शब्द से अर्थ का फूटना ही स्फोट है। स्फोटवाद शब्द को नित्य सिद्ध करके उसे अर्थाभिव्यक्ति मे पूर्ण सक्षम सिद्ध करता है। पतजलि के महाभाष्य मे इस रहस्य पर तर्कपूर्वक प्रकाश डाला गया है। वस्तुत 'शब्द' शब्दायमान होने से ध्वनि का ही व्यजक है अत ध्वनि व्यक्त होती है। वह नित्य है। वह प्रतीति का विषय है।

ध्वनि-विरोधी सिद्धान्त

ध्वन्यालोककार को मुख्यत तीन प्रकार के मतवादी आचार्यों के विरोध का सामना करना पडा। ध्वनि-विरोधी तीन सिद्धान्त इस प्रकार हैं—1 अभाववादी, 2 भक्तिवादी तथा 3 अलक्षणीयवादी।

1 अभाववादी—छठी शताब्दी मे अलकारवादी आचार्य भामह ने 'शब्दार्थौ काव्यम्'—अर्थात् शब्दार्थ ही काव्य है, कहकर काव्य के रहस्य को प्रकट किया था। आगे चलकर अलकारवादी आचार्यों ने इस सिद्धान्त के मण्डन हेतु अपनी मेधाशक्ति को समर्पित कर दिया। अत अलकारवादी आचार्यों ने काव्य के रहस्य को अलकारो के माध्यम से ही व्यक्त करने का प्रयास किया। उन्होने अलकारो के विवेचन के साथ-साथ गुण, वृत्ति तथा रीति आदि काव्य-तत्व पर भी प्रकाश डाला। ऐसे अलकारवादी आचार्यों ने 'ध्वनि' नामक किसी काव्य-तत्व की सत्ता को स्वीकार तक नही किया। अत ध्वनि की सत्ता को स्वीकार न करने के कारण उनके ध्वनि-विरोधी सिद्धान्त को 'अभाववादी' नाम मिला।

दूसरे परम्परावादी अलकाराचार्यों ने अलकारो को ही आनन्द-दायक सिद्ध किया। इनका मत यह है कि जब से काव्य-धारा प्रवाहित है, तभी से अलकार सहृदयो को आनन्द-विभोर करते आ रहे हैं। अत ' ऐसे आनन्ददायी अलकार-तत्व से पृथक् किसी 'ध्वनि' नामक काव्य-तत्व की कल्पना करना मूर्खता मात्र है।

तीसरे अभाववादी आचार्यों ने छठी शताब्दी के आचार्य दण्डी के मत को प्रमाण-स्वरूप मानकर यही कहा कि अलकारो का क्षेत्र असीम है। अलकारो की रहस्यात्मकता का पूर्णरूपेण विवेचन असम्भव है—

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥ —काव्यादर्श

ऐसे आचार्यो ने अलकारो को सर्वाधिक महत्व देकर उनके समक्ष किसी काव्य-सम्प्रदाय को प्रकाशित होने से रोकना चाहा। ऐसे आचार्य ध्वनि को अलकारो मे ही अन्तर्भूत मानते हैं। इनका मत है कि या तो ध्वनि है ही नही, यदि वह है

भी तो उसका अन्तर्भाव अलकारो मे ही हो जाता है, क्योकि अप्रस्तुत प्रशसा जैसे अलकारो मे प्रतीयमानार्थ की प्रधानता रहती है।

भक्तिवादी—'भक्ति' शब्द लक्षणा का वाचक है। भक्ति शब्द का अर्थ-तोडना या पृथकता भी है। जब किसी शब्द को तोडकर या दूसरे ही रूप मे लिया जाता है तो लक्षणा शब्द-शक्ति मानी जाती है। यथा—'भो रक्तपेन्ट! अत्रागच्छ।' वाक्य मे किसी लाल पेन्ट को आने के लिए कहा गया है। लाल पेन्ट तो किसी की बात सुनने मे असमर्थ है, परन्तु लालपेन्टधारी व्यक्ति उससे जुडा रहने के कारण उसको समझ लेता है। अत यही लक्षणा शब्द शक्ति है। लक्षणा दो प्रकार की होती है—रूढिवती तथा प्रयोजनवती। प्रयोजनवती लक्षणा का क्षेत्र बहुत ही व्यापक माना गया है। अत प्रयोजनवती लक्षणा मे भी गूढार्थ को प्रकट करने की शक्ति विद्यमान रहने से लक्षणा से भिन्न किसी 'ध्वनि' नामक तत्त्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नही है। यह भक्तिवादियो का मत है।

अलक्षणीयवादी—अलक्षणीयवादियो का कहना है कि 'ध्वनि' नामक तत्त्व को परिभाषित नही किया जा सकता। वह केवल अनुभवगम्य है। उसका शब्दो के द्वारा वर्णन असम्भव है। अत ध्वनि को अनिर्वचनीय मानकर उसके काव्य-तत्त्व की मान्यता को ही सदिग्ध मान लिया गया है।

आधुनिक काव्यशास्त्र के इतिहास मे उपर्युक्त तीनो ही मतो का युक्तियुक्त खण्डन करके ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुत अलकारवादी परम्पराप्रेमी या रूढिवादी होने के कारण आगे विचार नही कर सके। लक्षणा ही शब्द-शक्ति की सीमा नही है अत व्यजना शब्द-शक्ति ध्वनि का स्रोत है। अलक्षणीय-वादियो का यह कथन भी ठीक नही है कि ध्वनि अनुभवगम्य ही है, वह शब्दो के द्वारा चित्रित नही हो सकती क्योकि अर्थालकारो का सम्बन्ध भी अनुभव से ही है। स्वय आनन्दवर्धन ने अप्रस्तुत प्रशसा अलकार को अलकार न कहकर ध्वनि कहा है। ध्वनिवादियो के अनुसार ध्वनि के भेदो मे एक भेद अलकार ध्वनि भी है।

ध्वनि-विरोधी बारह सिद्धान्तो या तत्त्वो का विवेचन मिलता है, जिनका विश्लेषण इस प्रकार है—(1) तात्पर्य शब्द शक्तिवादी (अभिहितान्वयवादी मीमासक, (2) अभिधावाद (अन्विताभिधानवादी मीमासक), (3) जहत्स्वार्थालक्षणा, (4) अजहत्स्वार्थालक्षणा, (5) स्वार्थानुमान, (6) परार्थानुमान, (7) अर्थापत्ति, (8) तन्त्र, (9) मासोशक्ति, (10) रसकार्यता (भट्टलोल्लट), (11) भोगवादी (भट्टनायक) तथा (12) व्यापारान्तर बाधन (अलक्षणीयवादी)।

विरोधों की निराकृति—ध्वन्यालोककार ने ध्वनिवाद के विरोधियो को अपनी निम्न युक्तियो से शान्त करके ध्वनि-सिद्धान्त प्रतिपादित किया—

> बोद्धृ स्वरूप सख्या निमित्त कार्य प्रतीतिकालानाम्।
> आश्रय विषयादीना भेदात् भिन्नोऽभिधेयतो व्यग्य ॥

ध्वनि-सिद्धान्त व्यग्य पर आधारित है अत व्यग्यार्थ अभिधार्थ या वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से अग्राकित कारणो के फलस्वरूप भिन्न है—

1 ज्ञाता—वाच्यार्थ का ज्ञाता व्याकरणविद् होता है, परन्तु व्यंग्यार्थ का ज्ञाता काव्य-मर्मज्ञ भी होता है। अत बोद्धा या ज्ञाता के भेद के कारण ध्वनि का अस्तित्व है।

2 स्वरूप—वाच्यार्थ मकारात्मक होते हुए भी व्यग्य की प्रधानता के कारण नकारात्मक बन जाता है। इसका वैपरीत्य भी सम्भव है। अत ध्वनि अलग ही तत्त्व है।

3 सख्या—वाच्यार्थ से केवल एक ही व्यक्ति को एक ही रूप मे सम्बोधित किया जाता है, परन्तु प्रतीयमानार्थ विभिन्न वर्गों को एक साथ विभिन्न रूपो मे प्रेरित करता है। यथा—'गतोऽस्तमर्क'—'सूर्यास्त हो गया' प्रतीयमानार्थ विद्यार्थी, कर्मचारी, भक्त आदि को भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रेरित करता है।

4 निमित्त—वाच्यार्थ का करण या साधन व्याकरण है, परन्तु व्यग्यार्थ तो देश, काल, प्रकरण आदि भिन्न-भिन्न निमित्तो से प्रतीत हुआ करता है।

5 कार्य—वाच्यार्थ का कार्य अर्थ को स्पष्ट करना मात्र है, परन्तु व्यग्यार्थ अर्थ की चमत्कारिक प्रतीति कराता है।

6 प्रतीतिकाल—वाच्यार्थ की प्रतीति तत्काल होती है, परन्तु व्यग्यार्थ की प्रतीति कुछ विलम्ब से होती है। अत काल-भेद के कारण व्यग्यार्थ भिन्न तत्त्व है।

7 आश्रय—वाच्यार्थ का आधार शब्द है, परन्तु व्यग्यार्थ मे शब्दार्थ की सघटना का सम्मिश्रण रहता है।

8 विषय—वाच्यार्थ का विषय एक होता है, परन्तु व्यग्यार्थ एक ही साथ अनेक विषयो को सकेतित कर सकता है।

ध्वनि मे सभी काव्य तत्त्वो का समावेश—आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि-तत्त्व के तीन भेद किए हैं—वस्तु ध्वनि, अलकार ध्वनि तथा रस ध्वनि। इस त्रिभेदीय ध्वनि के अतिरिक्त गुणीभूत व्यग्य तत्त्व का भी प्रतिपादन आचार्य मम्मट (11वी शताब्दी) ने अपने काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ मे किया है। अत रस, अलकार, रीति, वक्रोक्ति तथा औचित्य नामक सभी गूढ काव्य-तत्त्व ध्वनि मे ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। यहाँ हम सक्षेपत ध्वनि-सम्प्रदाय के इतिहास के आधार पर ध्वनिवादी अलकार शास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करना चाहते हैं।

वस्तु ध्वनि—आचार्य आनन्दवर्धन ने वस्तु तत्त्व के प्रतिपादन मे व्यग्य की प्रधानता दिखाकर अभिधावादी मीमांसको के मत का निराकरण कर दिया है।

यथा— भ्रम धार्मिक विस्रब्ध स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छ कुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥

यहाँ किसी चचला ने किसी सन्यासी को हटाने के लिए यह व्यग्य किया है कि अरे धार्मिक व्यक्ति! आप गोदावरी नदी के तटवर्ती कुंज मे सानन्द विचरण करो, क्योकि जो कुत्ता आपको परेशान करता था, उसे किसी खूँखार सिंह ने मार

दिया है। अत सिंह के भय से सन्यासी तदुक्त कुंज को त्याग देगा, यही अभीसिप्त है इसीलिए अभिधावादी आचार्यों के मत का व्यग्यार्थ के चमत्कारिक प्रतिपादन से निराकरण हो जाता है।

अलकार ध्वनि—काव्यशास्त्र मे शताधिक अलकारो का विवेचन हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने आलकारिक व्यग्य के आधार पर अलकारवादियो के मत को निराकृत करके ध्वनि-सिद्धान्त का मण्डन किया है। यथा—

यावन्नकोशविकास प्राप्नोति ईषत् मालती कलिका।
मकरन्दपानलोभयुक्तभ्रमर ! तावदेव मर्दयसि ॥

अर्थात्— नहिं पराग, नहि मधुर मधु, नहिं विकास इहकाल।
अलि, कली ही सो बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥

—बिहारी

यहाँ प्रस्तुत प्रेमी की ओर अप्रस्तुत भ्रमर तथा कली के सम्बन्ध से अप्रस्तुत प्रशसा अथवा अन्योक्ति अलकार-स्वरूप व्यग्यार्थ ही चित्रित है। अत यहाँ अलकार ध्वनि व्यग्यार्थ ही है, वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ नही।

रस ध्वनि—काव्यशास्त्रोक्त विभिन्न रसो का सम्बन्ध व्यजना व्यापार से है, वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से नही। अत रस ध्वनि के अन्तर्गत सभी रसो का समावेश हो जाता है। अत रस ध्वनि ध्वनि-सम्प्रदाय का प्राण है, हमे यह भी विस्मृत नही करना चाहिए। दशम् शताब्दी के आचार्य अभिनवगुप्त ने रस को काव्य की आत्मा माना था। वस्तुत रस और ध्वनि दोनो ही तत्त्व अभिव्यक्त होने के कारण काव्य की आत्मा है। फिर भी ध्वनि-तत्त्व रस-तत्व की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अत ध्वनि काव्य की आत्मा है।

प्रतीयमानार्थ का स्वरूप—ध्वनिवादियो ने प्रतीयमानार्थ को वाणी का विचित्र तत्व मानकर उसे इस रूप मे कहा है—

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीपु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥

अर्थात् महाकवियो की वाणी मे प्रतीयमानार्थ सभी प्रसिद्ध काव्य-तत्वो के होने पर भी कुछ अन्य ही तत्व है, जो स्त्रियो के लावण्य की भाँति विचित्र रूप मे ही व्यक्त हुआ करता है। अत शारीरिक गठन, आभूषण, रग आदि से अलग लावण्य तत्व कोई विचित्र तत्व ही है। जिस प्रकार लावण्य हमारे व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ मे काव्य की रमणीयता व्यक्त रहती है। इसी प्रसग मे ध्वन्यालोककार ने समासोक्ति, आक्षेप, विशेपोक्ति, पर्यायोक्ति तथा सकर आदि अलकारो मे वाच्यार्थ की प्रधानता सिद्ध करके प्रतीयमानार्थ का स्वरूप प्रतिपादित किया है। अत प्रतीयमानार्थ व्यग्यार्थ ही है।

एकादश शताब्दी मे 'काव्यप्रकाश' के प्रणेता आचार्य मम्मट का उदय ध्वनिवादी आचार्य के रूप मे हुआ। आचार्य मम्मट कश्मीर के निवासी थे। उन्होने

काव्यप्रकाश मे ध्वनि-भेदो का सविस्तार वर्णन किया है। उन्होने ध्वनि अलकार को निम्न विन्दुओ के आधार पर विकसित किया है—

(1) व्यजना शब्द-शक्ति की स्वतन्त्रता, (2) व्यजना के भेदोपभेद, (3) ध्वनि का विस्तार।

आचार्य मम्मट ने मीमांसको तथा बौद्धो आदि के मतो का खण्डन करके व्यजना शब्द-शक्ति की स्वतन्त्रता मण्डित की है। उन्होने 'गगाया घोप' उदाहरण के आधार पर लक्ष्यार्थ की सीमा निर्धारित करके व्यजना शब्द-शक्ति का क्षेत्र निश्चित कर दिया है। 'गगा मे घोप या घर' जैसे वाच्यार्थ की कोई सगति नही बैठती, क्योकि गगा के प्रवाह मे किसी झोपडी का अस्तित्व सिद्ध नही होता। अत गगा नदी के तट पर किसी का घर है, यही लक्ष्यार्थ है। 'गगाया घोप' पदवन्ध मे गगा के तटवर्ती घर मे उसकी शीतलता का व्यग्यार्थ भी छिपा हुआ है। अत लक्षणा लक्ष्य को प्रकट कर करती है, परन्तु तन्निहित व्यग्य को नही। अत लक्षणावादियो का यह भ्रम था कि वे लक्ष्य और प्रयोजन दोनो को ही लक्षणा से सिद्ध करके व्यग्यार्थ को नही मानते थे। अतएव व्यजना शब्द-शक्ति अर्थ प्रतिपादन की चरम सीमा है। इसीलिए आचार्य मम्मट ने तीन प्रकार का काव्य माना है—(1) उत्तम काव्य (ध्वनिकाव्य), (2) मध्यम काव्य (गुणीभूत व्यग्य काव्य) तथा (3) अधम काव्य (चित्र काव्य)। अत इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य मम्मट ने ध्वनि सम्प्रदाय से सम्बद्ध समस्त आक्षेपो का प्रवल खण्डन किया है।

आचार्य मम्मट ने व्यजना शब्द-शक्ति को शाब्दी व्यजना तथा आर्थी व्यजना के रूप मे विभाजित किया है। यह वर्गीकरण शब्दार्थ के आधार पर किया गया है। अलकारवादी आचार्य भी शब्द और अर्थ को लेकर अलकारो का विवेचन करने के लिए आगे बढे हैं। व्यजना के भेदोपभेद इस प्रकार हैं—

शब्द द्वारा व्यग्य को प्रकट करना शाब्दी व्यजना कहलाना है। शाब्दी व्यजना के चौदह भेद किए गए है—(1) सयोग, (2) विप्रयोग, (3) साहचर्य, (4) विरोध, (5) अर्थ, (6) प्रकरण, (7) लिंग, (8) शब्दान्तरसन्निधि, (9) सामर्थ्य, (10) औचित्य, (11) देश, (12) काल, (13) व्यक्ति, (14) स्वर।

अर्थ-व्यग्य को आर्थी व्यजना कहा जाता है। इसके दश भेद हैं—(1) वक्तृ-वैशिष्ट्य, (2) बौद्धव्य-वैशिष्ट्य, (3) काकु-वैशिष्ट्य, (4) वाक्य-वैशिष्ट्य, (5) वाच्य वैशिष्ट्य, (6) अन्यसन्निधि, (7) प्रस्ताव, (8) देश, (9) काल तथा (10) अन्यविधि। आचार्य मम्मट ने शब्द एव अर्थ के आधार पर व्यजना के भेदोपभेदो को अच्छा विस्तार देकर व्यजना का स्वतन्त्र अस्तित्व ही सिद्ध नही किया है, अपितु उसके क्षेत्र को भी अतिशय व्यापक सिद्ध कर दिया है। मम्मट का व्यजना वर्णन तर्कसगत है।

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रन्थ मे ध्वनि के दस हजार चार सौ पचपन भेदो का उल्लेख किया है—'शरेषुयुगखेन्दव' मम्मट ने लक्षणामूलक ध्वनि

काव्यप्रकाश मे ध्वनि-भेदो का सविस्तार वर्णन किया है। उन्होने ध्वनि अलकार को निम्न बिन्दुओ के आधार पर विकसित किया है—

(1) व्यजना शब्द-शक्ति की स्वतन्त्रता, (2) व्यजना के भेदोपभेद, (3) ध्वनि का विस्तार।

आचार्य मम्मट ने मीमासको तथा बौद्धो आदि के मतो का खण्डन करके व्यजना शब्द-शक्ति की स्वतन्त्रता मण्डित की है। उन्होने 'गगाया घोष' उदाहरण के आधार पर लक्ष्यार्थ की सीमा निर्धारित करके व्यजना शब्द-शक्ति का क्षेत्र निश्चित कर दिया है। 'गगा मे घोष या घर' जैसे वाच्यार्थ की कोई सगति नही बैठती, क्योकि गगा के प्रवाह मे किसी झोपडी का अस्तित्व सिद्ध नही होता। अत गगा नदी के तट पर किसी का घर है, यही लक्ष्यार्थ है। 'गगाया घोष' पदबन्ध मे गगा के तटवर्ती घर मे उसकी शीतलता का व्यग्यार्थ भी छिपा हुआ है। अत लक्षणा लक्ष्य को प्रकट कर करती है, परन्तु तन्निहित व्यग्य को नही। अत लक्षणावादियो का यह भ्रम था कि वे लक्ष्य और प्रयोजन दोनो को ही लक्षणा से सिद्ध करके व्यग्यार्थ को नही मानते थे। अतएव व्यजना शब्द-शक्ति अर्थ प्रतिपादन की चरम सीमा है। इसीलिए आचार्य मम्मट ने तीन प्रकार का काव्य माना है—(1) उत्तम काव्य (ध्वनिकाव्य), (2) मध्यम काव्य (गुणीभूत व्यग्य काव्य) तथा (3) अधम काव्य (चित्र काव्य)। अत इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य मम्मट ने ध्वनि सम्प्रदाय से सम्बद्ध समस्त आक्षेपो का प्रबल खण्डन किया है।

आचार्य मम्मट ने व्यजना शब्द-शक्ति को शाब्दी व्यजना तथा आर्थी व्यजना के रूप मे विभाजित किया है। यह वर्गीकरण शब्दार्थ के आधार पर किया गया है। अलकारवादी आचार्य भी शब्द और अर्थ को लेकर अलकारो का विवेचन करने के लिए आगे बढे है। व्यजना के भेदोपभेद इस प्रकार है—

शब्द द्वारा व्यग्य को प्रकट करना शाब्दी व्यजना कहलाता है। शाब्दी व्यजना के चौदह भेद किए गए है—(1) सयोग, (2) विप्रयोग, (3) साहचर्य, (4) विरोध, (5) अर्थ, (6) प्रकरण, (7) लिग, (8) शब्दान्तरसन्निधि, (9) सामर्थ्य, (10) औचित्य, (11) देश, (12) काल, (13) व्यक्ति, (14) स्वर।

अर्थ-व्यग्य को आर्थी व्यजना कहा जाता है। इसके दश भेद है—(1) वक्तृ-वैशिष्ट्य, (2) बोद्धव्य-वैशिष्ट्य, (3) काकु-वैशिष्ट्य, (4) वाक्य-वैशिष्ट्य, (5) वाच्य वैशिष्ट्य, (6) अन्यसन्निधि, (7) प्रस्ताव, (8) देश, (9) काल तथा (10) अन्यविधि। आचाय मम्मट ने शब्द एव अर्थ के आधार पर व्यजना के भेदोपभेदो को अच्छा विस्तार देकर व्यजना का स्वतन्त्र अस्तित्व ही सिद्ध नही किया है, अपितु उसके क्षेत्र को भी अतिशय व्यापक सिद्ध कर दिया है। मम्मट का व्यजना वर्णन तर्कसगत है।

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रन्थ में ध्वनि के दस हजार चार सौ पचपन भेदो का उल्लेख किया है—'शरेषुयुगखेन्दव' मम्मट ने लक्षणामूलक ध्वनि

दिया हैं। अत सिंह के भय से सन्यासी तदुक्त कुंज को त्याग देगा, यही अभीसिप्त है इसीलिए अभिधावादी आचार्यों के मत का व्यंग्यार्थ के चमत्कारिक प्रतिपादन से निराकरण हो जाता है।

अलकार ध्वनि—काव्यशास्त्र मे शताधिक अलकारो का विवेचन हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने आलकारिक व्यग्य के आधार पर अलकारवादियो के मत को निराकृत करके ध्वनि-सिद्धान्त का मण्डन किया हैं। यथा—

यावन्नकोशविकास प्राप्नोति ईषत् मालती कलिका।
मकरन्दपानलोभयुक्तभ्रमर ! तावदेव मर्दयसि ॥

अर्थात्—नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहकाल।
अलि, कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥

—बिहारी

यहाँ प्रस्तुत प्रेमी की ओर अप्रस्तुत भ्रमर तथा कली के सम्बन्ध से अप्रस्तुत प्रशसा अथवा अन्योक्ति अलकार-स्वरूप व्यंग्यार्थ ही चित्रित है। अत यहाँ अलकार ध्वनि व्यंग्यार्थ ही है, वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ नही।

रस ध्वनि—काव्यशास्त्रोक्त विभिन्न रसो का सम्बन्ध व्यजना व्यापार से है, वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ से नही। अत रस ध्वनि के अन्तर्गत सभी रसो का समावेश हो जाता है। अत रस ध्वनि ध्वनि-सम्प्रदाय का प्राण है, हमे यह भी विस्मृत नहीं करना चाहिए। दशम् शताब्दी के आचार्य अभिनवगुप्त ने रस को काव्य की आत्मा माना था। वस्तुत रस और ध्वनि दोनो ही तत्व अभिव्यक्त होने के कारण काव्य की आत्मा है। फिर भी ध्वनि-तत्व रस-तत्व की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अत ध्वनि काव्य की आत्मा है।

प्रतीयमानार्थ का स्वरूप—ध्वनिवादियो ने प्रतीयमानार्थ को वाणी का विचित्र तत्व मानकर उसे इस रूप मे कहा है—

प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीपु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥

अर्थात् महाकवियो की वाणी मे प्रतीयमानार्थ सभी प्रसिद्ध काव्य-तत्वो के होने पर भी कुछ अन्य ही तत्व है, जो स्त्रियो के लावण्य की भाँति विचित्र रूप मे ही व्यक्त हुआ करता है। अत शारीरिक गठन, आभूषण, रग आदि से अलग लावण्य तत्व कोई विचित्र तत्व ही है। जिस प्रकार लावण्य हमारे व्यक्तित्व की ही अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ मे काव्य की रमणीयता व्यक्त रहती है। इसी प्रसग मे ध्वन्यालोककार ने समासोक्ति, आक्षेप, विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति तथा सकर आदि अलकारो मे वाच्यार्थ की प्रधानता सिद्ध करके प्रतीयमानार्थ का स्वरूप प्रतिपादित किया है। अत प्रतीयमानार्थ व्यग्यार्थ ही है।

एकादश शताब्दी मे 'काव्यप्रकाश' के प्रणेता आचार्य मम्मट का उदय ध्वनिवादी आचार्य के रूप मे हुआ। आचार्य मम्मट कश्मीर के निवासी थे। उन्होने

अस्त-व्यस्त थी अथवा भटकी हुई थी, उसी को आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के रूप मे व्यवस्थित किया है—

"ध्वनिकृतामालकारिक-सरणि-व्यवस्थापकत्वात् ।"

—रमणगाधर

ध्वनिविरोधी आचार्य—कश्मीर निवासी आचार्य मुकुलभट्ट ने अपने 'अभिधा वृत्तिमातृका' ग्रन्थ मे ध्वनि के अस्तित्व तक को झकझोर दिया है। आपने ध्वनि को लक्षरण के अन्तर्गत ही परिगणित किया है। प्रतिहारेन्दुराज ने ध्वनि को अलकार के अन्तर्गत माना है। आचार्य भट्टनायक ने रस को भावकत्व व्यापार से सम्बद्ध करके व्यजना के अस्तित्व को ही स्वीकार करके ध्वनि का विरोध किया है। इनका ग्रन्थ 'सहृदय-दपरण' है। आप एक महान् रसवादी आचार्य थे। आचार्य कुन्तक (दशवी शताब्दी) ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' ग्रन्थ मे ध्वनि को वक्रोक्ति का ही रूप वतलाया है। आचार्य महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ मे ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत गिनने की पेशकश की गई है।

यथार्थत ध्वनि-सम्प्रदाय आज रस-सम्प्रदाय के समान सप्रतिष्ठित है। रस और ध्वनि दोनो ही साहित्यशास्त्र के क्षेत्र मे प्रख्यात रहे हैं। हिन्दी काव्यशास्त्र मे ध्वनि को एक महान् काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय के रूप मे सम्मिलित किया गया है। ऐसा लगता है कि रस और ध्वनि तत्त्वत एक ही वस्तु के दो नाम हैं। रस और ध्वनि दोनो ही व्यजना के व्यापार है।

अलकार-सम्प्रदाय

'अलकार' शब्द का अर्थ है—आभूषण। जिस प्रकार शरीर की या व्यक्ति की शोभा अलकार को धारण करने से बहुगुणित होती है, उसी प्रकार काव्य-शरीर की शोभा अलकारो से अनेक गुनी होती है। रसवादियो के अत्रोक्त सिद्धान्त की परवाह न करके अलकारवादियो ने अलकार को काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है। यथार्थत काव्य का तत्त्व अलकार शारीरिक आभूषणो के समान नही है। अलकार शैलीगत तत्त्व है और शैली मे आन्तरिक तत्त्व—व्यक्तिगत की प्रधानता होती है। 'स्टाइल इज दा मैन हिमसेल्फ' सिद्धान्त अलकार सम्प्रदाय के ऊपर चरितार्थ होता है। इसीलिए आलकारिको ने अलकार तत्त्व मे सभी तत्वो का समावेश किया है। यहाँ हम अलकार सम्प्रदाय का इतिहास इसी सन्दर्भ मे प्रस्तुत कर रहे हैं।

भामह—अलकार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक का श्रेय आचार्य भामह को ही है। आचर्य भामह के पिताजी रक्रिल गोमी थे। भामह की जन्मभूमि कश्मीर मानी गई है। बौद्ध न्याय के आचार्य धर्मकीर्ति के सिद्धान्तो से प्रभावित होकर भामह आचार्य दिङ्नाग (छठी शताब्दी) से प्रभावित जान पडते है। अत भामह छठी शताब्दी के ही आचार्य थे क्योकि धर्मकीर्ति सप्तमशती के आचार्य मान्य हैं। आचाय भामह के सामने आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित चार अलकार थे—यमक, उपमा, रूपक तथा दीपक। आचार्य भरत (द्वितीय शती) ने अपने नाट्यशास्त्र मे 36 लक्षणो की भी चर्चा भी है, उन्हें आधार बनाकर भी अलकारो का विकास

क अविवक्षित वाच्य-ध्वनि तथा अभिधामूलक ध्वनि को विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के नाम से पुकारा है। काव्यप्रकाशकार ने शब्द-शक्तिमूलक तथा अर्थ-शक्तिमूलक ध्वनि-भेदो को सकर और ससृष्टि जैसे अलकार-व्यग्यो से मिश्रित करके ध्वनि-भेदो को आशातीत विस्तार दे दिया है। अत ध्वनि-विस्तार की दृष्टि से आचार्य मम्मट ने ध्वनि-सम्प्रदाय को अभूतपूर्व योगदान दिया है।

गुणीभूत व्यग्य—गौण व्यग्य का नाम गुणीभूत व्यग्य है। प्रधान व्यग्य ध्वनि है तथा अप्रधान व्यग्य गुणीभून व्यग्य। आचार्य मम्मट ने गुणीभूत व्यग्य को आठ भेदो मे विभाजित किया है—(1) अगूढ व्यग्य, (2) अपराग व्यग्य, (3) वाच्यसिद्धयग व्यग्य, (4) अस्फुट व्यग्य, (5) सन्दिग्ध-प्राधान्य व्यग्य, (6) तुल्य-प्राधान्य व्यग्य, (7) काक्वाक्षिप्य व्यग्य, (8) असुन्दर व्यग्य। गुणीभूत व्यग्य मे वाच्यार्थ की प्रधानता रहती है।

आचार्य मम्मट का ध्वनि-सम्प्रदाय को योगदान—मम्मट का कीर्ति-केन्द्र एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' है। इस ग्रन्थ मे आचार्य महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के प्रबल ध्वनि-विरोधी तर्कों को युक्तिपूर्वक निराकृत किया है। महिभट्ट ने ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत गिना था परन्तु अनुमान तो ज्ञान का साधन है, जबकि ध्वनि प्रमाण से बढकर तत्व है या प्रमाण है। अत आचार्य मम्मट ने ध्वनि को तर्कसगत रूप देकर ध्वनि-सम्प्रदाय को प्रामाणिक बना दिया। इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने ध्वनि का सम्मान किया है।

आचार्य विश्वनाथ—'साहित्य दर्पण' ग्रन्थ मे रस, ध्वनि, अलकार, गुण, वृत्ति, रीति, शब्द-शक्ति आदि की युक्तियुक्त मीमांसा हुई। रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनि की भी मीमांसा की है। आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के आन्तरिक तत्व के रूप मे ध्वनि को पर्याप्त सम्मान दिया है। वस्तुत दशवी शताब्दी मे ही रस और ध्वनि को काव्य के आन्तरिक तत्व के रूप मे पूर्ण प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। इसीलिए रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्यों ने रस और ध्वनि को बिना किसी विवाद के समर्थन प्रदान किया है।

आचार्य जगन्नाथ—सत्रहवी शताब्दी मे शाहजहाँ से सम्मान प्राप्त आचार्य जगन्नाथ ने 'रस-गगाधर' नाम से काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ ध्वनि-सम्प्रदाय का अन्तिम प्रौढ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे काव्य के सभी तत्वो की प्रौढ मीमांसा मिलती है। आचार्य जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा ध्वनि और रस के सन्दर्भ मे ही दी है—'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्'—अर्थात् रमणीयार्थ का प्रतिपादन शब्द ही काव्य है। वस्तुत आचार्य आनन्दवर्धन का प्रतीयमानार्थ रमणियो के लावण्य की भाँति विच्छित्ति को लेकर अलकार शास्त्र के मच पर चमका था तथा आचार्य जगन्नाथ की काव्य-परिभाषा भी उसी रमणीयता को लेकर ध्वनि-पोषक रूप मे साहित्य शास्त्र के मच पर अवतीर्ण हुई है। रस गगाधरकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो ध्वनि अलकारो के चमत्कार के रूप मे इधर-उधर

अस्त-व्यस्त थी अथवा भटकी हुई थी, उसी को आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के रूप मे व्यवस्थित किया है—

"ध्वनिकृतामालकारिक-सरणि-व्यवस्थापकत्वात् ।"

—रसगगाधर

ध्वनिविरोधी आचार्य—कश्मीर निवासी आचार्य मुकुलभट्ट ने अपने 'अभिधा वृत्तिमातृका' ग्रन्थ मे ध्वनि के अस्तित्व तक को झकझोर दिया है। आपने ध्वनि को लक्षणा के अन्तर्गत ही परिगणित किया है। प्रतिहारेन्दुराज ने ध्वनि को अलकार के अन्तर्गत माना है। आचार्य भट्टनायक ने रस को भावकत्व व्यापार से सम्बद्ध करके व्यजना के अस्तित्व को ही स्वीकार करके ध्वनि का विरोध किया है। इनका ग्रन्थ 'सहृदय-दपरण' है। आप एक महान् रसवादी आचार्य थे। आचार्य कुन्तक (दशवी शताब्दी) ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' ग्रन्थ मे ध्वनि को वक्रोक्ति का ही रूप बतलाया है। आचार्य महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ मे ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत गिनने की पेशकश की गई है।

यथार्थत ध्वनि-सम्प्रदाय आज रस-सम्प्रदाय के समान सप्रतिष्ठित है। रस और ध्वनि दोनो ही साहित्यशास्त्र के क्षेत्र मे प्रख्यात रहे हैं। हिन्दी काव्यशास्त्र मे ध्वनि को एक महान् काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय के रूप मे सम्मिनित किया गया है। ऐसा लगता है कि रस और ध्वनि तत्त्वत एक ही वस्तु के दो नाम हैं। रस और ध्वनि दोनो ही व्यजना के व्यापार हैं।

अलकार-सम्प्रदाय

'अलकार' शब्द का अर्थ है—आभूषण। जिस प्रकार शरीर की या व्यक्ति की शोभा अलकार को धारण करने से बहुगुणित होती है, उसी प्रकार काव्य-शरीर की शोभा अलकारो से अनेक गुनी होती है। रसवादियो के अत्रोक्त सिद्धान्त की परवाह न करके अलकारवादियो ने अलकार को काव्य का सर्वस्व स्वीकार किया है। यथार्थत काव्य का तत्त्व अलकार शारीरिक आभूषणो के समान नही है। अलकार शैलीगत तत्त्व है और शैली मे आन्तरिक तत्त्व—व्यक्तिगत की प्रधानता होती है। 'स्टाइल इज दा मैन हिमसेल्फ' सिद्धान्त अलकार सम्प्रदाय के ऊपर चरितार्थ होता है। इसीलिए आलकारिको ने अलकार तत्त्व मे सभी तत्वो का समावेश किया है। यहाँ हम अलकार सम्प्रदाय का इतिहास इसी सन्दर्भ मे प्रस्तुत कर रहे है।

भामह—अलकार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक का श्रेय आचार्य भामह को ही है। आचर्य भामह के पिताजी रक्रिल गोमी थे। भामह की जन्मभूमि कश्मीर मानी गई है। बौद्ध न्याय के आचार्य धर्मकीर्ति के सिद्धान्तो से प्रभावित होकर भामह आचार्य दिङ्नाग (छठी शताब्दी) से प्रभावित जान पडते है। अत भामह छठी शताब्दी के ही आचार्य थे क्योकि धर्मकीर्ति सप्तमशती के आचार्य मान्य हैं। आचाय भामह के सामने आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित चार अलकार थे—यमक, उपमा, रूपक तथा दीपक। आचार्य भरत (द्वितीय शती) ने अपने नाट्यशास्त्र मे 36 लक्षणो की भी चर्चा भी है, उन्हें आधार बनाकर भी अलकारो का विकास

किया गया। आचार्य भरत का रस-तत्व भी 'रसवत्' अलकार बन गया। आचार्य भामह ने 'काव्यालकार' नामक आलकारिक गन्थ की रचना की। इन्होने काव्य की परिभाषा देते समय 'शब्दार्थौ काव्यम्' कहा तो परवर्ती आचार्यों ने शब्द और अर्थ को आधार बनाकर ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदि सम्प्रदायो को ही प्रवर्तित कर दिया। भामह ने काव्यालंकार के दूसरे तथा तीसरे परिच्छेद मे अलकारो का परिचय दिया है। भामह ने भरत द्वारा वर्णित दश गुणो को काव्य के तीन गुणो-माधुर्य, ओज तथा प्रसाद मे ही अन्तर्भाव कर दिया। परवर्ती आचार्यो ने भामह के सिद्धान्त का अनुगमन किया है। भामह अलकार-सम्प्रदाय के ही प्रवर्तक न होकर अलकार शास्त्र के स्वतन्त्र प्रवर्तक के रूप मे भी सम्मान्य हैं। इन्होने वक्रोक्ति को अलकारो का प्राण माना है।

दण्डी—दण्डी का स्थितिकाल सप्तमी शताब्दी है। इन्होने 'काव्यादर्श' नामक आलकारिक ग्रन्थ की रचना की। इन्होने काव्य की शोभा विवर्द्धित करने वाले तत्वो को अलकार कहकर रसवाद, ध्वनिवाद आदि के लिए मार्ग साफ कर दिया। क्योकि जब काव्य के शोभाकारी तत्व अलकार है तो वे वाह्य तत्व ही रहे। अतएव काव्य का आन्तरिक तत्व तो कुछ और ही रहा। परन्तु आचार्य दण्डी ने अलकारो की प्राप्ति को असीमता अवश्य प्रदान की।

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यपि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥

—काव्यादर्श

आचार्य दण्डी ने अलकारो के साथ रीति तत्व पर भी सुन्दर प्रकाश डाला है।

उद्भट—आचार्य उद्भट् अलकार शास्त्र के अलकारवादी आचार्यो मे उल्लेखनीय हैं। आप कश्मीर नरेश जयापीड की सभा के पण्डित थे। आपने 'काव्यालकारसार सग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की। उद्भटाचार्य का स्थितिकाल अष्टमशती का उत्तरार्द्ध है। उद्भट ने अलकारो का वैज्ञानिक विवेचन किया है। उद्भट के विशेष सिद्धान्त इस प्रकार है—

(1) अर्थभेद से शब्द-भेद की कल्पना, (2) शब्द-श्लेष तथा अर्थ-श्लेष को अर्थालकारो मे ही परिगणित करना, (3) अन्य अलकारो के योग मे श्लेपालकार अर्थालकारो मे ही परिगणित करना, (4) वाक्य का तीन प्रकार से अभिधा व्यापार, (5) अर्थ की दो प्रकार की कल्पना—विचारित-सुस्थ तथा अविचारित रमणीय, (6) काव्य-गुणो को सघटना का धर्म मानना। इनके अलकार ग्र थ मे अलकारो का विशद् विवेचन है। पहले उद्भटाचार्य को ही अलकार-सम्प्रदाय का पहला प्रामाणिक आचार्य माना जाता था। वस्तुत अलकारो का इतना विस्तृत विवेचन पहले-पहल उद्भटाचार्य ही ने किया।

रुद्रट—आचार्य रुद्रट ने नवम् शताब्दी मे 'काव्यालकार' ग्रन्थ मे वक्रोक्ति नामक अलकार की विचित्र उद्भावना की। इन्होने 'वक्रोक्ति' को शब्दालकार के

रूप से प्रस्तुत किया। इन्होने पहली बार अलकारो का वैज्ञानिक विभाजन किया। शब्दालकार, अर्थालकार तथा उभयालकार नामक अलकार-भेद के साथ ही अर्थालकारो के भी अनेक तर्कमूलक भेद किए गए। आचार्य रुद्रट ने प्रतीयमानार्थ का विवेचन करने के लिए 'भाव' नामक नवीन अलकार की कल्पना की। रुद्रटाचार्य ने वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष को अलकार का मूल तत्त्व माना है। आचार्य रुद्रट का अलकार-सम्प्रदाय को उनकी मौलिक उद्भावना का विशिष्ट योगदान है।

अग्निपुराण—11वी शती मे अग्निपुराण मे अलकारो का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए यह बताया गया है कि जिस प्रकार अग्नि अनुष्ण नही हो सकती, उसी प्रकार काव्य का भी अलकारो के बिना कोई अस्तित्व नही हो सकता। यथा—

अगीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमलकृती।।

परन्तु यह उक्ति अब जयदेव के चन्द्रालोक की ही मानी जाती है। अग्नि-पुराण मे अलकारो को विशेष महत्त्व दिया है। वस्तुत अग्निपुराण एक विभिन्न विद्या कोष है।

रुय्यक—बारहवी शताब्दी मे कश्मीर नरेश राजा जयसिंह के समकालीन के रूप मे रुय्यक का नाम उल्लेखनीय है। रुय्यक ने 'अलकार-सर्वस्व' नामक आलकारिक ग्रन्थ की रचना की। इन्होने 75 अर्थालकारो तथा 6 शब्दालकारो का वर्णन किया है। अत अलकार सर्वस्व मे अलकार सख्या 81 तक पहुँच गई है। रुय्यक ने विचित्र तथा विकल्प जैसे अलकारो की उद्भावना करके अपनी मौलिक सूझबूझ का परिचय दिया है। परवर्ती आचार्य इस ग्रन्थ को आलकारिक विवेचन का आधार बनाते रहे है। रुय्यक ने अलकारो के विवेचन मे वैज्ञानिकता का पुट देकर अलकारो का मूल भेद प्रस्तुत करके अर्थालकारो को निम्न रूप मे विभाजित कर दिया है—

1 सादृश्य गर्भ अलकार—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, प्रतीप आदि।
2 विरोधमूलक अलकार—विभावना, विशेषोक्ति, विरोधाभास इत्यादि।
3 शृखलामूलक अलकार—एकावली, कारणमाला, सार इत्यादि।
4 तर्कन्यायमूलक अलकार—अनुमान, काव्यलिंग इत्यादि।
5 वाक्यन्यायमूलक अलकार—यथासख्य, परिवृत्ति तथा परिसख्या आदि।
6 लोकन्यायमूलक अलकार—तद्गुण, मीलित, प्रत्यनीक, सामान्य, उत्तर आदि
7 गूढार्थ प्रतीतिमूलक अलकार—सूक्ष्म पिहित, गूढोक्ति इत्यादि।

आचार्य रुय्यक का अलकार विभाजन आज भी सम्मान्य है।

जयदेव—13वी शताब्दी मे जयदेव ने 'चन्द्रलोक' नामक अलकारवादी ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ मे अलकारो का सूक्ष्म विवेचन है। सत्रहवी शताब्दी के आचार्य अप्पय दीक्षित ने 'चन्द्रालोक' को अपने 'कुवलयानन्द' नामक अलकार ग्रन्थ का आधार बनाया है। अलकारवादी जयदेव गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव से

भिन्न रहे हैं, यह स्मरणीय है। राजा जसवन्तसिंह ने 'भाषा-भूषण' नामक आलकारिक ग्रन्थ को 'चन्द्रालोक' के हिन्दी अनुवाद के रूप मे प्रस्तुत किया।

अप्पय दीक्षित—17वी शती मे शैव दार्शनिक आचार्य अप्पय दीक्षित ने 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ की रचना की। इन्होने अलकारो की सख्या सौ से भी ऊपर पहुँचा दी है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'कुवलयानन्द' के आलकारिक वर्णन का अत्यधिक उपहास किया है। अलकार-सम्प्रदाय के आचार्यों मे अप्पय दीक्षित अन्तिम आचाय माने गए है।

अलकारो के विवेचक अन्य आचार्य—आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' ग्रथ के दो अध्यायो मे अलकारो का विस्तृत विवेचन किया है। कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' नामक ग्रन्थ मे अलकारो के लक्षणो तथा उदाहरणो के साथ-साथ अलकार से सम्वद्ध अनेक सिद्धान्तो की समीक्षा भी की हे। आजकल साहित्य दर्पण का दशम परिच्छेद अलकारो के ज्ञान के लिए लोकप्रिय है। आचार्य विश्वनाथ ने स्वभावोक्ति अलकार के सन्दर्भ मे यह आपत्ति की है कि यदि वात्सल्य रस के चित्रण मे वच्चो की स्वाभाविक आदतो को स्वभावोक्ति कोई अलकार कहा जाएगा तो फिर विवेच्य क्या रह जाएगा ? अत स्वभावोक्ति कोई अलकार न होकर अलकार्य-तत्त्व है। आचार्य विश्वनाथ ने अलकारो के वर्णन मे प्रवाहपूर्ण भाषा तथा सरस शैली को अपनाया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने अलकारो का समीक्षात्मक विवेचन किया है। अत ध्वनिवादी, रीतिवादी (वामन) तथा रसवादी आचार्यों ने अलकारो को महत्त्व अवश्य दिया है। रसवादी तथा ध्वनिवादियो ने अलकारो को काव्य का वाह्य तत्त्व ही स्वीकार किया है। इस दृष्टि से आचाय मम्मट तथा विश्वनाथ के नाम उल्लेखनीय है। फिर भी अलकारो का महत्व आज तक अक्षुण्ण है। आधुनिक युग मे अलकारो का पठन-पाठन की दृष्टि से विशेष महत्व है।

रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य वामन को है। आचार्य वामन का स्थितिकाल अष्टम शताब्दी मान्य है। आचार्य वामन कश्मीर के राजा जयापीड के मन्त्री थे। अलकारवादी आचार्य उद्भट इनके समकालीन तथा अन्तेवासी थे। वामन का 'काव्यालकार सूत्र' ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ मे रीति को काव्य की आत्मा स्वीकारा गया है—'रीतिरात्मा काव्यस्य।' इनका 'काव्यालकारसूत्र' ग्रन्थ सूत्र-शैली मे रचित है। वामन ने स्वय इन सूत्रो के ऊपर वृत्ति भी की है। वामनाचार्य ने रीति को परिभाषित करते समय यही स्पष्ट किया है कि 'रीति' विशेष पद-रचना का नाम है—'विशिष्ट पद-रचना रीति'।

वामन के पूर्ववर्ती आचार्य और रीति—आचार्य वामन से पूर्व छठी शताब्दी मे आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालकार' नामक ग्रन्थ मे रीति का उल्लेख किया है परन्तु भामह ने रीति पर बल न देकर काव्य गुणो पर बल दिया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आचार्य वामन ने रीति को सिद्ध करने के लिए गुणो के प्रयोग पर

अत्यधिक बल दिया है। भामह के पश्चात् छठी शताब्दी मे ही आचार्य दण्डी का उदय हुआ। आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' के प्रथम परिच्छेद मे वैदर्भी तथा गौडी रीति का विशेष उल्लेख किया है। आचार्य दण्डी के रीति-विधान मे देश-भेद को लक्ष्य करके तत्व-प्रतिपादन हुआ है। इसीलिए दण्डी रीति-सम्प्रदाय के मार्गदर्शक के रूप मे प्रतिष्ठित हैं।

आचार्य वामन और रीति—आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानकर अलकार शास्त्र विषयक अन्य प्रमुख सिद्धान्तो को इस क्रम मे रखा है—

1 वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली रीतियो की स्थापना।

2 वक्रोक्ति को सादृश्यमूलक लक्षणा मानना।

3 समग्र अर्थालकारो को उपमा अलकार का प्रपच माना है।

4 आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित काव्य के दश गुणो को शब्द तथा अर्थ के आधार पर बीस रूपो मे प्रस्तुत करना।

रीतियो का स्वरूप—वैदर्भी रीति मे माधुर्य गुण तथा कोमल वर्णों की प्रधानता रहती है। विदर्भ देश से इस रीति का औपचारिक सम्बन्ध जोडा गया है। वस्तुत कालिदास जैसे महाकवियो के काव्यो मे वैदर्भी रीति की प्रधानता है। एक उदाहरण से इस रीति का स्वरूप स्पष्ट हो सकता है—

विललाप स वाष्पगदगद सहजामप्यपहायधीरताम्।
अयोऽपि मार्दव भजते कैव कथा शरीरिणाम्॥

—रघुवश

प्रस्तुत उदाहरण मे राजा अज को इन्दुमती के वियोग मे विह्वल दिखाकर यह सिद्ध कर दिया गया है कि जिस प्रकार राजा का हृदय शोक-प्लुत होने से कोमल है, उसी प्रकार वैदर्भी रीति मे वर्णों की कोमलता अर्थात् उपनागरिका वृत्ति तथा माधुर्य गुण की कोमलता भी देखते ही बन रही है। वामन ने वैदर्भी को सवगुण सम्पन्न कहा है।

गौडी रीति मे ओज गुण की प्रधानता के साथ-साथ कठोर वर्णों का प्राधान्य भी रहता है। आचार्य भवभूति तथा भट्टनारायण के नाटको मे गौडी रीति के दर्शन किए जा सकते हैं। कठोर वर्णों मे टकार की प्रधानता मानी जाती है। अत आचार्य वामन ने ओज गुण को गौडी रीति के साथ जोडकर काव्य के रस तत्व की ओर जो प्रस्थान किया है, वह सहज प्रशस्य है। हमे यही बात अन्य रीतियो के सन्दर्भ मे भी माननी चाहिए।

पाञ्चाली रीति मे प्रसाद गुण तथा सुकुमार वर्णों की प्रधानता रहती है। आचार्य बाणभट्ट के ग्रन्थो मे पाञ्चाली रीति की प्रधानता है। पजाब क्षेत्र के कवियो ने इस रीति को मुख्य रूप मे अपनाया, इसीलिए इसका नाम पाञ्चाली पडा।

रीति बनाम शैली—रीति-तत्व मे कवि का व्यक्तित्व अवश्यमेव प्रतिबिम्बित रहता है। आचार्य वामन ने रीति को गुणो से सम्पृक्त करके शैली का क्षेत्र अवश्य

ही स्पष्ट और विस्तृत कर दिया है। आचार्य कुन्तक ने वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग नाम से पुकार कर शैली के रहस्य को स्पष्ट कर दिया है परन्तु आधुनिक युग मे शैली का स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हो गया है। फिर भी रीति और शैली का निकट का सम्बन्ध है।

रीति का विकास—आचार्य दण्डी ने वैदर्भी तथा गोडी नामक दो रीतियो को ही स्वीकार किया था। दण्डी ने वैदर्भी रीति की प्रशसा की है तथा गोडी रीति की अपेक्षाकृत उपेक्षा की है। दण्डी के समय मे बाणभट्ट जैसे महान् साहित्यकारो का उदय नही हुआ था, इसलिए वे पाञ्चाली रीति की कल्पना नही कर सके। आचाय वामन ने उक्त दो रीतियो के साथ पाञ्चाली को भी जोड दिया, क्योकि उनके सम्मुख मध्यम मार्ग आ चुका था। आचार्य वामन ने वैदर्भी रीति मे श्लेप समता, समाधि, ओज, प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा क्रान्ति नामक दश गुणो को निहित माना है। गोडी रीति मे ओज और कान्ति नामक गुणो की प्रधानता मानी है तथा पाञ्चाली रीति मे माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणो की सत्ता रहती है। आचार्य रुद्रट ने लाटदेशीय शैली के आधार पर चौथी वृत्ति लाटी की स्थापना की। भोजराज ने आवन्ती तथा मागधी को उक्त चार रीतियो मे जोडकर रीतियो की सख्या छ कर दी। भोजराज ने गुणो के तीन भेद—बाह्यगुण, आन्तरगुण तथा वैशेषिक गुण को मानकर गुणो की सख्या चौबीस तक पहुँचा दी है। परन्तु परवर्ती ध्वनिवादी एव रसवादी आचार्यो ने रति को काव्य का बाह्य तत्त्व मानकर आचार्य वामन की मान्यताओ को झकझोर दिया है। आचार्य मम्मट ने गुण-भेद की दृष्टि से आचार्य भामह के द्वारा प्रतिपादित तीन गुणो को ही स्वीकार किया है। मम्मट की निम्न मान्यता ध्यान देने योग्य है—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिता ।
अन्ये भजन्ति दोपत्व कुत्रचिन्न ततोदश ।।

—काव्यप्रकाश

आचार्य विश्वनाथ ने रीतियो का वर्णन तो अवश्य किया है, परन्तु वे रीति को साम्प्रदायिक महत्व न देकर काव्य का बाह्य तत्त्व मानते थे। अलकारवादी आचार्यो ने रीति तत्व को कुछ महत्व अवश्य दिया है। यथार्थत रीति काव्य का बाह्य तत्त्व ही है। फिर भी वह अलकारो की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

दशम शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति जीवितम्' ग्रन्थ प्रणीत करके वक्रोक्ति सम्प्रदाय को प्रवर्तित किया। इन्होने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। कुन्तक ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—'वैदग्ध्यभगी-भणिति' अर्थात् वैदग्ध्यपूर्ण शैली ही वक्रोक्ति है। कुन्तकाचार्य ने काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते समय भी वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा के रूप मे प्रस्तुत किया है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापार शालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विताह्लदकारिणि ।।

कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्य और वक्रोक्ति—आचार्य भामह ने तो यह स्पष्ट कर दिया था कि अलकार के लिए वक्रोक्ति अपरिहार्य है । इसीलिए अलकारवादियो की ये उक्तियाँ अलकार शास्त्र-जगत् मे बहुत प्रसिद्ध हो गई हैं—

"कोऽलकारोऽयना विना
वाचावक्रार्थं शब्दोक्तिरलकाराय कल्पते ।"

रसवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने वक्रोक्ति को प्रत्येक रूप मे विचित्र माना है—

शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता ।
लोकोत्तीर्णेन रूपेण अवस्थानम् ।।

आचार्य वामन ने वक्रोति को सादृश्यलक्षण माना है—

"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति ।" —काव्यालकार सूत्र

वक्रोक्ति का स्वरूप—कुन्तक के पूर्ववर्ती आचार्यों ने वक्रोक्ति को एक अलकार के रूप मे तथा अलकारो के मूल-तत्व के रूप मे स्थान दिया । आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का मूल ही सिद्ध कर दिया । कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति के छ भेद हैं—

वर्ण-विन्यास वक्रत्व पयपूर्वाध वक्रता ।
वक्रताया परोप्यस्ति प्रकार प्रत्याक्षय ।।

—वक्रोक्ति जीवित, 1/12

(1) वर्ण-विन्यास वक्रता, (2) पद-पूर्वार्द्ध वक्रता, (3) पद-परार्द्ध वक्रता, (4) वाक्य-वक्रता, (5) प्रकरण-वक्रता, (6) प्रबन्ध वक्रता ।

1 वर्ण-विन्यास वक्रता—आचार्य कुन्तक ने अनुप्रास अलकार को वर्ण-विन्यास वक्रता का रूप दिया है । मनुज, गुरुजन आदिशब्दो के वर्गान्तयोगी स्पर्शी व्यजन एक वक्रता प्रस्तुत करते हैं । वर्ण-द्वित्व को भी कुन्तक ने वर्ण-विन्यास वक्रता कहा है ।

2 पद पूर्वार्द्ध वक्रता—प्रतिपदिक एव धातु को लक्ष्य करके पद पूर्वार्द्ध वक्रता का स्वरूप निश्चित किया गया है । कुन्तक ने इसके आठ भेद किए हैं—

(1) रूढि वैचित्र्य वक्रता, (2) पर्याय वक्रता, (3) उपचार वक्रता, (4) विशेषण वक्रता, (5) सवृत्ति वक्रता, (6) वृत्ति-वक्रता, (7) लिंग-वैचत्र्य, (8) क्रिया-वैचित्र्य ।

3 पद-परार्द्ध वक्रता—प्रत्यय-वक्रता-तथा निपात-वक्रता पदपरार्द्ध वक्रता के दो भेद हैं । आचार्य भवभूति के काव्य मे निपात वक्रता का चमत्कार चरम सीमा का स्पर्श करता है—

'वैदेही तु कथ भविष्यति हहा हा ! देवि ! धीरा भव !'

—उत्तररामचरित

4 **वाक्य वक्रता**—सम्पूर्ण अलकारो को वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत समाहित करके कुन्तक ने अलकारो को वक्रोति का एक अगमात्र सिद्ध कर दिया है। हम यहाँ अनिशयोक्ति अलकार का एक प्रतिदर्श प्रस्तुत कर रहे हैं।

क्रोध सहर सहरेति यावद् गिर खे मरुता चरन्ति।
तावद् भवनेत्रजन्मवह्नि मदन भस्मावशेष चकार ।।

—कुमारसम्भव

अर्थात् जब तक देवताओ की आवाजें आकाश और वायु मे ही कुछ पहुँच पाई थी, तब तक तो शकर के तृतीय नेत्र से उत्पन्न अग्नि ने कामदेव को भस्मसावत् कर दिया। उक्त छन्द मे जो कुछ चमत्कार है, वह वाक्यगत चमत्कार होने के कारण वाक्य-वक्रना ही है। कुन्तक ने वाक्य-वक्रता के क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक बना दिया है।

5 **प्रकरण वक्रता**—कभी-कभी प्रसगगत वक्रता भी चमत्कार प्रस्तुत करता है। 'रघुवश' के पचम सर्ग मे रघु और कौत्स का सवाद प्रकरण वक्रना का उदाहरण है। कार्तिकेय तथा महामाया नामक दासी के सवाद मे भी प्रकरण-वक्रना है। कार्तिकेय आध्यात्म-चिन्तन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे—

'कुछ स्व पाया स्व को खोकर' —शिवचरित

उनकी दासी महामाया या मधुबाला कार्तिकेय को अपना सर्वस्व अर्पित करके कहती है—'स्वय को पाती स्व को देकर।'

6 **प्रबन्ध वक्रता**—कुन्तक की मान्यता है कि रस का निरन्तर उद्गार करने वाली तथा अनेक रहस्यो से परिपूर्ण महाकवियो की वाणी केवल कथोल्लेख के आश्रित नही रहती अर्थात् वक्रोक्ति प्रधान ही रहती है। यथा—

निरन्तररसोद्गार गर्भ सन्दर्भनिर्भरा।
गिर कवीना न जीवन्ति कथामात्रमाश्रिता ।।

—वक्रोक्ति जीवित

आचार्य भवभूति का 'उत्तररामचरित' करुण रस या विप्रलम्भ शृगार प्रधान होकर ही विचित्रता को पा सका है। भट्टनारायण के 'वेणीसहार' नाटक मे वीर रस की प्रधानता ही उसे प्रबन्ध-वक्रता का उदाहरण बनाती है। 'कामायनी' का आनन्दवाद या शैवदर्शन उसे चमत्कार प्रबन्ध काव्य बना देता है।

कुन्तक द्वारा प्रतिपादित काव्य-रचना के तीन मार्ग

कुन्तक ने वैदर्भी, गौडी तथा पाँचाली नामक तीन रीतियो को कवियो के स्वभाव के आधार पर कसकर सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा मध्यम मार्ग के नाम से अभिहित किया। आचार्य कुन्तक की इस प्रतिपादना को सभी काव्यशास्त्रियो ने सराहा है। इन तीन मार्गो का सक्षिप्त परिचय इस रूप मे है—

सुकुमार मार्ग—'वक्रोक्ति जीवित' ग्रन्थ मे सुकुमार मार्ग का सम्बन्ध वैदर्भी रीति से जोडकर उसके सात लक्षण प्रस्तुत किए गए है—1 सहज प्रतिभा का स्फुरण, 2 स्वाभाविक सौन्दर्य, 3 आहार्य कौशल का अभाव, 4 रसज्ञो के मन

के अनुरूप सरसता, 5 अलौकिक वैदग्ध्य, 6 शब्द और अर्थ का सहज चमत्कार, 7 अलकारो का स्वाभाविक प्रयोग। यहाँ अलकार के स्वाभाविक प्रयोग का महाकवि कालिदास का उदाहरण द्रष्टव्य है—

क्व सूर्यप्रभावो वश क्वचाल्पविषया मति ।
तितीर्षु दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ —रघुवश

विचित्र मार्ग—विचित्र मार्ग का सम्बन्ध गौडी रीति से है। कुछ साहित्यकार साहित्य को चमत्कारिक बनाने के लिए भावपक्षीय तथा कलात्मक सौन्दर्य को सयोजित करने के लिए विचित्र प्रयास करते है। साहित्यकारो के इसी स्वभाव को विचित्र मार्ग का कारण बताया गया है। आचार्य कुन्तक ने इस मार्ग के प्रधान साहित्यकार बाणभट्ट, भवभूति तथा राजशेखर इत्यादि माने है। विचित्र मार्ग के प्रधान तत्त्व अधोलिखित हैं—

1 शब्द और अर्थ का प्रतिभाजात चमत्कार प्रस्तुत किया गया है।

2 परिसख्या, श्लेप, विरोधाभास प्रभृति अलकारो की जगमगाहट नितान्त आवश्यक मानी जाती है। इस दृष्टि से बाणभट्टकृत कादम्बरी ग्रन्थ उल्लेख्य है।

3 उक्ति-वैचित्र्य का प्रस्तुतीकरण विचित्रता का कारण होता है। यथा—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणाचेतासि को नु विज्ञातुमर्हति ॥

—उत्तररामचरित

4 प्रतीयमानार्थ या ध्वनि का चमत्कार भी विचित्र मार्ग मे प्रधानता पाता है। यथा भवभूति के उत्तररामचरित मे सीता के वियोग मे विह्वल राम की यह उक्ति दर्शनीय है—

"काम सन्तु दृढ कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्व सहे।
वैदेही तु कथ भविष्यति हहा हा! देवि! धीरा भव॥"

यहाँ 'रामोऽस्मि' पद मे ध्वनि की प्रधानता दिखलाई पड रही है।

5 वक्रोक्ति की अतिरजना या वक्रता की प्रधानता प्रदर्शित करना ही विचित्र मार्ग के साहित्यकारो का लक्ष्य होता है। यथा हर्षचरित तथा कादम्बरी मे।

मध्यम मार्ग—सुकुमार तथा विचित्र मार्ग के बीच का मार्ग मध्यम मार्ग है। कुन्तक के अनुसार मातृगुप्त, मायुराज तथा मजीर जैसे कवि मध्यम मार्ग के आधार पर ही चले है। इस मार्ग का सम्बन्ध समन्वय से है, पाँचाली रीति से है।

कुन्तक द्वारा प्रतिपादित गुण—कुन्तक ने अलकार शास्त्र को गुणो का मौलिक विवेचन करके विशिष्ट योगदान दिया। कुन्तक ने माधुर्य, प्रसाद, लावण्य तथा आभिजात्य गुणो को काव्य के प्रधान गुणो के रूप मे माना है। उन्होने औचित्य तथा सौभाग्य नामक गुणो को सामान्य गुणो के रूप मे स्वीकार किया है।

आचार्य कुन्तक का वक्रोक्ति-सम्प्रदाय आगे चलकर परम्पराहीन सिद्ध हुआ। वस्तुत आचार्य कुन्तक ने अलकार तथा अलकार्य का भेद स्पष्ट करके जिस वक्रोक्ति-तत्त्व की सस्थापना की वह ध्वनि तथा रस नामक काव्य-तत्वो की भाति

सूक्ष्म है। हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक डॉ नगेन्द्र ने 'वक्रोक्ति जीवित' की विशद् भूमिका लिखकर वक्रोक्ति-सिद्धान्त को विशिष्ट महत्व दिया है।

औचित्य सम्प्रदाय

उचितस्य भाव औचित्यमिति अर्थात् उचित भाव का नाम ही औचित्य है। औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय क्षेमेन्द्र को है। क्षेमेन्द्र का समय एकादश है। कश्मीर नरेश अनन्त के राज्य-काल मे क्षेमेन्द्र ने दो ग्रन्थो की रचना की। 'औचित्य विचार-चर्चा' इनका पहला तथा प्रतिष्ठित ग्रन्थ है और 'कण्ठाभरण' द्वितीय ग्रन्थ है। इनका 'दशावतार चरित' अन्तिम ग्रन्थ है।

क्षेमेन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्य और औचित्य—आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे काव्य मे औचित्य की चर्चा करते हुए लिखा है—

अदेशजो हि देशस्तु न शोभा जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव जायते ॥

—नाट्यशास्त्र, 23/68

अर्थात् अनुचित स्थान पर कोई वस्तु शोभा प्राप्त नही करती। यदि रशना को गले मे पहना जाए तो वह केवल हास्यास्पद-तत्व ही सिद्ध होगी अत काव्य मे अलकार, गुण, पद, वाक्य, प्रकरण आदि का औचित्य आवश्यक है। यहाँ उल्लेख्य है कि आचार्य भरत औचित्य को काव्य का पोषक तत्व मानकर उसे रससिद्धि मे ही आवश्यक मानते थे। उन्होने औचित्य को काव्य का सर्वस्व नही माना। आचार्य आनन्दवर्धन ने औचित्य-विहीनता को रसभग का मूल कारण स्वीकार किया है। उनकी मान्यता यह है कि औचित्य की स्थापना से ही रस का परिपाक सम्भव है। यथा—

अनौचित्याद् ऋते नान्यत् रसभगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धुस्तु रसस्योपनिपत्परा ॥

आचार्य अभिनवगुप्त ने औचित्यवादी उन आचार्यों को आडे हाथो लिया है, जो औचित्य को काव्य का सर्वस्व मानकर ध्वनि का विरोध करते रहे। अभिनवगुप्त से आचार्य क्षेमेन्द्र भी प्रभावित हुए। परन्तु क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को काव्य का सर्वस्वसिद्ध करने के लिए 'औच्छित्य विचार-चर्चा' नामक अलकार शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की।

औचित्य स्वरूप—औचित्य क्षेमेन्द्र ने पूर्ववर्ती आचार्यो की चर्चा करते हुए औचित्य के स्वरूप को मण्डित किया है। उसके अनुसार जिस तत्व के लिए जो उचित या उपयुक्त है, उसी को आचार्यो ने औचित्य कहा है। अत उचितता का स्वरूप ही औच्छित्य कहलाता है। यथा—

उचित प्राहुपाचार्या सदृश किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भाव तदौचित्य प्रक्षयते ॥

—औचित्य विचार चर्चा, सारिका 7

आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस के चमत्कार को लक्ष्य करके स्वतन्त्र विचार करते हुए

यही निष्कर्ष निकाला कि रस का चमत्कार भी औचित्य के चमत्कार पर आश्रित है। अत रसास्वादन की अद्भुत स्थिति का मूल औचित्य ही है। इसलिए रस को काव्य की आत्मा न मानकर औचित्य को ही काव्य का सर्वस्व मानना चाहिए। यथा—

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे ।
रस-जीवितस्य-भूतस्य विचार कुरुते अधुना ॥

—औचित्य विचार चर्चा, कारिका 7

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को अनेक भेदो मे विभाजित किया है। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि का औचित्य प्रदर्शित करके यही सिद्ध किया गया है कि औचित्य काव्य का सर्वस्व है। जिस प्रकार आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व सिद्ध किया, उसी प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य मे ही समस्त काव्य-तत्त्वो को निबन्धित कर दिया है। यथार्थत आचार्य आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' मे औचित्य के भेदो पर प्रकाश डाला गया है। अनेक आचार्यों ने काव्य के गुणो एव दोषो की सविस्तार चर्चा भी है। अत क्षेमेन्द्र का औचित्यवाद काव्य के दोषो को निकाल देने पर स्वत. सिद्ध हो जाता है। काव्य के च्युत-सस्कृति, अप्रतीतत्त्व, क्लिष्टत्व, निहितार्थत्व आदि जितने भी दोष कहे गए हैं, यदि उन सबका परिहार कर दिया जाए तो वह परिहार तत्व के औचित्य के अतिरिक्त अन्य कुछ न होगा। रस, अलकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि का औचित्य ही औचित्य है, अत क्षेमेन्द्र ने सभी काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायो को औचित्य की परिधि मे विद्वतापूर्वक समायोजित किया है। क्षेमेन्द्र की औचित्य विषयक धारणा मे सभी अलकारशास्त्री सम्प्रदायो को देखा जा सकता है—

कण्ठे मेखलया, नितम्ब फलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूर पाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायन्ति के हास्यता,
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालकृतिर्नो गुणा ॥

अर्थात् कण्ठ मे कौधनी बाँधने से, कमर मे हार धारण करने से, हाथो मे पाजेब पहिनने से, चरणो मे केयूर या भुजबन्ध पहिनने से, रणभूमि मे वीरता प्रदर्शन के स्थान पर प्रेम करने वाले तथा शत्रु के ऊपर कृपा-दृष्टि करने वाले व्यक्ति हास्यास्पद ही होते है। अत शृगार मे वीर रस को स्थान नही मिल सकता, करुण रस का शान्त रस से तादात्म्य नही बैठ सकता, हास्य और रौद्र रस की सन्धि नही हो सकती। अत विरोधियो मे औचित्य या तालमेल का प्रश्न ही नही उठता। हमे तो केवल औचित्य के निर्वाह पर बल देना चाहिए। ठठाका मारकर हँसना तथा क्रोधोन्मत्त मुद्रा को प्रस्तुत करना जैसे दोनो अनुभाव या कार्य एक साथ नही हो सकते—

दोउ कि होहिं एक समय भुआला।
हँसइ ठठाइ और फुलाउब गाला ॥

—रामचरितमानस

इसलिए यही सिद्ध होता है कि औचित्य के बिना आलकारिक वैचिश्य तथा गुण प्रयोग किसी भी प्रकार सम्भव नही हो सकता। क्षेमेन्द्र के परवर्ती आचार्यों ने काव्य के दोषो का विवेचन करके औचित्य-निर्वाह पर पूर्ण बल दिया है। आचार्य विश्वनाथ तथा जगन्नाथ के नाम इस सन्दभ मे विशेष उल्लेखनीय है। साहित्य-शास्त्र के आचार्यो ने औचित्य को स्वीकार करते हुए यहाँ तक कह डाला है—

रसालकृति वक्रोक्ति रीतिध्वन्योचिती क्रमा।
साहित्यशास्त्र एतस्मिन् सम्प्रदाय इसे स्मृता॥

अलकारशास्त्र एक दृष्टि

सस्कृत-अलकारशास्त्र मे रस, ध्वनि तथा वक्रोक्ति नामक तीनो सम्प्रदाय अत्यन्त सूक्ष्म तत्वो के सहारे आगे बढे हैं। आधुनिक युग मे जब विभिन्न भाषाओ मे काव्यशास्त्र का उदय हो रहा है तो हम इस निष्कर्ष पर सहजतया पहुँच जाते है कि कुन्तक जैसा विचारक अथवा तत्व-प्रतिपादक आज कठिनाई से ही मिल सकता है। यथार्थत वक्रता-व्यापार के बिना साहित्य का अस्तित्व ही सम्भव नही है। वक्रता-व्यापार उच्चतम कलात्मकता का नाम है। सामान्यत सभी व्यक्ति अपने भावो-विचारो को किसी न किसी प्रकार से अवश्य व्यक्त करते हैं, परन्तु साहित्यकारो की वह वाणी सुदुर्लभ है, जो निरन्तर चमत्कार को प्रस्तुत किया करती है। फिर भी हमे यह कहने मे कोई सकोच नही कि वक्रता-व्यापार काव्य का कलात्मक पक्ष ही है। वक्रता रूपी कला के माध्यम से जिस तत्व को प्रतिपादित किया जाता है, वह तत्व तो रस के हृदय की सत्ता माना जाता है। चैतन्य और आनन्द जैसे तत्वो का केन्द्र ईश्वर व्यक्ति के हृदय मे ही अधिष्ठित रहता है। यथा गीता के इन शब्दो को ही देखिए—

ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

काव्य-तत्व हृदय की वस्तु है। हृदय की द्रवीभूतता को बुद्धि-कौशल के द्वारा व्यक्त किया जाता है। अत हृदय का तत्व भाव या आनन्द अथवा रस रीति, वक्रोक्ति तथा अलकारो के प्रयोग द्वारा अभिव्यक्त होता है। रस की गूढता या भाव सवेदना का रहस्य प्राय अनकहा ही रहता है, क्योंकि उसे प्रकट करने के लिए हमारे पास शब्द नही होते। सभी कवि गहनता का सकेत करके मौन साधे ही रह गए हैं—

श्याम गौर किमि कहहुँ बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

—रामचरितमानस

अलकार काव्य की शोभा अधिष्ठाता हैं परन्तु जिस सजीव तत्व की वे शोभा बढाते है, वह तत्व रस ही है। अलकारो का पूर्ण विवेचन भले ही सम्भव न हो, परन्तु अलकारवादी आचार्य स्वय अलकारो का बाह्य तत्व मानते रहे हैं।

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते । —दण्डी
ते चाद्यपि विकल्पन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥

× × ×

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुवरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिनु न बिराजइ कविता वनिता मित्त ॥ —केशव

रीति-तत्त्व भी काव्य गुणो और वर्णों का सहारा लेकर रस-तत्त्व को ही प्रकट करता है। ध्वनि-तत्त्व का प्रतीयमानार्थ या व्यग्यार्थ एक रसात्मक प्रतीति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। औचित्य-तत्त्व तो काव्य के दोषो का परिहार-तत्त्व होने से रस परिपाक का ही साधन है। अत 'रस' आनन्द-तत्त्व का नाम है। चैतन्य यथा आनन्दात्मक तत्त्व की अभिव्यक्ति वह सम्पूर्ण सृष्टि किसी रस-समुद्र का ह ष्ट सकेत है। इसीलिए तो पाश्चात्य काव्यशास्त्र भी त्रासदी के विश्लेषण मे आनन्द की खोज मे आगे बढा है।

अलकार शास्त्र का जनक भारत का नाट्यशास्त्र

द्वितीय शताब्दी मे आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की। दूसरी शताब्दी तक मुख्यत नाटको की ही प्रधानता थी। अत भरत ने 'नाट्यशास्त्र' मे ही अलकारशास्त्र को समाहित करने की चेष्टा की। भरत से पूर्व भास, शूद्रक तथा अश्वघोष जैसे महान् नाटककार हो चुके थे। 'प्रतिमा' तथा 'मृच्छकटिक' जैसे लक्ष्य ग्रन्थो को सामने , रखकर भरत ने लक्ष्य ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' की रचना की। भरत ने रूपक के विषय मे विचार करते समय काव्य के तत्त्वो का भी विवेचन किया। भरत ने जिन-जिन काव्य-तत्त्वो की ओर सकेत किया, उन्ही को प्रधानता देने के लिए अनेक काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायो का उदय हुआ। इसीलिए 'भरत-नाट्यशास्त्र' को अलकारशास्त्र का प्रेरणा-स्रोत माना जाता है। नाट्यशास्त्र ने नाटकीयशास्त्र को भी अनेक रूपो मे प्रभावित किया तथा परिणाम यह हुआ कि नाट्यशास्त्र अलकारशास्त्र का अग बन गया। भरत के नाट्यशास्त्र से अलकार-शास्त्र जिस रूप मे प्रभावित होकर विकसित हुआ, उसका हम सक्षिप्त उल्लेख कर रहे हैं।

भरत नाट्यशास्त्र से रस-सम्प्रदाय का विकास

आचार्य भरत ने नाटक मे आठ रसो को आवश्यक माना था। शान्त रस को छोडकर शृङ्गार रस से लेकर अद्भुत रस तक आठ रसो का समावेश ग्यारहवी शताब्दी तक चलता रहा। आचार्य मम्मट ने शान्त रस को स्वतन्त्र रस ही नही माना। अत भरत का नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्र के ऊपर छाया रहा तथा रस के मर्म को जान लेने पर भी कई सौ वर्षों के अन्तराल मे रस की सख्या मे वृद्धि नही हुई।

भरत ने रस की उत्पत्ति के लिए 'विभानुभावव्यभिचारी सयोगाद्रसनिष्पत्ति' नामक सूत्र प्रस्तुत किया। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। प्रस्तुत सूत्र के 'सयोग' एव 'निष्पत्ति' शब्दो को लेकर रस-सम्प्रदाय मे शास्त्रार्थ का दौर आया भट्टलोल्लट ने रस की उत्पत्ति का 'आरोपवाद' या 'उत्पत्तिवाद' सिद्धान्त प्रवर्तित किया। आचार्य शकुक ने न्यायदर्शन के आधार

पर रस की उत्पत्ति के प्रसग मे 'अनुमितिवाद' को प्रतिपादित किया। सांख्य दर्शन का आधार लेकर आचार्य भट्टनायक ने 'मुक्तिवाद' का सूत्रपात किया। दशम शताब्दी मे आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्तिवाद' को शैवदर्शन के आधार पर मण्डित किया। आचार्य भरत के रसवाद का स्वागत परवर्ती सभी रसवादी आचार्यो ने किया।

रसराज के प्रसग मे आचार्य अभिनवगुप्त ने शान्त रस को आदि रस सिद्ध करने के लिए आचार्य भरत द्वारा मान्य शान्त रस के व्यापक एव अनिर्वचोय स्वरूप को ही आधार बनाया। आचार्य भरत ने शान्त रस को समझकर उसे नाटक के लिए उपयोगी नही माना था—

स्व स्व निमित्तिमादाय शान्ताद् भाव प्रवतते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥

—नाट्यशास्त्र, अध्याय 6

रस-सम्प्रदाय के आचार्यो ने रस को काव्य की आत्मा कहा है। आचार्य भरत ने रस को काव्य की आत्मा ही माना था। उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि रस के बिना कोई अर्थाभिव्यक्ति सम्भव नही है—

"न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।"

नाट्यशास्त्र का अलकार-सम्प्रदाय पर प्रभाव

भरत के नाट्यशास्त्र मे यमक, उपमा, रूपक, और दीपक नामक चार अलकारो का उल्लेख हुआ। यमक एक शब्दालकार है तथा उपमा, रूपक, और दीपक अर्थालकार हैं। इसलिए आचार्य भामह के पश्चात् अलकार-सम्प्रदाय मे शब्दालकारो तथा अर्थालकारो को लेकर अलकारिक विवेचन की गहनताएँ विवर्धित होती चली गई। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' मे 36 लक्षणो को आधार मानकर अलकारवादी आचार्यो ने अनेक अलकारो का प्रवर्तन किया। भामह ने आशी, अलकार को दण्डी ने हेतु और लेश अलकार को तथा अन्य आचार्यो ने अन्य अनेक अलकारो को प्रस्तुत किया। अलकारवादी आचार्यों ने भामह द्वारा प्रतिपादित काव्य गुणो को भी किसी न किसी रूप मे स्थान अवश्य दिया। भरत ने जिन अलकारो के भेद प्रस्तुत किए उनके भेदोपभेदो का विकास अलकारवादी आचार्यों ने किया।

नाट्यशास्त्र का रीति-सम्प्रदाय पर प्रभाव

भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे दस गुणो का उल्लेख हुआ है।[1] काव्य के दस गुण इस प्रकार हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थभिव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति। अष्टम शताब्दी मे आचार्य वामन ने भरत द्वारा प्रतिपादित काव्य-गुणो के आधार पर वैदर्भी, गौडी तथा पाञ्चाली नामक रीतियो को प्रतिपादित किया। यद्यपि छठी शताब्दी मे आचार्य दण्डी ने वैदर्भी और गौडी रीतियो के ऊपर पर्याप्त प्रकाश डाला था, परन्तु वामन ने भामह के त्रिकाव्यगुणो

1 नाट्यशास्त्र, 16/98

को आदर्श न मानकर रीतियो के सन्दर्भ मे भरत द्वारा मान्य काव्य के दश गुणो को महत्त्व दिया। अत रीति-सम्प्रदाय पर 'नाट्यशास्त्र' का प्रभाव अवश्य पडा।

नाट्यशास्त्र का औचित्य सम्प्रदाय पर प्रभाव

भरत ने औचित्य की चर्चा काव्य के सन्दर्भ मे की। भरत की मान्यता है कि यदि कोई रमणी अपनी मेखला को गले मे पहन ले तो वह हास्याम्पद ही होगी। अत कोई वस्तु अनुपयुक्त स्थान पर शोभा प्राप्त नही करती—

उदेशजो हि वेशस्तु न शोभा जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते॥

—नाट्यशास्त्र, 23/68

11वी शताब्दी मे कश्मीरवासी आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य नामक काव्य-तत्त्व को काव्य की आत्मा के रूप मे स्वीकार किया। 'औचित्य विचार चर्चा' नामक ग्रन्थ को औचित्य के प्रतिपादन पर भरत के नाट्यशास्त्र मे प्रतिपादित औचित्य-तत्त्व का प्रभाव दर्शनीय है। जिस तथ्य को भरत ने केवल सांकेतिक रूप मे प्रस्तुत किया, उसी को आचार्य क्षेमेन्द्र ने एक व्यापक रूप दे डाला। अथवा एक काव्य-सम्प्रदाय का विकास कर डाला क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचार-चर्चा' मे भरत जैसे आचार्यों की ओर सकेत भी किया है—

उचित प्राहुराचार्या सदृश किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भाव तदौचित्य प्रचक्षते॥

—औचित्य-विचार-चर्चा, कारिका 7

आचार्य क्षेमेन्द्र ने भरत द्वारा प्रतिपादित उदाहरणो को भी विस्तृत रूप प्रदान किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि औचित्य को काव्य की आत्मा सिद्ध करने की पृष्ठभूमि मे आचार्य भरत द्वारा मान्य औचित्य-तत्त्व अवश्य निहित है। इसके विषय मे औचित्य-सम्प्रदाय के सदर्भ मे चर्चा की जा चुकी है।

नाट्यशास्त्र का वक्रोक्ति एव ध्वनि सम्प्रदायो पर प्रभाव

भरत ने काव्य के दस गुणो को मानकर तथा रस-तत्त्व को काव्य का प्रधान तत्त्व स्वीकार करके वक्रोक्ति एव ध्वनि सम्प्रदायो को भी अशत प्रभावित किया है। भरत द्वारा मान्य काव्य के दस गुण त्रिगुण के रूप में मान्यता प्राप्त कर सके। ध्वनिवादी आचार्यो ने काव्य के तीन गुणो—माधुर्य, ओज और प्रसाद को काव्य के नित्य तत्त्व के रूप में स्वीकारा है। आचार्य मम्मट ने इस विषय में सविस्तार प्रकाश डाला है। तीन गुणो की मान्यता आचार्य भामह से प्रारम्भ हुई। जब काव्य के दस गुण रीतियो के साथ सम्पृक्त कर दिए गए तब रीतियो को या काव्य-रचना क मार्गो को दशम शताब्दी में आचार्य कुन्तक ने मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया। कुन्तक ने सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा मध्यम मार्ग का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है। इस मान्यता के पीछे भरत के नाट्यशास्त्र का आंशिक प्रभाव ही परिलक्षित होता है।

नाट्यशास्त्र और काव्य-प्रयोजन

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य-रचना का प्रयोजन अवश्य बताया है। आचार्य भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' मे नाटक का प्रयोजन आनन्द-प्राप्ति बतलाया है—

दु खार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥

—नाट्यशास्त्र, 1/115

भरत के इसी काव्य प्रयोजन को अलंकारशास्त्र के अनेक आचार्यों ने किंचित् हेर-फेर के साथ प्रतिपादित किया है। छठी शताब्दी मे आचार्य भामह ने काव्य का प्रयोजन प्रीतिवर्धन के रूप मे स्वीकार किया है। भामह ने काव्य-सृजन को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की सिद्धि मे भी सहायक माना है—

धर्मार्थं काममोक्षेपु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥

—काव्यालंकार

एकादशम् शताब्दी मे आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रयोजन को प्रतिपादित करते समय आनन्द-तत्त्व को भी महत्व दिया। मम्मट ने काव्य के छ प्रयोजन स्वीकार किए हैं—1 काव्य यश के लिए, 2 काव्य अर्थ के लिए, 3 काव्य व्यावहारिक ज्ञान के लिए, 4 काव्य मंगल-प्राप्ति के लिए, 5 काव्य मनोरंजन के लिए तथा 6 काव्य उपदेश के लिए। यथा—

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहार विदे शिवेतरक्षतये ।
सद्य परिनिर्वृत्तये कान्तसम्मिततयोपदेशयुजे ॥

—काव्यप्रकाश

यथार्थत भरत ने नाटक के प्रदर्शन की दृष्टि से नाट्य-प्रयोजन प्रदर्शित किया था अत उनके काव्य-प्रयोजन मे आनन्द को विविधमुखी रूप मे देखा जा सकता है। चौदहवी शताब्दी मे आचार्य विश्वनाथ ने इसी तथ्य को निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत किया—

चतुर्वर्गफलास्वाद मूखमल्पधियामपि ।

—साहित्यदर्पण

नाट्यशास्त्र का नाट्यलक्षण ग्रन्थो पर प्रभाव

दशम शताब्दी मे आचार्य धनञ्जय ने 'दशरूपक' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के ऊपर 'नाट्यशास्त्र' का व्यापक प्रभाव है। नाटक की कार्यावस्थाओ के प्रतिपादन मे नायको के लक्षणो के उल्लेख मे तथा रसोत्पत्ति के प्रसग में 'दशरूपक' 'नाट्यशास्त्र' की छाप लिए हुए हैं। भरत के सम्मुख केवल भास, शूद्रक तथा अश्वघोष के नाटक थे परन्तु धनजय के सामने दशरूपक की सुदीर्घ परम्परा थी। भरत के समय मे भी नाटक का विविधमुखी विकास हो चुका था। नाटक की सन्धि एव अर्थप्रकृति का प्रामाणिक प्रतिपादन 'नाट्यशास्त्र' की ही देन है। रसोत्पत्ति के सन्दर्भ में आचार्य धनजय भरत से बहुत कुछ प्रभावित जान पडते है। धनञ्जय ने

शान्त रस को नाट्य रस के रूप मे भरत की भाँति ही अस्वीकारा है। रस की उत्पत्ति के सन्दर्भ मे हम यहाँ भरत और धनजय के इस सिद्धान्त का तुलनात्मक रूप प्रस्तुत कर रहे हैं—

'विभावानुभवव्यभिचारी सयोगाद्रस निष्पत्ति ।'

—नाट्यशास्त्र

थिभावैरनुभावैश्च सात्विकर्व्यभिचारिभि ।
आनीयमान स्वाद्यत्व स्थायी भावो रस स्मृत ।।

—दशरूपक

बारहवी शताब्दी मे आचार्य रामचन्द्र एव गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' की रचना की। इस ग्रन्थ मे रस को सुखदु खात्मक मानकर भी अन्तत अनिर्वाच्य माना गया है। चौदहवी शताब्दी मे आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदपण' मे नाटकीय तत्त्वो को भी स्थान दे दिया। अत अलकारशास्त्र मे नाट्यशास्त्र का समावेश कर लिया गया। इस प्रकार हम देखते है कि भरत के नाट्यशास्त्र ने नाट्य रस के सन्दर्भ मे रसवादी अनेक आचार्यों को इतना प्रभावित किया कि वे भरत की मान्यताओ को ही कालक्रम मे विकसित विचारो के साथ जोडकर प्रस्तुत करते रहे।

भरत के सिद्धान्तो को अलकार शास्त्र के सभी प्रमुख आचार्यों ने महत्त्व दिया है। भरत ने नाटक की उत्पत्ति के विषय मे एक समन्वयवादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया। ब्रह्म या वेद विस्तार ने नाटक की रचना के लिए ऋग्वेद को कथानक का आधार बताया, समावेद को गीतो का आधार सिद्ध किया, यजुर्वेद को अभिनय का स्रोत माना, अथर्ववेद को रस-तत्त्व का स्रोत स्वीकार किया। एतादृशी स्थिति मे नाट्यवेद की रचना की गई। यथा—

जग्रह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।

—नाट्यशास्त्र

चार वेदो मे से चार तत्वो को ग्रहण करके नाट्य वेद की रचना का सिद्धान्त तर्क और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उचित जान पडता है। नाट्य वेद के आधार पर नाटको का जो सुरम्य विकास हुआ उससे यह निश्चित हो गया कि नाट्य-तत्व सर्वश्रेष्ठ तत्व है। पारवर्ती आचार्यों ने भरत के निम्नलिखित काव्य-प्रयोजन को ध्यान मे रखकर अनेक प्रकार से रूपक की प्रशसा की—

धर्म्म यशस्यमायुष्य हित बुद्धिविर्धनम्।
लोकोपदेश जनन नाट्यमेतद् भविष्यति ।।

—नाट्यशास्त्र, 1/112

भरत ने नाटक या दृश्य काव्य की दृष्टि से विचार प्रस्तुत किए। इसीलिए काव्य के विषय मे विचार प्रस्तुत करते समय अन्य आचार्यों ने दृश्य काव्य अथवा नाटक का भी ध्यान रखा। भरत ने जब रस की अनिर्वचनीयता पर विचार किया

तो ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि को अनिर्वचनीयता का रूप प्रदान किया। रस-ध्वनि को मूल ध्वनि कहने के पीछे रस-सम्प्रदाय के प्रवर्तक भरत का रसवादी सिद्धान्त झलकता है। रस और ध्वनि को एक-दूसरे के इतना निकट पाया गया कि दोनो की ही रमणीयता एक ही तत्त्व मानी गई, जो भरत के नाट्यशास्त्र मे ही प्रतिपादित हो चुकी थी।

भरत ने नाटक की वृत्तियो का इतना सरल और स्पष्ट विवेनन किया कि परवर्ती विचारको ने भारती, सात्त्वती, कैशिकी तथा आरभटी नामक नाट्य वृत्तियो को 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर ही प्रस्तुत किया। नायक-भेद एव नायिका-भेद को लेकर भी नाट्यशास्त्राचार्य भरत को ही आधार मानकर आगे बढे। भरत ने नाटक के विषय मे वर्णन करते समय प्रेक्षागृह पर भी विचार किया। भरत का प्रेक्षागृह सम्बन्धी विचार प्रामाणिक रूप मे स्वीकार किया गया है।

नाट्यशास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत से पूर्व ऐसे अनेक विचारक हुए हैं, जिन्होने नाटक के विषय मे पर्याप्त विचार किया है। यद्यपि उनके ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं, तथापि इतना तो कहा ही जा सकता है कि भरत ने विभिन्न काव्यशास्त्राचार्यों के विचारो का सकलन करके तथा नाट्यशास्त्रीय विचार को विकसित करके 'नाट्यशास्त्र' की रचना की। भरत ने रस को काव्य की आत्मा या प्रधान तत्व के रूप मे देखा था। सभी काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायो के आचार्यों ने रस को महत्त्व दिया है। रस को व्यग्य के रूप मे स्वीकार करके आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। रस का विकास सस्कृत काव्यशास्त्र तक ही सीमित नही रहा, अपितु प्राकृत, अपभ्र श, हिन्दी आदि भाषाओ के भाषातत्वविदो ने भरत के नाट्यशास्त्र को रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप मे महत्त्व दिया। आज भरत के नाट्यशास्त्र को पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के समानान्तर रखकर तुलना का विषय बनाया जाता है। अत काव्यशास्त्र का सर्वतोन्मुखी विकास देखकर भरत को काव्यशास्त्र का जनक मानना सभी प्रकार से समीचीन जान पडता है।

वैज्ञानिक साहित्य
(Scientific Literature)

सस्कृत साहित्य मे रत्नपरीक्षा, वास्तुविद्या, अश्वशास्त्र, आयुर्वेद, सामुद्रिक शास्त्र तथा नक्षत्र ज्ञान या ज्योतिष आदि को विज्ञान के अन्तर्गत गिना गया है। विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान का नाम है। सस्कृत साहित्य मे कुछ विलक्षण विद्याओ का भी वर्णन किया है, जिनकी सख्या चौदह तक कही गई है। चौदह विद्याओ का सकेत 'पुराण' नामक अध्याय मे दिया जा चुका है, अत यहाँ उनकी आवृत्ति करना पुनरुक्ति दोष होगा। अत विज्ञान के ज्वलन्त विषयो पर सक्षिप्त प्रकाश डालना ही स्थान और समय की दृष्टि से उचित होगा।

रत्नपरीक्षा—सस्कृत साहित्य मे बारह प्रकार के रत्नो का वर्णन किया गया है। रत्नो के बारह भेद ये है—(1) मुक्ताफल, (2) पद्मराग, (3) मरकत,

(4) इन्द्रनील, (5) वज्र, (6) वैदूर्य, (7) रुधिररत्न, (8) पुष्पराग, (9) कर्केतन, (10) पुलक, (11) स्फटिक तथा (12) विद्रुम। रत्नों की परीक्षा से सम्बद्ध साहित्य के रूप में गरुड पुराण का विशेष महत्त्व है। इसके बारह अध्यायों में वास्तविक रत्नों के लक्षण तथा ग्राह्यता के ऊपर वैज्ञानिक प्रकाश डाला गया है। अग्निपुराण में भी रत्नों की परीक्षा के कुछ सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। विष्णु पुराण में मणि के निर्मल प्रकाश का सुन्दर वर्णन है। श्रीकृष्ण ने जाम्बवती से परिणय करते समय रत्न-सौन्दर्य का अनुभव किया था। वस्तुत रत्नों के पारखी पौराणिक युग में रहे हैं। रत्नपरीक्षा का सम्बन्ध भूगर्भशास्त्र से भी रहा है।

वास्तु विद्या—विश्वकर्मा के वास्तुशास्त्र का उल्लेख पुराणों में किया गया है। देववंश के राजाओं के भवनों का निर्माण करने में विश्वकर्मा तथा उसके वास्तुशास्त्र का अत्यधिक योगदान रहा है। दानववंश के राजाओं के प्रासादों का निर्माण करने में मयदानव के वास्तुशास्त्र का योग रहा है। महाभारत में एक रोचक प्रसंग है कि पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ में भव्य भवनों का निर्माण कराया था। जब धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन पाण्डवों के प्रासाद को देखने के लिए गया तो उसने एक स्थान तालाब की स्थिति समझकर अपनी धोती को ऊपर खींचा। ऐसे दृश्य पर हँसी का वातावरण बनना स्वाभाविक था। अत कुछ लोग हँस पड़े। द्रौपदी हँस पड़ी। दूसरे स्थान पर जलस्थान को थल समझकर दुर्योधन स्वाभाविक गति में आगे बढ़ता चला गया परन्तु जल में गिर जाने कारण वह पुन हास्य का पात्र बना। कदाचित् इसी घटना के कारण महाभारत की भूमिका सुदृढ हुई। वाल्मीकीय रामायण में रावण के लंका देश में स्थित भवनों की सज्जा के प्रसंग में मयदानव का उल्लेख किया गया है। नागवंशी राजाओं के भवनों में मणियों के जड़ाव की प्रधानता रहती थी, ऐसे उल्लेख भी पुराणों में देखे जा सकते हैं। मत्स्य पुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वास्तुविद्या का सुन्दर निदर्शन है। वास्तुशास्त्र में चार अंगों पर बल दिया गया है—(1) वास्तुविद्या के प्रधान सिद्धान्त, (2) स्थान की उपयुक्तता तथा निर्माण की रूपरेखा, (3) देवमूर्तियों का निर्माण तथा (4) मन्दिर एवं प्रासादों की रचना। अत प्राचीन वास्तुशास्त्र निश्चित रूप से धनी रहा है। वास्तुशास्त्र के रूप में 'मानसार', 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि', 'सूत्रधारमण्डन' तथा 'रूपमण्डन' जैसे ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। 'बृहत्संहिता' के अट्ठावनवें अध्याय में वास्तुविद्या का उल्लेख किया गया है। आधुनिक इतिहासकारों ने दिल्ली की कुतुबमीनार को 'विष्णुध्वज' बताया है। इस सन्दर्भ में डॉ देवसहाय त्रिवेदी का 'कुतुबमीनार या विष्णुध्वज' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

अश्वशास्त्र—आर्यों का प्रधान पशु अश्व रहा है। उसके लक्षणों का विस्तृत विवेचन महाभारत के सभापर्व में किया गया है। सभापर्व में हस्तिसूत्र का भी उल्लेख है। मत्स्य पुराण में चन्द्रमा के पुत्र बुध को गजवैद्यक का वेत्ता बताया गया है। प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि ने गजायुर्वेद का भी वर्णन किया गया है। गायों की चिकित्सा का विज्ञान अग्निपुराण के दो सौ बयासीवें अध्याय में वर्णित है।

अनेक पुराणो मे पशु-चिकित्सा सम्बन्धी विज्ञान का विस्तार है। यदि हम अश्वशास्त्र के स्थान पर 'पशु-चिकित्सा शास्त्र' शब्द का प्रयोग करें तो अधिक उपयुक्त रहेगा। मत्स्य पुराण मे कुछ वैज्ञानिक सकेत दृष्टव्य हैं—

तारोदर विनिष्यन्त कुमारश्चन्द्रसन्निभ ।
सर्वार्थविद् धीमान् हस्तिशास्त्र प्रवर्तक ॥
नाम्ना यत् राजपुत्री विश्रुत गजवैद्यकम् ।
राज्ञ सोमस्य पुत्रत्वाद् राजपुत्रो बुध स्मृत ॥

आयुर्वेद—शरीर-रक्षा अथवा आयुवर्धन का शास्त्र आयुर्वेद नाम से जाना जाता है। आयुर्वेदिक औषधियो का सम्बन्ध विज्ञान से है। गरुड पुराण मे सर्पदश की चिकित्सा का वर्णन है, जिसे गारुडी विद्या कहा जाता है। अग्निपुराण मे 'मृतसजीवनी' विद्या का भी उल्लेख है। हमारे पुराणो मे अनेक कल्पो का सुन्दर वर्णन है। औषधियो की लम्बी सूचियाँ भी पुराणो मे वर्णित है। धन्वन्तरि तथा सुश्रुत जैसे आयुर्वेदाचार्यो का वैज्ञानिक ज्ञान मूर्धन्य स्तर का रहा है। बृहत्सहिता मे कश्यप, पराशर तथा सारस्वत जैसे आयुर्वेदाचार्यो का उल्लेख है। भारतीय आयुर्वेद प्राकृतिक तत्त्वो के साथ जुडा रहने से अत्यन्त उपयोगी है। आयुर्वेद, अध्याय मे इसकी विस्तृत जानकारी दी गई है।

सामुद्रिक शास्त्र—किसी समुद्र नामक आचार्य ने शारीरिक लक्षणो के आधार पर सामुद्रिक शास्त्र का प्रवर्तन किया था। आज भी अर्वाचीन रूप मे सामुद्रिक शास्त्र उपलब्ध है। वीरमित्रोदय का 'लक्षण प्रकाश' ग्रन्थ एक सुन्दर सामुद्रिक शास्त्रीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे स्त्री पुरुषो के लक्षणो या शारीरिक चिह्नो को लक्ष्य करके अनेक बातें बताई गई हैं। पुराणो मे इस विद्या को 'अगविद्या' कहा गया है। जैन धर्म मे अगविद्या को 'अगविज्जा' के रूप मे प्रस्तुत किया है। सामुद्रिकशास्त्र मे हस्तरेखाओ का सर्वाधिक महत्व है। इस शास्त्र के अनुसार व्यक्ति के कर्मो के आधार पर लगभग 27 दिन मे हस्तरेखाओ मे किंचित् हेरफेर भी होता है। आयु रेखा (जीवन रेखा), ज्ञान रेखा तथा धनरेखा तीन प्रधान हस्तरेखाएँ मानी गई हैं। सामुद्रिकशास्त्र मे रक्त की लालिमा का भी अच्छा विस्तार है, जिसके आधार पर व्यक्ति के स्वभाव की जानकारी दी गई है। हाथो की अगुलियो की माप, तिलो, लहसनो आदि के आधार पर भविष्यत् का भी अनुमान करना इस शास्त्र का विषय है। वैवाहिक स्थितियो का भी इस शास्त्र के आधार पर वर्णन किया गया है। अग्निपुराण तथा गरुड पुराण मे इस विद्या का तथ्यात्मक विस्तार है। आजकल सामुद्रिकशास्त्र को विज्ञान न मानकर एक ढोग माना जाता है।

ज्योतिष—ज्योतिष का सम्बन्ध नक्षत्रो की स्थिति से है। नक्षत्रो की गति का ज्ञान ज्योतिष द्वारा ही सभव है। ज्योतिष का ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान ही है। ज्योतिष मे राशि विवरण,सिद्धियोग, अमृतयोग, दशा-विवरण,दशा-फल, ग्रहण-चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण आदि की जानकारी सगृहीत है। ज्योतिषशास्त्र को आज का विज्ञान भी महत्व देता है। सस्कृत साहित्य का ज्योतिष शास्त्र पृथ्वी को आधार मानकर आगे

बढा है। आज का विज्ञान सूर्य को केन्द्र मानकर ज्योतिष शास्त्र के विभिन्न विषयों की ओर प्रवृत्त हुआ है। इसकी विशेष जानकारी आगे दी जाएगी।

धनुर्विद्या—रामायण तथा महाभारत काल मे धनुर्वेद का पर्याप्त प्रचलन रहा, ऐसे अनेक उल्लेख अनेक ग्रन्थो मे मिलते है। वैदिक साहित्य मे शकर या रुद्र को धनुर्वेद का प्रकाण्ड पण्डित बताया गया है। महाभारत के वनपर्व मे उल्लेख है कि अर्जुन ने शकर की आराधना करके पाशुपत शस्त्रो को प्राप्त किया था। आग्नेयास्त्र, वारुण्यास्त्र, नागास्त्र तथा गरुडस्त्र के प्रयोग का वर्णन विभिन्न पुराणो तथा काव्यो मे मिलता है। गीता के दशम अध्याय मे राम को धनुर्धारियो मे सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर कहा है। राम के गुरु विश्वामित्र भी धनुर्वेद के आचार्य थे। भीष्म तथा द्रोणाचार्य भी धनुर्वेद के महान् पण्डित थे। परशुराम की शिष्य-परम्परा मे धनुर्वेद का पर्याप्त विकास हुआ परन्तु खेद का विषय यह है कि आज धनुर्विद्या का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नही मिलता।

रामायण महाभारत तथा अनेक पुराणो मे कुछ वैज्ञानिक विद्याओ का वर्णन किया गया है। चौदह विद्याओ का वर्णन 'पुराण' अध्याय मे किया जा चुका है। अत यहाँ प्रसगवश उनका नामोल्लेख ही होगा।

पुराण-प्रथित चौदह विद्याएँ इस प्रकार है—(1) अनुलेपन विद्या, (2) स्वेच्छारूपधारिणी विद्या, (3) अस्त्र ग्राम हृदय विद्या, (4) सर्वभूतरुत विद्या (5) पद्मिनी विद्या, (6) रक्षोघ्न विद्या, (7) जालन्धरी विद्या, (8) त्रिद्यागोपाल मन्त्र, (9) परा बाला विद्या, (10) पुरुष प्रमोहिनी विद्या, (11) उल्लापन विघाल विद्या, (12) देवहूति विद्या, (13) युवककरण विद्या तथा (14) वज्रवाहनिका विद्या। ये सभी विद्याएँ अनुशीलन योग्य हैं।

वैज्ञानिक साहित्य एक दृष्टि—सस्कृत का वैज्ञानिक साहित्य हमारी थाती अवश्य है। परन्तु खेद और दुर्भाग्य का विषय यह है कि वह साहित्य आज या तो अनुपलब्ध है अथवा अप्रमामणिक। कुछ गिना-चुना वैज्ञानिक साहित्य आयुर्वेद तथा ज्योतिष इत्यादि के सन्दर्भ मे उपलब्ध है। जो कुछ उपलब्ध है, वह चमत्कारी अवश्य है। हमारे यहाँ विद्या की रक्षा के लिए एक युक्ति प्रचलित रही, जिसका उल्लेख रामचरितमानस मे भी मिलता है—

जोग जुगुति तप मन्त्र प्रभाऊ।
फलहि तबहि जब करिउ दुराऊ॥

—तुलसी

योग, युक्ति, तप, मन्त्रादि का प्रभाव बन्धे के रूप मे तो छिपाने से फलीभूत अवश्य रहा, परन्तु उसके प्रचार के अभाव में हमारा वैज्ञानिक साहित्य चौपट अवश्य हो गया। भारतीय अवनति का रहस्य अनावश्यक दुराव अवश्य रहा है। अत सस्कृत का वैज्ञानिक साहित्य मलेच्छ शासन-काल में भस्मात् हो जाने के कारण आज उसके मुख्यत उल्लेख ही शेष रह गए हैं।

आयुर्वेद

वैदिककाल मे आयुर्वेद को प्रमुख स्थान मिल चुका था। अथर्ववेद मे आयुर्वेदीय तत्वो का पर्याप्त सकेत है। ऋग्वेद के रुद्र सूक्त मे रुद्र को महानतम भिषगाचार्य बताया गया है। अश्विनी कुमारो ने इन्द्र के राज्य मे वैद्य का कार्य किया था, ऐसा उल्लेख भी ऋग्वेद मे प्राप्त है। आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ 'चरकसहिता' मे इन्द्र को आयुर्वेद का प्रधान आचार्य बताया है। इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान भारद्वाज को दिया था। भरद्वाज से धन्वन्तरि जैसे आयुर्वेदाचार्यों ने ज्ञान प्राप्त किया था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अंगिरा ने अथर्ववेद की शिक्षा इन्द्र के पूर्ववर्ती अथवा आदि आचार्यों को दी थी। अत अन्त साक्ष्य के आधार पर अंगिरा को ही आयुर्वेद का आदि आचार्य मानना चाहिए। कुछ विद्वान् अगिरा को इन्द्र का शिष्य भी मानते है।[1] मनुस्मृति के आधार पर अगिरस–अर्थात् बृहस्पति ने अथर्व का ज्ञान ब्रह्माजी को दिया था। आयुर्वेद का सक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है—

आयुर्वेद-सहिता—आचार्य धन्वन्तरि के गुरु भास्कर ने 'आयुर्वेद-सहिता' नामक ग्रन्थ की रचना की। मत्स्य पुराण मे चन्द्रमा के पुत्र बुध को हस्तिशास्त्र का विशारद बताया गया है। हो सकता है कि बुध ने हस्तिशास्त्र लिखा हो। चन्द्रवशी बुध भास्कराचार्य का ही शिष्य था। 'आयुर्वेद सहिता' मे शरीर को नीरोग रखने के सभी विधानो पर विचार किया गया है। आचार्य भास्कर का यह ग्रन्थ आयुर्वेद का मूल ग्रन्थ माना जाता है।

चिकित्सा-रसायन तन्त्र—आचार्य धन्वन्तरि ने 'चिकित्सा-रसायन तन्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। धन्वन्तरि भास्कराचार्य के शिष्य थे। इन्होने अपन चिकित्सा-रसायन तन्त्र ग्रन्थ का आधार 'आयुर्वेद सहिता' को ही बनाया। आयुर्वेद के क्षेत्र मे धन्वन्तरि को 'भगवान् धन्वन्तरि' उपाधि या नाम से सम्मानित किया गया है।

जीवदान—आचार्य च्यवन ऋषि ने 'जीवदान' नामक ग्रन्थ की रचना की। च्यवन ऋषि रसायन के महान् आचार्य थे। कहा जाता है कि ये च्यवनप्राश के सेवन से दीर्घजीवी बने। 'जीवदान' ग्रन्थ रसायन का एक महान् ग्रन्थ है। च्यवन ऋषि को भृगु का पुत्र माना गया है। च्यवन के वश मे ऋचीक, जमदग्नि आदि ऋषि आयुर्वेद के आचार्य हुए हैं। च्यवन ऋषि की महिमा आज तक अक्षुण्ण है।

चरक-सहिता—आयुर्वेद के मूर्धन्य ग्रन्थ के रूप मे चरक-सहिता सम्मान्य है। चरक-सहिता का प्रणेता चरक नामक ऋषि हुआ है। चरक-सहिता मे रोगो के नियान का सूक्ष्म विश्लेषण है। आचार्य चरक आज के अफगानिस्तान मे उत्पन्न हुए थे। उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी स्वीकार किया जाता है। आचार्य चरक ने आचार्य आत्रेय तथा अग्निवेशाचार्य की शिष्य-परम्परा मे विकसित आयुर्वेद को प्रामाणिक रूप दिया। आज तक के उपलब्ध आयुर्वेदिक ग्रन्थो मे चरक-सहिता

1 कविराज सूरमचन्द्र आयुर्वेद का इतिहास, भाग 1, पृ 40-42

को सर्वाधिक प्रामाणिक तथा उपयोगी ग्रन्थ माना जाता है। वैदिक काल से ही चरक सम्प्रदाय प्रसिद्ध रहा है। हो सकता है कि प्राचीन काल मे कोई चरक नामक आयुर्वेदाचार्य रहे हो। फिर भी इतना तो निश्चित है कि 'चरक-संहिता' के प्रणेता चरक ईसा की पहली शताब्दी मे ही उत्पन्न हुए।

शिव प्रोक्त ग्रन्थ—शिव नामक आचार्य ने या महादेव ने 'आयुर्ग्रन्थ', 'आयुर्वेद', 'वैद्यराजतन्त्र', 'शैवसिद्धान्त', 'रुद्रयामलतन्त्र', 'पारदकल्प', 'धातुकल्प', 'हरितालकल्प', 'धातुप्रक्रिया', तथा 'रसार्णवतन्त्र' नामक विभिन्न ग्रन्थो की रचना की। परन्तु वैदिक युग के शिव द्वारा रचित ग्रन्थो का उल्लेख ही विभिन्न ग्रन्थो मे मिलता है आज उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है। शिव के शिष्य नन्दि को भी आयुर्वेद का विशारद कहा गया है। शकर का पुत्र कार्तिकेय धनुर्वेद के साथ-साथ आयुर्वेद का भी प्रकाण्ड पण्डित था।

आयुर्वेदाचार्य नारद—हेमाद्रि द्वारा लिखित 'लक्षणप्रकाश' नामक ग्रन्थ मे नारद आयुर्वेद का आचार्य बताया गया है। पौराणिक अध्ययन से पता चलता है कि नारद नामक ऋषि का बडा घुमक्कड तथा बहुश्रुत होने के साथ-साथ बहुज्ञ भी था परन्तु नारद का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नही हुआ है। फिर भी नारद को आयुर्वेद का आचार्य माना जा सकता है।

सुश्रुत संहिता—सुश्रुत नामक आचार्य ने 'सुश्रुत-संहिता' की रचना की। कहा जाता है कि सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे। हो सकता है कि विश्वामित्र के सम्बन्धी जमदग्नि तथा ऋचीक से सुश्रुत ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया हो।

धन्वन्तरि द्वितीय—धन्वन्तरि द्वितीय ने 'वैद्यक स्वरोदय' तथा 'चिकित्सासारसग्रह' नामक दो आयुर्वेदिक ग्रन्थो की रचना की। ऐसा प्रतीत होता है कि 'धन्वन्तरि' एक उपाधि रही है तथा समय-समय पर महान् आयुर्वेदाचार्यो को इस उपाधि से सम्मानित किया गया।

अग्निवेश के ग्रन्थ—भरद्वाज की शिष्य परम्परा मे विकसित होने वाले अग्निवेश ने 'अग्निवेशतन्त्र' तथा 'नाडी परीक्षा' नामक दो आयुर्वेदीय ग्रन्थो की रचना की। 'महाभारत' मे द्रोणाचार्य को अग्निवेश का ही शिष्य बताया गया है। अत अग्निवेश धनुर्वेद का भी आचार्य था। अग्निवेश का समय ईसा पूर्व सहस्र वर्ष से भी अधिक मानना चाहिए।

आचार्य नागार्जुन—नागार्जुन चौथी शताब्दी की उपज है। आचार्य नागार्जुन शून्यवादी नागार्जुन से भिन्न हैं। इन्होने 'लोहशास्त्र', 'रसरत्नाकार', 'कक्षपुट', 'आरोग्यमञ्जरी', 'योगसार', 'रसेन्द्रमगल', 'रतिशास्त्र', 'रसकच्छपुट', तथा 'सिद्ध नागार्जुन' नामक प्रमुख ग्रन्थो की रचना की। नागार्जुन ने शकर के के 'पारद कल्प' के आधार पर पारद-विद्या का भी विकास किया था। आजकल पारद-विद्या का क्षेत्र अपूर्ण है।

आयुर्वेद एक दृष्टि—भारतीय आयुर्वेद के विकास मे सबसे बडी बाधा मुद्रण की रही है। मुद्रण की सुविधाओ के अभाव मे शकर जैसे भिषगाचार्यो के ग्रन्थ शिष्य

आयुर्वेद

वैदिककाल मे आयुर्वेद को प्रमुख स्थान मिल चुका था। अथर्ववेद मे आयुर्वेदीय तत्वो का पर्याप्त सकेत है। ऋग्वेद के रुद्र सूक्त मे रुद्र को महानतम भिषगाचार्य बताया गया है। अश्विनी कुमारो ने इन्द्र के राज्य मे वैद्य का कार्य किया था, ऐसा उल्लेख भी ऋग्वेद मे प्राप्त है। आयुर्वेद के प्रमुख ग्रन्थ 'चरकसहिता' मे इन्द्र को आयुर्वेद का प्रधान आचार्य बताया है। इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान भारद्वाज को दिया था। भरद्वाज से धन्वन्तरि जैसे आयुर्वेदाचार्यों ने ज्ञान प्राप्त किया था। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अंगिरा ने अथववेद की शिक्षा इन्द्र के पूर्ववर्ती अथवा आदि आचार्यो को दी थी। अत अन्त साक्ष्य के आधार पर अंगिरा को ही आयुर्वेद का आदि आचार्य मानना चाहिए। कुछ विद्वान् अगिरा को इन्द्र का शिष्य भी मानते है।[1] मनुस्मृति के आधार पर अगिरस–अर्थात् बृहस्पति ने अथर्व का ज्ञान ब्रह्माजी को दिया था। आयुर्वेद का सक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है—

आयुर्वेद-सहिता—आचार्य धन्वन्तरि के गुरु भास्कर ने 'आयुर्वेद-सहिता' नामक ग्रन्थ की रचना की। मत्स्य पुराण मे चन्द्रमा के पुत्र बुध को हस्तिशास्त्र का विशारद बताया गया है। हो सकता है कि बुध ने हस्तिशास्त्र लिखा हो। चन्द्रवशी बुध भास्कराचार्य का ही शिष्य था। 'आयुर्वेद सहिता' मे शरीर को नीरोग रखने के सभी विधानो पर विचार किया गया है। आचार्य भास्कर का यह ग्रन्थ आयुर्वेद का मूल ग्रन्थ माना जाता है।

चिकित्सा-रसायन तन्त्र—आचार्य धन्वन्तरि ने 'चिकित्सा-रसायन तन्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। धन्वन्तरि भास्कराचार्य के शिष्य थे। इन्होने अपन चिकित्सा-रसायन तन्त्र ग्रन्थ का आधार 'आयुर्वेद सहिता' को ही बनाया। आयुर्वेद के क्षेत्र मे धन्वन्तरि को 'भगवान् धन्वन्तरि' उपाधि या नाम से सम्मानित किया गया है।

जीवदान—आचार्य च्यवन ऋषि ने 'जीवदान' नामक ग्रन्थ की रचना की। च्यवन ऋषि रसायन के महान् आचार्य थे। कहा जाता है कि ये च्यवनप्राश के सेवन से दीर्घजीवी बने। 'जीवदान' ग्रन्थ रसायन का एक महान् ग्रन्थ है। च्यवन ऋषि को भृगु का पुत्र माना गया है। च्यवन के वश मे ऋचीक, जमदग्नि आदि ऋषि आयुर्वेद के आचार्य हुए हैं। च्यवन ऋषि की महिमा आज तक अक्षुण्ण है।

चरक-सहिता—आयुर्वेद के मूर्धन्य ग्रन्थ के रूप मे चरक-सहिता सम्मान्य है। चरक-सहिता का प्रणेता चरक नामक ऋषि हुआ है। चरक-सहिता मे रोगो के निदान का सूक्ष्म विश्लेषण है। आचार्य चरक आज के अफगानिस्तान मे उत्पन्न हुए थे। उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी स्वीकार किया जाता है। आचार्य चरक ने आचार्य आत्रेय तथा अग्निवेशाचार्य की शिष्य-परम्परा मे विकसित आयुर्वेद को प्रामाणिक रूप दिया। आज तक के उपलब्ध आयुर्वेदिक ग्रन्थो मे चरक-सहिता

1 कविराज सूरमचन्द्र आयुर्वेद का इतिहास, भाग 1, पृ 40-42

को सर्वाधिक प्रामाणिक तथा उपयोगी ग्रन्थ माना जाता है। वैदिक काल से ही चरक सम्प्रदाय प्रसिद्ध रहा है। हो सकता है कि प्राचीन काल मे कोई चरक नामक आयुर्वेदाचार्य रहे हो। फिर भी इतना तो निश्चित है कि 'चरक-सहिता' के प्रणेता चरक ईसा की पहली शताब्दी मे ही उत्पन्न हुए।

शिव प्रोक्त ग्रन्थ—शिव नामक आचार्य ने या महादेव ने 'आयुर्ग्रन्थ', 'आयुर्वेद', 'वैद्यराजतन्त्र', 'शैवसिद्धान्त', 'रुद्रयामलतन्त्र', 'पारदकल्प', 'धातुकल्प', 'हरितालकल्प', 'धातुप्रक्रिया', तथा 'रसार्णवतन्त्र' नामक विभिन्न ग्रन्थो की रचना की। परन्तु वैदिक युग के शिव द्वारा रचित ग्रन्थो का उल्लेख ही विभिन्न ग्रन्थो मे मिलता है आज उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है। शिव के शिष्य नन्दि को भी आयुर्वेद का विशारद कहा गया है। शकर का पुत्र कार्तिकेय धनुर्वेद के साथ-साथ आयुर्वेद का भी प्रकाण्ड पण्डित था।

आयुर्वेदाचार्य नारद—हेमाद्रि द्वारा लिखित 'लक्षणप्रकाश' नामक ग्रन्थ मे नारद आयुर्वेद का आचार्य बताया गया है। पौराणिक अध्ययन से पता चलता है कि नारद नामक ऋषि का बडा घुमक्कड तथा बहुश्रुत होने के साथ-साथ बहुज्ञ भी था परन्तु नारद का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नही हुआ है। फिर भी नारद को आयुर्वेद का आचार्य माना जा सकता है।

सुश्रुत सहिता—सुश्रुत नामक आचार्य ने 'सुश्रुत-सहिता' की रचना की। कहा जाता है कि सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे। हो सकता है कि विश्वामित्र के सम्बन्धी जमदग्नि तथा ऋचीक से सुश्रुत ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया हो।

धन्वन्तरि द्वितीय—धन्वन्तरि द्वितीय ने 'वैद्यक स्वरोदय' तथा 'चिकित्सासारसग्रह' नामक दो आयुर्वेदिक ग्रन्थो की रचना की। ऐसा प्रतीत होता है कि 'धन्वन्तरि' एक उपाधि रही है तथा समय-समय पर महान् आयुर्वेदाचार्यो को इस उपाधि से सम्मानित किया गया।

अग्निवेश के ग्रन्थ—भरद्वाज की शिष्य परम्परा मे विकसित होने वाले अग्निवेश ने 'अग्निवेशतन्त्र' तथा 'नाडी परीक्षा' नामक दो आयुर्वेदीय ग्रन्थो की रचना की। 'महाभारत' मे द्रोणाचार्य को अग्निवेश का ही शिष्य बताया गया है। अत अग्निवेश धनुर्वेद का भी आचार्य था। अग्निवेश का समय ईसा पूर्व सहस्र वर्ष से भी अधिक मानना चाहिए।

आचार्य नागार्जुन—नागार्जुन चौथी शताब्दी की उपज है। आचार्य नागार्जुन शून्यवादी नागार्जुन से भिन्न हैं। इन्होने 'लोहशास्त्र', 'रसरत्नाकार', 'कक्षपुट', 'आयोग्यमञ्जरी', 'योगसार', 'रसेन्द्रमगल', 'रतिशास्त्र', 'रसकच्छपुट', तथा 'सिद्ध नागार्जुन' नामक प्रमुख ग्रन्थो की रचना की। नागार्जुन ने शकर के के 'पारद कल्प' के आधार पर पारद-विद्या का भी विकास किया था। आजकल पारद-विद्या का क्षेत्र अपूर्ण है।

आयुर्वेद एक दृष्टि—भारतीय आयुर्वेद के विकास मे सबसे बडी बाधा मुद्रण की रही है। मुद्रण की सुविधाओ के अभाव मे शकर जैसे भिषगाचार्यो के ग्रन्थ शिष्य

परम्परा मे कण्ठ-ज्ञान के रूप में न जाने कहाँ खो गए। फिर चरक-सहिता तथा 'सुश्रुत-सहिता' जैसे ग्रन्थो के इतने भाष्य हो चुके है कि आज आयुर्वेद को उन्ही के आधार पर पर्याप्त सम्मान मिला है। आयुर्वेद न केवल मनुष्यो के लिए, अपितु पशुओ के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। जयदत्त एव दीपकर का 'अश्ववैद्यक' तथा धारा नरेश भोज का 'शालिहोत्र' प्रमुख अश्वशास्त्रीय ग्रन्थ है। अब तो वैद्यशास्त्र की कोश-ग्रन्थ परम्परा का भी पता लगा लिया गया है। ग्यारहवी शताब्दी मे सुरेश्वर का 'शब्द प्रदीप' तथा 13वी शताब्दी मे नरहरि का 'राजनिघण्टु' प्रसिद्ध कोश-ग्रन्थ रहे है। अब तो पण्डित हसदेव का 'मृगपक्षिशास्त्र' भी उपलब्ध हो गया है।

ज्योतिष
(Astrology)

वेद के छ अग माने गए हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष अत ज्योतिष वेद का अन्तिम अग है। ज्योतिष का सम्बन्ध नक्षत्रो-ग्रहो से है। हमारे ज्योतिष मे पृथ्वी को स्थिर मानकर नक्षत्रो की गति तथा स्थिति का अध्ययन किया गया है। पुराणो मे ज्योतिष का विविधमुखी ज्ञान है। यहाँ ज्योतिष का सक्षिप्त इतिहास ही प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योकि ज्योतिष का अधिकाश साहित्य अनुपलब्ध है।

वैदिककालीन साहित्य—वैदिक सहिताओ मे नक्षत्रो तथा ग्रहो के गति-चक्र के विषय मे अनेक सकेत मिलते है। तैत्तिरीय सहिता मे बारह महीनो तथा षड् ऋतुओ का वर्णन हुआ है, जो ज्योतिष-तत्त्व को उजागर करता है। लोकमान्य तिलक ने वेदो के रचना-काल को सिद्ध करते समय वैदिक ज्योतिषीय तत्वो का सुन्दर विवेचन किया है। शतपथ ब्राह्मण मे सवत्सर की परिभाषा देते हुए कहा है— 'ऋतुर्भिहि सवत्सर शक्नोति स्थातुम्'—अर्थात् जिसमे ऋतुओ का निवास है, उसे सवत्सर कहते हैं। सवत्सर ही वर्ष का वाचक है। छान्दोग्योपनिषद् मे नारद तथा सनत्कुमार ने प्रसग मे ज्योतिषविद्या को नक्षत्रविद्या के नाम से पुकारा गया है। वेदो मे शरद्-ऋतु को विशेष महत्व प्रदान करके ज्योतिष के उद्भव को सूचित कर दिया गया है अत वेदो मे ज्योतिष-तत्व निहित है।

ज्योतिष-ग्रन्थो की रचना का आदि काल—ईसा पूर्व 500 मे 'वेदाग ज्योतिष' नामक ग्रन्थ विद्वानो के सामने आ चुका था। इस ग्रन्थ मे ऋग्, यजु तथा अथर्व नामक वेद-सहिताओ से सम्बद्ध कारिकाएँ सगृहीत हैं। इस ग्रन्थ के प्रणेता का नाम 'लगभ' बताया जाता है। आजकल लगभ को वेदागज्योतिष का सग्रहकर्त्ता या सम्पादक माना जाता है। ईसा पूर्व तीसरी तथा चौथी शताब्दी मे जैन-ज्योतिष के 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' तथा 'ज्योतिषकरण्डक' नामक ग्रन्थो की रचना हुई। पाँचवी शताब्दी मे आर्यभट्ट ने 'आर्यभट्टीय' तथा 'तन्त्रग्रन्थ' नामक ज्योतिषीय ग्रन्थो की रचना की।

ज्योतिष ग्रन्थों का मध्य काल—आचार्य कल्याण वर्मा ने छठी शताब्दी में 'सारावली' नामक ज्योतिप-ग्रन्थ की रचना की। आचार्य वराहमिहिर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। इनका 'वृहज्जातक' एक मुख्य ज्योतिप-ग्रन्थ है। वराहमिहिर का स्थितिकाल पाँचवी शताब्दी निश्चित है। वराहमिर के पुत्र पृथुयशा ने 'षट्पञ्चाशिका' नामक ज्योतिप ग्रन्थ लिखा। छठी शताब्दी के अन्तिम चरण में आचार्य ब्रह्मगुप्त ने 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' तथा 'खण्डखाद्यक' नामक ग्रन्थों की रचना की। वारहवी शताब्दी में भास्कराचार्य ने ज्योतिप के ज्ञान को विश्वव्यापी बना दिया। इनका मुख्य ग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि' है। वारहवी शताब्दी में ही वल्लालसेन ने 'अद्भुतसागर' नामक ग्रन्थ की रचना की। तेरहवी शताब्दी में 'पद्मप्रभु' सूरि ने भुवन-दीपक नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त ज्योतिप के अनेकानेक ग्रन्थों का प्रणयन इसी युग में हुआ। सोलहवी शताब्दी में रगनाथ ने 'गूढार्थप्रकाशिका' तथा नारायण पण्डित ने मुहूर्तमार्तण्ड' नामक प्रसिद्ध ज्योतिप ग्रन्थ की रचना की। वस्तुत ज्योतिपशास्त्र के मध्यकाल में ज्योतिप गणित, बीजगणित, रेखागणित आदि का पर्याप्त प्रचलन हो गया था।

भारतीय ज्योतिष का आधुनिक काल—आधुनिक युग भारतीय ज्योतिप का स्वर्ण युग माना जाता है। इस युग में पाश्चात्य ज्योतिप के प्रभाव से ज्योतिप के क्षेत्र में अनेक ग्रन्थों पर शोध-कार्य भी हुआ। सौर जगत की पूरी जानकारी देने के प्रयास इसी काल में हुए हैं। आधुनिक ज्योतिप का सूत्रपात ज्ञानराज के 'सिद्धान्तसुन्दर' नामक ग्रन्थ से माना जाता है। ज्ञानराज का समनय 16वी शताब्दी निश्चित है। ज्ञानराज के पुत्र चिन्तामणि ने 'सिद्धान्तसुन्दर' ग्रन्थ की टीका की। ज्ञानराज के दूसरे पुत्र सूय ने ज्योतिप के क्षेत्र में अत्यधिक शोधपूर्ण कार्य किया। उनके ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—गणितमालती', 'सिद्धान्तशिरोमणि', 'सिद्धान्तसंहितासार समुच्चय','बीजगणित', 'ताजिकग्रन्थ' इत्यादि। 16वी शताब्दी में नीलकण्ठ ने 'ताजिक नीलकण्ठी' नामक ग्रन्थ लिखा। 16वी शताब्दी के आचार्यों में अनन्त तथा उनके वशजों ने ज्योतिप के ग्रन्थ को व्यापक बनाने में पूर्ण योगदान दिया। सत्रहवी शताब्दी में कमलाकर 'सिद्धान्त विवेक' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ पर पण्डित गगाधर मिश्र की टीका उपलब्ध है। विदर्भ के दधिग्राम में रहकर चिन्तामणि तथा उनके वशजों ने ज्योतिप-साहित्य का पर्याप्त विस्तार किया। सत्रहवी शताब्दी में राम ने 'अनन्तसुधारस' नामक ग्रन्थ की रचना की। 1731 ई में पण्डितराज जगन्नाथ ने 'सिद्धान्तसम्राट्' नामक ज्योतिप ग्रन्थ की रचना की। 19वीं शताब्दी के प्रथम चरण में चन्द्रशेखरसिंह सामन्त ने 'सिद्धान्त-दर्पण' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक के आधार पर खूब पचाग बनाए गए। कहा जाता है कि चन्द्रशेखरसिंह राजकार्यों में रुचि लेने के साथ-साथ ज्योतिप-साहित्य के अध्ययन में भी बड़ी रुचि लेते थे। योगेशचन्द्रराय ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखी है।

1856 ई मे लोकमान्य बालगंगाधर का जन्म हुआ । आप राष्ट्रनायक होने के साथ-साथ ज्योतिप के महान् आचार्य भी थे । आपका 'ओरायन' ग्रन्थ ज्योतिप के रहस्यो को व्यक्त करता है । लोकमान्य का महाप्रस्थान 1921 ई मे हुआ । भारतीय ज्योतिप मे वैज्ञानिक विधियो को लाने का श्रेय सुधाकर द्विवेदी को है । आपने ज्योतिप पर भाष्य, टीका तथा इतिहास सम्वन्धी बीस-बाईस ग्रन्थ लिखे हैं । डॉ गोरखप्रसाद ने 'भारतीय ज्योतिष का इतिहास' ग्रन्थ लिखा, जिसमे समीक्षात्मक स्तर पर ज्योतिष के सिद्धान्तो को स्पष्ट किया गया है । 19वी तथा 20वी शताब्दी के अन्तराल मे भारतीय ज्योतिष को विदेशो मे भी मान्यता मिली । यद्यपि इससे भी पूर्व भारतीय ज्योतिप का प्रभाव विदेशी ज्योतिप पर पड चुका था । अत सस्कृत का ज्योतिप-साहित्य अनेक दृष्टियो से महान् है ।

भारतीय ज्योतिष का स्वरूप

भारतीय ज्योतिष मे पहले तो गरिणत तथा फलित ज्योतिष दो रूप ही प्रचलित थे । गरिणत के माध्यम से कुछ गणनाएँ की जाती थी तब फलित का प्रयोग राशि-फल बताने मे लिया जाता था । आगे चलकर ज्योतिष मे स्कन्ध-त्रय प्रचलित हुआ । स्कन्ध-त्रय मे सिद्धान्त, सहिता तथा होरा को गिना गया । आधुनिक ज्योतिप मे होरा, गरिणत, सहिता, प्रश्न और निमित्त को स्थान मिला है । इस समय तो मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, चिकित्साशास्त्र जैसे विषयो को ज्योतिष से सम्वद्ध करके उसे आधुनिकता से परिपूर्ण कर दिया गया है । ज्योतिष के पाँचो अगो का सक्षिप्त परिचय निम्न रूप मे दिया जा रहा है—

होरा—ज्योतिष के 'होरा' अग के माध्यम से जन्मकुण्डली बनाने का कार्य किया जाता है । जन्मकुण्डली के द्वादश भावो के फलाफल का वर्णन करना होरा शास्त्र का विपय है । इस अग के प्रधान आचार्यो मे बराहमिहिर, ढुंढिराज, श्रीधर आदि प्रमुख हैं ।

गणित—गरिणत से ज्योतिष मे मुख्यत काल-गणना के साथ-साथ ग्रहगतियो का भी निरूपण किया जाता है । इस समय गरिणत को अलग विषय के रूप मे भी मान्यता मिल चुकी है । सस्कृत साहित्य मे भी गरिणतशास्त्र का इतिहास ज्योतिष शास्त्र के इतिहास से पृथक् स्थान रखने लगा है । फिर भी ज्योतिप मे गरिणत का महत्व अद्भुत है । प्राचीन काल मे गरिणत को ही ज्योतिष माना गया है—

' यथाशिखामयूराणा नागाना मरणयो यथा ।
तद्वद्वेदागशास्त्राणा गरिणत मूर्घ्नि सस्थितम् ।।

—वेदाग ज्योतिप, श्लोक 4

सिद्धान्त—सिद्धान्त ज्योतिष मे अति वृष्टि, ग्रहरण फल मुहूर्तगणना, गृहप्रवेश आदि को रखा गया है । हमारे धर्म मे सिद्धान्ततत्व का बोलवाला रहा है । जब तक पण्डितजी गृहप्रवेश के सन्दर्भ मे सिद्धान्त के आधार पर समय और दिन निश्चित नहीं करेंगे, तब तक गृहप्रवेश सम्भव नही है । अब सिद्धान्त तत्व को एक आडम्बर भी मान लिया गया है । की अवमानना अनुचित है ।

प्रश्न—प्रश्न ज्योतिष मे प्रश्नाक्षर, प्रश्न-लग्न और स्वरज्ञान की विधियो का वर्णन होता है। प्रश्न ज्योतिष के आधार पर भूत और भविष्यत् का अच्छा अनुमान किया जाता है। वर्तमान मे प्रश्न ज्योतिष को मनोविज्ञान से भी जोडकर इसके स्वरूप को विश्वसनीय बना दिया गया है। सूर्य, चन्द्रादि स्वरो के आधार पर दिन-रात के हिसाब से स्वास्थ्य, कार्य-परिणाम आदि का विचार किया जाता है।

निमित्त—निमित्त ज्योतिष मे शकुन का विचार किया जाता है। शकुन शास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। शकुन शास्त्र मे स्वप्न जैसे तत्व को भी विचार का आधार बनाया गया है। शकुनशास्त्र की छाया भारतीय साहित्य पर पर्याप्त रूप मे दिखलाई पडती है। वाल्मीकीय रामायण मे रावण के मरण के समय स्थिति या वातावरण को बडा भयावह दर्शित किया गया है। रामचरितमानस मे राम के विवाह के अवसर पर समस्त शकुनो को साकार कर दिया गया है। यदि सर पर गीध बैठ जाए तो मरण या मरणासन्नता का सकेत मिल जाता है। वस्तुत निमित्तशास्त्र को यदि वैज्ञानिक रूप में लिया जाए तो इस शास्त्र का सम्बन्ध जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान से अधिक है। शारीरिक हलचलो का जीवविज्ञान मे सम्बन्ध जोडकर ही उसे ज्योतिष का विषय बनाने से पाडम्बरो को दूर किया जा सकता है। यदि किसी पुरुष की बायी आँख फडकती है तो पहले उसमे जीवविज्ञान का ही कारण मानना चाहिए। यदि इसमे आगे कोई निमित्त सम्भव है तो वह निमित्त शास्त्र का ही विषय होगा। अत निमित्तशास्त्र के अध्ययन मे सूक्ष्मता की आवश्यकता है।

निष्कर्षत भारतीय ज्योतिष के आधार पर वैदिककाल के ग्रन्थो की रचना-काल जानने मे बडी मदद मिली है। काल-गणना के क्षेत्र मे ज्योतिष की उपादेयता निर्विवाद है। भारतीय ज्योतिष मे ग्रहो की प्रतीति या प्रत्यक्षता को विशेष महत्व देकर कार्य हुआ है।

तन्त्र-साहित्य
(Tantra Literature)

मन्त्र का सम्बन्ध मनन से है तथा तन्त्र का सम्बन्ध विस्तार और रक्षण से। हमारी वैदिक सहिताओ से ही तन्त्र साहित्य का उद्गम होता है। अथर्ववेद सहिता को विषय की दृष्टि से दो भागो मे बाँटा गया है। पहला भाग अथर्वन् तथा दूसरा भाग अँगिरस नाम से जाना जाता है। इनमे अथर्वन् भाग से तन्त्र का सम्बन्ध है।

जनसामान्य मे तन्त्र के प्रति कोई विशुद्ध एव स्वस्थ धारणा नही मिलती। व्याकरण की दृष्टि से 'तन्' धातु मे औणादिक 'ष्ट्रन' प्रत्यय के योग से 'तन्त्र' शब्द निष्पन्न होता है। यथार्थत ज्ञान का विस्तार करने वाली तथा व्यक्ति की अनेक आपदाओ से रक्षा करने वाली विद्या को तन्त्र विद्या कहा गया है—

"तनोति विपुलानर्थान् तत्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राण च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥"

महाभारत मे तन्त्र विद्या को द्विजाति द्वारा सम्मानित बताया गया है। तन्त्र अनेक वादो या विचारधाराओ की भाँति एक विशिष्ट विचारधारा है। यथा–

न्याया तन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभि ।
यतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातय ।।

'निगम' शब्द का अर्थ वेद तथा 'आगम' शब्द का अर्थ तन्त्र किया गया है। 'आगम' शब्द का अर्थ शास्त्र भी है। पौराणिक युग मे 'वाराही तन्त्र' की रचना की गई। प्रस्तुत तन्त्र ग्रन्थ मे सृष्टि, प्रलय, देवार्चन, सर्वसाधन तथा पुरश्चरण के साथ-साथ शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन मारण नामक षट्कर्म से सयुक्त एव ध्यानयोग की चारो विधियो से युक्त कोई ग्रन्थ आगम या तन्त्र कहलाता है। 'वाराही तन्त्र' मे तन्त्र के प्रतिपाद्य का सुन्दर विवेचन किया गया है। पौराणिक युग मे देवी की अर्चना का बोलबाला हुआ। इसीलिए शिवपुराण के अतिरिक्त देवीभागवत् नामक पुराण मे देवी के विभिन्न रूपो तथा उसकी अनेक उपासना-पद्धतियो का विवेचन किया गया है। आचार्य शकर सांख्य को भी 'तन्त्र' नाम से अभिहित किया है। सांख्य का योग एक शुद्ध तान्त्रिक साधना के रूप मे प्रख्यात है।

वेद और तन्त्र—आचार्य कुल्लूकभट्ट ने श्रुति के दो रूप बताए हैं। वैदिकी तथा तान्त्रिकी। सत्रहवी शताब्दी मे आचार्य अप्पयदीक्षित ने शैवागम का विस्तृत विवेचन किया। वैदिक साहित्य मे ईश्वर को 'शिव' भी कहा गया है। इसलिए शैव दार्शनिको ने तन्त्र-ग्रन्थो मे तन्त्रविद्या को वेदानुकूल सिद्ध किया है। दशम शताब्दी मे आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रवार्तिक' नामक ग्रन्थ मे तन्त्र को वेदानुकूल तथा सहज ज्ञान के अनुकूल सिद्ध किया है। हमारा विचार है कि मूल-तन्त्र वेदानुकूल है तथा तन्त्र का परम्परावादी रूप अनेक प्रकार के आडम्बरो से परिपूर्ण है। आचार्य शकर ने वैष्णवागम के प्रमुख सिद्धान्त चतुर्व्यूहवाद को वेद विरुद्ध बताया है। वस्तुत वैष्णवो ने पाँचरात्र मत के आधार पर श्रीकृष्ण, सकर्षण या बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध को चतुर्व्यूह रूप मे प्रस्तुत करके भक्तिमत की स्थापना की है। विशुद्ध वेदवादियो को ईश्वर की प्रतीक उपासना का विरोध करना पडा है। 19वी शताब्दी के समन्वयवादी दार्शनिक स्वामी विवेकानन्द ने भी तर्क की कसौटी पर मूर्ति-पूजा या निर्गुण से सगुण होने की ईश्वरीय प्रक्रिया का खण्डन किया है।

शाक्ततन्त्र का अनेकागी आचार

शक्ति के उपासको को शाक्त कहा जाता है। ईश्वर की माया या चैतन्य शक्ति का मानवीकरण कर देने पर शक्ति के भक्तिमूलक रूप की विचित्र कल्पना की गई है। आठो दिशाएँ देवी की भुजाएँ हैं। इसलिए उसे अष्टभुजी कहा गया है। ऐसी शक्ति का दर्शन दुर्लभ है तथा शाक्त मत के माध्यम से या अन्य किसी माध्यम से उस देवी को प्राप्त करना कठिन है, इसलिए उसे दुर्गा कहा गया है। पुराणो मे शक्ति-तत्त्व के सम्बन्ध मे एक रोचक प्रसग यह है कि शकर की पत्नी राजा दक्ष के यज्ञ मे यज्ञकुण्ड की अग्नि मे कूदने के कारण जल गई थी। पीछे से शकर के अनुयायियो ने शकर के शिष्य वीरभद्र के नेतृत्व मे हरिद्वार के समीप

कनखल मे होने वाले यज्ञ को विध्वस्त कर दिया। कालान्तर में शकर ने सती के अर्द्धज्वलित शरीर को अपनी भुजाओ मे उठा लिया। वे उस शरीर को लेकर इधर-उधर उन्मत्त की भांति घूमते रहे। शकर की ऐसी उन्मत्तता का एकमात्र कारण उनकी पत्नी का शव ही था या तन्निहित राग। अत विष्णु ने अपने चक्र से उस शव को धीरे-धीरे काटकर गिरा दिया। आज के जो प्रमुख देव स्थान है, वही सती के शरीर के टुकडे पडे थे अत वे तीर्थ बन गए। इस घटना के पीछे रहस्य यही है कि शकर देवसस्कृति के विरोधी थे। वे योगमार्ग या ज्ञानमार्ग के प्रवर्त्तक थे। उनकी कोपनशीलता का वर्णन रुद्र देवता के सन्दर्भ मे विभिन्न वेदो ने किया है। देवसस्कृति का विरोध करने के कारण शकर को वामदेव नाम भी मिला। ज्ञानमार्ग की साधना का सम्बन्ध रहस्यमयी साधना से है-गुह्य साधना से है। उस गूढ साधना के सन्दर्भ मे लौकिक तत्त्वो मे भी अलौकिक तत्त्व का आरोपण होने लगा। इसीलिए शाक्तो के देव को अर्द्धनारीश्वर का भी रूप मिला। शैव दर्शन मे शिव के दो रूप है-सविसागर शिव एव चैतन्य-तत्त्व रूप शक्ति। शिव को पुरुष रूप कहा गया तथा चैतन्य शक्ति को नारी रूप। शकर के अर्द्धनारीश्वर स्वरूप का यही रहस्य है। 'रुद्रयामल तन्त्र' मे शाक्तो का वामाचार विशिष्ट रूप से वर्णित है। असम की कामाख्या देवी शक्ति पीठ के रूप मे प्रसिद्ध है। शाक्तो मे पचमकार की उपासना का वर्णन हुआ है। पचमकार इस प्रकार हैं—मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्रा तथा मैथुन। शैव दर्शन मे पचमकारो को गूढरूप देने की चेष्टा की गई है परन्तु पचमकार की उपासना नितान्त भौतिकवादी उपासना है।

तन्त्र-साहित्य एक दृष्टि— तन्त्र विद्या आर्यों से भी पूर्व भारत के वनवासियो या द्रविडो मे प्रचलित थी। तिब्बत तथा पूर्व भारत मे इस विद्या का पर्याप्त प्रचार रहा है। तन्त्रविद्या का विविधमुखी विस्तार हुआ है। सातवी-आठवी शताब्दी में सस्कृत तथा अपभ्रश के साहित्य पर तन्त्र-विद्या का प्रभाव परिलक्षित होता है। तन्त्र का मूल तत्त्व ज्ञानमार्गीय ध्यान तथा समाधि-साधना है, परन्तु रूढिवद्ध रूप मे तन्त्र-विद्या नितान्त त्याज्य विद्या है। तान्त्रिको को 'कौल' भी कहा गया है।

गणित-साहित्य
(Mathematic Literature)

प्रारम्भ मे गणित को ही ज्योतिष कह दिया जाता था। कालान्तर मे गणित ज्योतिष का अग वन गया। परन्तु गणित मे बीजगणित, रेखागणित जैसे भेद-प्रभेद भी दिखलाई पडने लगे। अत गणित एक अलग ही विषय बन गया। यहाँ हम गणित का सक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत कर रहे हैं। गणित के इतिहास के सन्दर्भ मे ग्रन्थो की अल्पता भी विचारणीय है।

गणितशास्त्र और गणितज्ञ—पाँचवी शताब्दी मे आर्यभट्ट नामक ज्योतिषाचार्य ने ज्योतिष में गणित का विचित्र प्रयोग किया। इनकी 'आर्याष्टशत' नामक रचना में गणित से सम्बद्ध 33 आर्याएँ हैं। आचार्य आर्यभट्ट ने सिद्धान्त ज्योतिष मे गणिताध्याय को सन्निहित किया था। इन्होने गणित के क्षेत्र में क्षेत्रफल, घातक्रिया, घातमूलक्रिया आदि को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। आयतन तथा वृत्त

आदि के विषय मे भी आपने पर्याप्त कार्य किया। आचार्य ब्रह्मगुप्त ने वर्ग, घनमूल, त्रैराशिक, ब्याज आदि का विकास किया। रेखागणित के क्षेत्र मे त्रिभुज, चतुर्भुज आदि का विकास भी इसी युग मे हुआ। बीजगणित के क्षेत्र मे समीकरण-पद्धति भी इसी युग मे विकसित हो चुकी थी। नवी शताब्दी मे आचार्य महावीर ने 'गणितसारसग्रह' नामक गणितीय ग्रन्थ की रचना की। आचार्य श्रीधर ने दशम शताब्दी मे 'त्रिशती' ग्रन्थ की रचना की। गणित के क्षेत्र मे भास्कर का 'लीलावती' ग्रन्थ प्रमुख है। कहा जाता है कि आचार्य भास्कर ने अपनी पुत्री के नाम पर ही 'लीलावती' नामक ग्रन्थ की रचना की। भास्कर का समय 11वी शताब्दी निश्चित है। भास्कर के पौत्र चगदेव ने 1205 ई मे भास्कर की विद्या के विकास हेतु एक शिक्षण-सस्था की भी स्थापना की। इनका कार्य-स्थान पेशावर रहा। चगदेव की मूली रुचि फलित ज्योतिष की ओर हो रही थी।

गणित शास्त्र की प्राचीनता—ज्योतिप-तत्व वेदो मे ही मिल जाता है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे चैतन्य तत्व को सहस्र हाथो वाला, सहस्रो सिरो वाला तथा सहस्रो रूपो वाला कहा गया है। अत इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल मे भी गणना को सूचित करने वाला कोई शास्त्र अवश्य रहा होगा। जानवरो को चतुष्पद कहने के पीछे गणित ही काम करता हुआ दिखाई पड रहा है। महाभारत मे काल-गणना का एक रोचक प्रसग है कि जब पाण्डव तेरह वर्ष के वनवास को काट रहे थे तो भीष्म पितामह ने अधिमास की चर्चा करके ज्योतिषीय गणित का परिचय दिया था। रामायण मे राम का चौदह वर्ष का वनवास 'चौदह' सख्या की सूचना देता है। मनुस्मृति मे तत्व-विश्लेषण के सन्दर्भ मे गणित का परिचय दिया गया है। अत इन निष्कर्षो के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि गणित शास्त्र भी एक प्राचीन शास्त्र है।

गणित शास्त्र की उपादेयता—जीवन मे भाषा के पश्चात् गणित की ही सर्वाधिक उपयोगिता है। गणित शास्त्र के माध्यम से गणित के क्षेत्र मे सख्या-ज्ञान की उपादेयता अपने आप स्पष्ट है। दो और दो मिलकर ही चार होते है। गणित की सार्वलौकिकता को चुनौती नही दी जा सकती। प्राचीन आचार्यो ने गणित शास्त्र के महत्व पर प्रकाश डालते हुए यहाँ तक कह दिया है कि जिस प्रकार से मयूर के शरीर मे उसकी चोटी का महत्व है जिस प्रकार से पर्वत-पदार्थ मे मणियो का महत्व है, उसी प्रकार शास्त्रो मे गणित का महत्व है। बीजगणित की सूक्ष्मता से आज विज्ञान का जो विकास हुआ है, वह किसी से छिपा नही है। रेखागणित अथवा त्रिकोणमिति एव ज्यामितीय आदि के विकास से भव्य-भवनो एव सूक्ष्म से सूक्ष्म कल-पुर्जो के निर्माण का समितीय महत्व स्वत स्पष्ट है।

भारतीय गणित शास्त्र तथा विदेशी गणित शास्त्र—प्राचीन काल मे भारत मे अनेक जातियो का आगमन हुआ अत आगन्तुक भारत से इस विद्या को अपने यहाँ भी ले गए तथा उनकी गणित-विद्या का प्रभाव भारतीय गणित शास्त्र पर भी पडा। कुछ लोगो की यह मान्यता है कि भारत में अको का सूत्रपात ग्रीस के गणित

के आधार पर हुआ, परन्तु भारतवर्ष मे अको का ज्ञान तो वैदिक काल मे ही हो गया था। देवनागरी लिपि का विकास सिकन्दर के आगमन से बहुत पहले हो चुका था। ग्रीसदेशीय रेखागणित का प्रभाव भारतीय रेखागणित पर स्वीकारा जाता है। चीनी गणित शास्त्र के सम्बन्ध मे भी यह मान्यता है कि भारत मे जिस फलित ज्योतिष का प्रचार है, उसका आविष्कार चीन मे हुआ था। परन्तु बौद्ध धर्म के इतिहास से पता चलता है कि चीन मे ज्योतिष तथा गणित का जो कुछ विकास हुआ, उसमे भारतीय विद्या का अत्यधिक योगदान है।

गणित शास्त्र एक दृष्टि—भास्कर तथा आर्यभट्ट जैसे आचार्यों से पूर्व पुराणो के अनुसार नारद जैसे गणित शास्त्रज्ञ भी भारतवर्ष मे हुए हैं परन्तु अब पौराणिक उल्लेखो से किसी विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति नही होती। पुराणों के अधिकांश उल्लेख केवल सूचना मात्र हैं। नारद जैसे ऋषियो का एक भी प्रामाणिक ग्रन्थ नही मिलता परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि जब ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम साहित्य मे अक-गणना का सुन्दर विस्तार है तो वैदिक काल मे भी अच्छे गणितज्ञ रहे होगे। तर्क के आधार पर तो इतना तक कहा जा सकता है कि प्राग्वैदिक काल मे ही गणितशास्त्र किसी न किसी रूप मे अवश्य प्रचलित रहा होगा। किसी चीज का विकास अचानक नही होता। अत गणितशास्त्र का जो विकास वैदिक साहित्य मे उपलब्ध है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल मे गणित का कोई न कोई रूप अवश्य प्रचलित रहा होगा। सिन्धु घाटी की सभ्यता से यह स्पष्ट ही है कि वैदिक काल से भी पूर्व व्यक्ति रेखागणित का ज्ञान रखते थे। अत ज्ञान की आदि कालावधि को निश्चित करना उसी प्रकार भ्रामक है, जिस प्रकार सृष्टि के प्रथम मानव की बात करना। आधुनिक युग मे पाइथागोरस जैसे गणितशास्त्रज्ञो के प्रभाव से गणित का जो विकास हुआ है, उसे सस्कृत साहित्य अभी तक आत्मसात करने मे असमर्थ है। अब सस्कृत भाषा साहित्य की भाषा ही रह गई है। अत हमे गणित शास्त्र की दृष्टि से प्राचीन सस्कृत-साहित्य पर ही अधिक निर्भर रहना पडेगा।

सास्कृतिक इतिहास

(ऋग्वेद काल से 400 ई पू तक)

(Cultural History)

सस्कृति मानव-हृदय को पवित्र करने वाले सुसस्कारो का समूह है । प्राचीन काल से ही मानव की आनन्दवादी चेतना उसे सस्कृति के चरम सत्य की ओर उन्मुख करती रही है । सस्कृति के इसी रहस्य को इतिहासबद्ध करने के लिए साहित्य, सिक्के शिलालेख, प्राचीन भवन-निर्माण की कला, स्तूप, उत्कीर्ण चित्र आदि को आधार बनाया गया है । प्राचीन काल मे लेखन तथा मुद्रण की सुविधाओ के अभाव के कारण हमारा साहित्य श्रुत-साहित्य ही रहा है । इसलिए उस युग मे इतिहास को सुरक्षित रखने की परम्परा होने पर भी आवश्यक-सुविधाओ एव साधनो के अभाव मे सांस्कृतिक इतिहास साहित्य जैसे अन्त साक्ष्य तथा स्तूप एव शिलालेख जैसे बाह्यसाक्ष्य के आधार पर ही जाना जा सकता है ।

प्राचीन भारत की सस्कृति ईसा पूर्व 4000 मे भी विद्यमान थी । उस समय की सभ्यता को मोहनजोदडो तथा हडप्पा की खुदाई के आधार पर बाह्य साक्ष्य को प्रमाण मानकर प्रस्तुत किया जाता है । उस प्राग्वैदिक सस्कृति को सिन्धु घाटी की सभ्यता एव सस्कृति के नाम से जाना जाता है । उस समय की सभ्यता एव सस्कृति को अनुशीलित करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राग्वैदिक काल मे भी सस्कृति का हजारो वर्ष पुराना इतिहास रहा होगा । प्राचीन, भारत का ही नही, अपितु समूचे विश्व का ही प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है, जिसमे उस समय के समाज के अनेक आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक एव राजनीतिक सकेत भरे पडे है, जो यह स्पष्ट करते हैं कि वैदिक सस्कृति कितनी समुन्नत रही है । वैदिक सस्कृति को जानने के अन्त साक्ष्य-स्वरूप साधन ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्रग्रन्थ है ।

महाकाव्य युगीन सस्कृति 'रामायण' तथा 'महाभारत' पर आधारित होने के साथ-साथ पुराणो पर भी आधारित देखी जाती है । इसी के समानान्तर विकसित होने वाली सस्कृति बौद्ध तथा जैन साहित्य को आधारभूत मानकर ही जानी जा सकती

है। बौद्ध संस्कृति को जानने के लिए 'धम्मपद' तथा 'ललित विस्तर' जैसे ग्रन्थो का सहारा लेना पडता है तथा जैन संस्कृति 'आचारागसूत्र' जैसे धर्मग्रन्थो तथा 'पउम' 'चरिउ' जैसे महाकाव्यो के आधार पर खोजी एव जानी गई है। बौद्ध तथा जैन संस्कृतियाँ आठवी शताब्दी तक विकसित होती रही। अत इनके विकास के द्योतक अनेक दार्शनिको के ग्रन्थ तथा अनेक कवियो के काव्य बने।

प्राचीन भारत का भक्तिपरक आन्दोलन प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास की उत्तर-सीमा के रूप मे जाना जाता है। हमारी प्राचीन संस्कृति को प्रकट करने के लिए हमारे विभिन्न ग्रन्थो का विदेशी भाषाओ मे प्राप्त अनुवाद भी एक प्रबल साधन है। सांस्कृतिक प्रसार की जानकारी के आधारभूत अनूदित ग्रन्थ ही है। ऋग्वैदिक-काल से लेकर 400 ई पू तक प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास मुख्यत दो भागो मे विभाजित किया गया है। प्रथम भाग मे वैदिक संस्कृति को स्थान दिया गया है, जिसमे ऋग्वैदिक संस्कृति तथा उत्तर वैदिक संस्कृति का उल्लेख किया गया है। द्वितीय भाग मे वैदिक युगोत्तर संस्कृति को रखा है, जिसके क्रमश दो भाग किए है-पौराणिक एव महाकाव्य युगीन संस्कृति तथा बौद्ध एव जैन संस्कृति। 400 ई पू मे वैदिक युगोत्तर संस्कृति का प्राधान्य रहा, जिसका यथा स्थान वर्णन किया गया है।

वेद-साहित्य को संहिता, ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्र ग्रन्थ के रूप मे जाना जाता है। वेद की संहिताएँ मुख्यत चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। इन चार संहिताओ मे ऋक् संहिता प्राचीनतम है। ऋग्वेद मे जिस संस्कृति का उल्लेख है, वह अन्य तीन संहिताओ तथा अन्य वैदिक साहित्य से स्वरूपत कुछ भिन्न है। यथार्थत जब किसी व्यवस्था को लागू किया जाता है तो उसका मूल रूप जन-समाज मे बहुत कुछ प्रतिबिम्बित रहता है, परन्तु समय व्यतीत होने पर मूल रूप कुछ अन्य रूपो मे विकसित तथा परिवर्तित होता चला जाता है। इसीलिए संस्कृति के अनेक रूप दिखलाई पडने लगते हैं। ऋग्वेद का रचना-काल दो हजार वर्ष ईसा पूर्व स्वीकार किया जाता है। अत उस समय की संस्कृति को स्पष्ट करने के लिए तत्कालीन परिस्थितियो का विवेचन करना आवश्यक हो जाता है।

प्राचीन काल से ही देव-दानव संघर्ष की परम्परा चली आ रही है। कहा जाता है कि प्राचीन काल मे कोई कश्यप नामक ऋषि थे। संभवत वे गूढ तत्व के प्रधान पश्यक या द्रष्टा थे। 'पश्यक' शब्द को वर्ण-विपर्यय के आधार पर कश्यप रूप मिला है। कश्यप ने अपने प्रभाव को अनेक रूपो मे प्रदर्शित किया। वह व्यक्ति न केवल ज्ञानी था, अपितु एक महान् राजनीतिज्ञ भी था। उसने अनेक विवाह किए। उसकी प्रधान पत्नी अदिति के वंशज आदित्य या देव कहलाए। इसी तरह से दिति के पुत्र दैत्य तथा दनु के पुत्र दानव नाम से सम्बोधित किए गए। कालान्तर मे कश्यप ने सन्यास ले लिया तथा उन्हें ज्ञान का विस्तारक मानकर ब्रह्मा भी कह दिया गया। कश्यप के पुत्रो ने अपने-अपने राज्य का विस्तार किया। अत आत्मगौरव की ग्रन्थि से ग्रथित होने के कारण पारस्परिक संघर्ष भी प्रारम्भ हो गया। इस संघर्ष के अनेक रूप वेदो मे द्रष्टव्य हैं। इन्द्र तथा वृत्र की शत्रुता की

अनेक कल्पनाएँ या कथा सकेत वेदो मे भरे पडे हैं । शम्बर नामक राक्षस की भी चर्चा ऋग्वेद मे मिलती है निष्कर्षत 'आर्य' शब्द उच्चता या श्रेष्ठता का वाचक है । प्रधान यौधेय जाति ने अपने आपको आर्य कहा है । परन्तु सघर्ष की निरन्तरता के कारण आर्यो से जो अनार्य जातियाँ टकराईं, उनसे भी आर्यों ने सामञ्जस्य स्थापित किया । ऐसे समन्वय और सामञ्जस्य के कारण वैदिक सस्कृति विविध-मुखी हो गई । इस विशेषता की ओर सकेत करते हुए डॉ बेनीप्रसाद ने ठीक ही लिखा है—"आर्य सगठन पर सबसे अधिक प्रभाव तो आर्यों और अनार्यो का पड़ा ।"

आर्यो को देववश का वशज माना जाता है । यहाँ हमे पहले 'देव' शब्द के विषय मे विचार कर लेना चाहिए । 'दिव्' धातु मे 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'देव' शब्द निष्पन्न हुआ है । 'दिव्' धातु प्रकाश तथा दान के अर्थ मे स्वीकारी गई है । अत ज्ञान के प्रकाशक देव कहलाते हैं अथवा जिन्होने दुनिया को अपनी विद्या का ज्ञान दान-स्वरूप प्रदान किया, वे देव है । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेदादि सहिताओ मे प्राकृतिक देवो के साथ कुछ ऐसे देव भी जुडे हुए है, जो व्यक्ति-स्वरूप है । पौराणिक साहित्य के महान् आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इसीलिए वेदो की शैली को रूपकमयी कहा है । यथार्थत देव सस्कृति के लक्षण आर्यों मे तो थे ही, साथ ही अनार्य जातियो से सम्पर्क होने के कारण तथा विभिन्न वातावरणो मे रहने के कारण अन्य सस्कार भी वेद द्रष्टाओ मे परिपूरिक हो गए । इसीलिए वेदो मे देव सस्कृति तथा मानव सस्कृति का सम्मिश्रण मिलता है । इस पुस्तक के लेखक के विचार से सम्पन्न वर्ग की सस्कृति देव सस्कृति थी, निवृत्तिमार्गी मनीषियो एव जन-साधारण की सस्कृति के नाम से जानी जाती थी । देव सस्कृति तथा मानव सस्कृति की विशेषताओ पर दृष्टिपात करने से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकती है—

देव सस्कृति की विशेषताएँ	मानव सस्कृति की विशेषताएँ
1. अलौकिक शक्ति-सम्पन्नता	1 पच महायज्ञ का विधान
2 अनन्त ऐश्वर्य की प्राप्ति	2 सोलह सस्कारो की योजना
3 भव्य एव विशाल भवनो मे निवास	3 वर्णाश्रम धर्म का प्रसार
4 सगीत-प्रियता	4 यम नियमो की व्यवस्था
5 अलकार-प्रियता	5 उपासना पद्धति का प्रचार
6 सोम एव सुरापान मे रुचि	6 समन्वयवाद या समरसता की प्रधानता
7 यज्ञो मे आस्था	7 नारी का महत्व
8 विलास प्रियता	8 विश्व बन्धुत्व की भावना
9 आत्मवाद की प्रबलता, तथा	9 पुरुषार्थ-चतुष्टय, तथा
10 अमरता की भावना का प्रसार	10 स्वदेश-प्रेम एव राष्ट्रीयता

देव सस्कृति मे अमरता की भावना भी सोमरस के पान पर आश्रित जान पडती है । प्रस्तुत प्रमाणो से विवेच्य-तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगा—

अपामसोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किं नूनमस्मान्कृणवदरादि किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥
—ऋग्वेद, 8/48/3

अर्थात् "हे मरण रहित धर्म वाले सोम! हमने तुम सोम को पीया है और हम अमर हो गए हैं। हमने प्रकाशमान लोको का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अत: अब हमारा शत्रु हमारा कुछ भी नही बिगाड सकता अथवा हमारा क्या कर सकता है? मनुष्य की धूर्तता की तो हमे कोई चिन्ता नही है।" इस मन्त्र के सन्दर्भ मे कुछ तथ्य विचारणीय हैं—

(1) सम्पन्न वर्ग बडे ठाठ से सोमरस या मदिरा का पान करता था।
(2) वैभवपूर्ण स्थानो को प्रकाशमान लोक की सज्ञा दी जाती थी।
(3) सम्पन्न वर्ग जनसाधारण को 'मर्त्य' कहता था।
(4) देव या सम्पन्न वर्ग तथा मर्त्य या मानवो के बीच द्वन्द्व अवश्य विद्यमान था।
(5) सम्पन्न वर्ग धनी होने के साथ-साथ शक्तिशाली भी था। सोमरस को आयुवर्धक भी सिद्ध किया है। यथा—

शंनो भव हृद आ पीत इन्दो पितेव सोम सूनवे सुशेव ।
सखेव सख्य उरुशंस धीर प्राण आयुर्जीव से सोम तारी ॥
—ऋग्वेद 8/48/4

अर्थात् "हे सोम! हमने आपको पीया है, अत आप हमारे हृदयो को पवित्र करो। जिस प्रकार पिता पुत्र को सुखकर होता है तथा मित्र मित्र के लिए सहायक होता है, उसी प्रकार आप हमे सुख प्रदान करो। सोम! अनेक व्यक्ति आपकी स्तुति करते हैं। अत महान् कीर्ति-सम्पन्न सोम! आप हमारी आयु को बढाकर हमे दीर्घजीवी बनाओ" प्रस्तुत मन्त्र के विशिष्ट सकेत इस प्रकार हैं—

(1) 'सोम' चन्द्रमा का भी वाचक है तथा मदिरा का भी। अत वेदो मे रूपक शैली का प्रयोग है।
(2) सोमरस बहुमूल्य होता था, अत जनसाधारण उसकी प्रशसा ही कर पाता था।
(3) सोमरसपायी व्यक्ति अपने जीवन-स्तर के अनुसार सोमरस के सहज प्रशसक थे।
(4) सोमरस से कष्टो या शारीरिक तथा मानसिक रोगो से भी छुटकारा मिलता था।
(5) सोमरस आयुवर्धक पेय माना जाता था।

ऐसा होने पर भी सोमरस के अतिपान को उन्मत्तताकारक ही कहा गया है।[1] अभी हमने देव सस्कृति की विशेषताओ मे भोगवाद की प्रबलता ही देखी।

1 ऋग्वेद, 8/48/8

क्या भोगवादी आत्मवादी भी कहे जा सकते है ? इस प्रश्न का सरल उत्तर यही है कि भोगवादी देव संस्कृति को अन्य निवृत्तिमार्गी संस्कृतियो के साहचर्य से आत्मवादी तत्वो को अपने आप मे समेटना पडा। इसमे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदो में विभिन्न संस्कृतियो का सम्मिश्रण है।

संस्कृति का स्वरूप

सांस्कृतिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे संस्कृति का स्वरूप जानना भी आवश्यक है। व्युत्पत्ति के आधार पर 'संस्कृति' भावात्मक एव विचारात्मक-तत्वो का परिष्कृत रूप है। 'संस्कृति' शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार है—सम्+कृ+सुट् का आगम+क्तिन्=संस्कृति। कुछ मूर्धन्य विद्वानो के शब्दो के आधार पर संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है। करपात्री जी ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है—"लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहकारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एव हलचलें ही संस्कृति है।" डॉ गुलाबराय लिखते है—"संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है, जिसका अर्थ है सशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कृति शब्द का भी यही अर्थ है और संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं, जाति के भी, किन्तु जातीय संस्कारो को ही संस्कृति कहते हैं। भाववाचक शब्द होने के कारण संस्कृति एक समूहवाचक शब्द है।" डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृति की परिभाषा देते हुए लिखा है—"सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है।" पाश्चात्य विचारक डॉ व्हाइट हेल्ड ने भी संस्कृति को इसी रूप मे परिभाषित किया है—"Culture is activity of thought and receptiveness to beauty and human feelings" अर्थात् संस्कृति मानसिक प्रयास, सौन्दर्य तथा मानवता की अनुभूति है।

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर संस्कृति का स्वरूप निम्न रूप मे स्पष्ट हो सकता है—

(1) संस्कृति एक आदर्श तत्व है।
(2) संस्कृति एक आन्तरिक तत्व है।
(3) संस्कृति का सम्बन्ध भावो तथा विचारो से है या चरित्र से है।
(4) संस्कृति मानव जाति से सम्बद्ध एक दिव्य एव अलौकिक तत्व हैं।
(5) संस्कृति का सम्बन्ध विभिन्न विचार धाराओ से है।
(6) संस्कृति को जीवन दर्शन का रूप भी समझना चाहिए।
(7) संस्कृति मानव की सर्वोत्तम खोज हैं।
(8) संस्कृति वातावरण के आधार पर भिन्न-भिन्न रूपो वाली बनती हैं।
(9) संस्कृति या परिष्कार सभी मानवो को मान्य है।
(10) संस्कृति आदर्श जीवन का प्रेरणा-स्रोत हैं।

ऋग्वैदिक संस्कृति
(Rigvedic Culture)

संस्कृत तथा इतिहास के आचार्यों ने वैदिक युगीन संस्कृति को दो भागो मे विभाजित किया है—पूर्व वैदिक युगीन संस्कृति तथा उत्तर वैदिक युगीन संस्कृति।

पूर्व वैदिक युगीन संस्कृति को ऋग्वैदिक संस्कृति के नाम से जाना जाता है तथा उत्तर वैदिक कालीन संस्कृति को ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्र-ग्रन्थो के युग से सम्बद्ध किया जाता है। ऋग्वैदिक संस्कृति 3000 ई पू मे विकसित हुई।

ऋग्वैदिक संस्कृति मे देव तथा मानव संस्कृतियो के सम्मिश्रण का निम्नलिखित बिन्दुओ के आधार पर परखा जा सकता है – (1) बहुदेववाद, (2) एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद, (3) वर्ण-व्यवस्था, (4) आश्रम-व्यवस्था, (5) नारी-सम्मान, (6) राष्ट्रीयता की भावना, (7) नैतिकता आदि।

(1) **बहुदेववाद**—ऋग्वेद मे द्युलोक, अन्तरिक्षलोक तथा पृथ्वीलोक मे सम्बद्ध अनेक देवी-देवताओ का वर्णन मिलता है। ऋग्वैदिक काल मे इन्द्र को प्रधान देवता माना गया है। इन्द्र वर्षा का देवता होने के साथ-साथ सूर्य का भी रूप माना गया है। गृत्समद नामक ऋषि ने इन्द्र की प्रशसा मे अनेक अलौकिक बातें कही हैं। इन्द्र देववश का कोई राजा था, उसकी वीरता का विविधमुखी रूप ऋग्वेद के अनेक सूक्तो मे निर्मित है। इन्द्र सभी देवताओ मे सर्वाधिक आकर्षक व्यक्तित्व से परिपूर्ण माना गया है। उसकी शक्ति से द्युलोक तथा पृथ्वीलोक थरथराते है।[1] इन्द्र हिलती हुई पृथ्वी को स्थिर करने वाला है। प्राणियो मे स्थिरता का उत्पादक भी इन्द्र देवता ही है। इन्द्र ने विशाल से विशाल पर्वतो के पखो को काटकर यथास्थान नियन्त्रित कर दिया है। इन्द्र ने द्युलोक को धारण कर रखा है।[2] इन्द्र वृत्रासुर नामक शूरवीर को मारने वाला है।[3] इन्द्र ने जल रोकने वाले पर्वतो को हटाकर सात नदियो को प्रवाहित किया। इन्द्र शत्रुओ के गोधन का भी अपहरण करने वाला है। इन्द्र ने अपने पिता के पैर को पकडकर जमीन पर दे मारा था तथा अपनी माता की माँग के सिन्दूर को धो दिया था। इस पुस्तक के लेखक ने 'त्र्यम्बक' उपन्यास मे इसी वैदिक घटना को सविस्तार प्रदर्शित किया है। वस्तुत इन्द्र मेघ का वाचक है। जब घटाटोप घनमण्डल मे से विद्युत्पात होता है तो उसी को वज्रपात माना जाता है। इसीलिए इन्द्र के शस्त्र का नाम वज्र है। जिस समय पर्वतो की गगनचुम्बिनी चोटियो के ऊपर वज्रपात होता है तब वे विचूर्ण हो जाती है। इसी तथ्य को आलकारिक रूप मे आकाश मे उडते हुए पर्वतो के पखो को काटना कहा गया है। महर्षि दयानन्द ने 'इन्द्र' शब्द का अर्थ प्राण किया है। अत प्राण ने द्युलोक-स्वरूप शीश, पृथ्वीलोक-स्वरूप उदर, जघा आदि समस्त शारीरिक अवयवो को धारण कर रखा हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि ऋग्वेद का इन्द्र असुर संस्कृति का दमन करने वाला है तथा पराक्रम प्रदर्शन मे सहज वीरता के आधार पर आगे बढने वाला है। अत इन्द्र को ईश्वर, मेघ तथा राजा प्रभृति रूपों मे प्रस्तुत करके बहुदेववाद की धारणा को प्रबल रूप में पुष्ट कर दिया गया है।

1 ऋग्वेद, 2/12/1
2 ऋग्वेद, 2/12/2
3 ऋग्वेद, 2/12/3

ऋग्वेद का दूसरा प्रधान देवता वरुण है। वरुण को एक प्रशासक का स्वरूप प्रदान किया गया है। वरुण देवता विस्तीर्ण द्युलोक तथा पृथ्वीलोक को अनेक प्रकार से धारण किए हुए है। वरुण ने नक्षत्र को दर्शनीय बनाया है तथा भूमि को विस्तृत। वरुण देवता के दर्शन के लिए वशिष्ठ नामक ऋषि को आतुर दिखाया गया है।[1] वशिष्ठ ने वरुण की प्रार्थना करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि वह वरुण को अपने प्रकार की हवि प्रदान करता है तथा और भी अधिक हवि आहूत कर सकता है। परन्तु वरुण देव फिर भी वशिष्ठ ऋषि के ऊपर कोप करता है। वरुण देवता सम्राट के रूप में अपनी प्रजा को क्षमा करने वाला है। महर्षि दयानन्द ने वरुण को इन्द्रियों का प्रतीक माना है। वस्तुत वरुण जल का देवता है। पृथ्वी सामुद्रिक हलचलों से ही बनी है। पृथ्वी को धारण करने में वरुण को ही कारण बताया गया है। परन्तु जब वरुण को दिन तथा रात्रि का अधिष्ठाता बताया जाता है तो वह काल का स्वरूप बन जाता है। इतना ही नहीं, वरुण तो ईश्वर रूपी सम्राट के रूप में अपने तेज से या अपनी आज्ञा से सूर्य को प्रकाशित करने वाला है, अग्नि को भी तेजस्विता प्रदान करने वाला है। वह अपने देदीप्यमान रथ पर आरूढ होकर समस्त संसार का निरीक्षण करता है। सम्राट वरुण के दर्शन के लिए या उसके कृपापात्र बनने के लिए वैदिक मन्त्रदृष्टा भी तरसते दिखाई पड़ते है—

कदाक्षत्र श्रिय नरमा वरुण करामहे। मृलीकायोरुचक्षसम्॥

—ऋग्वेद, 1/25/5

अर्थात् शासकीय शक्ति से शोभायमान होने वाले, संसार में सबको देखने वाले या त्रिकालदर्शी तथा सबका नेतृत्व करने वाले वरुण, आपके आगमन से हमें कब सुख मिलेगा। वरुण देवता को सर्वान्तरयामी भी सिद्ध किया गया है। वरुण समुद्र मार्ग से जाने वाली नाव के मार्ग को जानता है। वह पक्षियों के मार्ग से भी सुपरिचित है।[2] वरुण देवता प्राणियों को कर्म करने की प्रेरणा देता है। यह देवता बारहमासों को जानता है तथा चौथे वर्ष पड़ने वाले अधिमास से भी परिचित है।[3] वरुण को सर्वज्ञ भी बताया गया है।[4] वरुण के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि वह एक सम्राट् है। पौराणिक वरुण एक राजा ही है। हो सकता है कि वरुण समुद्र तटवर्ती भाग पर शासन करते रहे हो। वरुण को ईश्वर रूप में देखने की परिकल्पना बहुदेववाद से हटकर एकेश्वरवाद की ओर अग्रसर हो जाती है।

ऋग्वेद में अग्नि देवता को देवताओं का ऋत्विज बताया गया है। यज्ञ-निष्पादन के लिए अग्नि देवता प्रधान देवता है। यज्ञवाद की सिद्धि के लिए अग्नि

1 ऋग्वेद, 7/86/2
2 ऋग्वेद, 1/25/7
3 ऋग्वेद, 1/25/8
4 ऋग्वेद, 1/25/9

को प्रधान देवता बताना युक्तियुक्त भी है। इन्द्र के पश्चात् अग्नि देव को सूक्त-सख्या की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। अग्नि देवता अपनी विद्या द्वारा हवि भोग करता है। यज्ञ की अग्नि से सम्बद्ध अग्नि देवता का मानवीकरण करने मे अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की गई हैं। यह अग्नि देव लाल-लाल मूछो तथा दाढी वाला है, घी की पीठ वाला है, स्वर्ण के दाँतो वाला है इत्यादि। अग्नि भूतो, प्रेतो तथा राक्षसो को भगाने वाला है। अत अग्नि केवल एक प्राकृतिक तत्त्व न होकर उसका सम्बन्ध यज्ञ की अग्नि से जोडकर उससे आरोग्यवर्धन की कमनीय कामना की गई है। अग्नि नामक किसी राजा का वर्णन पुराणो मे नही हुआ, जिसने देवताओ की सहायता की हो। अत ऋग्वेद का अग्नि देवता ईश्वर के रूप मे प्राय नही पहुँच पाता। वह केवल यज्ञ की अग्नि के रूप मे प्रारम्भ से अन्त तक विकसित होता चला जाता है। अत अग्नि देवता के सन्दर्भ मे बहुदेववाद की पुष्टि स्वयमेव हो जाती है। ऋग्वेद का श्री गणेश बहुदेववादी सिद्धान्त से ही होना है। यथा निम्न मन्त्र दृष्टव्य है—

अग्निमीले पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतार रत्नधातमम्॥

—ऋग्वेद, 1/1/1

जब अग्नि देवता, देवताओ का ऋत्विज है तो देव अनेक हैं, यह स्वत सिद्ध हो जाता है।

ऋग्वेद मे मरुत् देवता रुद्र के पुत्र कहे गए हैं। मरुतो को एक समूह के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। मरुत देवता वायु के ही विभिन्न रूप हैं। वे अपने वेग से पृथ्वी को कम्पायमान करने वाले है। मरुतो को योद्धाओ का भी स्वरूप प्रदान किया गया है। मरुतो के विभिन्न रूपो से यह स्पष्ट हो जाता है कि मरुत प्राकृतिक तत्व ही हैं। इसी प्रकार से विष्णु-सूक्त विष्णु को सूर्य का रूप दिया गया है। विष्णु अपने तीन कदमो मे पूरे ससार को नापने वाले है। उनकी वीरता की सभी व्यक्ति प्रशसा करते हैं। विष्णु नामक देवता ही सभी लोको की रचना करने वाला है। विष्णु अपने शत्रु को उसी तरह धराशायी कर देते हैं, जिस प्रकार सिंह मृगो का वध कर देता है। विष्णु और सूर्य की एक सी स्थिति को देखने से बहुदेववाद की व्यापक धारणा को एक धक्का भी लगता है। ऋग्वेद मे प्रधान रूप से 33 देवताओ की स्तुति हुई है। पर्जन्य जैसे देवता के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृतिक शक्तियो का स्तवन करना आर्यों का स्वभाव था। अत आर्य प्रकृति-प्रेमी रहे हैं।

(2) एकेश्वरवाद—ऋग्वेद मे एक ही शक्ति को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला कहा है। विष्णु नामक देवता समस्त लोको को धारण करने वाला कहा है—'एकोदाधार भुवनानि विश्वा।' सूर्य, मित्र, पूषन, विष्णु आदि तत्त्व एक ही प्रकाशस्वरूप ईश्वर के वाचक हैं। इनमे जो तेज है, वह सब ईश्वरीय तेज है। स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के प्रथम अध्याय मे ईश्वर के वाचक शब्दो की व्याख्या करके बहुदेववाद का खण्डन किया है। ईश्वर समस्त सृष्टि का कर्त्ता

कहा गया है। वह ईश्वर हजारो शीशो, हजारो ग्रांखो तथा हजारो पैरो वाला है। उसने सम्पूर्ण विश्व को अपने एक ग्रश मात्र मे स्थापित कर रखा है। ग्रत ईश्वर ग्रद्वितीय है। एकेश्वरवादी दार्शनिको ने ईश्वर को प्रकृति तथा जीव से ग्रधिक व्यापक तथा सक्षम बतलाया है। पुरुप-सूक्त का ईश्वर ग्रपने एक चौथाई भाग मे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ग्रवस्थित रखता है तथा तीन चौथाई भाग मे ग्रपने स्वरूप मे ही स्थित रहता है। ग्रत उसकी समता का कोई प्रश्न ही नही उठता। उस ईश्वर ने ही चारो वेदो की रचना की। जलचरो, खेचरो तथा थलचरो का निर्माता भी वही ईश्वर है। ईश्वर का मानवीकरण करके उसके विभिन्न ग्रगो से सृष्टि की रचना सिद्ध की गई है। यथा—

चन्द्रमा मनमो जातश् चक्षो सूर्यो ग्रजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥

—ऋग्वेद, 10/90/13

ग्रर्थात् चैतन्य-स्वरूप ईश्वर के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुग्रा। उसकी ग्राँखो से सूर्य का जन्म हुग्रा। मुख से इन्द्र तथा ग्रग्नि उद्भूत हुए। ईश्वर की पाण-शक्ति वायु के रूप मे प्रकट है। ग्रत ईश्वर प्रकृति को भी धारण करने वाला है। ऋग्वेद-कालीन सस्कृति मे एकेश्वरव.द की पुष्ट धारणा मिलती है। जब इन्द्र भी सभी लोको को धारण करने वाला है तथा वरुण, विष्णु ग्रौर सूर्य ग्रादि भी, तब एक ही शक्ति को विभिन्न रूपो मे प्रस्तुत किया गया है, यह स्वत स्पष्ट हो जाता है।/ ग्रर्थात् हिरण्यगर्भ या सूर्य देवता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव का मानव के साथ धोखा एक भ्रममात्र है। ग्रत 'सर्वे भवन्तु सुखिन' का उदार सिद्धान्त ऋग्वैदिक काल मे प्रचार पा चुका था।

(3) वर्ण-व्यवस्था—ऋग्वैदिक समाज मे गुण-धर्म के ग्राधार पर वर्ण-व्यवस्था लागू थी। पुरुष या ईश्वर के मुख या ज्ञानरूप को ब्राह्मण कहा गया है। शक्तिमानो को क्षत्रिय या ईश्वर की भुजाएँ माना गया है। वैश्य-वर्ण ईश्वर का उरु है। समाज सेवी शूद्र वर्ण ईश्वर के चरण-स्वरूप हैं। ग्रत गुण-कर्म के ग्राधार पर वर्ण-व्यवस्था को सुन्दर रूप देने का प्रयास किया गया है। यथा—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत।
उरु तदस्य यद्वैश्य पदभ्या शूद्रो ग्रजायत ॥

—ऋग्वेद, 10/90/12

व्यक्ति के गुणो के ग्रनुसार कर्मों का विभाजन-एक वैज्ञानिक व्यवस्था का ही द्योतक है। ग्रत हमे इस व्यवस्था को समाज के विराट् ब्रह्म पर ही लागू मानना चाहिए। यदि ईश्वर के ऊपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र जैसे वर्णों को ग्रारोपित करने की ग्रावश्यकता का ग्रनुमान किया गया तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि/प्राचीन काल मे समाज को व्यवस्थित रखने के लिए एक प्रौढ विचार-धारा बन चुकी थी। उसी विचारधारा का प्रयोग करके प्रत्येक वर्ण को ईश्वर का

ही अश सिद्ध करके कर्मो का भेद होने पर भी तत्वत समस्त समाज को एकरूपता प्रदान की गई। फिर भी समाज की प्रगति मे बाधक वर्णहीन समाज को दस्यु समाज कह दिया गया।' ऋग्वेदकालीन समाज मे वर्ण-व्यवस्था को जातिगत बन्धनो मे नही जकडा गया। उस समय का समाज कर्म की भावना को लेकर राष्ट्र के निर्माण मे आगे बढा। वर्ण-व्यवस्था का जो सुन्दर और वैज्ञानिक रूप ऋग्वैदिक काल मे देखा गया, वह परवर्ती काल मे अदर्शनीय ही रहा। अत ऋग्वैदिक युग की वर्ण-व्यवस्था सामाजिक प्रगति को ध्यान मे रखकर ही विकसित हुई।

(4) **आश्रम-व्यवस्था**—यद्यपि आश्रम-व्यवस्था का विकास मुख्यत उत्तर वैदिक युगीन सस्कृति की देन है, तथापि ऋग्वैदिक युग मे आश्रम-चतुष्ट्य का विधान प्रचलित हो चुका था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास नामक चारो आश्रमों की व्यवस्था थी। यहाँ एक-एक आश्रम के स्वरूप को सक्षेप मे प्रस्तुत किया जा रहा है—

मनसा, वाचा तथा कमरणा मैथुन-त्याग को ब्रह्मचर्य नाम से जाना जाता है। जब ब्रह्मचारी वेदाध्ययन के लिए गुरुकुल मे चला जाता था तो वह वहाँ रहकर ब्रह्मचर्य के समस्त नियमो का पालन करके ही या करता हुआ ही विद्यार्जन करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम को निर्माण-आश्रम कहा गया है। ब्रह्मचर्य की शक्ति से ही कोई व्यक्ति आचार्य के पद पर पहुँच पाता है। ब्रह्मचर्य के ही कारण प्रजापतित्व मिलता है। ब्रह्मचर्य की शक्ति से इन्द्रत्व प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य-व्रत के फलस्वरूप राजा शासन-सूत्र को सचालित करता है। इसी की महिमा से ससार दाम्पत्य-जीवन की ओर अग्रसर होता है। यही ब्रह्मचर्य समस्त सिद्धियो का जनक है—

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापति ।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रो भवद्वशी ।।
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र नियच्छति ।
ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विन्दते पतिमा ।। —ऋग्वेद

ब्रह्मचर्य-आश्रम के पश्चात् ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करते थे। विवाह के समय वर कन्या का हाथ पकडकर कहता था—

गृहणामि ते सौभगत्वाय हस्त मया पत्या जरदष्टिर्यथास ।।

—ऋग्वेद

अर्थात् सौभाग्य को प्राप्त करने के लिए मैं तुम्हारा हाथ पकडता हूँ। मुझ पति को पाकर तुम सुखपूर्वक वृद्धावस्था तक पहुँचना। अत ऋग्वैदिक काल मे दाम्पत्य जीवन की जो सुव्यवस्था थी, उससे गृहस्थ का क्षेत्र अत्यन्त सुखमय था—यह स्पष्ट हो जाता है। विवाह होने पर पत्नी को गृहिणी पद प्राप्त हो जाता था तथा वह ननद, श्वसुर, सास आदि पारिवारिक सम्बन्ध के ऊपर साम्राज्ञी-तुल्य शासन करती थी।

ऋग्वैदिक काल के आर्य पर्यटन मे तो बडा विश्वास रखते थे, परन्तु उत्तर वैदिक युग मे आश्रम के रूप मे वानप्रस्थ का वर्णन नही मिलता।

ऋग्वेद मे दोपो अथवा पापो के परिहार-स्वरूप सन्यास की तो व्यवस्था है, परन्तु सन्यास नामक आश्रम के रूप मे कोई व्यवस्था दिखलाई नही पडती।

यथार्थत ऋग्वेदिक समाज मे कर्मकाण्ड की प्रधानता रही। इसलिए विभिन्न देवताओ की स्तुति करके पुत्र-पौत्रादि की समृद्धि की याचना की प्रधानता रही। इस तथ्य को पुष्ट करने के लिए एक उदाहरण आवश्यक है—

या व शर्म शशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि।
अस्मभ्य तानि मरुतो वि यन्त रयिं नो धत्त वृषण सुवीरम्॥

अर्थात् हे मरुतो! आपके स्वरूप मे जो सुख परिपूर्ण हैं, उन्हे स्तुति करने वाले इस यमराज को प्रदान करो। हे कामनाओ की वर्षा करने वाले मरुद् देवताओ! हमारे लिए उत्तम वीर पुत्र आदि से युक्त धन को दो।

(5) **नारी-सम्मान**—ऋग्वेद मे स्त्रियो के सम्मान की अनेकश चर्चा हुई है। ऋग्वैदिक युग की महिलाएँ स्वेच्छापूर्वक विवाह करती थी—अर्थात् विवाह करने के लिए स्वतन्त्र होती थी। यज्ञ-कार्यों के सम्पादन मे स्त्रियाँ पूर्ण सहयोग करती थी। ऋग्वेद मे उषा, पृथ्वी, वाक्, नदी आदि स्त्रीवाचक तत्त्वो को श्रद्धा मे देखा गया है। ऋग्वेद की उषा एक सुन्दर तथा निर्दोष युवती के रूप मे चित्रित हुई। पृथ्वी को माता का रूप प्रदान किया है। ऋग्वेद मे पत्नी को ही घर कहा गया है। पत्नी ही आनन्द है तथा पत्नी ही गृहस्थी है। स्त्रियो के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक था। स्त्रियाँ रूपवती होने पर अपने पतियो के चित्त को आकर्षित करने के लिए बहुधा दक्षता प्रदर्शित करती थी। परन्तु ऋग्वेद मे बहु विवाह की प्रथा[1] का भी वर्णन है। जहाँ बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित होती है, वहाँ स्त्रियो की स्वतन्त्रता अत्यन्त सीमित हो जाती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राजा महाराजा ही अनेक विवाह करते थे। अतएव स्त्रियो की दयनीय स्थिति की चर्चा ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो मे मिलती है। ऋग्वेद मे कही-कही विधवाओ की कारुणिक दशा का भी चित्रण मिलता है। जिस समाज मे स्त्रियाँ वैधव्य का शिकार बनती हैं, वहाँ स्त्रियो की स्थिति मे भी इसी रूप-रचना का वर्णन कर देना अप्रासगिक न होगा। ऋग्वेद मे हिरण्यगर्भ नामक देवता को सृष्टि से सबसे पहले उत्पन्न होने वाला बताया है। हिरण्यगर्भ देवता सभी प्राणियो का स्वामी कहा गया है। उसने पृथ्वी तथा द्युलोक को धारण कर रखा है। अत ऐसे देवता को छोडकर हमे किस देवता के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए। हिरण्यगर्भ देवता जानवरो को नियन्त्रित करने वाला है। वह श्वास-प्रश्वास को भी नियन्त्रित करता है। हिरण्यगर्भ के शासन को सभी प्राणी मानते हैं। यह देवता जीवन का मूल स्रोत है। हिमालय जैसा विशाल पर्वत अनेक नदियो के कलरव के माध्यम से हिरण्यगर्भ देवता की महिमा का ही गान करता है। चारो दिशाएँ भी इसी देवता की महिमा का गायन करती हैं। इस देवता ने अन्तरिक्ष लोक को ऊपर ही धारण कर रखा है, पृथ्वी को विशेष रूप मे

1 ऋग्वेद, 1/61/11

स्थित कर रखा है तथा स्वर्गलोक को भी इसने धारण कर रखा है। अत अन्तरिक्ष मे जल का निर्माण करने वाला सूर्य देवता हमारी शक्ति का सहज आलम्बन बन जाता है। जिस प्रकार से हिरण्यगर्भ देवता सृष्टि-सचालन के सभी गुणो मे युक्त प्रदर्शित किया गया है, उसी प्रकार वरुण देवता भी सृष्टि के नियामक के रूप मे प्रतिपादित किया गया है। यहाँ दोनो शक्तियो का साम्य एकेश्वरवाद की धारणा को ही पुष्ट करता जान पडता है—

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभित येन नाक ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

—ऋग्वेद, 10/121/5

धीरा त्वस्य महिना जनूपि वि यस्तस्तम्भ रोदसी विदुर्वी ।
प्र नाकमृष्व नुनुदे बृहन्त दिवता नक्षत्र पप्रथच्च भूम ॥

—ऋग्वेद, 7/86/1

प्रस्तुत मन्त्रो मे पहला मन्त्र सूर्य से सम्बद्ध है तथा दूसरा मन्त्र वरुण से। परन्तु दोनो ही देवता सृष्टि के नियामक के रूप मे चित्रित होने से एकेश्वरवाद की धारणा को ही सिद्ध करते हैं। ऋग्वेदकालीन समाज मे ईश्वर को अद्वितीय रूप मे देखने या मापने का परिपक्व विचार बन चुका था। अत इन्द्र, वरुण, हरिण्यगर्भ वरुण, पुरुष आदि नामो से जिन शक्तियो का स्तवन किया है वे शक्तियाँ एक ही तत्वो के विभिन्न रूपो मे प्रदर्शित हैं। इसी धारणा को प्रामाणिक रूप देने के लिए ऋग्वेद मे यहाँ तक कह दिया गया है कि मूलत एक ही शक्ति है, परन्तु उस शक्ति को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नामो से पुकारा जाता है—

इन्द्र मित्र वरुणमग्नि राहुरयो दिव्यस्सुपर्णो गरुत्मान ।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातारिश्वानमाहु ॥ —ऋग्वेद

वस्तुत एकेश्वरवादी विचारधारा वैचारिक परिपक्वता पर बल देती है। हमे सभी प्रकार से गूढ तत्त्व को जानने की चेष्टा करनी चाहिए—वैदिक एकेश्वरवाद का सांस्कृतिक रहस्य यही है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम्' के माध्यम से यही सिद्ध किया गया है कि आत्म-परिष्कार का एकमात्र माध्यम ईश्वर ही है अत उसके गुणो को अपने आप मे धारण करना ही सहज संस्कृति है। इसीलिए उस शक्ति को आनन्द का स्रोत कहा है।

(6) **अद्वैतवाद**—यद्यपि औपनिषदिक काल मे अद्वैतवादी विचारधारा परिपक्व रूप मे सामने आई। परन्तु अद्वैतवाद की छाया ऋग्वैदिक काल मे ही आच्छादित होने लगी थी। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त मे अद्वैतवाद का स्पष्ट रूप दिखलाई पडता है। सूक्त के प्रारम्भ मे ही किसी विलक्षण शक्तियो को अनेक रूपो मे याद किया गया है—

नासादासीन्नो सदासीत्तदानी नासीद् रजो नो व्योम परो यत् ।
किमावरीव कुह कस्य शर्मन्नम्भ किमासीदगहन गभीरम् ॥

—ऋग्वेद, 10/129/1

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ से पूर्व या प्रलयकाल मे न अभावात्मक तत्व था और न ही सभावात्मक तत्व। पृथ्वी से लेकर पाताल पर्यन्त लोक भी नही थे। न अन्तरिक्ष था और न उससे परे का कोई लोक या स्थान ही था। परन्तु वह आवरण-स्वरूप तत्व क्या था ? यह भी एक सांस्कृतिक विचार है। अद्वैतवादी व्यक्ति सदसत् से विलक्षण अनिर्वचनीय तत्व को मानकर अद्वैतवाद को स्थापित करते है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे एक ही शक्ति को अनेक शीशो, अनेक पैरो तथा अनेक आँखो वाला बतलाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि विराट् ब्रह्म जगत्-स्वरूप है। अद्वैतवाद मे ईश्वर के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए पर ब्रह्म' तथा 'अपर ब्रह्म' नामक ईश सज्ञाओ को स्वीकार किया गया है। पर ब्रह्म एक आनन्द-सत्ता है तथा अपर ब्रह्म एक चैतन्य सता है। हमे यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यह समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है। ईश्वर स्वय को जगत् के रूप मे चित्रित करके भी जगत् से कही अधिक व्यापक एव विस्तृत बना रहता है। समस्त सृष्टि उसी के अन्दर घूम रही है तथा स्थित है। जीव उसी ईश्वर का अश है। अत ईश्वर एव जीव मूलत अद्वैत या एक ही तत्व है। इसी अद्वैत तत्व की विचित्र स्थिति मन्त्र मे द्रष्टव्य है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सम्बाया समान विश्व परिषस्वजाते ।
> तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचारुशीति ।।

अर्थात् सुन्दर पखो वाले समान आयु वाले दो पक्षी मित्र समान रूप से विश्व का आलिंगन कर रहे हैं। उनमे से एक स्वादिष्ट विप्पल का आस्वादन कर रहा है। दूसरा भोग न करता हुआ भी आनन्द प्राप्त करता है। प्रस्तुत उदाहरण मे अद्वैतवाद का जागतिक रूप चित्रित है—1 ईश्वर और जीव दोनो ही अनादि तत्व है, 2 ईश्वर का जीव फल भोग के कारण सुखी या दु खी रहता है तथा ईश्वर भोगातीत होने के कारण नित्यानन्दमय कहा गया है, 3 समान धर्मा ईश्वर और जीव अभोग और भोग के कारण ही पृथक् है, 4 फलभोक्ता तथा फल द्रष्टा दोनो ही पक्षियो की एक ही जाति है—पक्षी जाति। अत जातित या मूलत दोनो पक्षी अद्वैत तत्व से ही सम्बद्ध हैं, 5 जब ईश्वर को एक महान् चेतना कह दिया गया तो उस चेतना का पृथक्कीकरण तर्क की कसौटी पर कथमपि सिद्ध नही हो सकता। अत अन्तत अद्वैत तत्व ही शेष रहता है। फिर भी ऋग्वेद अद्वैत तत्व शकराचार्य के अद्वैतवाद की भूमिका मात्र है। ऋग्वैदिक समाज मे अद्वैत की कल्पना ने व्यक्ति और समाज को सुख और शान्ति के प्रतिष्ठान की ओर बढना सिखाया। जब ईश्वर को मुख की दृष्टि से ब्राह्मण, भुजाओ की दृष्टि से क्षत्रिय, जघाओ की दृष्टि से वैश्य तथा पैरो की दृष्टि से शूद्र तक कहा डाला तो इतना निश्चित हैं कि ईश्वर ही मानव समाज के रूप मे अनेक रूपो वाला है। डॉ सर्वपल्लवी राधाकृष्णन् ने अद्वैतवाद की उस विचारधारा को सर्वश्रेष्ठ कहा है, जिसमे यह माना गया है कि ईश्वर अपने आपको ही सृष्टि या ब्रह्माण्ड के रूप मे व्यक्त करता है। वस्तुत यही अद्वैतवाद है। एक ही चेतन और आनन्द-तत्व सभी जीवो मे परिपूर्ण है। उसी

तत्त्व को अद्वैत-तत्त्व कहा। विधवा-विवाह की प्रथा ही सुधार कर सकती थी। श्मशान-भूमि मे शव-दाह के पश्चात् युवती विधवा विवाह को आयोजित किया जाता था। अतएव विधवा-विवाह का प्रचलन स्त्रियो के प्रति उदार दृष्टिकोण का सूचित करता है। केवल इतना ही नही, अपितु विधवा-विवाह के माध्यम मे स्त्रियो को पुरुषो के बराबर अधिकार भी प्रदान किए जाते थे—यह भी स्वत स्पष्ट है। स्त्रियो के अपमान की विशेष चर्चा भी यत्र-तत्र देखने को मिलती है। जुआरी व्यक्ति की पत्नी केश खोलकर रोती थी। अतएव ऋग्वैदिक समाज मे स्त्रियो को अपने पतियो के दुर्व्यसन से अपमानित होना पडता था। परन्तु दुर्व्यसनी व्यक्ति को घर से निकालने की चर्चा भी ऋग्वेद मे मिलती है। समग्र रूप मे यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक समाज मे स्त्री को सम्मान देने के सभी आदर्श विद्यमान थे, परन्तु उस समय आडम्बरो का पूर्ण अभाव था—यह नही कहा जा सकता।

(7) राष्ट्रीयता की भावना—देवताओ के स्वरूप के चित्रण मे यह स्पष्ट वर्णित है कि राष्ट्र की रक्षा के लिए नियमो का अनुपालन आवश्यक था। ऋषि-महर्षि तक नियमो के उल्लघन के भय से भयभीत रहते थे। देव और दानवो के युद्ध की चर्चा अनेक बार हुई है। इन्द्र जैसे पराक्रमी राजा के सरक्षण मे देववश ने पर्याप्त प्रगति की। जब ससार का एकछत्र राजा होता है तो वह पर्वत-तुल्य स्थैर्य को धारण करके समस्त प्रजा वर्ग का पालन बडी तत्परता से करता है। यथा—

इहैवैधि माप च्योष्ठा पर्वत इवाचलि ।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुधारय ॥

—ऋग्वेद, 10/173/2

वैदिक मनीषियो ने सम्पूर्ण विश्व के व्यक्तियो मे एक ही शक्ति को देखने का, जो अभूतपूर्व प्रयास किया, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा को अच्छी तरह जानते तथा मानते थे। यह सब जगत्-व्यापार केवल चैतन्य-तत्त्व का ही विस्तार है। अतीत, वर्तमान तथा भविष्य का समस्त कार्य-व्यापार उसी चैतन्य-तत्त्व की लीला है। अत सभी जीवधारियो मे एक ही चेतना फैली हुई है। यथा—

पुरुष एवेद सर्वं यद्भूत यच्च भव्यम् ।
उतामृत्वस्येशनो यदन्नेनातिरोहति ॥

—ऋग्वेद, 10/90/2

राष्ट्रीयता मे अन्तर्राष्ट्रीयता को समाहित करने की दिव्य कल्पना ऋग्वैदिक काल मे विद्यमान थी, यह सबसे बडा आश्चर्यजनक विषय है। उस समय का विद्वत्वर्ग सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे अद्वैतवाद के आधार पर एकता को देखने का अभिलाषी था। आर्यों ने अपने शत्रु को कुचलने की जो धारणाएँ व्यक्त की, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी विश्व-शांति केवल एक स्वप्न थी। फिर भी देव-दानव, आर्य अनार्य अपने-अपने राष्ट्रो की रक्षा के लिए प्रयत्नशील अवश्य रहते थे।

अन्य नैतिक मूल्य—ऋग्वैदिक सस्कृति मे अनेक नैतिक मूल्यो के दर्शन सम्भव

का कृपामात्र बने रहने की भावना के रूप मे व्यक्त करता है ।[1] पूषा देवता को खोए हुए धन की प्राप्ति मे अत्यन्त सहायक मानकर स्तवन का लक्ष्य बनाया गया है । पूषा सभी प्राणियो का पोषण करने वाला बताया गया है । रात्रि के समय जब कुछ पशु चरागाह से लौटते समय इधर-उधर चले जाने के कारण नही मिल पाते है तो पूषा देवता ही प्रात कालीन वेला मे अपना प्रकाश फैला कर गोपालको को पशुओ को ढूँढने मे सहायता प्रदान करते हैं । ऋग्वैदिक ऋषि भरद्वाज पूषा देवता की स्तुति करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते है कि हमें पूषा या सूर्य देवता की भाँति तेजस्वी बनकर शत्रुओ के हृदयो को विदीर्ण करके सत्य-अहिंसा के मार्ग पर चलकर सदैव शान्ति कामी बने रहे तथा पूषा देवता की अबाध स्तुति करते रहे । यथा—

पूषन्तव व्रते वय न रिष्येम कदाचन ।
स्तोतारस्त इह स्मसि ।। —ऋग्वेद, 5/54/9

ऋग्वेद का बहुदेववाद तत्कालीन धार्मिक भावना को व्यक्त करने मे पर्याप्त सक्षम है । हम पीछे बहुदेववाद के विषय मे कुछ विस्तार से पहले ही चर्चा कर चुके हैं । अत बहुदेववाद भक्ति-भावना को विशद् रूप देने मे अवश्य सहायक हुआ है ।

2 **यज्ञ एव स्तुति**—ऋग्वेद मे 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग अनेक रूपो मे हुआ है । सामान्यत शुल्क समिधा मे अग्नि प्रज्वलित करके जो हवन किया जाता था, उसे ही यज्ञ कहा जाता था । यज्ञ-विधान भी स्तुति-युक्त था । जिस देवता के नाम का यज्ञ होता था, उसकी स्तुति भी मन्त्रो मे निहित रहती थी । इन्द्र और वरुण को रण यज्ञ के सन्दर्भ मे प्रशस्ति गान के साथ सम्मान दिया गया है ।[2] सूर्यवशी राजा सुदास के पुरोहित वशिष्ठ ने अनेक बार दासो और वृत्रो का वध करने के लिए इन्द्र और वरुण का स्तवन किया है । उन्होने राजा सुदास की रक्षा भी अभियाचित की है । युद्ध को स्वर्ग के तुल्य बतलाकर इन्द्र और वरुण को राजा सुदास के पक्ष मे युद्ध करने के लिए प्रेरित एव अभिशसित किया है ।[3] जब दासो एव वृत्रो ने सुदास की सेना को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया तो वशिष्ठ ने इन्द्र और वरुण की शत्रुओ से भिडती हुई प्रबल सेनाओ के रण यज्ञ का अनेकश वर्णन किया । जब वशिष्ठ की रक्षा खतरे मे पडी तो उस भीरु पण्डित ने अपनी रक्षा के लिए इन्द्र और वरुण देवताओ की प्रशसा मे अपने भाव कोश एव शब्द कोश को मन्त्रो के रूप मे प्रस्तुत कर दिया ।[4]

हिरण्यगर्भ देवता को अनेक प्रकार की स्तुति के साथ यज्ञ द्वारा पूजा गया है । जिस हिरण्यगर्भ देवता ने ससार की रक्षा करने के लिए द्युलोक तथा पृथ्वी लोक को धारण कर रखा है, उस देवता को हम आहुतियो के साथ पूजते हैं ।[5] चैतन्य

1 ऋग्वेद 3/59/1–5
2 वही, 7/83/1
3 वही, 7/83/2
4 वही, 7/83/3
5 वही, 10/121/5

है। महर्षि वशिष्ठ ने वरुण देवता की स्तुति करते हुए यहाँ तक कह डाला है कि यदि मैंने अपने स्वामी के प्रति किसी प्रकार से कृतघ्नता प्रदर्शित की है तो मैं उसका प्रायश्चित करने के लिए तैयार हूँ। 'अक्ष सूक्त' मे जूआ खेलने की मनोवृत्ति की कटु निन्दा की गई है।[1] निष्कर्षत यही कहना ठीक है कि ऋग्वैदिक युग मे धर्म को आधार बनाकर नैतिकता को महत्व प्रदान किया जाता था।

ऋग्वेदकालीन धार्मिक जीवन

ऋग्वेद ऋचाओ का समूह है। 'ऋचा' का अर्थ 'स्मृति-मन्त्र' है। अत ऋग्वेद एक धर्म ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे तद्युगीन धार्मिक जीवन को अनेक रूपो मे चित्रित किया गया है। धार्मिक जीवन का क्षेत्र सभ्यता और सस्कृति के समन्वित रूपो मे माना जाता है। हम यह पहले ही कह चुके है कि आर्यो और अनार्यो के सम्मिलन के फलस्वरूप ऋग्वैदिक धर्म की स्थापना हुई थी। ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन को समझने के लिए मुख्यत निम्नलिखित बिन्दुओ को आधार बनाया जा सकता है—1 देव-स्तवन, 2 यज्ञ एव स्तुति, 3 ईश्वर वादिता, 4. समन्वय, 5. शिक्षा का महत्व, 6 गुरु का महत्व, 7 सदाचार का महत्व, 8 कर्मपरायणता, 9 परोपकार की भावना तथा 10 आदर्शता की प्रधानता।

1 देव-स्तवन—ऋग्वेद मे इन्द्र, वरुण, विष्णु, रुद्र, अग्नि, मरुत, पर्जन्य, अश्विनो, पूषा आदि देवताओ की अनेकधा स्तुति मिलती है। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद को स्तवन की प्रधानता से पूर्ण वेद बताया है।[2] इन्द्र को एक वीर देवता के रूप मे याद करके वैदिक धर्म की रक्षा का रहस्य प्रतिपादित किया गया है। अपने कल्याण के लिए ऋषिजन अनेक देवताओ का स्तवन विभिन्न सन्दर्भो के करते पाए जाते हैं। स्व-कल्याणार्थ अग्नि देवता की स्तुति की गई है। मित्र और वरुण देवताओ को भी निज कल्याण हेतु याद किया गया है। ससार के विशिष्ट चेतन प्राणियो को विश्राम देने वाली रात्रि को पुन-पुन याद किया गया है। आत्म-रक्षा के लिए सविता देवता का स्तवन किया गया है।[3] मित्र देवता सूर्य के रूप मे प्रकाशित होता हुआ कृषको तथा मजदूरो को कार्य मे व्यस्त कर देता है। मित्र देवता के प्रकाश को पाकर कार्यरत व्यक्तियो के हृदय स्वाभाविक श्रद्धा मे परिपूर्ण हो जाते हैं। मित्र देव की स्वाभाविक सेवा सभी व्यक्तियो को अपने वश मे कर लेती है। इसी रहस्य को ऋग्वैदिक ऋषि विश्वामित्र पकडते हैं। उनका कवि हृदय मित्र देवता के स्तवनार्थ काव्य-रचना मे व्यस्त हो जाता है। सूर्य ने हमे प्रकाश और गर्मी को दान मे दिया है, अतएव हम भी उसके लिए कुछ प्रतिदान करें—यही भावना यज्ञ मे घृत की आहुतियो के रूप मे फलीभूत हुई है।[4] सूर्य या मित्र देवता के सरक्षण को पाकर वैदिक ऋषि तत्कालीन समाज के धर्म को सदा देव या देवताओ

1 ऋग्वेद, 10/34/1-4
2 दयानन्द ऋग्वेद भाष्य की भूमिका
3 ऋग्वेद, 1/35/1
4 वही, 3/59/2

का कृपामात्र बने रहने की भावना के रूप मे व्यक्त करता है ।[1] पूषा देवता को खोए हुए धन की प्राप्ति मे अत्यन्त सहायक मानकर स्तवन का लक्ष्य बनाया गया है । पूषा सभी प्राणियो का पोषण करने वाला बताया गया है । रात्रि के समय जब कुछ पशु चरागाह से लौटते समय इधर-उधर चले जाने के कारण नही मिल पाते है तो पूषा देवता ही प्रात कालीन वेला मे अपना प्रकाश फैला कर गोपालको को पशुओ को ढूँढने मे सहायता प्रदान करते हैं । ऋग्वैदिक ऋषि भरद्वाज पूषा देवता की स्तुति करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते है कि हमे पूषा या सूर्य देवता की भाँति तेजस्वी बनकर शत्रुओ के हृदयो को विदीर्ण करके सत्य-अहिंसा के मार्ग पर चलकर सदैव शान्ति कामी बने रहे तथा पूषा देवता की अबाध स्तुति करते रहे । यथा—

पूषन्तव व्रते वय न रिष्येम कदाचन ।
स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ —ऋग्वेद, 5/54/9

ऋग्वेद का बहुदेववाद तत्कालीन धार्मिक भावना को व्यक्त करने मे पर्याप्त सक्षम है । हम पीछे बहुदेववाद के विषय मे कुछ विस्तार से पहले ही चर्चा कर चुके हैं । अत बहुदेववाद भक्ति-भावना को विशद रूप देने मे अवश्य सहायक हुआ है ।

2 यज्ञ एव स्तुति—ऋग्वेद मे 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग अनेक रूपो मे हुआ है । सामान्यत शुष्क समिधा मे अग्नि प्रज्वलित करके जो हवन किया जाता था, उसे ही यज्ञ कहा जाता था । यज्ञ-विधान भी स्तुति-युक्त था । जिस देवता के नाम का यज्ञ होता था, उसकी स्तुति भी मन्त्रो मे निहित रहती थी । इन्द्र और वरुण को रण यज्ञ के सन्दर्भ मे प्रशस्ति गान के साथ सम्मान दिया गया है ।[2] सूर्यवंशी राजा सुदास के पुरोहित वशिष्ठ ने अनेक बार दासो और वृत्रो का वध करने के लिए इन्द्र और वरुण का स्तवन किया है । उन्होने राजा सुदास की रक्षा भी अभियाचित की है । युद्ध को स्वर्ग के तुल्य बतलाकर इन्द्र और वरुण को राजा सुदास के पक्ष मे युद्ध करने के लिए प्रेरित एव अभिशसित किया है ।[3] जब दासो एव वृत्रो ने सुदास की सेना को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया तो वशिष्ठ ने इन्द्र और वरुण की शत्रुओ से भिडती हुई प्रबल सेनाओ के रण यज्ञ का अनेकश वर्णन किया । जब वशिष्ठ की रक्षा खतरे मे पडी तो उस भीरु पण्डित ने अपनी रक्षा के लिए इन्द्र और वरुण देवताओ की प्रशसा मे अपने भाव कोश एव शब्द कोश को मन्त्रो के रूप मे प्रस्तुत कर दिया ।[4]

हिरण्यगर्भ देवता को अनेक प्रकार की स्तुति के साथ यज्ञ द्वारा पूजा गया है । जिस हिरण्यगर्भ देवता ने ससार की रक्षा करने के लिए द्युलोक तथा पृथ्वी लोक को धारण कर रखा है, उस देवता को हम आहुतियो के साथ पूजते हैं ।[5] चैतन्य

1 ऋग्वेद 3/59/1-5
2 वही, 7/83/1
3 वही, 7/83/2
4 वही, 7/83/3
5 वही, 10/121/5

शक्ति-स्वरूप 'पुरुष' को भी यज्ञ के द्वारा पूजा गया है। पुरुष की पूजा के रूप मे जो विधान दिया गया है उससे यह स्पष्ट होता है, कि ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन मे यज्ञ का स्वरूप मानस-यज्ञ[1] तक भी पहुँच गया था। यदि पुरुष सूक्त के यज्ञ का अनुशीलन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद धार्मिक जीवन मे किसी प्रकार के याज्ञिक आडम्बर के लिए कोई स्थान न था। ऋग्वैदिक ऋषियो ने इन्द्र और वरुण जैसे देवताओ को पिता के रूप मे देखकर देवताओ के प्रति अपनी अगाध निष्ठा को व्यक्त कर दिया है। कभी कभी तो उस समय के यज्ञकर्त्ता अपने इष्टदेव को सोमरस के अर्पण द्वारा प्रसन्न करना चाहते है और कभी वे अपने प्रिय देवता को ही आहुतियाँ समर्पित करना चाहते है। अश्वमेध यज्ञ के प्रसग मे हम यह अवश्य कह सकते हैं कि ऋग्वैदिक काल मे वलि-प्रथा को भी किसी न किसी रूप मे धार्मिक क्षेत्र मे स्थान मिला हुआ था। इस सन्दर्भ को पुष्ट करने के लिए यही मनोवैज्ञानिक तथ्य पर्याप्त होगा कि उस समाज के व्यक्ति देवताओ से वडा प्रेम रखते थे तथा साथ ही यह भी मानते थे कि जो देवताओ को प्यार करते हैं, देवता उन्हे प्यार करते है।[1] अत यह स्मृति यदि वलि को भी पत्र, पुष्प, फलादि से आगे चलकर महत्त्व देने लगी हो तो कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण मे 'अश्व' का अर्थ 'राष्ट्र' ही कर दिया गया है, परन्तु पौराणिक कथाओ के आधार पर यह तथ्य निर्विवाद हो जाता है कि ऋग्वैदिक धर्म मे अश्वमेध नामक यज्ञ को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ था।

यज्ञ और स्तुति के सन्दर्भो को देखने से हम यज्ञो के रहस्य तक भी पहुँच सकते है। देव और आर्य दोनो ही मित्रो के रूप मे रहे थे। देव अधिक समर्थ थे, अत आर्य देवो से यथासमय सहायता प्राप्त करने के लिए देवो का अनेक प्रकार से पूजन किया करते थे। वशिष्ठ और वरुणादि का सम्बन्ध इसी तथ्य का द्योतक है।[2] देव सम्मान की एक विशेष विधि के रूप मे यज्ञ का प्रवर्तन हुआ होगा तथा कालान्तर मे उसे प्रकृतिक शक्तियो से जोडा गया। ऐसा होने पर भी वेद के मन्त्र यह स्पष्ट करते हैं कि ऋग्वैदिक समाज मे यज्ञ का श्रीगणेश वीर पूजा के रूप मे ही हुआ। रुद्र देवता की स्तुति करते समय भी यज्ञ की सम्पादना हुई और उसमे पुन यही कहा कि हम परम प्रतापशाली रुद्र देवता को अन्य छोटे-छोटे देवताओ के साथ बुलाने से भयभीत होते थे। यदि वे छोटे-छोटे देवो को बुलाना चाहते तथा उनका सम्मान करना चाहते थे तो रुद्र देवता को उस समय बुलाकर उसके कोप का भाजन नही बनना चाहते थे। यदि रुद्र देवता की स्तुति अन्य देवताओ की स्तुतियो से जोडी जाती तो भी ऋग्वैदिक ऋषि रुद्र के कोप भाजन बन सकते थे। इसीलिए रुद्र देवता को प्रसन्न करने के लिए सभी नियमो को ध्यान मे रखकर रुद्र का आह्वान

1 ऋग्वेद, 10/90/9
2 वही, 4/23/5 6
3 वही, 7/83/2

किया गया है ।[1] अत इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन मे यज्ञ वातावरण की शुद्धि के लिए ही न था, अपितु उसके माध्यम से विभिन्न प्रभुता-सम्पन्न लोगो को भी अपने पक्ष मे किया जाता है । इस आधार पर यज्ञ आदर करने का एक विधान था, जो आगे चलकर अनेक रूपो मे प्रचलित हुआ ।

3. ईश्वरवादिता—ऋग्वैदिकालीन समाज मे ईश्वरवादिता का बोलबाला था । उस समय के समाज मे ईश्वर के विराट् रूप की भी परिकल्पना हो चुकी थी। ईश्वर को अनेक सिरो वाला, और अनेक पैरो वाला माना जाता था । ईश्वर ने सम्पूर्ण भूमि को अपने छोटे से अश मे धारण कर रखा है, यह मान्यता भी धर्म का अग बन चुकी थी ।[2] जो भूतकाल मे हुआ है, जो इस समय है तथा जो भविष्य मे उत्पन्न होगा, उस सबको ईश्वर के रूप मे देखने की भी विचित्र कल्पनाओ ने धर्म को आच्छादित कर दिया था ।[3] ईश्वर के एक पैर या एक भाग के रूप मे सम्पूर्ण पृथ्वी को मानकर[4] धर्म के क्षेत्र मे पवित्र भावना का प्रवेश होने के हाथ-साथ धर्म की ओर अग्रसर होने की धारणा भी बन चुकी थी । जिस समय प्रमाण-प्रसग की छेडछाड होती तो वेद-वाक्य को शब्द प्रमाण के रूप मे सिद्ध करके धर्म को ईश्वरकृत सिद्ध कर दिया जाता था । जब धार्मिक जीवन मे ईश्वरवाद का ठप्पा लगाकर चार वर्णो—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की व्यवस्था कर दी गई । ईश्वर को सूर्य या हिरण्यदेवता के रूप मे भी देखा गया । ईश्वर हमारे प्राणो का सचालन करने वाला है । उस प्राण-स्वरूप ईश्वर की कृपा के बिना कोई पलक तक नही मार सकता ।[5] ईश्वर के सर्वशक्तिमान मानने के कारण उसे सभी के ऊपर एक अनुपम राजा बताया गया । उसी ईश्वर ने मनुष्य और जानवरो की सृष्टि की । ऐसे ईश्वर की ओर प्रजापति तक कृपा प्राप्त करने के लिए देखा करते हैं ।[6] प्राय सभी देवताओ को ईश्वर रूप मे देखने का जो प्रयास हुआ उससे धर्म के क्षेत्र मे एकेश्वरवाद को भी स्थान मिला । उस ईश्वर की पूजा के लिए यज्ञ को प्रधानता दी गई । अग्नि को ईश्वर या देवताओ का पुरोहित माना जाने लगा तथा उसी को साक्षी बनाकर अनेक काय सम्पादित होने लगे । सृष्टि का निर्माण किसने किया ? सृष्टि-रचना से पूव कौन था ? जैसे प्रश्नो को लेकर सबका एकमात्र समाधान ईश्वर के रूप-कार्य मे ही खोजा गया । ईश्वर का मानवीकरण करके उसे दिव्य रूपो मे देखने की धार्मिक परम्परा भी ऋग्वेद मे दर्शनीय है ।

जब ऋग्वैदिक ऋषि ईश्वर को सर्वत्र मानने लगे तो उन्होने उसके लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने मे भी सकोच नही किया । फल यही हुआ कि उस

1 ऋग्वेद, 2/33/4
2 वही, 10/90/1
3 वही, 10/99/2
4 वही, 10/90/2
5 वही, 10/121/3
6 वही, 10/121/8

समय के समाज मे यज्ञ के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने के अनेक उपाय किए जाने लगे। उसे स्तुतियो से प्रसन्न करने की कल्पना करके, उससे अपने पुत्र-पौत्रादि की कुशल क्षेम की याचना करके पर्याप्त धन प्राप्त करने की इच्छाएँ व्यक्त की गईं।

4 समन्वय—ऋग्वैदिक युग मे आर्यो और अनार्यो के समन्वय की स्थिति परिपक्वता को प्राप्त हो गई थी। देवो और आर्यो मे भी विशिष्ट समन्वय था। ऋग्वेद मे चार वर्णो की व्यवस्था है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यो ने ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णो के अतिरिक्त अन्य जातियो मे स्वय मे प्रवश दे दिया था। आर्यो मे प्रवेश पाने वाली जातियो को 'पणि' कहा गया। कालान्तर मे व्यापार परायण इस वर्ग को वैश्य नाम दे दिया गया। आर्य दास और असुरो से भी लडे थे, ऐसे अनेक सकत ऋग्वेद मे भरे पडे हैं। ऐसा लगता है कि दास लोग भी लडाका थे तथा आर्यो ने खदेडने का प्रयास किया। जब आर्य अपने अभियान मे सफल हुए तो उन्होने दासो को अपनी सेवा करने के लिए विवश कर दिया। जब ये दास शोचनीय स्थिति को प्राप्त हो गए तो उन्हे ही शूद्र कह दिया गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समन्वय केवल जातियो का ही नही, अपितु सस्कृति का भी हुआ। भोग के प्रशसक आर्य द्रविडो से प्रभावित होकर निवृत्ति मार्ग के भी अनुयायी वन गए।

ऋग्वैदिक युग मे स्त्री-पुरुष का भी समन्वय दृष्टिगोचर होता है। स्त्रियो को गृहस्वामिनि का रूप देकर दाम्पत्य जीवन को सरस और सरल बनाने का अच्छा प्रयास किया गया। वर्ण व्यवस्था स्थापित कर देने पर भी पचम वर्ण की आवश्यकता हुई तो अन्तज्यो को उसमे स्थान देकर सभी को वैदिक धर्म का अनुयायी बनने की प्रेरणा प्रदान की गई। अत वैदिक युग का धार्मिक जीवन समन्वय को लेकर विकसिन हुआ।

5 शिक्षा का महत्त्व—ऋग्वेद की शाखाओ का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तद्युग मे शाखायन, भरद्वाज, वशिष्ठ, वाष्कलि आदि की शिष्य-परम्परा मे शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ। गृत्समद, विश्वामित्र जैसे ऋपियो ने शिक्षा का क्षेत्र प्रभावशाली बना रखा था। विश्वामित्र वैदिक पाठ के प्रकाण्ड पण्डित माने जाते थे।[1] लेखन की व्यवस्था न होने के कारण वेदमन्त्रो को कठस्थ करना पडता था। विद्यार्थी मन्त्रो को याद करने के लिए धीरे-धीरे बोलते थे तो ऐसा प्रतीत होता कि मानो दर्दुर ही टरटरा रहे है।[2] शिक्षा को धर्म की स्थापना का प्रधान तत्त्व माना था। सम्पूर्ण धर्मचर्या का आधार शिक्षा ही थी। ब्राह्मण अध्यापक के रूप मे कार्य करते थे। वे समीपवर्ती लडके-लडकियो को शिक्षित किया करते थे। ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रम की शिक्षा को महत्त्व दिया जाना था। ऋग्वेद मे ऐसे अनेक सकेत मिलते हैं कि जिनके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर

1 ऋग्वेद, 3/53/15
2 वही, 7/103/5

सरलतापूर्वक पहुँच सकते है कि ऋग्वैदिक काल की शिक्षा मे धर्म की प्रधानता थी। राजा अपने धर्म की रक्षा करना अपना परम पुनीत कार्य समझता था । प्रजा भी राजा की वीरता पर विश्वास करके अपनी शत्रु-जातियो को आतकित करने के लिए राजा का यशोगान किया करती थी ।[1] केवल इतना ही नही, उस समय शिक्षा-जगत मे प्राकृतिक शक्तियो से प्रेरणा प्राप्त करने का प्रचलन भी था । सूर्य को समस्त जगत के भाई या बन्धु के रूप मे देखा जाने लगा था ।[2] अत ऋग्वैदिक काल की शिक्षा मे नैतिकता की प्रधानता होने के कारण उस युग मे धार्मिक वृत्ति की प्रधानता भी हो गई थी ।

6 गुरु का महत्त्व—ऋग्वेद मे गृत्समद ऋषि ने शकर या रुद्र का स्तवन करते समय गुरु की महिमा को स्पष्ट किया है । गुरु के पास प्रकाश-स्वरूप सैन्य है, जिसके माध्यम से वह तिमिर रूपी शत्रु सैन्य का विनाश किया करता है। गुरु द्वारा प्रदर्शित पथ पर जो चलते हैं, वे आनन्द के भागी बनते है । गुरु ने ससार को जरा-मरण पर विजय पाने का मार्ग भी दिखाया है । गुरु का मार्ग ज्ञान का मार्ग है । जिस प्रकार से बनचर सिंह के भीषण रूप और प्रचण्ड प्रताप से भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार जनसाधारण ज्ञानमार्ग पर चलने से कतराता है ।[3] रुद्र को गुरु के रूप मे स्वीकार करने के कारण, उन्हें तेज की मूर्ति भी बतलाया गया है । ऋग्वैदिक गुरु मे शत्रुओ को अभयविधि नष्ट करने की शक्ति विद्यमान है ।[4] गुरु दानवो को या आसुरी प्रकृति के व्यक्तियो को अपने विशाल तीक्ष्ण धनुष-बाणो को धारण करके नष्ट करता है तथा वासनाओ को जीतने के लिए तेज और ज्ञान को प्रदान करने वाले योगमार्ग का प्रयोग करता है । ऋग्वैदिक गुरु अश्लील या निम्नस्तरीय स्तुतियो का महत्त्व देने वाला नही है ।[5] चाटुकारिता का व्यवहार करने वालो को वह दण्ड भी देता है । उस समय के गुरु मे अनुशासन स्थापित करने की इतनी शक्ति भी विद्यमान है कि उद्दण्ड शिष्य या विद्यार्थी गुरु के रौद्र रूप से कम्पायमान रहते है । ऋग्वैदिक काल का गुरु ज्ञान की दृष्टि से सर्वथा पूज्य है । गुरुजनो द्वारा अनुसन्धानित औषधियो के प्रयोग द्वारा नीरोग रहने वाले व्यक्ति सौ वर्ष तक आनन्दपूर्वक जीवित रहने की कामना करते हैं ।[6] गुरु को पापो का परिहार करने वाला भी बताया गया है—

> पर्षिण' पारमहस स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि ।
>
> —ऋग्वेद, 2/33/3

1 ऋग्वेद 2/12/4
2 वही 1/154/5
3 वही, 2/33/11
4 वही, 2/33/10
5 वही 2/33/4
6 वही 3/33/2

समय के समाज मे यज्ञ के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने के अनेक उपाय किए जाने लगे। उसे स्तुतियो से प्रसन्न करने की कल्पना करके, उससे अपने पुत्र-पौत्रादि की कुशल क्षेम की याचना करके पर्याप्त धन प्राप्त करने की इच्छाएँ व्यक्त की गई।

4 समन्वय—ऋग्वैदिक युग मे आर्यो और अनार्यो के समन्वय की स्थिति परिपक्वता को प्राप्त हो गई थी। देवो और आर्यो मे भी विशिष्ट समन्वय था। ऋग्वेद मे चार वर्णो की व्यवस्था है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यो ने ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के अतिरिक्त अन्य जातियो मे स्वय मे प्रवश दे दिया था। आर्यो मे प्रवेश पाने वाली जातियो को 'पणि' कहा गया। कालान्तर मे व्यापार परायण इस वर्ग को वैश्य नाम दे दिया गया। आर्य दास और असुरो से भी लडे थे, ऐसे अनेक सकत ऋग्वेद मे भरे पडे हैं। ऐसा लगता है कि दास लोग भी लडाका थे तथा आर्यो ने खदेडने का प्रयास किया। जब आर्य अपने अभियान मे सफल हुए तो उन्होने दासो को अपनी सेवा करने के लिए विवश कर दिया। जब ये दास शोचनीय स्थिति को प्राप्त हो गए तो उन्हे ही शूद्र कह दिया गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समन्वय केवल जातियो का ही नही, अपितु सस्कृति का भी हुआ। भोग के प्रशसक आर्य द्रविडो से प्रभावित होकर निवृत्ति मार्ग के भी अनुयायी वन गए।

ऋग्वैदिक युग मे स्त्री-पुरुष का भी समन्वय दृष्टिगोचर होता है। स्त्रियो को गृहस्वामिनि का रूप देकर दाम्पत्य जीवन को सरस और सरल बनाने का अच्छा प्रयास किया गया। वर्ण व्यवस्था स्थापित कर देने पर भी पचम वर्ण की आवश्यकता हुई तो अन्तज्यो को उसमे स्थान देकर सभी को वैदिक धर्म का अनुयायी बनने की प्रेरणा प्रदान की गई। अत वैदिक युग का धार्मिक जीवन समन्वय को लेकर विकसित हुआ।

5 शिक्षा का महत्त्व—ऋग्वेद की शाखाओ का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तद्युग मे शाखायन, भरद्वाज, वशिष्ठ, वाष्कलि आदि की शिष्य-परम्परा मे शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ। गृत्समद, विश्वामित्र जैसे ऋषियो ने शिक्षा का क्षेत्र प्रभावशाली बना रखा था। विश्वामित्र वैदिक पाठ के प्रकाण्ड पण्डित माने जाते थे।[1] लेखन की व्यवस्था न होने के कारण वेदमन्त्रो को कठस्थ करना पडता था। विद्यार्थी मन्त्रो को याद करने के लिए धीरे-धीरे बोलते थे तो ऐसा प्रतीत होता कि मानो दुर्दुर ही टरटरा रहे है।[2] शिक्षा को धर्म की स्थापना का प्रधान तत्त्व माना था। सम्पूर्ण धर्मचर्या का आधार शिक्षा ही थी। ब्राह्मण अध्यापक के रूप मे कार्य करते थे। वे समीपवर्ती लडके-लडकियो को शिक्षित किया करते थे। ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रम की शिक्षा को महत्त्व दिया जाता था। ऋग्वेद मे ऐसे अनेक सकेत मिलते हैं कि जिनके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर

1 ऋग्वेद, 3/53/15
2 वही, 7/103/5

सरलतापूर्वक पहुँच सकते है कि ऋग्वैदिक काल की शिक्षा मे धर्म की प्रधानता थी। राजा अपने धर्म की रक्षा करना अपना परम पुनीत कार्य समझता था। प्रजा भी राजा की वीरता पर विश्वास करके अपनी शत्रु-जातियो को आतकित करने के लिए राजा का यशोगान किया करती थी।[1] केवल इतना ही नही, उस समय शिक्षा-जगत मे प्राकृतिक शक्तियो से प्रेरणा प्राप्त करने का प्रचलन भी था। सूर्य को समस्त जगत के भाई या बन्धु के रूप मे देखा जाने लगा था।[2] अत ऋग्वैदिक काल की शिक्षा मे नैतिकता की प्रधानता होने के कारण उस युग मे धार्मिक वृत्ति की प्रधानता भी हो गई थी।

6 गुरु का महत्त्व—ऋग्वेद मे गृत्समद ऋषि ने शकर या रुद्र का स्तवन करते समय गुरु की महिमा को स्पष्ट किया है। गुरु के पास प्रकाश-स्वरूप सैन्य है, जिसके माध्यम से वह तिमिर रूपी शत्रु सैन्य का विनाश किया करता है। गुरु द्वारा प्रदर्शित पथ पर जो चलते हैं, वे आनन्द के भागी बनते हैं। गुरु ने ससार को जरा-मरण पर विजय पाने का मार्ग भी दिखाया है। गुरु का मार्ग ज्ञान का मार्ग है। जिस प्रकार से बनचर सिंह के भीषण रूप और प्रचण्ड प्रताप से भयभीत हो जाते हैं, उसी प्रकार जनसाधारण ज्ञानमार्ग पर चलने से कतराता है।[3] रुद्र को गुरु के रूप मे स्वीकार करने के कारण, उन्हें तेज की मूर्ति भी बतलाया गया है। ऋग्वैदिक गुरु मे शत्रुओ को अभयविधि नष्ट करने की शक्ति विद्यमान है।[4] गुरु दानवो को या आसुरी प्रकृति के व्यक्तियो को अपने विशाल तीक्ष्ण धनुष-बाणो को धारण करके नष्ट करता है तथा वासनाओ को जीतने के लिए तेज और ज्ञान को प्रदान करने वाले योगमार्ग का प्रयोग करता है। ऋग्वैदिक गुरु अश्लील या निम्नस्तरीय स्तुतियो का महत्त्व देने वाला नही है।[5] चाटुकारिता का व्यवहार करने वालो को वह दण्ड भी देता है। उस समय के गुरु मे अनुशासन स्थापित करने की इतनी शक्ति भी विद्यमान है कि उद्दण्ड शिष्य या विद्यार्थी गुरु के रौद्र रूप से कम्पायमान रहते है। ऋग्वैदिक काल का गुरु ज्ञान की दृष्टि से सर्वथा पूज्य है। गुरुजनो द्वारा अनुसन्धानित औषधियो के प्रयोग द्वारा नीरोग रहने वाले व्यक्ति सौ वर्ष तक आनन्दपूर्वक जीवित रहने की कामना करते हैं।[6] गुरु को पापो का परिहार करने वाला भी बताया गया है—

पर्षिण' पारमहस स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि।

—ऋग्वेद, 2/33/3

1 ऋग्वेद 2/12/4
2 वही, 1/154/5
3 वही, 2/33/11
4 वही, 2/33/10
5 वही 2/33/4
6 वही, 3/33/2

समय के समाज मे यज्ञ के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने के अनेक उपाय किए जाने लगे। उसे स्तुतियो से प्रसन्न करने की कल्पना करके, उससे अपने पुत्र-पौत्रादि की कुशल क्षेम की याचना करके पर्याप्त धन प्राप्त करने की इच्छाएँ व्यक्त की गईं।

4 समन्वय—ऋग्वैदिक युग मे आर्यो और अनार्यो के समन्वय की स्थिति परिपक्वता को प्राप्त हो गई थी। देवो और आर्यो मे भी विशिष्ट समन्वय था। ऋग्वेद मे चार वर्णों की व्यवस्था है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यो ने ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के अतिरिक्त अन्य जातियो मे स्वय मे प्रवश दे दिया था। आर्यों मे प्रवेश पाने वाली जातियो को 'पणि' कहा गया। कालान्तर मे व्यापार परायण इस वर्ग को वैश्य नाम दे दिया गया। आर्य दास और असुरो से भी लडे थे, ऐसे अनेक सक्त ऋग्वेद मे भरे पडे हैं। ऐसा लगता है कि दास लोग भी लडाका थे तथा आर्यो ने खदेडने का प्रयास किया। जब आर्य अपने अभियान मे सफल हुए तो उन्होने दासो को अपनी सेवा करने के लिए विवश कर दिया। जब ये दास शोचनीय स्थिति को प्राप्त हो गए तो उन्हे ही शूद्र कह दिया गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समन्वय केवल जातियो का ही नही, अपितु सस्कृति का भी हुआ। भोग के प्रशसक आर्य द्रविडो से प्रभावित होकर निवृत्ति मार्ग के भी अनुयायी बन गए।

ऋग्वैदिक युग मे स्त्री-पुरुष का भी समन्वय दृष्टिगोचर होता है। स्त्रियो को गृहस्वामिनि का रूप देकर दाम्पत्य जीवन को सरस और सरल बनाने का अच्छा प्रयास किया गया। वर्ण व्यवस्था स्थापित कर देने पर भी पचम वर्ण की आवश्यकता हुई तो अन्तज्यो को उसमे स्थान देकर सभी को वैदिक धर्म का अनुयायी बनने की प्रेरणा प्रदान की गई। अत वैदिक युग का धार्मिक जीवन समन्वय को लेकर विकसित हुआ।

5 शिक्षा का महत्त्व—ऋग्वेद की शाखाओ का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तद्युग मे शाखायन, भरद्वाज, वशिष्ठ, बाष्कलि आदि की शिष्य-परम्परा मे शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ। गृत्समद, विश्वामित्र जैसे ऋषियो ने शिक्षा का क्षेत्र प्रभावशाली बना रखा था। विश्वामित्र वैदिक पाठ के प्रकाण्ड पण्डित माने जाते थे।[1] लेखन की व्यवस्था न होने के कारण वेदमन्त्रो को कठस्थ करना पडता था। विद्यार्थी मन्त्रो को याद करने के लिए धीरे-धीरे बोलते थे तो ऐसा प्रतीत होता कि मानो दर्दुर ही टरटरा रहे है।[2] शिक्षा को धर्म की स्थापना का प्रधान तत्त्व माना था। सम्पूर्ण धर्मचर्या का आधार शिक्षा ही थी। ब्राह्मण अध्यापक के रूप मे कार्य करते थे। वे समीपवर्ती लडके-लडकियो को शिक्षित किया करते थे। ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रम की शिक्षा को महत्त्व दिया जाता था। ऋग्वेद मे ऐसे अनेक सकेत मिलते हैं कि जिनके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर

1 ऋग्वेद, 3/53/15
2 वही, 7/103/5

यह है कि तत्कालीन व्यक्ति स्वय को पुष्ट बनाते हुए अपने पुत्रो एव पौत्रो को भी पुष्ट रूप मे देखने के अभिलाषी रहते थे।[1] प्राकृतिक शक्तियो के प्रति उन लोगो की ऐसी निष्ठा उनकी कर्मपरायणता को सूचित करती है। उस समय का व्यक्ति तप को अत्यधिक महत्त्व देता था। तप के प्रभाव से ही ऋषियो ने वैदिक साहित्य का सृजन किया। ईश्वर ने तप के द्वारा समस्त ससार का सर्जन किया। अत तप ही जीवन का आधार है, यही धारणा सर्वमान्य हो चली थी। वैदिक युग का प्रवृत्ति मार्ग[2] कर्मपरायणता का ज्वलन्त उदाहरण है। इन्द्र को एक महत्त्वाकांक्षी राजा के रूप मे चित्रित करके प्रवृत्ति मार्ग का ही पोषण किया गया है। जब असुरो ने ससार मे उत्पात मचा रखा था तथा समूचा वातावरण भय के झकोरो से कांप रहा था, उस समय प्रवृत्तिमार्गी इन्द्र ने अपना पुरुषार्थ प्रदर्शित करके वातावरण को शान्त कर दिया। जो विपत्तियाँ पर्वत-तुल्य दिखलाई पड रही थी, उनको उद्यमी ने साधारण बना दिया। इन्द्र के प्रताप के फलस्वरूप चहुँमुखी प्रगति हुई। यथा—

य पृथिवी व्यथमानामदृन्हद य पर्वतान्प्रकुपितॉ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्ष विममे वरीयो या द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्र ॥

—ऋग्वेद, 2/12/2

ऋग्वैदिक समाज मे कर्मयोग-सयुक्त धार्मिक जीवन का अद्वितीय महत्त्व था। शत्रुओ का दलन करने के लिए प्रयास करना तथा सतान को उन्नत बनाने के लिए समूचे वातावरण को शान्तिमय बनाने के प्रयास यही सिद्ध करते हैं कि उस समय कर्मपरायणता की प्रधानता थी।

9 **परोपकार की भावना**—ऋग्वेद मे प्राकृतिक शक्तियो को परोपकार-निरत बतलाया गया है। चैतन्य शक्ति-स्वरूप ईश्वर ने द्युलोक तथा पृथ्वी लोक को अपनी शक्ति से धारण कर रखा है, ताकि ससार का प्रवाह समुचित रूप मे कायम रह सके। वाग्देवी के विषय मे कहा गया है कि यह देवी जिस व्यक्ति के ऊपर कृपा करती है, उसे सर्वश्रेष्ठ बना देती है।[3] वाग्देवी असुरो का सहार करने के लिए रुद्र को प्रेरित करती है ताकि वैदिक साहित्य एव धर्म की रक्षा हो सके। वेदमार्ग से द्वेष रखने वाले को दण्ड दिलाने का कार्य भी वाग्देवी ही करती है। वायु नामक देवता नित्य गतिशील रहकर सबका भला करता है।[4]

ऋग्वेदकालीन समाज मे विधवाओं[5] के दुख को दूर करने के लिए विधवा-विवाह का प्रचलन परोपकार की भावना से ही पूर्ण था। किसी युवती को उसके

1 ऋग्वेद 10/125/5
2 वही, 2/12/1
3 वही, 1/154/6
4 वही, 10/125/6
5 वही, 10/168/3

मित्र देवता को कार्य मे व्यस्त करने वाला बताकर नियमितता का पाठ पढाने वाला बताया गया है। इन्द्र और वरुण को राजनीतिक गुरु के रूप मे देखा गया है। पूषा देवता से अनुशासन की शिक्षा ग्रहण की गई है प्राकृतिक शक्तियो को गुरु के रूप मे पूजकर गुरु के महत्त्व को पुष्ट कर दिया गया है। ईश्वर को भी गुरु के रूप मे देखने की सफल चेष्टा की गई है।

7 सदाचार का महत्त्व—ऋग्वेद मे द्यूत-क्रीडा की कटु आलोचना करके व्यक्तियो को सदाचार के पथ पर लाने का अद्‌भुत प्रयास दृष्टव्य है। जुआरी की सास भी जुआरी से द्वेष करने लगती है। जुआरी की पत्नी उसे अपशब्द कहने लगती है। जब जुआरी द्यूत-क्रीडा की याद करता है तो खेल का आनन्द या चाव उसे बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।[1] जुआरी की पराजय हो जाने पर तथा यथावश्यक धन न चुकाए जाने पर प्रतिपक्षी जुआरी पराजित जुआरी की पत्नी के केशो को खीचकर अपना धन माँगने लगता है। जब जुआरी घर और बाहर के सभी स्थानो पर अपमानित होता है तो उसे अपने व्यसन का पता चलता है। द्यूत के पास जुआरी के ऊपर उसी प्रकार अकुश रखते हैं, जिस प्रकार मत्त गज को अकुश के द्वारा वश में रखा जाता है। अत द्यूत क्रीडा एक घोर व्यसन है, जो सर्वथा त्याज्य है।

कुशिक ऋषि ने रात्रि की स्तुति करते समय उन सभी व्यसनो पर प्रकाश डाला है, जिनसे समाज मे अराजकता फैलती है। रात्रि मे हिंसक जानवरो का प्रकोप होता है तथा स्तेन या चोर जैसे नरपशु भी प्रकोप करते हैं।[2] रात्रि मे जब पशु, पक्षी तथा मानव अपने-अपने निवासो मे आराम से सोते है तब बनैले जन्तु एव दुष्ट मानव उनकी सुख-निद्रा को भग करने का प्रयास करते हैं। दुष्ट मानवो की भर्त्सना करते हुए ऋषि ने कहा है कि ऐसे शत्रुओ को जीतने के लिए साहसपूर्ण श्रमयज्ञ की आवश्यकता है।[3]

ऋग्वैदिक युग मे सोमरस के अतिपान को भी निषिद्ध ठहराया जाता था। काम-वासना तथा लोभ जैसे विकारो को जीतने के लिए विशिष्ट व्यावहारिक शिक्षा का भी प्रचलन था। एक दूसरे के प्रति प्रेम या आत्मीयता का वातावरण बना हुआ था। अत ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन पर्याप्त उन्नत था।

8 कर्मपरायणता—ऋग्वैदिक काल मे धर्म कर्मयोग से परिपूर्ण था। व्यक्ति अपने गोधन की रक्षा एव सेवा करना अपना धर्म मानते थे। रात्रि के अन्धकार मे खोई हुई गायो को ढूँढने के लिए पूषा या सूर्य देवता के उदय की प्रतीक्षा करते थे। जब गोधन की प्राप्ति हो जाती थी तो पूषा देवता के प्रति यज्ञ के माध्यम से कृतज्ञता व्यक्त करते थे। ऋग्वेदकालीन समाज मे सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीवित रहने की अभिलाषा भी घर कर गई थी। कर्मपरायणता का सबसे बडा प्रमाण तो

1 ऋग्वेद, 10/34/1
2 वही, 10/127/6
3 वही, 10/127/8

यह है कि तत्कालीन व्यक्ति स्वयं को पुष्ट बनाते हुए अपने पुत्रों एवं पौत्रों को भी पुष्ट रूप में देखने के अभिलाषी रहते थे।[1] प्राकृतिक शक्तियों के प्रति उन लोगों की ऐसी निष्ठा उनकी कर्मपरायणता को सूचित करती है। उस समय का व्यक्ति तप को अत्यधिक महत्त्व देता था। तप के प्रभाव से ही ऋषियों ने वैदिक साहित्य का सृजन किया। ईश्वर ने तप के द्वारा समस्त संसार का सर्जन किया। अतः तप ही जीवन का आधार है, यही धारणा सर्वमान्य हो चली थी। वैदिक युग का प्रवृत्ति मार्ग[2] कर्मपरायणता का ज्वलन्त उदाहरण है। इन्द्र को एक महत्त्वाकांक्षी राजा के रूप में चित्रित करके प्रवृत्ति मार्ग का ही पोषण किया गया है। जब असुरों ने संसार में उत्पात मचा रखा था तथा समूचा वातावरण भय के झकोरों से काँप रहा था, उस समय प्रवृत्तिमार्गी इन्द्र ने अपना पुरुषार्थ प्रदर्शित करके वातावरण को शान्त कर दिया। जो विपत्तियाँ पर्वत-तुल्य दिखलाई पड़ रही थीं, उनको उद्यमी ने साधारण बना दिया। इन्द्र के प्रताप के फलस्वरूप चहुँमुखी प्रगति हुई। यथा—

> यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।
> यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः॥
>
> —ऋग्वेद, 2/12/2

ऋग्वैदिक समाज में कर्मयोग-संयुक्त धार्मिक जीवन का अद्वितीय महत्त्व था। शत्रुओं का दलन करने के लिए प्रयास करना तथा संतान को उन्नत बनाने के लिए समूचे वातावरण को शान्तिमय बनाने के प्रयास यही सिद्ध करते हैं कि उस समय कर्मपरायणता की प्रधानता थी।

9. **परोपकार की भावना**—ऋग्वेद में प्राकृतिक शक्तियों को परोपकार-निरत बतलाया गया है। चैतन्य शक्ति-स्वरूप ईश्वर ने द्युलोक तथा पृथ्वी लोक को अपनी शक्ति से धारण कर रखा है, ताकि संसार का प्रवाह समुचित रूप में कायम रह सके। वाग्देवी के विषय में कहा गया है कि यह देवी जिस व्यक्ति के ऊपर कृपा करती है, उसे सर्वश्रेष्ठ बना देती है।[3] वाग्देवी असुरों का संहार करने के लिए रुद्र को प्रेरित करती है ताकि वैदिक साहित्य एवं धर्म की रक्षा हो सके। वेदमार्ग से द्वेष रखने वाले को दण्ड दिलाने का कार्य भी वाग्देवी ही करती है। वायु नामक देवता नित्य गतिशील रहकर सबका भला करता है।[4]

ऋग्वेदकालीन समाज में विधवाओं[5] के दुःख को दूर करने के लिए विधवा-विवाह का प्रचलन परोपकार की भावना से ही पूर्ण था। किसी युवती को उसके

1 ऋग्वेद, 10/125/5
2 वही, 2/12/1
3 वही, 1/154/6
4 वही, 10/125/6
5 वही, 10/168/3

पति को असामयिक मृत्यु के कारण आजीवन अश्रुओ और आहो से भरा नाटकीय जीवन व्यतीत करना पडे, यह कथन भी उचित नही ठहराया जा सकता। अत उस समय का धर्म नारी-उद्धार के दृष्टिकोण से भी परोपकार की भावना से भरा हुआ था।

ऋग्वैदिक ऋषियो ने शब्द ज्ञान रूपी प्रकाश को विश्व को दिया। वह शब्द प्रकाश आज तक विश्व का उन्नति की ओर ले जाने मे समर्थ है। उस समय की प्रतिभा के विषय मे छठी शताब्दी के अलकारवादी आचार्य दण्डी ने ठीक ही कहा है—

इदमन्ध तम कृत्स्न जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दज्योतिरासससारात् न देदीप्यते ।। —काव्यादर्श

सम्पूर्ण वातावरण को शान्तिमय बनाने की धारणा को परोपकार की चरम सीमा कहा जा सकता है। मृत्यु को जीतने के लिए विधि-विधानो का निर्माण निश्चयत महान् परोपकार है। ससार ऋग्वैदिक समाज के ऋषियो का सदा ऋणी रहेगा।

10 आदर्शता को प्रधानता—ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन मे आदर्शता की प्रधानता थी। व्यक्ति यज्ञ के द्वारा अनेक प्रकार से कृतज्ञता ज्ञापित करते थे। शक्ति के रूप मे इन्द्र को आदर्श माना जाता था। पूजा को आदर्श अनुशासन का स्वरूप माना जाता था। सूर्य को तेजस्विता का आदर्श माना जाता था। वैवाहिक क्रियाओ मे अग्नि को साक्षी किया जाता था। पूर्वजो ने कर्म और ज्ञान के द्वारा समाज को उन्नत बनाने मे जो योगदान किया, उसके लिए यज्ञ सम्पादित किए जाते थे।[1] पितृलोक मे रहने वाले पितरो के चरित्र का अनुकरण करके धनाजन तथा ज्ञानार्जन के आदर्शो का प्राप्त करना शुभ एव श्रेयस्कर माना जाता था।[2] पितरो के लिए सोमरस अर्पित किया जाता था।

ऋग्वेदकालीन समाज मे शक्ति वर्धन को एक महान् आदर्श माना जाता था। समस्त वैभवो को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के उद्यम किए जाते थे। व्यक्ति गाय को माता मानते थे। 'गामातार' पद इस तथ्य की स्पष्ट सूचना है। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय मे उस समय के मनीषियो के जो उद्गार है उनको अनेक दार्शनिको ने महत्त्व दिया है। सृष्टि को प्रलय के गर्भ मे विलीन दिखाकर उस स्थिति को अविज्ञेय बताया गया है।[3] सृष्टि से पूर्व दशा मे न तो सत् तत्त्व ही था और न असत् तत्त्व ही, न मृत्यु थी और न ही जीवन। सृष्टि को ईश्वर की कामना से उत्पन्न बताकर धार्मिक जीवन मे आशावादिता का सन्देश सचरित कर दिया गया है—

1 ऋग्वेद, 10/14/1
2 वही, 10/14,2
3 वही, 10/129/1-3

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसा रेत प्रथम यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

—ऋग्वेद, 10/129/4

सारांशत ऋग्वेद के धार्मिक जीवन मे दार्शनिक अनुचिन्तन का व्यापक प्रभाव था । कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ साधन माना जाता था । वैवाहिक सस्कार को सर्वोत्तम सस्कार माना जाता था तथा गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम । प्राकृतिक शक्तियो के प्रति अगाध निष्ठा रखना उस समय के धार्मिक जीवन की पराकाष्ठा को सूचित करता है । मनीषियो का आदर करना उस समय के धर्म का महान् तत्त्व था । समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए धर्म का ऐसा आवरण डाल दिया गया था कि सभी व्यक्तियो को सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने का अवसर मिल सके । समाज-कटकों को कुचलने के लिए शक्ति और अनुशासन को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था । अत ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन मे समस्त धार्मिक आदर्शों को यथेष्ठ स्थान मिला हुआ था ।

उत्तर वैदिक सस्कृति
(Later Vedic Culture)

ऋग्वेद की रचना 3000 वर्ष ईसा पूर्व मे हो चुकी थी । यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद सहिताएँ उसके पश्चात् ही सकलित हुई । उसी समय विभिन्न वेदो के ब्राह्मणो, आरण्यको तथा उपनिषदो का किंचित कालभेद से प्रणयन शुरू हुआ । इन ग्रन्थो की रचना मे हजारो वर्ष का समय लगा । ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे बुद्ध तथा महावीर का उदय यह सिद्ध करता है कि 600 ई पू मे ब्राह्मण धर्म चरम सीमा की ओर अग्रसर था । अत उत्तर वैदिक सस्कृति 2500 ई पू से लेकर 600 ई पू तक की कालावधि मे विकसित होने वाली स्वीकार कही जा सकती है । उत्तर वैदिक युगीन सस्कृति का स्वरूप निम्न बिन्दुओ के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है—1 दार्शनिक अनुचिन्तन का विकास, 2 यज्ञो का महत्त्व, 3 स्वाध्याय का महत्त्व, 4 शिक्षा की प्रधानता, 5 वैराग्य और ज्ञान की प्रधानता 6 वर्ण-व्यवस्था, 7 आश्रम-व्यवस्था, 8 गुरु और शिष्य के पावन सम्बन्ध, 9 कमठता 10 नारी-उद्धार ।

1 दार्शनिक अनुचिन्तन का विकास—ब्राह्मण ग्रन्थो की सस्कृति मे यज्ञ को ईश्वर का स्वरूप माना जाने लगा था । ब्राह्मण ग्रन्थो ने यज्ञ को वैज्ञानिक रूप देकर समाज को नियमितता का पाठ पढाया । आरण्यको ने ईश्वरीय चिन्तन की प्रधानता देकर समाज को एक नई दिशा की ओर आवर्तित किया । जब उपनिषदो का विकास हुआ तो दार्शनिक अनुचिन्तन विविध मुखी हो गया । ईश्वर को विराट् विश्व के रूप में देखा जाने लगा । समस्त ससार को ईश्वर से परिपूर्ण बताया जाने लगा ।[1] ईश्वर के तेज या भय से सूर्य का तप्त होना माना गया, वायु को नित्य गतिशील माना गया, अग्नि को नित्य दाहकतापूर्ण माना गया । ईश्वर को 'नेति-नेति' नामक

1 ईशावास्योपनिषद्, 1/1

सिद्धान्त के आधार पर प्रकृत्यतीत सिद्ध किया गया।[1] ईश्वर की शक्ति से मन मनन करता है, मन ईश्वर तक नही पहुँच पाता। ईश्वर की शक्ति से बुद्धि चिन्तन करती है, बुद्धि ईश्वर तक नही पहुच पाती। ईश्वर को शब्दातीत बताते समय यही कहा गया—'यतो वाच निवतन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

उत्तर वैदिक काल मे आत्मा के विकाम या आत्म ज्ञान पर पर्याप्त बल दिया गया। आत्मा जन्म जन्मान्तर के सस्कारो से आवृत्त होने के कारण अपने वास्तविक रूप मे प्रकट नही हो पाती। अन व्यक्ति को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय नामक चार अवस्थाओ के क्रम से आत्मा के स्वरूप को जानने की चेष्टा करनी चाहिए। माण्डूक्योपनिषद् के 1—12 तक के मन्त्रो मे आत्मा के स्वरूप का तात्विक विवेचन किया गया है। उस समय की सस्कृति मे यह तत्व भी प्रधान हो चुका था कि जो व्यक्ति बलहीन है, वह किसी भी प्रकार से आत्म ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। आत्म ज्ञान की उपलब्धि हेतु प्रमाद और आलस्य को त्यागना आवश्यक माना गया। आत्म ज्ञान प्रवचन से ही नही होता और न आडम्बरो को धारण करने से। शास्त्र सिद्ध मार्ग को अपनाने वाले व्यक्ति के सम्मुख आत्म प्रकाश स्वत प्रकट हो जाता है। आत्मा के स्वरूप के विषय मे विचार करते-करते उत्तर वैदिक युग मे आत्मवादी सस्कृति का सर्वाधिक प्रचार हो चुका था। आत्मा को ईश्वर का अश ही नही, अपितु स्वरूप भी माना जाने लगा था।[2] आत्म-चिन्तन के आधार पर योगमार्ग एव ज्ञान मार्ग को सबसे अधिक महत्व मिला।

उत्तर वैदिक युग मे मोक्ष को चरम पुरुषार्थ माना गया। अविद्या एव विद्या दोनो के स्वरूप को जानने से मुक्ति का रहस्य प्रकट किया गया। मोक्ष को अमरता के रूप मे मानकर एक पवित्र धारणा का विकास हो चला। मोक्ष की प्राप्ति वे व्यक्ति नही कर सकते जो अविद्या के समुद्र मे डूबे रहने पर भी अपने आपको प्रकाण्ड पण्डित एव शास्त्रविद् मानकर अभिमानपूर्ण व्यवहार करते है। वे व्यक्ति स्वय को वासना के समूह मे प्रवृत्त करते हुए अन्य लोगो के मार्गदर्शक बनकर उन्हे भी उसी प्रकार पतनोन्मुख करते हैं, जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति अन्धो का मार्गदर्शक बनकर सबको कूप मे गिरा देना है। विद्या या आध्यात्म ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति सम्भव है।

उत्तर वैदिक युग मे ससार को सत्य और मिथ्या रूप मे देखने के अनेक वाद प्रचलित हो चुके थे। वैदिक सहिताओ मे सांसारिक समृद्धि को मूल सांस्कृतिक आधार माना जाता था। परन्तु उपनिषद् ससार को आध्यात्म दृष्टि से असत्य बताकर ईश्वर को ही सत्य बता रहे थे। विभिन्न विचारधाराओ के विकास के कारण वैदिक युगीन व्यक्तियो के आगे पर्याप्त उलझनें भी व्याप्त हो गई। क्या मान्य है और क्या अमान्य ? इसी प्रश्न को लेकर विभिन्न ऋषियो के मत समाज मे घर कर गए। फिर भी मत-मतान्तरो के विकास के कारण दार्शनिक प्रतिभा का विविधमुखी उदय

1 केनोपनिषद्, प्रथम अध्याय
2 माण्डूक्योपनिषद्, 2

ही मानना चाहिए। उत्तर वैदिक युग की संस्कृति मे दार्शनिक अनुचिन्तन ने जीवन-दर्शन को अनेक रूप प्रदान करके एक स्वस्थ एव पवित्र मार्ग का अध्याय जोडा।

2 यज्ञो का महत्त्व—उत्तर वैदिक संस्कृति मे यज्ञवाद का बोलबाला हो चुका था। संहिताओ मे यज्ञ को प्राथमिकता दी गई। समस्त वैभवो को प्राप्त करने के लिए यज्ञ को ही मूल साधन माना गया। ब्राह्मणो मे यज्ञ को ईश्वर का स्वरूप माना जाने लगा। ससार मे एक सुव्यवस्थित धारणा को विकसित करने के लिए यज्ञ के विभिन्न रूपो को प्रतिपादित किया गया। गृहस्थियो के लिए पच महायज्ञ को अनिवार्य बताया गया। यदि कोई गृहस्थी अतिथि को देव के समान मानता है, सतान-प्रवाह को सम्यक् महत्त्व देता है। देव यज्ञ का सम्पादन करता है, ज्ञान के विकास मे योगदान देता है और जीव-जन्तुओ के प्रति उदार दृष्टि रखता है—वह यज्ञ के यथार्थ स्वरूप से परिचित है। आरण्यको ने वानप्रस्थियो के यज्ञ को भी महत्त्व दिया। उपनिषदो मे योग-यज्ञ तथा ज्ञान-यज्ञ को प्रस्तुत किया गया है। ब्राह्मणो के यज्ञ मे कर्मकाण्ड की प्रधानता है तथा कल्पसूत्रो मे यज्ञवाद का प्रचण्ड रूप विद्यमान है। उपनिषदो मे कर्मकाण्ड का विरोध करके साधना-स्वरूप यज्ञ को महत्त्व दिया गया है।

3 स्वाध्याय का महत्त्व—उपनिषदो मे स्वाध्याय की महिमा पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। स्वाध्याय के कारण ऋत एव सत्य तत्व का ज्ञान होता है। स्वाध्याय के ही कारण व्यक्ति पवित्रता का पाठ सीखने के साथ-साथ नियमित जीवन व्यतीत करना भी सीखता है। वेदो का स्वाध्याय करने से व्यक्ति वैदिक धर्म के मर्म को समझता है। यदि कोई व्यक्ति ससार के रहस्य को जानना चाहता है तो उसे स्वाध्याय के बल से दार्शनिक एव धार्मिक तत्वो को जानना होगा। स्वाध्याय केवल वही व्यक्ति कर सकता है जो प्रमाद और आलस्य से दूर रहने की यथासम्भव चेष्टा करता है। स्वाध्याय मे ऋत विद्यमान है। स्वाध्याय सत्य को प्रदान करने वाला सिद्ध होता है। स्वाध्याय तप का मूल है तथा इन्द्रियो के दमन का आधार है। स्वाध्याय से मन का शमन किया जाता है। स्वाध्याय मे ही अग्निहोत्र है तथा स्वाध्याय मे अतिथि-सत्कार सन्निहित है। स्वाध्याय की महिमा पर विभिन्न ऋषियो ने अनेक प्रकार की धारणाएँ व्यक्त की है।[1]

4 शिक्षा की प्रधानता—अथर्ववेद के आधार पर यह धारणा सुपुष्ट हो जाती है कि उत्तर वैदिक युग मे पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था थी।[2] विद्यार्थी का उपनयन सस्कार कराया जाता था, जिससे विद्यार्थी 'द्विज' रूप धारण करता था। एक जन्म तो माता के गर्भ से होता है, उसे शरीर का जन्म कहते है परन्तु जब व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करने का मानस बनाकर पढने का उपक्रम करता है, तो वह व्यक्ति का दूसरा जन्म है। तैत्तिरीयोपनिषद् मे शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डाला

1 तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली
2 अथर्ववेद, 6/108/2

गया है। ब्रह्मविद्या की गहनताओ को उपनिषदो मे भली-भाँति चित्रित किया गया है। तत्कालीन शिक्षा मे सदाचार की आवश्यकता पर सर्वाधिक बल दिया जाता था। जो कर्म करणीय है, उनकी प्रामाणिकता बताने के लिए वैदिक साहित्य को शब्द-प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत किया जाता था। शिक्षा प्राप्त करने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता पर बल दिया जाता था। लज्जा और भय को अनुशासनात्मक रूप मे अच्छा स्थान प्राप्त था। गुरु के उपदेश को ब्रह्मवाक्य के रूप मे आदर दिया जाता था। उपदेश पालन को अनुशासन के रूप मे गिना जाता था। सदाचार को प्रतिपादित करने वाला एक उदाहरण देखने योग्य है—

सत्य वद। धर्मं चर। स्वाध्यान्मा प्रमद। आचार्याय प्रिय धनमाहृत्य प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्॥

—तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली

बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग मे याज्ञवल्क्य, नारद, सनत्कुमार जैसे महान् आचार्य विद्यमान थे। केवल अच्छे आचार्य ही नही, अपितु जिज्ञासु और सुशील शिष्यो की भी कमी नही थी। इन्द्र, विरोचन, जानश्रुति, उद्दालक जैसे अनुशासित शिष्यो की भी एक लम्बी परम्परा रही थी। सम्पूर्ण व्यवस्था का श्रेय गुरु और शिष्य के पावन सम्बन्धो को ही दिया जा सकता है।

उत्तर वैदिक युग मे शिक्षा का उद्देश्य भी अत्यन्त व्यापक था।[1] शिक्षा का विशिष्ट उद्देश्य समाज मे श्रद्धा का विकास करना था, विद्यार्थियो की मेधा को कुशाग्र बनाना था, धनार्जन को भी महत्त्व दिया जाता था, आयुवर्धन के उपाय बताए जाते थे, अमरता का पाठ पढाया जाता था। शिक्षा पूरी होने पर विद्यार्थी को गृहस्थ मे प्रवेश करने की अनुमति दी जाती थी। वैदिक युग का यह सिद्धान्त कि एक विद्यार्थी जब तक स्वावलम्बी नही बने तब तक उसका विवाह न किया जाय, आज अत्यधिक अनुकरणीय है। उस समय के अधिकांश विद्यार्थी सत्य ज्ञान को पाने के लिए श्रेष्ठ गुरुओ की खोज करने के लिए उद्यत रहते थे।

छान्दोग्य उपनिषद् मे सनत्कुमार और देवर्षि नारद की भेंट के प्रसग से यह ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक काल मे अनेक विद्याएँ प्रचलित थी। नारद ने स्वय को अनेक विद्याओ का ज्ञाता कहा है। वे नक्षत्रविद्या, देवविद्या, भूतविद्या, ब्रह्मविद्या, क्षात्रविद्या, तर्कशास्त्र, इतिहास तथा पुराण आदि को भली-भाँति जानते थे। ब्रह्मविद्या के प्रसग मे शाण्डिल्य विद्या का भी प्रतिपादन अपना पृथक् महत्त्व रखता है। इसी प्रकार बृहदारण्यक से ज्ञात होता है कि उत्तर वैदिक युग मे आख्यान, उपाख्यान, प्रचलन आदि को शैक्षणिक स्तर का महत्त्व दिया जाना था।

शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार चारो वर्णो को था। स्त्री-पुरुष समान रूप से वेद पढने के अधिकारी थे। आत्मा को स्त्री और पुरुष दोनो से ऊपर माना

1 अथर्ववेद 19/64

जाता था। अत आत्मिकज्ञान पाने का सभी को अधिकार था। ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके ही विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी होना था। विद्या-केन्द्र 'परिषद' कहा जाता था। दूर-दूर से विद्यार्थी पढने के लिए एकत्र होते थे। अत उत्तर वैदिक युग मे शिक्षा को सस्कृति का सर्वश्रेष्ठ अग माना जाता था।

5 **वैराग्य और ज्ञान की प्रधानता**—उपनिषदो मे ब्राह्मणो तथा आरण्यकों के क्रमश गृहस्थ तथा वानप्रस्थ-धर्म से आगे सन्यास-धर्म पर विचार किया गया। उपनिषदो का ज्ञान मार्ग चिन्तन का चरम बिन्दु कहा जा सकता है। आत्मा का ज्ञान न प्राप्त करने वाले व्यक्ति को आत्महन्ता तक कह दिया जाता था।[1] ऐसे व्यक्तियो की कटु निन्दा की जाती थी जो शिक्षित होने पर भी सदाचारी नही बन पाते थे। उस ज्ञान को भार-स्वरूप माना जाता था, जो व्यक्ति का उद्धार न कर सके। अत आचरण की पवित्रता के ऊपर अत्यधिक बल दिया जाता था। ज्ञान की धारा जब ब्रह्म रूपी समुद्र मे न मिले तब तक उसके अविरल प्रवाह को बनाए रखने पर बल दिया जाता था। यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने पर ज्ञानी की गम्भीरता को महत्व दिया जाता था। यह ससार अनेक आकर्षणो से पूर्ण है, अत यहाँ प्रबल वैराग्य धारण करके ही सत्य एव अनन्त ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है।

समस्त यौगिक चमत्कारो का आधार वैराग्यपूर्ण योगाभ्यास को ही बतलाया गया है। सयम का प्रमुख आधार वैराग्य ही बताया गया है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'[2] नामक सिद्धान्त वैराग्य और ज्ञान के समन्वय पर भी आधारित है।

6 **वर्ण-व्यवस्था**—ऋग्वैदिक काल मे जो वर्ण-व्यवस्था लागू हुई थी, उसको अत्यन्त विस्तृत रूप देने का श्रेय उत्तर वैदिक युग को है। इस युग मे वर्ण-व्यवस्था पर्याप्त रूढिग्रस्तता को प्राप्त हो चुकी थी। पुरोहित का पुत्र पुरोहित बनता था तथा क्षत्रिय का पुत्र वीर न होने पर भी क्षत्रिय ही रहता था। ऋग्वेद मे वर्णित पणि लोग ही वैश्य बन गए तथा वे अनेक प्रकार के उद्योगो मे कुशल होने के कारण वैश्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। ऋग्वैदिक दास या दस्युओ को बलपूर्वक शूद्र बनाया गया था। परन्तु दासो की प्रबलता ने आर्यों को उन्हे भी आर्यो मे स्थान देने को विवश कर दिया तथा शूद्रो को भी ईश्वर का अग माना जाने लगा। शूद्रो ने अपनी धनाढ्यता के कारण वेद पढने का अधिकार भी ले लिया। ब्राह्मण ग्रन्थो मे शूद्र की स्थिति कुछ शोचनीय हो गई थी। शूद्र नौकर को मालिक की इच्छा के ऊपर नौकरी मिलती थी तथा उसे यथेच्छा हटा दिया जाता था। मालिक अपनी इच्छा के अनुसार शूद्र नौकर का वध भी कर देता था।[3] वैश्य लोग अपने व्यापार के बल पर धनश्रेष्ठी बन गए। कल्पसूत्रो मे ब्राह्मणवाद का बोलबाला दिखलाया गया है। यदि ब्राह्मण कोई अपराध कर देता था तो ऐसे ही अपराध की स्थिति

1 ईशावास्योपनिषद् 3
2 यजुर्वेद, 40/1
3 ऐतरेय ब्राह्मण, 7/29

अन्य वर्णों के व्यक्तियो को ब्राह्मण की अपेक्षा कठोर दण्ड मिलना था। अत सहिताओ मे वर्ण-व्यवस्था के सन्दर्भ मे जो वैज्ञानिकता प्रचलित हुई थी, वह ब्राह्मणो तथा सूत्रो के युग मे पहुँचकर प्राय ब्राह्मणवाद के रूप मे परिवर्तित हो गई।

7 आश्रम व्यवस्था—ऋग्वेदिक युग मे केवल ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ दो ही आश्रम थे। परन्तु वैदिक युग मे चारो आश्रमो की प्रतिष्ठा हो गई। आरण्यको ने वानप्रस्थ आश्रम को महत्त्व दिया तथा उपनिषदो ने सन्यास आश्रम को। आरण्यको मे वानप्रस्थी का वन मे रहना, वेदाभ्यास करना तथा भिक्षान्न पर आश्रित रहना आवश्यक सिद्ध कर दिया था। उपनिषदो मे ज्ञान-मार्ग के प्रतिपादन प्रथम तीन आश्रमो को महत्त्व देकर भी सन्यास के महात्म्य को विशदतापूर्वक प्रस्तुत किया। सन्यासी के लिए सत्य एव अनन्त ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म को जानना आवश्यक माना गया। ब्राह्मणो तथा सूत्रग्रन्थो ने गृहस्थ आश्रम के अनेक नियमो को प्रस्तुत करके गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की सिद्धि के लिए आश्रम-व्यवस्था को वैज्ञानिक स्तर प्रदान किया गया। उत्तर वैदिक युग की आश्रम-व्यवस्था का सूत्रपात ब्राह्मणो से ही हो चुका था।

8 गुरु और शिष्य के पावन सम्बन्ध—उत्तर वैदिक युग मे गुरु को ब्रह्मज्ञानी माना जाने लगा था। शिष्य-समूह सद्गुरु की खोज के लिए तत्पर रहता था। कठोपनिषद् मे गुरु और शिष्य के पावन सम्बन्धो की विशद चर्चा की गई है। नचिकेता आचार्य यम को खोजने के लिए दुर्गम पथ को पार करके अपने गन्तव्य तक पहुँचा था। उस समय के शिष्य गुरु को ईश्वर के समान मानकर अपने आत्म-परिष्कार का कार्य किया करते थे। उत्तर वैदिक युग की सस्कृति मे गुरु और शिष्य कथनी और करनी के बीच की खाई को पाटने की यथासम्भव एव यथाशक्ति चेष्टा किया करते थे। ब्राह्मण काल मे ब्राह्मण को अन्य वर्णों के लिए गुरुरूप माना जाता था। ईश्वर को गुरुओ का भी गुरु माना जाता था। तैत्तिरीय उपनिषद् मे आचाय अथवा गुरु के आदर का उल्लेख किया है।[1]

9 कर्मठता—यजुर्वेद मे कर्मनिष्ठा की स्पष्ट सूचना है। उस समय कर्म परायण रह कर सौ वर्ष तक जीवित रहना सांस्कृतिक तत्त्व माना जाता था।[2] ब्राह्मणो मे विभिन्न यज्ञो के सम्पादन को लक्ष्य करके कर्मठता का सन्देश दिया गया। निष्काम कर्मयोग की स्थापना का सर्वाधिक श्रेय उपनिषदो को है। बृहदारण्यकोपनिषद् मे यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करके निष्काम कर्मयोग के आधार पर कर्मठ आचरण व्यक्त करते थे। मैत्रेयी ने निष्काम कर्मयोग को अपनाकर ब्रह्मविद्या को अपनाना सांस्कृतिक कर्त्तव्य समझा। कात्यायनी ने अपने पति की आज्ञा को ब्रह्मवाक्य मानकर पारिवारिक सचालन को अपना परम पुनीत कार्य समझा तथा अपने पति याज्ञवल्क्य को आत्मानुसधान के लिए सन्यास धारण करने दिया। उत्तर

1 तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली

2 यजुर्वेद, 40/1-2

वैदिक समाज मे कृषि, वाणिज्य, कला-कौशल की वृद्धि यही सूचित करती है कि उस समय कर्मठता का बोलबाला था।

10 नारी-उद्धार--यजुर्वेद मे शूद्र और उच्च वर्णों के व्यक्तियो के साथ नारी को भी वेद पढने का अधिकारी घोषित करके उस समय की नारी-उद्धार की भावना से विभूषित कर दिया है। मैत्रेयी तथा गार्गी नामक औपनिषदिक महिलाएँ ब्रह्मविद्या मे परम प्रवीण प्रदर्शित की गई है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर वैदिक काल मे नारी उद्धार की भावना चरम विन्दु पर पहुँच चुकी थी। परन्तु राजाओ तथा ऋषियो के अनेक विवाह नारी-उद्धार की भावना को व्याघात पहुँचाने वाले भी हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थी--मैत्रेयी और कात्यायनी। शतपथ ब्राह्मण मे महर्षि मनु की श्रद्धा एव इडा नामक पत्नियो की ओर सकेत किया। अथर्ववेद मे यम यमी सवाद के आधार पर जहाँ स्वच्छन्द विवाह-प्रणाली को सूचित किया गया है, वही वैवाहिक आदर्श की ओर भी सकेत किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर वैदिक युग मे सस्कृति अनेक रूपो को लेकर मुखरित हो सकी। सुदीर्घकाल की यात्रा मे सस्कृति के अनेक रूपो का निर्मित हो जाना भी स्वाभाविक था।

वैदिकयुगीन सामाजिक स्थिति

वैदिक युग के समाज के विषय मे जानने का एकमात्र आधार वैदिक साहित्य है। 300 ई पू से लेकर 600 ई पू तक के समाज की स्थिति का विविध मुखी चित्रण वैदिक साहित्य के विभिन्न भागो मे किया गया है। आर्यो और अनार्यों के सघर्ष के कारण उस समय का समाज किसी विशेष व्यवस्था की ओर बढने के लिए बाध्य हुआ, जिसका यहाँ हम सक्षिप्त उल्लेख कर रहे हैं वैदिक युगीन सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करने के प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं--1 वर्ण व्यवस्था, 2 आश्रम व्यवस्था, 3 पारिवारिक जीवन, 4 दैनिक जीवन, 5 विवाह-प्रथा तथा 6 समाज मे स्त्रियो की स्थिति।

1 वर्ण-व्यवस्था

वैदिक काल मे आर्यों और अनार्यो का निरन्तर सघर्ष चलता रहा। इन्द्र ने वृत्र तथा उसके अनुयायियो को खदेडना शुरू कर दिया।[1] दश राजाओ ने मिलकर राजा सुदास के ऊपर आक्रमण किया, जिसमे इन्द्र और वरुण ने सुदास की रक्षा करके आसुरी शक्तियो को समेट डाला।[2] ऐसे सघर्ष के कारण समाज को व्यवस्थित रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। सुदास के पुरोहित वशिष्ठ ने इन्द्र और वरुण का स्तवन करते समय यही बताया है कि उस समय ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ण की प्रधानता थी। परन्तु आर्यों ने अपने शौर्य स्वभाव का परिचय देकर पणियो की निधियो को लूट लिया तथा असुर वर्ण को शक्ति से दबाकर सुदृढ सामाजिक

1 ऋग्वेद 7/83/9
2 वही, 7/83/8

व्यवस्था के विषय मे विचार किया । किसी वर्ग को छोटा तथा किसी वर्ग को वडा न वनाकर सभी को सन्तुष्ट करने के लिए समस्त समाज को विराट् पुरुष के रूप मे परिकल्पित किया गया । विराट् पुरुप का मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, जघाएँ वैश्य तथा पैरो को शूद्र कहा गया ।[1] अत एक निरन्तर चलने वाले सघर्ष को अपेक्षाकृत रोकने के लिए वर्ण व्यवस्था को जन्म दिया गया । वैदिक युगीन वर्ण-व्यवस्था का परिचय देने के लिए यहाँ चारो वर्णो पर विचार कर लेना आवश्यक एव उपादेय सिद्ध होगा ।

ब्राह्मण—ऋग्वैदिक सूक्तो मे ब्राह्मण को मुख का रूप देकर उसे ज्ञान का प्रतीक बना दिया गया है । उस समय के ब्राह्मण चिकित्सा, शिक्षा तथा अन्य विभागो के कार्य किया करने थे । व्यावसायिक स्वतन्त्रता को स्पष्ट करने के लिए एक ऋषि ने यहाँ तक कह डाला है कि मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता पिसनहारी है तथा मैं कविता करता हूँ ।[2] जब आर्थिक दृष्टिकोण को दार्शनिक और धार्मिक रग देकर वर्ण-व्यवस्था को मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान किया गया तो ब्राह्मण का कार्य पूजा, उपासना, यज्ञ जैसे कार्यो से जुड गया । सोम यज्ञ का सम्पादन करते समय अध्वर्यु क्रिया-काण्ड को सम्पन्न करता था, होतृ मन्त्र सुनाता था, उद्गाता साम गाता था । अत यज्ञ का कार्य ब्राह्मणो के हाथ मे आने पर अनेक पद निर्मित कर दिए गए । यथार्थत यज्ञ-कार्य मे जो विद्वत्वर्ग व्यस्त रहने लगा था, वही आगे चलकर अपनी पुरोहिताई के बल पर ब्राह्मण वर्ग के नाम से जाना गया । इस विद्वान् वर्ग ने शिक्षा को अपना प्रमुख व्यवसाय बनाया तथा अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ यजन-याजन एव दान-प्रतिदान को अपनाकर अपने वर्ण के स्वरूप को शास्त्रसगत बना लिया । ब्राह्मण तथा सूत्रग्रन्थो के जटिल कमकाण्ड को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण वर्ण मे कर्मकाण्ड की इतनी विधियो का प्रचलन हो गया कि पुरोहितो या बाह्मणो क बच्चे ही पैतृकता का लाभ उठाकर उन विधियो को सीखने मे योग्य सिद्ध हो सके । अत ब्राह्मण वर्ण जातिगत रूप मे कट्टरता को प्राप्त करता चला गया ।

ब्राह्मण मे ज्ञान के प्राधान्य के आधार पर उसे शिक्षा का अधिकारी माना जाने लगा । सनत्कुमार, नारद, ब्रह्म, विश्वामित्र तथा वशिष्ठ जैसे ऋषियो को सभी विद्याओ का केन्द्र माना जाने लगा जो उपनिपदो मे अनेक रूपो मे वर्णित है । ब्राह्मण वर्ण को ज्ञान के क्षेत्र मे विकसित देखकर तथा उस वर्ण को धर्मगुरु मान लिए जाने के कारण उसके अपराधो को भी उदारतापूर्वक देखा जाने लगा । यदि कोई ब्राह्मण कोई घोर अपराध कर देता तो उसे अन्य वर्ण के अपराधी व्यक्ति की अपेक्षा वहुत कम दण्ड दिया जाता था । वैदिक ब्राह्मणो को अपनी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखना पडता था । इसीलिए वशिष्ठ ने कई बार वरुण की स्तुति करते

1 वही, 10/90/12
2 वही, 9/112 3

समय अपनी अतिविनीत आदत का परिचय दिया है। इन्द्र और वरुण का सरक्षण पाकर ब्राह्मण वर्ण अपने आश्रयदाताओ की कुशलता की कामना करता हुआ सानन्द रहा करता था। विदेह, अश्वपति तथा अजातशत्रु जैसे राजा ब्राह्मणो की विद्वता से प्रभावित होकर उन्हे सम्यक् दान व मान प्रदान किया करते थे। ब्राह्मण अपने आश्रयदाता से रुष्ट हो जाने पर उसे विनष्ट करने के विषय मे भी प्रयास किया करते थे। वशिष्ठ ने त्रिशकु को नष्ट करने के लिए अयोध्या के सिहासन को अपने अधीन किया था। विश्वामित्र ने राजर्षि होने पर भी शस्त्र धारण करना उचित समझा था। अत वैदिक युग के ब्राह्मण की स्थिति पर्याप्त अच्छी कही जा सकती है।

क्षत्रिय—आर्यों और अनार्यो के युद्ध का क्रम चलता रहने के कारण आर्यो को क्षत्रिय वर्ण की व्यवस्था करनी पडी। जिस प्रकार भुजाओ मे शरीर की रक्षा करने की शक्ति रहती है, उसी प्रकार समाज रूपी शरीर की रक्षा करने के लिए क्षत्रिय वर्ण की आवश्यकता पडी। इन्द्र, विष्णु, सुदास, पुरुरवा जैसे अनेक राजा समाज की रक्षा मे तत्पर दिखाए गए है। रणभूमि मे अपना पौरुष प्रदर्शित करने के लिए आर्य सैन्य-सज्जा के साथ उतरा करते थे।[1] वैदिक युग का क्षत्रिय पूरे जीवनकाल मे समाज की रक्षा का प्रण लेकर जीवित रहा करता था। सैनिक व्यवस्था हो जाने पर सैनिक पिता का पुत्र अनार्यो का सामना करने के लिए अपने पूर्वजो को प्रतिबद्ध समझकर स्वय भी तैयार हो जाता था। दाशराज्ञ युद्ध से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल मे क्षत्रिय दलबद्ध होकर अनार्यो का सामना किया करते थे। क्षत्रिय वर्ण देव और आर्य दोनो मे ही था। जिस प्रकार से इन्द्र और वरुण असुरो को पराजित करने के लिए कटिबद्ध रहते थे उसी प्रकार आर्य राजा भी अनार्यो को कुचलने के लिए सन्नद्ध रहा करते थे। क्षत्रियो के घरो मे नित्य-नूतन शूरता का वातावरण रहने के कारण उनके पुत्र-पुत्री भी वीर स्वभाव के बन जाते थे। क्षत्रिय वर्ण मे वीरांगनाओ के विकास का कारण मनोवैज्ञानिक स्तर पर सहजतया समझ मे आ सकता है। वैदिक युग का क्षत्रिय वर्ण अपनी प्रशसा सुनने का आदी हो गया था। गृत्समद ने इन्द्र और उसकी सेना की प्रशसा मे अपने काव्य-हृदय को अवतीर्ण अथवा प्रकट कर दिया है। वशिष्ठ ने मित्र, वरुण तथा इन्द्र की प्रशसा मे अपने हृदय को खोलकर रख दिया है। वस्तुत ऐसी ही प्रशस्तियाँ क्षत्रिय वर्ण को समाज की रक्षा के लिए तत्पर एव अनुप्रेरित करती थी।

अनार्यो से सघर्ष करते समय क्षत्रियो का हताहत होना भी स्वाभाविक कहा जा सकता है। इसीलिए वैदिक साहित्य मे वीरो की प्रशसा का राष्ट्रीय महत्त्व हो जाना स्वाभाविक था। जो व्यक्ति कायर होते थे, उनकी कटु निन्दा की जाती थी।[2] वीरतापूर्वक स्वभाव बनने पर क्षत्रिय वर्ण ने अपने वैवाहिक सम्बन्ध अपने वर्ण

1 ऋग्वेद, 6/26/1
2 ऋग्वेद, 7/104/13

तक ही सीमित रखना अधिक उचित समझा होगा। जिस प्रकार से ब्राह्मण वर्ण अपने वर्ण की ज्ञान-प्रधानता के कारण शुद्धि व उच्चता सिद्ध करता था, उसी प्रकार क्षत्रिय वर्ण अपनी वीरता के कारण प्रशासक वर्ग का रूप धारण करके स्वय को कुलीन एव अभिजात मानने लगा तथा उसके वैवाहिक सम्बन्ध क्षत्रिय-वर्ण की परिधि मे ही सीमित होने लगे। क्षत्रिय वर्ण को वेद पढने का पूर्ण अधिकार था। इसीलिए प्राचीन विद्याओ के विशारदो के रूप मे क्षत्रिय भी सामने आए। विदेह जनश्रुति आदि अनेक राजा ब्रह्मविद्या के विचारक हुए हैं। क्षत्रिय वर्ण को शिक्षा के प्राय सभी अधिकार मिले हुए थे, इसीलिए उस समय के समाज मे धनुर्विद्या, गजशास्त्र आदि के प्रकाण्ड पण्डितो के रूप मे बुध जैसे राजाओ को सम्मान मिला। वैदिक युग का क्षत्रिय वर्ण ब्राह्मण वर्ण की भाँति अपनी पवित्रता और महानता के सपोषण के लिए यथासभव प्रयास करता हुआ अपने समाज की रक्षा का कार्य करता रहा। क्षत्रिय वर्ण के हाथो मे शासन रहने के कारण उसमे भोग-विलास का प्राधान्य होना स्वाभाविक जान पडता है।[1] जिस प्रकार से ब्राह्मण वर्ण मे ज्ञान की प्रधानता उसे ज्ञानियो के बीच ही सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बाध्य एव विवश करती रही, उसी प्रकार क्षत्रिय वर्ण मे भी शूरता और धीरता के आधार पर अपने वर्ण को महान् बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ रही। उस समय का क्षत्रिय तेजस्विता, क्षमाशीलता, धीरता, शुचिता, युद्धवीरता आदि गुणो से विभूषित रहा। इसीलिए ऋग्वेद मे उन व्यक्तियो की निन्दा की गई जो कायर होने पर भी वीर होने का दावा करते थे।[2]

वैश्य—यौधेय आर्यों ने भारतवर्ष के जिन धनाढ्य व्यक्तियो को लूटा, उनको 'पणि' कहा जाता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के अतिरिक्त जो वर्ण बचा उसे 'विश्' कहा जाने लगा। 'विश' का अर्थ है प्रवेश। 'विश' का अर्थ बैठना भी बताया गया है,[3] जो अपने आप मे भ्रामक है। क्योकि वैदिक काल मे यौधेय आर्यों ने पणि और दस्युओ को न तो बैठने या स्थायित्व की स्थिति मे रहने दिया था और न ही 'विश' का अर्थ बैठना होता है। 'विश' से पूर्व 'उप' लगाने से 'उपविश' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—बैठना। जब आर्यों ने पणियो के गुप्त खजानो को लूटकर उन्हे बेहाल कर दिया तथा दस्युओ को पराजित करके पणियो को शक्तिशून्य बना दिया तो आर्यों की व्यापारिक क्षमता जो पहले से ही नाममात्र थी, अब वह भारतीय वातावरण मे और भी अधिक ग्रस्त-व्यस्त जान पडी। तब 'विश' के रूप मे जिस वर्ग का सकेत किया है, उसका आर्यों मे प्रवेश हुआ तथा उसे वैश्य कहा गया। 'वैश्य का अर्थ है—प्रविष्ट। अत आर्यों मे जिस वर्ग ने सामजस्य के आधार पर प्रवेश किया, उसे वैश्य कहा गया। ऋग्वेद के दशम मण्डल मे विराट् पुरुष की जघाओ से वैश्यो को व्युत्पन्न बतलाया गया है।

1 ऋग्वेद, 8/48/5
2 ऋग्वेद, 7/104/13
3 डॉ रतिभानुसिंह नाहर प्राचीन भारत का राजनैतिक एव सास्कृतिक इतिहास, पृ 72

वैदिक युग का वैश्य अनेक व्यवसायो मे रत रहता था। अत व्यवसाय-भेद के आधार पर वैश्यो की असख्य जातिया विनिर्मित हो गयी। ऐतरेय ब्राह्मण मे वैश्य को 'अन्यस्य बलिकृत'—अर्थात् दूसरो को या प्रशासक वर्ग को कर देने वाला बतलाया गया है। इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता कि वैदिक युग मे वैश्य की स्थिति धनाढ्य रही थी। वैश्यो के कार्य कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य तक व्यापक बन चुके थे। वैश्यो को 'अन्यस्याद्य'–अर्थात् दूसरो को भोग प्रदान करने वाला माना गया है। जिससे यह स्पष्ट है कि वैदिक युग का वैश्य वर्ण समस्त उपकरण का निर्माता था या यही कहना चाहिए कि वैश्य वर्ण के हाथो मे समस्त व्यापारिक कार्य का सचालन था। ऋग्वेद के 'उरुतदस्य वैश्य' से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार जंघाएँ शरीर को गति देती है, उसी प्रकार उसी समय के समाज को गतिशील बनाने का प्रमुख कार्य वैश्य वर्ण के हाथो मे हो था। तत्कालीन वैश्य वर्ण की उपादेयता समझकर आर्यों ने वैश्यो को 'द्विज' जातियो के अन्तर्गत ही गिना। इसीलिए वैश्यो को वेदाध्ययन जैसी सुविधाओ के विषय मे किसी प्रकार की कोई आपत्ति नही की गई है। अत वैदिक युगीन वैश्यो की सामाजिक स्थिति अच्छी कही जा सकती है।

शूद्र—वैदिक युगीन शूद्र के विषय मे अनेक प्रकार की बातें मिलती है। ऋग्वेद मे विराट् पुरुष के पैरो से शूद्रो की उत्पत्ति का सकेत किया गया है-'पदभ्या शूद्रोऽजायते'। यदि ब्राह्मण मुख से जन्मे, क्षत्रिय भुजाओ से, वैश्य जघाओ से तथा शूद्र पैरो से तो वैश्य को उत्पादक वर्ग के अन्तर्गत तथा बाकी तीन वर्णों को सेवा वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। ब्राह्मणो का कार्य शैक्षणिक शिक्षा का था, क्षत्रियो का प्रशासनिक एव सुरक्षापरक सेवा का तथा शूद्रो का अन्य सेवाओ से सम्बन्ध था। ऐसी स्थिति मे शूद्र की शोचनीय स्थिति का पता लग जाता है। पूर्व वैदिक काल मे भले ही शूद्रो की स्थिति अच्छी रही हो, परन्तु उत्तर वैदिक काल मे शूद्रो तथा स्त्रियो को भी वेद पढने का अधिकार दिया।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी समय शूद्रो को वेदाध्ययन के अधिकार से वचित रखा गया होगा। जिस प्रकार से शरीर के अवयव एक-दूसरे के परिपूरक होने पर भी मुख, भुजा, जघा तथा पैर उत्तरोत्तर कम महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं, उसी प्रकार शूद्रो को प्रथम तीन वर्णों की अपेक्षा हीन समझा जाता था।

उत्तर वैदिक काल मे शूद्र दूसरे वर्णों का नौकर माना जाने लगा। इस तथ्य का द्योतक 'अन्यप्रेष्य'–अर्थात् दूसरो का नौकर शब्द है। शूद्र शिक्षा, सेना तथा व्यापार के कार्यों से वचित रहने के कारण ही शोचनीय कहलाया। इसी प्रकार शूद्र अन्य वर्णों के सम्पन्न व्यक्तियो की इच्छा के आधार पर नौकरी से हटाये जा सकते थे। 'कामोत्थाप्य' शब्द इसी आशय का सकेतक है। क्षत्रिय वर्ण का प्रशासनिक वर्ग शूद्रो को सभवत अधिक पीडित करता था। इसीलिए शूद्रो की सोचनीय स्थिति

1 यजुर्वेद

को प्रकट करने के लिए 'यथाकामवध्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। शूद्रो को अनेक सेवा-कार्य सौंपे जाने से उनके भी अनेक भेद-प्रभेद बन चुके थे। उस समय का शूद्र वर्ण वेद पढने का अधिकारी था—यही सबसे बडा आधिकारिक एव धार्मिक तत्त्व था। वैदिक साहित्य के सूत्रग्रन्थो से यह स्पष्ट हो जाता है कि शूद्रो को अनेक धार्मिक अधिकार भी मिले हुए न थे।

वैदिक काल के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय दार्शनिक और धार्मिक दृष्टियो से शूद्रो को बडे-बडे अधिकारो मे सम्मिलित करके सामाजिक न्याय को स्थान दिया गया था, परन्तु शूद्रो का वध, उनकी सेवा की अनिश्चितता जैसे कतिपय कार्य एव जीवन के मूल्य यही सिद्ध करते हैं कि आर्यों ने जिस वर्ग को दास बनाकर रखा था, वही क्षत्रिय आर्यो की इच्छा अनुसार बाध्य था। कभी दास वर्ग युद्धप्रिय था, इसीलिए आर्यो ने उसे पराजित करके अपना सेवक बनाया। जो लोग आर्यो के सेवक न बने, ऐसे दासो को दस्यु भी कहा गया। कुछ दासो का दस्युओ से अवश्य सम्बन्ध रहता होगा, जिसका दुष्परिणाम उनकी मृत्यु के रूप मे सामने आता था। फिर उस समय के मनीषी सामाजिक समानता को महत्त्व देते थे।

वर्ण-व्यवस्था की अन्तर्निहित चिन्तना—समाज का वर्णगत विभाजन तत्कालीन जीवन की अन्तर्निहित चिन्तना का परिणाम था। इस चिन्तना से अनुप्राणित होकर प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण के अन्तर्गत रहकर निर्दिष्ट सामाजिक व्यवस्था का अनुपालन करता था। अपने कर्त्तव्यो का सरलतापूर्वक निर्वाह करने से तथा समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वो का पालन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती थी। मोक्ष-प्राप्ति का दर्शन आर्य संस्कृति के जीवन का अद्वितीय अग रहा है, जो परम लक्ष्य को प्रकट करता है। अपने वर्णानुकूल सामाजिक और धार्मिक कर्मों को सम्पन्न करना ही वर्ण-धर्म था तथा परमपद की ओर ले जाने वाला मार्ग था। अत वर्णगत कर्त्तव्यो का निवेशन वर्ण-व्यवस्था की अन्तर्हित चिन्तना से ही सभव हो सका था। कालान्तर मे पुरुषार्थ-चिन्तना का आकलन जब मनुष्य के जीवन मे किया गया तब वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप के नवीन दर्शन से प्रभावित होकर सामाजिक व्यवस्था को और पुष्ट किया।

वर्ण-व्यवस्था के मूल मे यह भी चिन्तना थी कि विभिन्न वर्ग अपनी-अपनी प्रतिस्पर्द्धा और विरोध की समाप्ति करके निश्चित कार्यो को करते हुए अपने कर्त्तव्यो का पालन करते। प्रत्येक वर्ग अथवा समूह की सुनिश्चित कार्यविधि स्थिर हो जाने के कारण उनसे आपसी वैमनस्य का कम हो जाना स्वाभाविक था। इससे सभी वर्ग के लोग अपने कर्त्तव्यो का अनुसरण करते हुए समाज के उत्थान मे अपना योगदान करते थे।

पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा और सघर्ष को रोकने के लिए समाज-चिन्तको और व्यवस्थाकारो ने वर्ण-विभाजन के दर्शन को विकसित किया। सभी वर्णो के कर्त्तव्यो और कर्मो को निर्धारित किया गया। परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने वशगत पैतृक आजीविका का पालन करता था। व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टि से भी

यह उत्तम था, क्योंकि इससे व्यक्ति का ही विकास नहीं होता था, बल्कि समाज का भी विकास होता था। लौकिक और पारलौकिक, दोनो जीवन स्वाभाविक रूप से मनुष्य से आबद्ध होते थे तथा अपने प्रभाव से उसे आकृष्ट करते थे। इससे मनुष्य का शारीरिक और मानसिक दोनो उत्थान होता था। वस्तुत व्यक्ति का कायिक और मानसिक दोनो उत्थान करना वर्ण-व्यवस्था की अन्तर्हित चिन्तना थी।[1]

2 आश्रम व्यवस्था

वैदिक युग मे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास नामक चार आश्रमो की व्यवस्था धीरे-धीरे विकसित हुई। पहला आश्रम विद्यार्जन के लिए, दूसरा धनार्जन के लिए, तीसरा पुण्यार्जन के लिए तथा चौथा आश्रम कैवल्य-लाभ हेतु हुआ करता था। अत वैदिक युग मे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की साधना के लिए चारो आश्रमो को उपयोगी माना जाता था।

आश्रम का दार्शनिक आधार—प्राचीन हिन्दू समाज मे आश्रम-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। मनुष्य के जीवन को सुगठित और सुव्यवस्थित करने के निमित्त आश्रम-व्यवस्था की नियोजना की गई थी। हिन्दू विचारको ने मानव-जीवन को समग्रतापूर्वक व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए उसे आश्रमो के अन्तर्गत विभाजित किया था। उनकी दृष्टि मे लौकिक और पारलौकिक, दोनो जीवनो की महत्ता थी, किन्तु दोनो मे वे पारलौकिक जीवन को अधिक महत्त्व देते थे। उनके विचारो का यह आधार क्रियात्मक और वास्तविक जीवन से सम्बद्ध था। उन्होने अत्यन्त मनोवैज्ञानिकपूर्वक मानव की कार्यपद्धतियो का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके जीवन के मूलभूत कर्त्तव्यो का विभाजन किया था। उनके विचार दर्शन के अनुसार जीवन मे कर्त्तव्यपरायणता, बौद्धिकता, धार्मिकता और आध्यात्मिकता का योग था, इसलिए उन्होने समष्टि रूप मे जीवन की व्याख्या की। उन्होने यह स्वीकार किया कि जीवन का लक्ष्य केवल जीना ही नही है, बल्कि आदर्शात्मक आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष की ओर प्रवृत्त होना भी है। मनुष्य का सात्त्विक और शुद्धाचरित जीवन उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है तथा उसकी आध्यात्मिक प्रगति मे सहायक होता है। इस दृष्टि से आश्रम-व्यवस्था का दर्शन प्राचीन व्यवस्थाकारो के अद्वितीय ज्ञान और प्रज्ञा का प्रतीक है। उन्होने जीवन की वास्तविकता को ध्यान मे रखते हुए, ज्ञान, कर्त्तव्य और अध्यात्म के आधार पर मानव-जीवन को ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास नामक चार आश्रमो मे विभाजित किया है, जिनका अन्तिम लक्ष्य था मोक्ष की प्राप्ति। जन्म और मरण से मुक्ति पाने के लिए हिन्दू दार्शनिको ने ऐसे सन्मार्ग का प्रतिपादन किया जिसमे अन्ततोगत्वा मनुष्य को छुटकारा मिलता था और परम पद की प्राप्ति होती थी।[2]

1-2 डॉ० जयशंकर मिश्र प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ 12-13

आश्रम का मूल प्रेरक तत्व—जीवन विविधताओ से भरा हुआ है उसमें अनेक उतार-चढाव हैं। उसकी गतिशीलता मे जगत् की वास्तविकता और जीवन की क्रियाशीलता, दोनो का समन्वित प्रवाह है। अत इस प्रवाह को सुनिश्चित और सुनियोजित लक्ष्य तक पहुँचा देना ही आश्रम-व्यवस्था का सही कार्य है। जीवन को सही क्रमबद्धता, सुविचारित व्यवस्था तथा सुनिश्चित धार्मिकता प्रदान करना ही भारतीय जीवन-दर्शन का मूल प्रेरक तत्व रहा है। इसी दार्शनिक प्रेरणा से मनुष्य का जीवन एक आश्रम से होता हुआ अन्तिम आश्रम तक पहुँचता था तथा अपनी कर्मनिष्ठता और सात्विकता से चरम गति प्राप्त करता था। पारलौकिक जीवन के प्रति उत्सर्जित होता था। आश्रम-व्यवस्था का भी यह दार्शनिक आधार था। हिन्दू चिन्तको ने मनुष्य के जीवन को दीर्घतम माना था, अर्थात् सौ वर्षो का जीवन। इस जीवन को उन्होने पच्चीस-पच्चीस वर्षो के चार भागो मे बाँटकर आश्रम की व्यवस्था की थी। मनुष्य के जीवन के ये चार भाग ही चार आश्रम थे—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास, जो क्रमश ज्ञानप्राप्ति, सांसारिक जीवन का उपभोग, ससार त्यागकर ईश्वराराधन तथा अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति के निमित्त तपश्चर्या की ओर इगित करते है। अत त्याग और सयम का जीवन अपनाकर मनुष्य निवृत्ति-मार्ग को अपनाता है और आध्यात्मिक साधना करता है। इसी निवृत्ति-मार्ग पर चलकर ही उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति मे समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करते हुए दार्शनिको ने दोनो को एक दूसरे का प्रतिरोध नही माना बल्कि प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति प्राप्त करने की बात कही। प्रवृत्तिमूलक सांसारिक सुख-भोग के पश्चात् त्याग और सयमयुक्त निवृत्ति की सयोजना की गई जिससे मनुष्य का जीवन अत्यन्त समृद्ध और उन्नत होना था। सामाजिकता और आध्यात्मिकता से समन्वित स्वरूप आश्रम-जीवन मे देखने को मिलता है। सांसारिकता और व्यावहारिकता से अलग सत्य का अन्वेषण भी मनुष्य का परम उद्देश्य रहा है, जिसकी प्राप्ति कठिन स्थितियो से होकर थी। परम सत्य के पाने मे समय की उपेक्षा होती थी तथा कठिन तपश्चर्या की आवश्यकता पडती थी। इसके लिए पुरुषार्थ की नियोजना की गई थी, जिसके माध्यम से व्यक्ति विशुद्ध सत्य की प्राप्ति करता था। आश्रम से वह उस परम सत्य तक पहुँचने का प्रयास करता था। उसका अन्तिम उद्देश्य विशुद्ध सत्य की प्राप्ति था। यही विशुद्ध सत्य परम ब्रह्म था, जो व्यक्ति का मोक्ष भी था।

आश्रम का वर्गीकरण और नियोजन—डॉ मिश्र ने लिखा है—प्रारम्भ मे आश्रमो की सख्या तीन थी—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ। वानप्रस्थ और सन्यास को एक ही आश्रम के अन्तर्गत रखा गया था, क्योकि दोनो का आधार अध्यात्म था और लक्ष्य सत्य की खोज। व्यक्ति को सन्यास मे जो कुछ भी करना होता था उसी की तैयारी वह वानप्रस्थ आश्रम मे करता था। मनुष्य त्याग-तपस्या और ध्यान का जो जीवन, बिताता था वह सही रूप मे जीवन के अनुरूप था। सम्भवत इसलिए दोनो मे भेद करना उचित नहीं समझा गया। इस प्रकार प्रारम्भ

मे केवल तीन आश्रम थे, चार आश्रमो का विकास बाद मे हुआ। 'छांदोग्य उपनिषद् मे विवृत्त है कि धर्म के तीन स्कन्ध (आधार-स्तम्भ) है--यज्ञ, अध्ययन और दान। प्रथम स्कन्ध मे तप, द्वितीय मे ब्रह्मचारी का आचार्य कुल मे निवास और तृतीय मे अपने शरीर को क्षीण कर देना। इन सभी से पुण्यलोक की प्राप्ति होती है। ब्रह्मसंस्थ अमरत्व प्रदान करता है। मनु ने भी एक स्थल पर तीन आश्रमो का उल्लेख किया है किन्तु उसके बाद मे ही यह कहा है कि सौ वर्ष के चारो आश्रमो को पच्चीस-पच्चीस वर्ष के चार भागो मे विभाजित किया जा सकता है। गौतम आपस्तम्ब, विष्णु, वशिष्ठ आदि कई शास्त्रकारो ने भी चार आश्रमो की चर्चा की है--ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और पारिव्राजक (अथवा यति)।

आश्रम-व्यवस्था का मूल आधार सामाजिक व्यवस्था रही है। वानप्रस्थ और सन्यास सामाजिक सम्बन्धो को त्यागने और छोडने का क्रम माना गया है। संसार और समाज से विरक्त होकर विलग हो जाना सन्यासी के लिए अत्यन्त आवश्यक था। सन्यासी का जीवन पूर्ण रूप से समाज से अलग, विरक्ति और त्याग का जीवन था। उत्तरवैदिक काल के समाज मे सन्यास आश्रम को पूर्ण रूप से नही स्वीकार किया गया था। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ को ही सामाजिक व्यवस्था मे सम्मिलित किया गया था। वस्तुत वानप्रस्थ आश्रम सन्यास का ही प्रारम्भिक रूप था, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अध्यात्म को अपनाकर धार्मिक कृत्य सम्पन्न करता था। सभी आश्रमो मे गार्यहस्थ्य आश्रम की अपेक्षाकृत अधिक महत्ता थी। सभी आश्रम गार्यहस्थाश्रम पर निर्भर करते थे।

आश्रमो की नियोजना मे व्यवस्थित जीवन का अधिक महत्त्व था। अव्यवस्थित जीवन से आश्रम का विकास नही हो सकता था और न ही कोई आदर्श ही उपस्थित हो सकता था, इसलिए व्यवस्थित जीवन का पालन करने के लिए शास्त्रकारो ने निर्देश दिए। ब्रह्मचर्य मनुष्य के प्रारम्भ का ऐसा जीवन था जो सम्भवत उचित और निश्चित मार्ग-दर्शन के अभाव मे भटकाया जा सकता था तथा अपना बौद्धिक और शैक्षणिक उत्कर्ष नही कर पा सकता था। ब्रह्मचारी के लिए सही मार्ग का अवलोकन उस निश्चित व्यवस्था से ही सम्भव था, जो उसके निमित्त धर्मशास्त्रकारो द्वारा निर्दिष्ट की गई थी। इसी प्रकार गृहस्थ के लिए भी गार्हस्थ्य जीवन के नियमो और व्यवस्थाओ का अनुपालन करना वांछनीय था। सुखी और समृद्ध गृहस्थ जीवन व्यवस्थित निर्देशो का पालन करने पर ही कहा जा सकता था। परिवार के प्रति विभिन्न कर्त्तव्यो और उत्तरदायित्वो का निर्वाह ही सही गृहस्थ जीवन का लक्षण था। सन्तानोत्पत्ति के साथ-साथ विभिन्न यज्ञ सम्पन्न करना एक गृहस्थ के लिए अनिवार्य था। वानप्रस्थ आश्रम त्याग, निर्लिप्तता, योग तथा तपश्चर्या का जीवन था। इस आश्रम मे मनुष्य इन्द्रिय-निरोध, मोह-ममता से दूर, विरक्ति का जीवन जीता था। त्यागमय और सयमयुक्त मनुष्य का यह आश्रम उसे सन्यास की ओर ले जाता था जहाँ उसे सन्यास का कठोर और सयमित जीवन व्यतीत करना पडता था। यही सन्यास-आश्रम मनुष्य को मोक्ष-प्राप्ति की ओर उत्प्रेरित करता था।

चारो आश्रमो की व्यवस्था मनुष्य के जीवन को कर्म के अनुसार व्यवस्थित करने के लिए की गयी थी। मनुष्य के बौद्धिक और शिक्षित जीवन के निमित्त ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था की गयी थी। विद्या और शिक्षा की प्राप्ति इसी के पालन से होती थी, जिससे मनुष्य की ज्ञान-गरिमा बढती थी। उसका मानसिक और बौद्धिक उत्कर्ष ब्रह्मचर्य के अनुपालन से होता था। 'उपनयन' (यज्ञोपवीत) सस्कार उत्पन्न होने के बाद ही ब्रह्मचर्य आश्रम प्रारम्भ होता था। शूद्र को छोडकर अन्य तीनो वर्णो का उपनयन सस्कार सम्पादित किया जाता था। सभी व्यवस्थाकारो ने गुरु के सान्निध्य मे रहकर विद्यार्जन करने की व्यवस्था छात्रो के लिए की है। गुरुकुल मे रहकर छात्र विभिन्न विषयो का अध्ययन करता था। गुरुकुल का वातावरण अत्यन्त शान्त और एकान्त का था, जहाँ शिक्षा और विद्या का अध्ययन सुचारु रूप से हो सकता था। ब्रह्मचय मे दीक्षित हो जाने के बाद बालक को ब्रह्मचारी कहा जाता था। उसका जीवन अत्यन्त सयम और नियमबद्ध होता था। शील, साधना और अनुशासन का वह मन से अनुसरण करता था। उसके भिक्षार्जन, भोजन, शयन, गुरु, शुश्रूषा, समिधादान, निवास आदि पर अनेक नियमो की व्यवस्था की गयी थी। सदाचरण और सच्चरित्रता का पालन करना ब्रह्मचारी की अनुपम साधना थी, जो योग के समान मानी जाती थी। अपनी इच्छा और वाञ्छा को अपने वश मे रखना तथा अपनी क्रियाओ को धर्म-समन्वित करना उसका श्रेष्ठ आचरण था। वह अपनी विचाराशील इन्द्रियो को सयमित रखता था जिससे उसे सिद्धि की प्राप्ति होती थी।[1]

ब्रह्मचारी के समावर्तन समारोह के पश्चात् गृहस्थ का जीवन प्रारम्भ होता था। विवाहोपरान्त वह गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होता था। गार्हस्थ्य आश्रम से ही अन्य आश्रमो का विस्तार और विकास होता था तथा उसी के अनुग्रह और आदर पर अन्य आश्रम पूर्णत निर्भर करते थे। गृहस्थ आश्रम मे रहकर गृहपति अपने विभिन्न कर्त्तव्यो का निर्वाह करता था। व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यो का वह पालन करता था। सत्य, अहिंसा, सब भूतो के प्रति दया, शम, सामर्थ्यानुसार दान आदि गृहस्थ के उत्तम कर्म थे। गृहस्थ के लिए साधक की भाँति आचरण करना अनिवार्य था। उसका यह आचरणगत कर्त्तव्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह आदि पर अवलम्बित था। अतिथि-सत्कार मे वह अग्रणी रहता था, तथा उन्हे भोजन-आसन प्रदान कर प्रसन्न करता था।[2] स्वधर्म के अनुरूप जीविका चलाना, विधानानुसार विवाह करना, अपनी भार्या से ही सम्यक रखना, देवताओ, पितरो और मृत्यो को सन्तुष्ट करने के उपरान्त अवशिष्ट भोजन स्वय ग्रहण करना गृहस्थ का प्रधान धर्म था। गार्हस्थ्य आश्रम के अन्तर्गत व्यक्ति कई ऋणो से मुक्ति प्राप्त करता था। देवऋण, ऋषि-ऋण, पितृ ऋण, आदि से मुक्ति पाना मनुष्य का ऐच्छिक नही, बल्कि अनिवार्य

1,2 वही, पृष्ठ 179 180

कर्त्तव्य होता था। गृहस्थ के लिए यज्ञ करना आवश्यक समझा गया था। ब्रह्म यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ (अतिथि-यज्ञ) ये पंच महायज्ञ थे।

गार्हस्थ्याश्रम के बाद वानप्रस्थ आश्रम का प्रारम्भ होता था। जब मनुष्य अपने समस्त गार्हस्थ्य कर्त्तव्य और उत्तरदायित्वों को सम्पन्न कर लेता था तब वह सांसारिक मोह-माया को त्यागकर वानप्रस्थ जीवन की ओर मुड़ता था। वन की ओर प्रस्थान करना ही वानप्रस्थ था। वानप्रस्थ जीवन में व्यक्ति त्याग, तप, अहिंसा और ज्ञान का अर्जन करता था। उसका प्रधान उद्देश्य था आध्यात्मिक उत्कर्ष, समस्त भौतिक स्पृहाओं से मुक्ति पाने का उपक्रम। विद्या, शरीर की शुद्धि और तपस्या की वृद्धि के लिए वानप्रस्थ का सेवन किया जाता था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह संयमित और कठोर जीवन का अनुपालन करता था। वह शीत और उष्ण का सहन करते हुए तपश्चर्या करता था, इसलिए वह तपशील था। वानप्रस्थाश्रमी का जीवन अत्यन्त साधना और तप का था। वह ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-निग्रह के साथ-साथ सत्य और अहिंसा का भी अनुपालक था। पंचमहायज्ञ और अतिथि-सत्कार करना उसका प्रधान कर्त्तव्य था। वानप्रस्थ आश्रम मोक्ष के मार्ग का दिग्दर्शन कराता तथा मनुष्य को साधना और तपस्या की ओर उत्प्रेरित करता था।[1]

जीवन का अन्तिम भाग सन्यास आश्रम के अन्तर्गत रखा गया था, जो चतुर्थ आश्रम भी कहा जाता था। वानप्रस्थ आश्रम के पश्चात् सन्यास आश्रम का प्रारम्भ होता था। मोक्ष-प्राप्ति के लिए सन्यास आश्रम की सहायता आवश्यक थी। किन्तु अनुत्तरदायी व्यक्ति गृहस्थ-जीवन के कर्त्तव्यों को पूर्ण रूप से न पालन करने के कारण सन्यास आश्रम को अपनाने का अधिकारी नहीं था। सन्यास आश्रम में व्यक्ति पूर्णरूपेण निर्लिप्त-निस्पृह होकर मोक्ष-प्राप्ति के कार्यक्रम में लगता था। सन्यास आश्रम का मूल उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति थी अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए अत्यन्त साधना और तपस्या की अपेक्षा थी। सन्यासी का जीवन समस्त राग-द्वेष और मोह-मायाओं से विलग, पूर्णतया एकाकी था। उसे अपनी स्पृहा, इन्द्रिय, आचरण आदि पर नियन्त्रण रखना अनिवार्य था। संग्रह करने पर उस पर प्रतिबन्ध था वह सबको अभय प्रदान करता था तथा वेद के अलावा अन्य कर्मों के प्रति वह सन्यस्त था। उसके लिए यह नियम था कि वह सम भाव रखे, जरायुज, अण्डज आदि सभी जीवों से कभी द्रोह न करे। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि समस्त दुर्गुणों को त्याग दे। इन्द्रिय-निग्रह के साथ जितेन्द्रिय होना भी सन्यासी के लिए आवश्यक था। सन्यास का प्रचलन प्रायः ब्राह्मणों में ही अधिक था।[2]

जिस प्रकार पुरुष के लिए आश्रम व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक और प्रयोजनीय थी, उस प्रकार स्त्री के लिए नहीं। स्त्री के लिए आश्रम-व्यवस्था का विधान अपेक्षाकृत कम था।

1 वही, पृष्ठ 179-80
2 वही, पृ 196-99

3 पारिवारिक जीवन

वैदिककालीन समाज मे पुरुष-प्रधान समाज था इसलिए पारिवारिक जीवन मे माता की अपेक्षा पिता को अधिक सम्मान दिया जाता था। पिता या पितामह ही घर का स्वामी होने के कारण गृहपति कहलाता था। गृहपति गृहिणी का सम्मान करना उचित समझता था। यदि उसकी सन्तान निष्क्रिय दिखलाई पडती थी तो वह उसे दण्डित करके प्रगति-पथ पर आरूढ करने मे भरसक प्रयास किया करता था। गृहपति एव गृहिणी अपनी होनहार सन्तान का पालन-पोषण करने मे गर्व का अनुभव किया करते थे। पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को मिला करता था, परन्तु आवश्यक होने पर पैतृक सम्पत्ति को सभी भाइयो मे बराबर-बराबर बाँट दिया जाता था।[1] परिवार के वाह्य कार्यो मे पुरुष को प्रधानता मिलती थी तथा घर के आन्तरिक कार्यो मे गृहिणी की प्रधानता रहती थी। उस समय के परिवारो मे सयुक्त परिवार-प्रथा को महत्त्व दिया जाता था। सयुक्त परिवार प्रथा मे सन्तुलन बनाये रखने के लिए सम्पन्नता को वरेण्य माना जाता था। ऐसे परिवार की कन्याओ का जीवन प्राय नारकीय हो जाता था, जिनके भाई नही होते थे। वे कन्याएँ प्राय लम्पटो के शिकजे मे फँसकर अपने जीवन को आहो और आँसुओ मे व्यतीत करने के लिए विवश हो जाती थी।[2]

परिवार मे स्त्रियो को शोषण-मुक्त रखने के लिए कताई बुनाई के कार्यो मे व्यस्त रखा जाता था। पत्नी अपने सास-श्वसुर, देवर-ज्येष्ठ, पति-देवर आदि के होने पर भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित करने के अवसर प्राप्त करती थी। पति-पत्नी अपनी सन्तान के साथ धार्मिक कृत्यो को सम्पादित करते हुए आनन्दित रहा करते थे। पत्नी पति के साथ सोमरस तैयार करती थी तथा यज्ञ-सम्पादन करती थी। जिस प्रकार उषा देवी सभी व्यक्तियो को जगाने का उपक्रम करती है, उसी प्रकार गृहिणी का कार्य सबसे पहले उठकर यथा समय अन्य पारिवारिक सदस्यो को जगाने से शुरू होता है। जिस प्रकार रात्रि देवी अपने शान्त वातावरण मे सबको आनन्ददायिनी सिद्ध होती है, उसी प्रकार स्त्रियाँ रात्रि मे सबसे पीछे सो कर अपने परिवार का हितचिन्तन किया करती थी। पत्नी को गृहिणी मानकर उसे ही घर का रूप माना जाता था,। जहाँ गृहिणी है, वही गृह है, वही गृहस्थी है तथा वही आनन्द है अत पारिवारिक जीवन मे आशावादी दृष्टिकोण को प्रधानता दी जाती थी।

4 दैनिक जीवन

वैदिक युग के समाज मे व्यक्तियो का दैनिक जीवन विभिन्न प्रकार के आमोद-प्रमोद, खान-पान, रहन-सहन तथा वेशभूषा को धारण करने से सम्बद्ध था। उस समय के व्यक्ति घुडदौड, रथदौड, नृत्य तथा सगीत को अपने दैनिक आमोद-

1 ऋग्वेद 1/70/5
2 वही 1/124/7

प्रमोद का साधन मानते थे। कर्करी तथा दुन्दुभी जैसे वाद्ययन्त्रो को बजाकर दैनिक जीवन को सरस बनाने का उपक्रम चलता था। वैदिक समाज मे पूजा-पद्धति को अलौकिक आनन्द का विषय माना जाता था। आर्यों के भोजन मे दूध, दही, घृत आदि पौष्टिक पदार्थों का विशिष्ट स्थान था। सोमरस का पान करके अमरता की कल्पना की जाती थी। दैनिक जीवन मे सुरापान को स्थान नही दिया गया था।[1] गाय को 'अवध्य' मानकर मांसाहार का विरोध किया जाता था। दैनिक खान-पान मे रोटी, चावल, दूध तथा घी की प्रधानता थी। उस समय के समाज मे अनेक प्रकार के वस्त्रो को धारण करने का शौक था। कमर मे 'नीवी' या धोती, वक्ष पर 'वास' तथा सिर पर 'अधिवास' धारण करने का रिवाज था। अनेक प्रकार के आभूषण—कुण्डल, अगद, हार, गजरे आदि दैनिक जीवन के अभिन्न अग बन चुके थे। बालो को कघी से सवारना तथा दाढी रखने की भी प्रथा थी। दाढी को स्वच्छ रखना दिनचर्या का विषय था। स्त्रियो के दैनिक जीवन मे शृगार की प्रधानता रहती थी।

5 विवाह-प्रथा

वैदिक युग के समाज मे बहुविवाह की प्रथा का सघर्षमूलक रूप विद्यमान था। स्रोत को खत्म करने तथा एक स्त्री का अपने पति के ऊपर पूर्ण अधिकार करने की इच्छा का उल्लेख[2] यही स्पष्ट करता है कि वैदिक समाज मे बहुविवाह की प्रथा कटकाकीर्ण होने के कारण एक विवाह की ओर विकसित हुई थी। उस समय का समाज दहेज का किसी सीमा तक आदर करता था। सगोत्रीय विवाह को यथा-सम्भव रोका जाता था। बडे-बडे राजा तथा ऋषि अनेक विवाह के पक्षधर रहा करते थे। पुरूरवा तथा उर्वशी के विवाह से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक समाज मे गन्धर्व-विवाह को भी स्थान मिला हुआ था। एक स्त्री अपने अनेक पति नही रख सकती थी।[3] वैदिक समाज मे विवाह को पवित्र सस्कार माना जाता था। अग्नि को साक्षी करके वर और कन्या एक-दूसरे के सहायक होने का प्रण करते थे। विवाह मनोरजन के लिए न होकर जीवन-पथ को प्रशस्त करने के लिए होता था। विधवाओ के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाकर युवती विधवाओ के पुनर्विवाह की व्यवस्था दी। अत वैदिक समाज मे विवाह-प्रथा अनेक रूपो मे प्रचलित थी तथा उसे गृहस्थ जीवन का मूल आधार माना जाता था।

6 समाज मे स्त्रियो की स्थिति

वैदिक समाज मे स्त्रियो को वेद पढने का अधिकारी माना जाता था, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय स्त्रियो की शैक्षणिक स्थिति पर्याप्त ठीक थी। स्त्री को गृहिणी के रूप मे घर की प्रशासिका माना जाता था। स्त्री का उसके

1 ऋग्वेद, 7/86/6,
2 अथर्ववेद, 3/18/15
3 ऐतरेय ब्राह्मण 3 23

श्वसुर, ननद, देवर आदि के ऊपर अधिकार होता था । गार्गी, मैत्रेयी, कात्यायनी आदि महिलाओ के चरित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक समाज मे स्त्रियो को ससम्मान रखा जाता था । स्त्रियो की सामाजिक स्थिति के विषय मे ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन तथा सस्कृति के स्वरूप का विश्लेषण करते समय पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है अत यहाँ उसका सकेत ही पर्याप्त ही है ।

वैदिकयुगीन आर्थिक स्थिति

आर्यो के समाज की स्थिति का अध्ययन करने के उपरान्त वैदिक युग के आर्थिक स्वरूप पर विचार लेना आवश्यक है । वैदिक युग का समाज वर्ण-व्यवस्था के द्वारा व्यवस्थित था अत उसकी आर्थिक स्थिति वर्णानुकूल कार्य पर आधारित थी फिर भी सम्पूर्ण समाज का अर्थतन्त्र वैश्य वर्ग के ही हाथो मे था । उस समय के समाज की आर्थिक अवस्था को हम निम्न बिन्दुओ के आधार पर चित्रित कर सकते हैं—1 पशुपालन, 2 कृषि, 3 आखेट, 4 कुटीर उद्योग, 5 व्यापार, 6 शिक्षा तथा सेवा ।

1. पशुपालन—वैदिकयुगीन समाज के आर्यो का प्रिय पशु गाय मानी जाती थी । गाय को माता के समान आदर दिया जाता था । अनेक चरागाहो मे गायो को चराया जाता था तथा उनके दूध पर पूरी पेय-व्यवस्था आधारित रहती थी । गाय के बछडे बैलो के रूप मे हल जोतने के काम मे आते थे । बैलो की गाडी खीचने के कार्य मे भी लिया जाता था । आर्यो का दूसरा प्रिय पशु घोडा था, जो सवारी के काम मे आता था । घोडो का युद्ध की दृष्टि से भी महत्त्व था अत घोडो की उच्च कीमतें अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करती थी । उस समय के अन्य पालतू पशु भेड, बकरी, गधे तथा कुत्ते भी थे । भेड-बकरियाँ दूध के व्यवसाय तथा माँसाहार की दृष्टि से अपना अर्थजन्य महत्त्व रखती थी तथा गधे भार-वहन का कार्य करते थे । कुत्ते स्वामिभक्ति के प्रतीक होने के कारण अपना अलग ही महत्त्व रखते थे । पशुओ का हरण या चोरी हो जाने पर उस समय का समाज पूषा या सूर्य देवता का स्तवन करता था, जिससे दिन निकलते ही उनके पशु उन्हे प्राप्त हो सकें । पशुपालन के साथ दुग्ध-व्यवसाय जुडा हुआ था ।

2 कृषि—वैदिक युग मे पशुपालन के पश्चात् कृषि को महत्त्व दिया जाता था । आर्य लोग खेती मे हल चलाने के लिए बैलो का प्रयोग करते थे । उनके हल मे लोहे की फाली या लौह फलक को स्थान मिलता था । वे अपनी कृषि को सीचने के लिए पर्जन्य देवता की आराधना करते थे । सिंचाई का कार्य मुख्यत वर्षा के ऊपर ही अवलम्बित रहता था । उस समय तालाबो तथा झीलो से भी सिंचाई की जाती थी ।[1] उस समय के समाज मे चावल, चना, ईख आदि फसलें उगाई जाती थी । उस समय की कृषि मे शर्करा के उत्पादन को विशेष स्थान मिला हुआ था । आर्य लोग फसलो को काटने के लिए हसिया का प्रयोग करते थे । वैदिक समाज के

1 ऋग्वेद, 1/117/21 तथा 6-13-4

कृषक को अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अनेक कीड़े-मकोड़ो की जानकारी थी। भूमि की उवरता से भी उस समय का कृषक परिचित था। कृषि के कार्य मे न केवल वैश्य वर्ण, अपितु शूद्र वर्ण भी सेवक या परिचारक के रूप मे व्यस्त रहा करता था।

3 आखेट—वैदिक युगीन समाज मे राजाओ का मनोरंजन आखेट भी था। निम्न वर्ग के लोग शिकार को आजीविका के रूप मे अपनाते थे। उस समय शेर को गड्ढे मे गिराकर मारा जाता था। उसकी चर्म को वस्त्र के रूप मे पहना जाता था। हाथी का शिकार करके हाथी-दाँत की चीजें बनाई जाती थी तथा गजमस्तक की मणियो को प्राप्त किया जाता था। आखेट के माध्यम से मांसाहार की पूर्ति भी होती थी। जहाँ क्षत्रिय वर्ण अपने वैभव के प्रदर्शन हेतु आखेट करता था, वही शूद्र वर्ण के लोग छोटे-छोटे शिकार करके अपनी जीविका-यापन किया करते थे।[1]

4 कुटीर-उद्योग—वैदिक समाज मे अनेक कुटीर-उद्योग प्रचलित थे। स्त्रियाँ कताई-बुनाई के कार्य मे दक्ष थी। स्वर्णकार अपने गृह मे आभूषण निर्मित किया करते थे। लकड़ी का सामान बनाने के साथ-साथ नक्काशी का कार्य भी किया जाता था। चर्मकार चमड़े को पकाकर पदत्राण या जूतियाँ बनाया करते थे। कुओ से जल निकालने के लिए चमड़े की मशक का प्रयोग किया जाता था। वेद के प्रणेता विभिन्न धातुओ से परिचित जान पड़ते हैं अत उस समय लघु उद्योगो के रूप मे लोहा, तांबा, आदि का कार्य होता रहा होगा। तन्तुवाय बुनाई के कार्य मे कुशल होते थे अत कुटीर-उद्योग सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे सहायक थे।

5 व्यापार—वैदिक युग मे व्यक्ति अनेक प्रकार की वस्तुओ का व्यापार करते थे। उस समय के वणिक् 'निष्क' सिक्के को या आभूषण को व्यापार की मुद्रा के रूप मे प्रयोग करते थे। उस समय के क्रय-विक्रय को देखने से पता चलता है कि उस युग मे वस्तु-विनिमय की प्रधानता थी। इन्द्र की एक मूर्ति खरीदने के लिए दस गायें देनी पड़ती थी। महाजन साधारण ब्याज पर ऋण देते थे। गायो, बैलो तथा घोड़ो का व्यापार बड़े पैमाने पर होता था। गोधन, गजधन, अश्वधन को पशुधन[2] के रूप मे गिना जाता था। उस समय के व्यापारी धर्म का ध्यान रखते हुए ही व्यापार मे प्रवृत्त होते थे। नदियो तथा समुद्रो मे नौका-सचालन करने वाले व्यक्ति व्यापार के यात्रा-साधन जुटाते थे। मछली पकड़ने का कार्य मत्स्यकार या मछुए किया करते थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वैदिक समाज मे व्यापार मुख्यत वैश्यो के अधिकार मे था, परन्तु छोटे-छोटे सभी कार्यो मे शूद्र वर्ण का योगदान रहता था।

1 ऋग्वेद 10/28/10
2 ऋग्वेद, 5/4/11

6 शिक्षा तथा सेवा—वैदिक युग के ब्राह्मणो की आर्थिक स्थिति शिक्षण कार्य के ऊपर अवलम्बित थी । मितव्ययी एव अकिंचन ब्राह्मण नि स्वार्थ भावना से अध्ययन करते थे तथा तत्कालीन राजाओ से राजकीय अनुदान प्राप्त करते थे । क्षत्रिय वर्ण समाज की रक्षा करता हुआ जनसेवा तथा राष्ट्र सेवा किया करता था । उस समय का क्षत्रिय आखेट को मनोरजन की दृष्टि से तथा गजशास्त्र एव धनुर्वेद जैसे विषयो का अध्यापन भी करता था । शूद्र वर्ण उद्योग धन्धो मे सहयोग प्रदान करता हुआ तथा द्विजो की सेवा करते हुए अपनी आर्थिक अवस्था को सुधारने का प्रयास किया करता था अत शिक्षा एव सेवा का भी आर्थिक स्थिति के निर्माण मे महत्त्व था ।

वैदिक युग मे वैश्यो और शूद्रो के हाथो मे उद्योग एव व्यापार के होने से अनेक व्यवसायो का प्रचलन हो चुका था । मछुआ, धीवर, सारथी, गडरिया, धोबी, लुहार, स्वर्णकार, मणिकार, टोकरी बुनने वाले, रस्सी बँटने वाले, वशी बजाने वाले[1] तथा नट या कला प्रदर्शक लोग अपने-अपने धन्धो को विकसित करने का प्रयास किया करते थे । इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि वैदिक युग की आर्थिक अवस्था वर्ण-व्यवस्था के ऊपर अवलम्बित थी । ऐसी आर्थिक स्थिति की पृष्ठभूमि मे शोषण कम ही दिखलाई पडा करता था फिर भी वर्ण-व्यवस्था मे अनेक कट्टरताओ का जन्म होने से शूद्र वर्ण की आर्थिक स्थिति प्राय अच्छी नही रही थी ।

वैदिकयुगीन गृहस्थ धर्म

वैदिक युग के प्रारम्भिक चरण मे केवल दो ही आश्रम थे—ब्रह्मचर्य एव गार्यहस्थ्य परन्तु उत्तर वैदिककाल मे वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम को भी प्रतिष्ठा मिली । वैदिक युग का गृहस्थ धर्म के अनेक रहस्यो से जिस प्रकार परिपूर्ण होता गया, उनका अध्ययन निम्न बिन्दुओ के आधार पर किया जा सकता है—

1 पच महायज्ञ, 2 सोलह सस्कार, 3 वैवाहिक नियमो की व्यवस्था, 4 स्त्रियो का आदर, 5 सयुक्त परिवार-प्रथा, 6 शिक्षा, 7 समन्वय या समरसता, 8 यथोचित अर्थ-साधना ।

उपर्युक्त सभी बिन्दुओ पर वैदिक सस्कृति के प्रसग मे विचार हो चुका है । यहाँ हम केवल वैदिक गृहस्थ धर्म की मूल प्रक्रिया की ओर ही सकेत कर देना चाहते हैं । यथार्थत वैदिक गृहस्थ धर्म सम्पूर्ण समाज का केन्द्र-बिन्दु बनकर भौतिक और आध्यात्मिक प्रगति का सम्बल सिद्ध हो सका । सन्यास एव वैराग्य के पक्षधर एव ब्रह्म विद्या के साक्षात् पुञ्ज उपनिषद् भी विद्या और अविद्या के समन्वय मे समाज की प्रगति को निहारते रहे ।[2] अत वैदिकयुगीन गृहस्थ धर्म सदा के लिए सामाजिक प्रेरणा का स्रोत बन सका ।

1 शतपथ ब्राह्मण, 2/3/3/5
2 यजुर्वेद, 40/4–8

वैदिक-युगोत्तर सस्कृति
(Culture after Vedic Period)

वैदिक युग 600 ई पू मे समाप्ति की ओर था। सस्कृति की दृष्टि से बौद्ध व जैन नामक सस्कृतियो के उदय ने एक युगान्तरकारी रूप धारण किया तथा मरी ओर लौकिक सस्कृति के उदय ने 'रामायण' एव 'महाभारत' जैसे पौराणिक महाकाव्यो तथा अनेक पुराणो के उदय ने वैदिक सस्कृति को एक नया रूप प्रदान किया। अत पुराणो रामायण एव महाभारत के प्रणयन से वैदिक सस्कृत साहित्य ने एक राहत मिली तथा नवीन जीवन मूल्यो एव दर्शन का उदय हुआ। अत वैदिक युगोत्तर सस्कृति को जानने के लिए एक ओर पुराण एव महाकाव्य आधार स्तम्भ हैं तथा दूसरी ओर बौद्ध एव जैन साहित्य। पुराणो की अवतारवादी धारणा के विरोध मे गौतम बुद्ध या अनीश्वरवादी दर्शन अलग ही महत्त्व रखता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पुराणो एव महाकाव्यो ने वैदिक साहित्य को आधारभूत बनाकर सांस्कृतिक विकास मे योगदान दिया तथा बौद्धो एव जैनो ने वैदिक साहित्य का विरोध करके एक नवीन सस्कृति को जन्म दिया। यहाँ हम इसी क्रम मे पौराणिक एव महाकाव्ययुगीन सस्कृति तथा बौद्ध एव जैन सस्कृति का उल्लेख कर रहे हैं।

पौराणिक सस्कृति का स्वरूप
(Mythological Culture)

अठारह पुराणो का प्रारम्भिक रूप 600 ई पू. ही निर्मित हो चुका था। उस समय के पुराण अपने बीज रूप मे तो वैदिक युग के साहित्य के समानान्तर ही विकसित हो रहे थे, परन्तु उस समय अर्थात् 600 ई पू मे तो पुराणो मे ब्राह्मण धर्म का बोलबाला स्थान पा चुका था। पुराणो की गूढ एव अतिशयोक्तिपूर्ण शैली अपना ऐसा चमत्कार प्रदर्शित कर रही थी कि जनसाधारण ईश्वर के विरोध मे कुछ सोच ही नहीं सकता था। यही अतिशयोक्तिपूर्ण शैली रामायण तथा महाभारत के परिवर्धन का आधारभूत बन चुकी थी। लौकिक सस्कृत भाषा के इस साहित्य ने भाषा की सरलता के आधार पर भी जनसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट किया। अत पौराणिक एव महाकाव्ययुगीन सस्कृति के स्वरूप या विशेषताओ को समझने के लिए हम निम्नलिखित बिन्दुओ के आधार पर विचार कर सकते हैं—

1 अवतारवाद की धारणा, 2 आदर्श चारित्रिकता, 3 धर्म का समानाधिकार, 4 वर्ण-व्यवस्था, 5 आश्रम-व्यवस्था, 6 नारी-उद्धार, 7 राष्ट्रीयता की भावना, 8 समन्वय 9 सम्माननीयो का सम्मान।

1 **अवतारवाद की धारणा**—गौतम बुद्ध ने स्वय को ईश्वर का अवतार न बताकर पौराणिक अवतारवाद की ओर ही सकेत किया था। 600 ई पू से लेकर 400 ई पू तक के पौराणिक साहित्य मे अवतारवाद का एकछत्र राज्य हो गया था। महाभारत के दर्शन मे अवतारवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब-जब धर्म का ह्रास होता है, अधर्म की वृद्धि होती है, दुष्टजन आनन्दित रहते है तथा सतजन

पीडित रहा करते हैं, तब-तब सर्व शक्तिमान् शक्ति धर्म की स्थापना के लिए, दुष्टों के विनाश के लिए, सज्जनो की रक्षा के लिए अवतरित हुआ करती है।[1]

इसी अवतारवाद के आधार पर ईश्वर के अनेक अवतार प्रसिद्ध हो गए। वाल्मीकीय रामायण मे राम को ईशावतार बता दिया गया तथा महाभारत के एक अश गीता नामक शास्त्र मे श्रीकृष्ण को अवतार घोषित कर दिया गया। पुराणो मे मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिह, वामन, परशुराम, राम तथा कृष्ण के साथ बुद्ध को भी अवतार कहा जाने लगा। पुराणो का अवतारवाद भारतीय सस्कृति मे भक्ति-भावना को विवर्धित करने वाला सिद्ध हुआ। उपनिषदो का ज्ञानमार्ग जनता के लिए दुर्बोध्य सिद्ध हुआ, इसलिए पुराणो मे भक्ति मार्ग का प्रतिपादन हुआ। अष्टादश पुराणो मे ईश्वर के अनेक रूपो को प्रस्तुत करके भक्ति का अनेक रूपी सबल आधार प्रस्तुत किया। अत रामायण के राम रावण का वध करके अपने समय के यज्ञो की रक्षा करते है,[2] आर्य सस्कृति की रक्षा करते है। महाभारत एव पुराणो के श्रीकृष्ण कस निकन्दन है तथा भक्ति-पथ के समर्थक हैं। ये सभी अवतार वैदिक धर्म की मर्यादाओ की सस्थापना के लिए अवतरित दिखाए गए है।

2 आदर्श चारित्रिकता—पौराणिक साहित्य के माध्यम से आदर्श चरित्रो को प्रस्तुत करके सस्कृति के स्वरूप को उज्ज्वल बनाने का सफल प्रयास किया गया। भागवत पुराण के जड भरत सौवीर नरेश के मद को उस समय दूर करते हैं, जब वह उन्हे अपनी पालकी मे जोत देता है तथा पुन -पुन सधकर चलने की आज्ञा देता है। जड भरत मे अपने मानस मे बसे ईश्वर के स्वरूप को ध्यान करते चलते हैं तथा वे राजदण्ड की चिन्ता नही करते। जब राजा उन्हे प्राणदण्ड का भय दिखलाता है तो वे यही कहते है कि—'उनके शरीर के मर जाने पर भी उनका विनाश नही होगा।' वे सौवीर नरेश को मानवता और सौजन्य के पथ पर लाकर खडा कर देते हैं। पुराणो के ऐसे ही अनेक आदर्श चरित्रो ने जन-समाज को विश्वबन्धुत्व की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी। वह समाज आदर्श चरित्र को अपनी सस्कृति का सर्वस्व मानता था। पुराणो के राजवश तथा ऋषि वश के अनेक चरित्र भारतीय सस्कृति को राष्ट्रीय चरित्र के स्तर पर लाकर खडा कर देते है। दधीचि एव शिवि जैसे दानवीर अपनी अस्थियो एव मांस का दान करके चरम त्याग का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। राजा अम्बरीष ने जनरक्षा मे अपना सर्वस्व न्योछावर किया। वह ईश्वर मे इतना तल्लीन रहता था कि स्वय ईश्वर को सशस्त्र रूप मे राजा की रक्षा मे तैनात रहना पडा। विभिन्न राजाओ की प्रजा-वत्सलता भारतीय राजकुल की पवित्र सस्कृति को ही अभिव्यक्त करती है।

1 यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे॥ —गीता, 4/7-8

2 वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, यज्ञ-रक्षा प्रसग

'रामायण' के राम समस्त आदर्शताओं को लेकर पौराणिक मंच पर खड़े दिखाई देते है। वे भारतीय संस्कृति के महान् रक्षक के रूप मे अवतीर्ण होकर आदर्श राजा, आदर्श भाई, आदर्श मित्र, आदर्श योद्धा, आदर्श पति तथा आदर्श जनहितैषी के रूप मे प्रकट दिखलाई पड़ते हैं। लक्ष्मण और हनुमान प्रतिपक्षियो अथवा भारतीय संस्कृति के विनाशकों को नष्ट करके अपनी संस्कृति के प्रतिमानो को प्रस्तुत करते हैं। भरत त्याग की मूर्ति के रूप मे संस्कृति का उज्ज्वल चारित्रिक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। राम के प्रतिपक्षी पात्र भी अपनी विलक्षण विशेषताओं से संयुक्त होकर संस्कृति के उज्ज्वल स्वरूप को प्रकट कराने मे सहायक होते हैं। स्त्री पात्रो मे सीता, कौशल्या तथा मन्दोदरी आदर्श पतिव्रता महिलाओं के रूप मे संस्कृति के 'पतिव्रता' लक्षण को उजागर करती हैं। राम का पक्ष अपनी संस्कृति और राष्ट्र की रक्षा के लिए प्राणो की बाजी लगाकर राष्ट्रीय चरित्र प्रस्तुत करता है।

महाभारत के कौरव पक्ष के धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन की अविनायकता के विरोध मे कृष्ण पाण्डवो को साथ लेकर चारित्रिक सत्य को प्रस्तुत करते है। दोनो ही पक्षो के असख्य योद्धा अपने-अपने पक्ष को सत्यपूर्ण मानकर युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हो जाते हैं। महाभारत के विदुर, धौम्य, उद्दालक, सान्दीपनि जैसे सांस्कृतिक लक्षणो के रूप मे प्रकट करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। महाभारत के स्त्री चरित्रो मे अपेक्षाकृत आदर्शता का अभाव है। द्रौपदी का चरित्र सत्यात्मक होता हुआ भी आदर्श नही है।

3 धर्म का समानाधिकार—धर्माधिकार की दृष्टि से पौराणिक संस्कृति मे अनेक मान्यताएँ दिखलाई पड़ती हैं। भविष्य पुराण मे शूद्र को पुराण-वचनो को पढने का अधिकार नही बताया है।[1] उस समय के शूद्र ब्राह्मणवाद के अतिरेक से पीड़ित कहे जा सकते हैं। जब शूद्रो को सद्ग्रन्थो के स्वाध्याय से वंचित रखा गया तो हिन्दू समाज मे अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो गईं। शूद्र पुराण-वचनो को सुनने का अधिकारी मात्र था। रामायण भी शूद्रो को द्विजजातियो के स्तर पर लाकर खड़ा नही करती। महाभारत मे शूद्रो एवं स्त्रियो को आत्मज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी घोषित किया गया है। गीता मे भी इसी रहस्य को प्रकट करते हुए कहा गया है कि "ईश्वर को आधार मानकर जो व्यक्ति आध्यात्म-क्षेत्र मे आगे बढते हैं, वे चाहे शूद्र हो या स्त्रियाँ—परम गति को प्राप्त होते हैं।" यथा—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

—गीता, 9/33

महाभारतकालीन संस्कृति मे ऐसा युगान्तरकारी परिवर्तन दिखलाई पड़ता है, जिसे हम व्यक्ति और समाज का संस्कार करने वाली संस्कृति का प्रधान तत्त्व कह सकते है। ईश्वर के लिए सभी जीवधारी समान हैं। सभी जीवधारियो मे

1 अध्येतव्य न चान्येन ब्राह्मण क्षत्रिय विना।

ईश्वर का निवास है, इसलिए सभी को आत्महित करने का अधिकार है। जो ईश्वर का ध्यान करता है, वह ईश्वर का ही हो जाता है।[1] सम्पूर्ण समाज ने जिस व्यक्ति को धर्म की दृष्टि से वहिष्कृत कर दिया है, वह व्यक्ति भी सदाचार-स्वरूप ईश्वर की आराधना करता हुआ शीघ्र ही पाप-मुक्त हो जाता है तथा पुण्यात्मा कहलाने का अधिकारी होता है।[2] व्यक्ति के ऊपर हीनता केवल आचरण है, अन धर्म की दृष्टि से सव समान हैं। एक पापी व्यक्ति धर्माचार से शीघ्र ही धर्मात्मा का रूप धारण करके शाश्वत शान्ति को प्राप्त होता है। अत वेदाध्ययन, पुराणो का स्वाध्याय आदि की दृष्टि से धर्म-धारणा का समान अधिकारी होने पर भी आत्म-साधना का समान अधिकार पौराणिक सस्कृति की महान् विशेपता है। अत वैदिक सस्कृति मे जो विपमताएँ थी, लगभग वे ही किसी न किसी रूप मे पौराणिक सस्कृति मे अधिकार कर बैठी थी। जिस प्रकार वद के मन्त्र-द्रष्टाओ ने सभी को वेदाध्ययन का अधिकारी वताकर भी शूद्र की शोचनीय स्थिति के निराकरण के लिए सामाजिक स्तर पर प्राय कुछ नही किया, उसी प्रकार पौराणिक सस्कृति मे शूद्रो को सद्ग्रन्थो का स्वाध्याय करने का अधिकार न देकर केवल सुने-सुनाए ज्ञान के आधार पर उन्हे आत्म-साधना का अधिकार देना हिन्दू-समाज के सेवक वर्ग के प्रति एक अघोर प्रवचना है।

4 **वर्ण-व्यवस्था**—पौराणिक सस्कृति मे वर्ण-व्यवस्था को अत्यधिक महत्त्व दिया गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चारो वर्णों के कर्मों को प्राकृतिक या जन्मजात गुणो के रूप मे समझा गया।[3] ब्राह्मण वर्ण के कर्मों को अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन, एव दान-प्रतिदान के रूप मे प्रस्तुत करके ब्राह्मणो के विशिष्ट लक्षणो को भी वर्ण-व्यवस्था की मनोवैज्ञानिकता सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया। मन का शमन करना, इन्द्रियो का दमन करना, मन, वाणी और शरीर की पवित्रता, क्षमाशीलता, चित्त की मृदुलता और ज्ञान और विज्ञान मे रुचि का होना ब्राह्मण वर्ण के लक्षण एव कर्म माने गए। समाज का शैक्षणिक कार्य ब्राह्मण वर्ण के हाथो मे था। ब्राह्मण लोग शिक्षा के ऊपर एकाधिकार किए हुए थे। ब्राह्मणो मे चारित्रिक पवित्रता का होना अनिवार्य माना जाता था, ताकि शिक्षा को उपदेशात्मक रूप प्रदान किया जा सके। क्षत्रिय वर्ण के लिए शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, रणधीरता तथा नेतृत्व-शक्ति जैसे गुणो को अपरिहार्य माना गया। क्षत्रिय वर्ण के ये गुण ही उमे समाज तथा शासन-सचालन के काय सौंप सके। क्षत्रियो को युद्धोन्मत्त करने के लिए वीरगति प्राप्त करने वाले शूरवीरो

1 समोऽहसर्वभूतेपु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय ।
ये भजन्तितु माभक्तया मयि ते तेपू चाप्यहम् ।।

2 अपिचेतसुदुराचारो भजतेमामनन्यभाक् ।
साधूरेवसमन्तव्य सम्यग्व्यवसितोहि स ।। —गीता, 9/29–30

3 गीता 18/41

को मोक्ष का अधिकारी बताया गया। रणभूमि मे हताहत होने वाले वीर को स्वर्ग प्राप्त करने का अधिकार बताया गया। गीता की यह उक्ति 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' क्षत्रिय वर्ण को समाज-रक्षा की ओर ही प्रवृत्त करने वाली थी। क्षत्रिय वर्ण को सामाजिक सुरक्षा से जोडकर सस्कृति का जो स्वरूप प्रस्तुत किया, उसमे त्याग, राष्ट्रीयता की भावना जैसे गुण विद्यमान है। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के कर्म उल्लेख के पश्चात् वर्ण-व्यवस्था के आधार पर वैश्यो को कृषि, गोरक्षण तथा व्यापार का कार्य सौपा गया। परिचर्या या सेवा का कार्य शूद्र वर्ण को सौपा गया।[1]

पौराणिक वर्ण-व्यवस्था मे भी अनेक विषमताएँ विद्यमान थी। शूद्रो को आत्मसाधना का अधिकार होने पर भी मन्दिरो मे प्रवेश करने का अधिकार नही था। शूद्र मन्दिर के बाहर से ही ईश्वर की प्रतिमा का दर्शन कर सकता था। वह न तो मन्दिर मे प्रवेश कर सकता था और न ही उसे वेदाध्ययन या स्वाध्याय करने का अधिकार था। तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था मे सभी वर्णों को निर्दिष्ट कार्य करने का आदेश दिया। कोई वर्ण अपने कर्म को हीन समझे, इसलिए यह सांस्कृतिक प्रतिमान भी आरोपित किया गया कि कोई भी व्यक्ति अपने वर्णानुकूल कार्य को करता हुआ सभी प्राणियो मे विकसित ईश्वर को प्राप्त होता है।[2] यदि कोई व्यक्ति अपने कर्म को हीन मानता है तो उसको यही सांस्कृतिक उपदेश दिया गया कि अपना गुणरहित धर्म या कर्म भी दूसरे सुव्यवस्थित धर्म या कम की अपेक्षा श्रेष्ठ होना है। व्यक्ति अपने काय को करता हुआ पाप से लिपायमान नही होता।[3] अत अपना कर्म एव धर्म ही धारणीय है, अनुकरणीय है। हाँ, इससे हीनता की ग्रन्थि का कर्तन अवश्य हुआ, जिससे वर्णानुकूल कर्मठता मे वृद्धि हुई।

5 आश्रम-व्यवस्था—पौराणिक सस्कृति मे वैदिक सस्कृति की भाँति आश्रम-व्यवस्था धार्मिक विशेषता स्वत समाविष्ट हो गई। उस समय का समाज विद्याध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य को, धनार्जन के लिए गृहस्थ को, पुण्यार्जन के लिए वानप्रस्थ को तथा आत्मप्रसादार्थ सन्यास आश्रम को विशेष महत्त्व देता था। तत्कालीन समाज मे ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ को प्राथमिकता दी जाती थी।

ब्रह्मचारी के लिए कर्म, मन तथा वचन से मैथुन को छोडने के अनुदेश दिए गए थे। ब्रह्मचर्य की ऐसी परिभाषा को निम्न रूप मे देखा जा सकता है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वदा मैथुन त्यागो ब्रह्मचर्य प्रचक्षते॥ —गरुड पुराण

1 वही, 18/42–44

2 यत प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिद ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव॥

3 श्रेयान्स्वधर्मो विगुण स्वधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम॥ —गीता, 18/46–47

उस समय के ब्राह्मण वृद्ध होने पर भी पुरोहिताई का कार्य करते रहते थे तथा भीष्म जैसे अखण्ड ब्रह्मचारी 75 वष की आयु पार करने पर भी सेनापति का कार्यभार सम्भाले रहते थे । गुरु द्रोण जैसे आचार्य वृद्धावस्था मे भी अपने पद को न छोडकर महाभारत कराया करते थे ।

जहाँ एक ओर आश्रम-व्यवस्था का शिथिल रूप दिखलाई पडता था, वही दूसरी ओर अनेक ऋषि महर्षि वानप्रस्थ की शरण लेकर नि शुल्क अध्यापन कार्य किया करते थे । भिक्षान्न ही उनके जीवन का आधार था । शुकदेव जैसे ब्रह्मर्षि अमरता का सन्देश प्रसार करते हुए बाल्यावस्था से ही सन्यास ग्रहण कर लेते थे । राजा दशरथ जैसे महीप वृद्धावस्था मे शान्ति पाने के लिए वन या पर्वत की शरण लेने के लिए सकल्प भी लिया करते थे अत आयु-सीमा का आश्रम-व्यवस्था से प्राय कम सम्बन्ध रहता था । आश्रमो का निर्धारण विशेष परिस्थितियाँ ही करती थी । इस समय भी गार्हस्थ्याश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम माना जाता था तथा गृहस्थ ही सभी आश्रमो का आधार था ।

6 नारी-उद्धार—पौराणिक महाकाव्यो के अध्ययन से पता चलता है कि पौराणिक सस्कृति मे नारी-उद्धार की निरन्तर कोशिशें हुई । राजाओ मे बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी । चाहे दशरथ हो या रावण—आर्य और अनार्य बहुविवाह को महत्त्व देते थे । नारी को भोग की वस्तु भी माना जाता था । दूसरी ओर नारी की ऐसी शोपणात्मक स्थिति को दूर करने के लिए प्रयास भी किए जाते थे । गौतम की पत्नी अहिल्या अपरिचित पुरुष द्वारा धर्षित होने पर जडवत् या प्रस्तरवत् जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो गयी, परन्तु रामचन्द्र जैसे समाज-सुधारक ने उसके एकान्तवास को दूर करके उसे ऋषिकुल के वातावरण मे प्रतिष्ठित करके स्वर्ग स्थानीय बनाया ।[1] श्रीराम ने सतीत्व की साक्षात् मूर्ति सीता को सांस्कृतिक स्तर पर महत्त्व देकर रावण का विध्वस करके नारी उद्धार का प्रतिमान प्रस्तुत किया ।

'महाभारत' की नारी का स्वरूप रामायण की नारी के स्वरूप की अपेक्षा आदर्श न होकर यथार्थवादी है । द्रौपदी पाँचो पाण्डवो की पत्नी के रूप मे रहकर भी सम्माननीया समझी गई । केवल इतना ही नही, काम्यक वन मे जयद्रथ के साथ रहने वाली द्रौपदी को पाण्डवो ने सशय की दृष्टि मे न देखा । परन्तु नारी के अपमान को सस्कृति का अपमान मानकर महाभारत का होना यह सिद्ध कर देता है कि उस समय भी नारी-उद्धार की धारणा किसी न किसी रूप मे अवश्य विद्यमान थी ।

पौराणिक श्रीकृष्ण कुब्जा जैसी नारियो का उद्धार करने वाले हैं । वे यदुवशियो के सहार के उपरान्त भी अर्जुन के नेतृत्व व सरक्षण मे अनेक महिलाओ को सुरक्षित स्थानो पर भेजने की योजना बनाते हैं परन्तु सबसे अधिक आश्चर्य

1 वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड, अहिल्योद्धार प्रसग ।

का विषय तो यह है कि नारी-उद्धार का नारा लगाने वाले श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष आठ-आठ विवाह करके नारी-शोषण को साक्षात् करते हैं। उस समय के राज-समाज में व्याप्त भोगवाद की प्रबलता यही सिद्ध करती है कि नारी-उद्धार का कार्य थोडा बहुत होना अवश्य रहा, परन्तु नारी को भोग-विलास की सामग्री मानकर उसका अत्यधिक शोषण किया।

7 राष्ट्रीयता की भावना—पौराणिक संस्कृति मे राष्ट्रीयता की भावना का सकेत तत्कालीन अश्वमेध एव राजसूय यज्ञो की परम्परा को माना जा सकता। दशरथनन्दन राम ने केन्द्रीय शक्ति के निर्माण के लिए अश्वमेध यज्ञ सम्पादित कराया था।[1] 'महाभारत' का इतिवृत्त पाण्डवो के राजसूय यज्ञ की सूचना प्रदान करता है। पुराणो मे राजा समर के अश्वमेध यज्ञ का विशद् वर्णन है। ये सभी यज्ञ राष्ट्रीयता की भावना के द्योतक कहे जा सकते है। उस समय की संस्कृति मे भोगवाद, व्यक्तिवाद आदि से ऊपर राष्ट्रीयता की भावना का होना यही स्पष्ट करता है कि उस समय का समाज पर्याप्त सुसंस्कृत था। पौराणिक समाज मे यज्ञो के सम्पादन के अतिरिक्त राजनीतिक एव सांस्कृतिक या वैचारिक स्तर पर भी राष्ट्रीयता की भावना को पर्याप्त स्थान मिला हुआ था। 'महाभारत' का अनुशासन पर्व राष्ट्रहित की भावना से भरा पडा है। रामायण के राम अपने सच्चरित्र के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना को ही परिपुष्ट करते हैं।

8 समन्वय—पौराणिक अवतारवाद के रहस्य को न समझने के कारण अनेक मत-मतान्तर विकसित हो चले। वैदिक युग के देवताओ के महत्व मे भी इस युग मे पर्याप्त विकास एव परिवर्तन हो चुका था। वैष्णवो तथा शैवो के बीच होने वाले विवादो को लेकर पुराणकारो को समन्वय का रास्ता अपनाना पडा। तत्कालीन समाज मे कर्म, ज्ञान, भक्ति के क्षेत्र मे सर्वश्रेष्ठता का विवाद उठ खडा हुआ। ऐसे विवादो की निराकृति हेतु समन्वय या समझौते का आधार ढूंढा गया। अवतारवाद के रहस्य को स्पष्ट करने के लिए विष्णु और शकर जैसी महाशक्तियो को ईश्वर के ही दो रूप मानकर विवाद को समाप्त करने की चेष्टा की गई। जिस प्रकार से एक नट अनेक रूप धारण करके अपना पार्ट प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अनेक रूपो मे प्रकट होने के कारण कभी ब्रह्म, कभी विष्णु तथा कभी शिव के रूप मे जाना जाता है। तत्त्वत ईश्वर एक ही है, परन्तु उसके प्रतीत्यात्मक रूप अनेक हैं। पुराणकार ने शिव पुराण मे स्वय शकर के मुख से विष्णु और शकर का समन्वय करते हुए लिखा है—

> ममैव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये ह्यहम्।
> उभयोरन्तर यो वै न जानाति मनो मम॥

—रुद्र संहिता

इसी प्रकार से विष्णु पुराण मे विष्णु और महादेव का ऐक्य सिद्ध करते हुए यहाँ तक कह दिया गया है कि जिस प्रकार घट मे स्थित जल के दो रूपो की

1 वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकाण्ड

कल्पना निरर्थक है, उसी प्रकार ईश्वर को महादेव तथा विष्णु के रूप मे अलग-अलग मानना भी असगत है ।[1] अत महादेव और विष्णु एक ही ईश्वर के दो नाम है ।

शिव और शक्ति का समन्वय प्रस्तुत करना भी उस समय की सस्कृति का महान् गुण रहा है ।[2] शिव और शक्ति को एक-दूसरे का परिपूरक बतलाया गया है । शक्ति के बिना शिव शवमात्र रह जाता है शिव के बिना शक्ति मृतप्राय रहती है ।

रामायण मे आर्यों और द्रविडो को एकजुट करके राष्ट्रीय समन्वय प्रस्तुत किया गया है । महाभारत मे कर्म, भक्ति तथा ज्ञान का अद्भुत समन्वय है । गीता मे निर्गुण और सगुण ईश्वर का समन्वित स्वरूप प्रकट किया गया है । यथार्थत विभिन्न जातियो तथा विभिन्न मत-मतान्तरो मे समन्वय स्थापित करने का प्रयास सस्कृति के उज्ज्वल रूप को ही प्रस्तुत करता है । पौराणिक समन्वय सस्कृति की महानतम विशेषता है ।

9 सम्माननीयो का सम्मान—पुराणो मे माता-पिता तथा गुरु के सम्मान के लिए सांस्कृतिक मूल्यो को स्पष्ट किया गया है । गुरु को दण्डवत् प्रणाम करने से तथा उसके सम्मुख विनम्र जिज्ञासु के रूप मे प्रस्तुत होकर रहस्यात्मक ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए । गीता की यह शिक्षा आधुनिक युग मे कितनी सार्थक प्रतीत होती है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन ।।

—गीता, 4/34

रामायण के राम विश्वामित्र तथा वशिष्ठ जैसे गुरुजनो का आदर करके भारतीय सस्कृति के स्वरूप को मूर्तिमान् कर देते है । हनुमान तथा सुग्रीव राम के चरणो मे अपने आपको धन्य मानते हैं । महाभारत के सुदामा तथा श्रीकृष्ण सान्दीपनि के कमल-चरणो मे रहकर अपना अहोभाग्य समझते हैं । पौराणिक मार्कण्डेय शकर जैसे योगि-प्रवर का सम्मान करके अपने आपको प्रफुल्लित अनुभव करते हैं । गुरु और शिष्य के पवित्र सम्बन्ध, पिता-पुत्र के सम्बन्धो की पावनता, मित्रो की पारस्परिक सदाशयता तथा समाज के अन्यान्य शिष्टाचार यही स्पष्ट करते हैं कि तत्कालीन समाज मे जीवन के नैतिक मूल्यो का पर्याप्त आदर था ।

पौराणिक और महाकाव्य युगीन सस्कृति मे वैदिक सस्कृति से यही भिन्नता रही कि उस समय का समाज देवताओ को ईश्वर के रूप मे मानकर पूजने लगा तथा अवतारवाद की धारणा का अत्यधिक विकास हुआ । उस समय के समाज मे

1 विष्णुपुराण—"उभयोरन्तर नास्ति घटस्थजलयोरिव ।"

2 शिवपुराण—एव परस्परापेक्षा शक्तिशक्तिमतो स्थिता ।
न शिवेन विना शक्तिन च शक्त्या विना शिव ।।

ब्रह्मवाद कर्मकाण्ड के प्रपच मे जकडने के साथ साथ भक्ति-मार्गी प्रपच मे भी बहुत अधिक उलझ गया। वह समाज राजनीतिक वातावरण के विस्तृत होने के कारण आश्रम-व्यवस्था को आवश्यक मानकर भी तत्सम्बद्ध यथासभव सुविधाओ का भी अभिलाषी रहा। एक मानव का दूसरे मानव के प्रति जो स्वस्न दृष्टिकोण होना चाहिए उसे प्रस्तुत करने के लिए राम और कृष्ण जैसे महान् चरित्रनायको को साहित्य के मच पर खडा कर दिया गया। अत पौराणिक समाज की सस्कृति मे रुढियो की जकड के बावजूद सस्कृति का विविधमुखी विकास हुआ।

पौराणिक एवं महाकाव्ययुगीन धार्मिक जीवन

पुराणो मे तथा पौराणिक महाकाव्यो मे तत्कालीन सामाजिको के धर्म की विशद् निवेचना हुई है। पुराणो एव महाकाव्यो मे धर्म का स्वरूप स्मृति ग्रन्थो के धर्मशास्त्र की देन न होकर मूलत वैदिक साहित्य के धर्मशास्त्र की देन है। पुराण एव पौराणिक महाकाव्य वेदो की दुहाई देने वाले हैं अत वे उसी धार्मिक जीवन की विवेचना करते हैं, जो वैदिक साहित्य का प्रधान विषय रहा। जब छठी शताब्दी ई पू मे बौद्ध तथा जैन धर्म भी सामाजिको के धार्मिक जीवन पर प्रभाव डाल चुके थे तो पौराणिक प्रतिमानो ने भी वैदिक धर्म के मूल्यो को समाज के सामने प्रस्तुत करके एक विशिष्ट धार्मिक जीवन की ओर सकेत किया। तत्कालीन धार्मिक जीवन को जानने के लिए हम निम्नलिखित बिन्दुओ के आधार पर विचार कर सकते है—(1) धार्मिक शिक्षा-पद्धति, (2) जीवन एव ससार के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि, (3) जगत् के नैनिक शासक मे आस्था, (4) पुनर्जन्म तथा मोक्ष की मान्यता, (5) वर्णाश्रम धर्म मे विश्वास, (6) ईश्वर का जन-सुलभ स्वरूप, (7) न्यायप्रियता (8) राजा और प्रजा का धर्म।

1 धार्मिक शिक्षा-पद्धति—पौराणिक युग की शिक्षा मे आयुर्वेद, विज्ञान, ज्योतिष, साहित्य जैसे विषयों को अध्यापित करते समय धर्म को विशेप महत्त्व दिया जाता था। गुरु और शिष्यो के पावन सम्बन्धो को चरितार्थ करने का सम्यक् वातावरण बनाया जाता था। पौराणिक सुदमा और कृष्ण आचार्य सान्दीपनि के प्रिय शिष्य थे। महाभारतकालीन शस्त्र-विद्या के आचार्य गुरु द्रोण को कौरव और पाण्डव जितना आदर देते थे उतना ही गुरु द्रोण का भी अपने शिष्यो के प्रति अगाध स्नेह था। परन्तु ऐसी धार्मिक शिक्षा-पद्धति के रहते हुए भी धनुर्धर एकलव्य का अगूँठा कटवा लेता, यही सिद्ध करता है कि उस समय भी विभिन्न गुरुकुलो के बीच स्पर्द्धा के फलस्वरूप पर्याप्त विद्वेप था तथा शिष्यो के बीच भी ईर्ष्या की कोई कमी नही थी। ऐसा होने पर भी यह तो कहना ही पडेगा कि पौराणिक धार्मिक जीवन मे शिक्षा का विशेप महत्त्व था और शिक्षा-पद्धति तत्कालीन समाज को एक निर्दिष्ट मार्ग प्रदर्शित करती थी।

2 जीवन एव ससार के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि—पौराणिक काल मे जनसाधारण की यही धारणा थी कि आत्मा एक ऐसा अनुपम तत्व है जो जीवधारियो

कल्पना निरर्थक है, उसी प्रकार ईश्वर को महादेव तथा विष्णु के रूप मे अलग-अलग मानना भी असगत है ।[1] अत महादेव और विष्णु एक ही ईश्वर के दो नाम हैं ।

शिव और शक्ति का समन्वय प्रस्तुत करना भी उस समय की संस्कृति का महान् गुण रहा है ।[2] शिव और शक्ति को एक-दूसरे का परिपूरक बतलाया गया है । शक्ति के बिना शिव शवमात्र रह जाता है शिव के बिना शक्ति मृतप्राय रहती है ।

रामायण मे आर्यों और द्रविडो को एकजुट करके राष्ट्रीय समन्वय प्रस्तुत किया गया है । महाभारत मे कर्म, भक्ति तथा ज्ञान का अद्भुत समन्वय है । गीता मे निर्गुण और सगुण ईश्वर का समन्वित स्वरूप प्रकट किया गया है । यथार्थत विभिन्न जातियो तथा विभिन्न मत-मतान्तरो मे समन्वय स्थापित करने का प्रयास संस्कृति के उज्ज्वल रूप को ही प्रस्तुत करता है । पौराणिक समन्वय संस्कृति की महानतम विशेषता है ।

9 सम्माननीयो का सम्मान—पुराणो मे माता-पिता तथा गुरु के सम्मान के लिए सांस्कृतिक मूल्यो को स्पष्ट किया गया है । गुरु को दण्डवत् प्रणाम करने से तथा उसके सम्मुख विनम्र जिज्ञासु के रूप मे प्रस्तुत होकर रहस्यात्मक ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए । गीता की यह शिक्षा आधुनिक युग मे कितनी सार्थक प्रतीत होती है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन ।।

—गीता, 4/34

रामायण के राम विश्वामित्र तथा वशिष्ठ जैसे गुरुजनो का आदर करके भारतीय संस्कृति के स्वरूप को मूर्तिमान् कर देते है । हनुमान तथा सुग्रीव राम के चरणो मे अपने आपको धन्य मानते है । महाभारत के सुदामा तथा श्रीकृष्ण सान्दीपनि के कमल-चरणो मे रहकर अपना अहोभाग्य समझते हैं । पौराणिक मार्कण्डेय शकर जैसे योगि-प्रवर का सम्मान करके अपने आपको प्रफुल्लित अनुभव करते हैं । गुरु और शिष्य के पवित्र सम्बन्ध, पिता-पुत्र के सम्बन्धो की पावनता, मित्रो की पारस्परिक सदाशयता तथा समाज के अन्यान्य शिष्टाचार यही स्पष्ट करते हैं कि तत्कालीन समाज मे जीवन के नैतिक मूल्यो का पर्याप्त आदर था ।

पौराणिक और महाकाव्य युगीन संस्कृति मे वैदिक संस्कृति से यही भिन्नता रही कि उस समय का समाज देवताओ को ईश्वर के रूप मे मानकर पूजने लगा तथा अवतारवाद की धारणा का अत्यधिक विकास हुआ । उस समय के समाज मे

1 विष्णुपुराण—"उभयोरन्तर नास्ति घटस्थजलयोरिव ।"

2 शिवपुराण—एव परस्परापेक्षा शक्तिशक्तिमतो स्थिता ।
न शिवेन विना शक्तिन च शक्त्या विना शिव ।।

ब्रह्मवाद कर्मकाण्ड के प्रपच मे जकडने के साथ साथ भक्ति-मार्गी प्रपच मे भी बहुत अधिक उलझ गया। वह समाज राजनीतिक वातावरण के विस्तृत होने के कारण आश्रम-व्यवस्था को आवश्यक मानकर भी तत्सम्बद्ध यथासभव सुविधाओ का भी अभिलाषी रहा। एक मानव का दूसरे मानव के प्रति जो स्वस्थ दृष्टिकोण होना चाहिए उसे प्रस्तुत करने के लिए राम और कृष्ण जैसे महान् चरित्रनायको को साहित्य के मच पर खडा कर दिया गया। अत पौराणिक समाज की सस्कृति मे रूढियो की जकड के बावजूद सस्कृति का विविधमुखी विकास हुआ।

पौराणिक एव महाकाव्ययुगीन धार्मिक जीवन

पुराणो मे तथा पौराणिक महाकाव्यो मे तत्कालीन सामाजिको के धर्म की विशद् विवेचना हुई है। पुराणो एव महाकाव्यो मे धर्म का स्वरूप स्मृति ग्रन्थो के धर्मशास्त्र की देन न होकर मूलत वैदिक साहित्य के धर्मशास्त्र की देन है। पुराण एव पौराणिक महाकाव्य वेदो की दुहाई देने वाले हैं, अत वे उसी धार्मिक जीवन की विवेचना करते हैं, जो वैदिक साहित्य का प्रधान विषय रहा। जब छठी शताब्दी ई पू मे बौद्ध तथा जैन धर्म भी सामाजिको के धार्मिक जीवन पर प्रभाव डाल चुके थे तो पौराणिक प्रतिमानो ने भी वैदिक धर्म के मूल्यो को समाज के सामने प्रस्तुत करके एक विशिष्ट धार्मिक जीवन की ओर सकेत किया। तत्कालीन धार्मिक जीवन को जानने के लिए हम निम्नलिखित विन्दुओ के आधार पर विचार कर सकते हैं—(1) धार्मिक शिक्षा-पद्धति, (2) जीवन एव ससार के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि, (3) जगत् के नैतिक शासक मे आस्था, (4) पुनर्जन्म तथा मोक्ष की मान्यता, (5) वर्णाश्रम धर्म मे विश्वास, (6) ईश्वर का जन-सुलभ स्वरूप, (7) न्यायप्रियता (8) राजा और प्रजा का धर्म।

1 धार्मिक शिक्षा-पद्धति—पौराणिक युग की शिक्षा मे आयुर्वेद, विज्ञान, ज्योतिष, साहित्य जैसे विषयों को अध्यापित करते समय धर्म को विशेष महत्त्व दिया जाता था। गुरु और शिष्यो के पावन सम्बन्धो को चरितार्थ करने का सम्यक् वातावरण बनाया जाता था। पौराणिक सुदमा और कृष्ण आचार्य सान्दीपनि के प्रिय शिष्य थे। महाभारतकालीन शस्त्र-विद्या के आचार्य गुरु द्रोण को कौरव और पाण्डव जितना आदर देते थे उतना ही गुरु द्रोण का भी अपने शिष्यो के प्रति अगाध स्नेह था। परन्तु ऐसी धार्मिक शिक्षा-पद्धति के रहते हुए भी धनुर्धर एकलव्य का अगूठा कटवा लेना, यही सिद्ध करता है कि उस समय भी विभिन्न गुरुकुलो के बीच स्पर्द्धा के फलस्वरूप पर्याप्त विद्वेष था तथा शिष्यो के बीच भी ईर्ष्या की कोई कमी नही थी। ऐसा होने पर भी यह तो कहना ही पडेगा कि पौराणिक धार्मिक जीवन मे शिक्षा का विशेष महत्त्व था और शिक्षा-पद्धति तत्कालीन समाज को एक निर्दिष्ट मार्ग प्रदर्शित करती थी।

2 जीवन एव ससार के प्रति आध्यात्मिक दृष्टि—पौराणिक काल मे जनसाधारण की यही धारणा थी कि आत्मा एक ऐसा अनुपम तत्व है जो जीवधारियो

के शरीर मे रहते हुए भी नित्य बुद्ध एव मुक्त है। जीवन का अस्तित्व आत्मा के ही कारण है। आत्मा के उद्धार के लिए ससार को आध्यात्म की कसौटी पर परखना होगा। जीवन मे शिशु, वाल, किशोर, तरुण, प्रौढ एव वृद्ध नामक छ रूपो मे से गुजरता हुआ आत्म-तत्व उक्त सभी तत्वो से ऊपर है। वह न तो किसी से प्रभावित होता है और न ही यादृच्छिकृत किसी को प्रभावित करता है उसी आनन्दमय तत्व को जानने के लिए हमे प्रयास करना चाहिए। तत्कालीन समाज मे आत्मा की व्यापकता को महत्व देकर समार को ईश्वर की लीलाभूमि तक स्वीकार किया गया। विराट् ब्रह्म-स्वरूप ससार की उपासना करना धर्म का अग वन गया। इसी प्रधान धार्मिक जीवन के सन्दर्भ मे ससार को समझने के लिए जीवन के आशावादी एव निराशावादी पहलुओ का विकास हुआ। गीता की सांख्य, योग, वेदान्त आदि दार्शनिक विचारणाएँ यही सिद्ध करती है कि पौराणिक एव महाकाव्ययुगीन समाज मे जीवन एव जगत् के प्रति एक विशेष धार्मिक दृष्टिकोण सृजित हुआ।

3 जगत् के नैतिक शासन मे आस्था—पुराणो तथा पौराणिक महाकाव्यो ने पौराणिक युग के धार्मिक जीवन की प्राकृतिक न्याय या नैतिक शास्त्र की धारणा से सकलित किया। उस समय यही माना जाता था कि व्यक्ति का जन्म शुभाशुभ सस्कारो को लेकर होता है।[1] सतोगुण की अभिवृद्धि से व्यक्ति तेजस्वी, ज्ञानवान एव वलवान होता है, रजोगुण की वृद्धि के फलस्वरूप व्यक्ति व्यवहारकुशल व ससारासक्त स्वभाव का होता है, तमोगुण के प्रभाव के कारण व्यक्ति मे अज्ञान उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप वह व्यसनो का शिकार वनकर दुरात्मा बनता है। यदि कोई व्यक्ति धनाढ्य है तो वह अपने पूर्व कर्मो के प्रभाव के कारण प्राकृतिक न्याय को प्राप्त करके सुखोपभोग करता है तथा दुवल एव गरीब व्यक्ति अपने पूर्व कर्मो के फलो को भोगता है। इतना होने पर भी हमारा हृदय हमे शुभ कार्यो की ओर अग्रसर करता है। अत हमे वर्तमान स्थिति को पूर्व कर्मो का फल मानकर सतोष करना चाहिए तथा भविष्यत् को सुधारने के लिए शुभ कार्यो मे प्रवृत्त रहना चाहिए। अत पुराण-युगीन धार्मिक जीवन मे नैतिक शासन के प्रति विशिष्ट आस्था थी।

4 पुनर्जन्म तथा मोक्ष की मान्यता—पौराणिक सस्कृति मे जीव का पुन - पुन जन्म लेना तथा जीव की अविद्या से मुक्ति के सिद्धान्त को धार्मिक जीवन का अग माना गया। जिस प्रकार से व्यक्ति पुराने कपडो को उतारकर नए कपडे धारण कर लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा जीर्ण कलेवर का परित्याग करके नव शरीर को धारण करती है।[2] शुभाशुभ कर्मो मे आसक्त रहने के कारण पुनर्जन्म का शिकार बनना

1 तेपा ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्या प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमाना, पुन ॥ —विष्णुपुराण

2 वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवीन गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयति नवानि देही।

पड़ता है, अत व्यक्ति को देव-दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त करके सर्वोत्तम पुरुषार्थ-मोक्ष को पाने का प्रयास करना चाहिए। मुमुक्षा होने पर भी व्यक्ति के जीवन मे धर्म की प्रधानता होती चली जाती है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने के कारण उस समय का समाज धर्म की ओर प्रेरित हुआ। धर्म-साधना के जितने भी अष्टांग योग जैसे प्रचलित नियम थे, उन्हे आधारभूत मानकर तत्कालीन समाज का धार्मिक जीवन वैज्ञानिक दशनो की ओर प्रवृत्त एव अग्रसर होता चला गया। मोक्ष की धारणा ने उस समय के धार्मिक जीवन को धर्म की सूक्ष्मताओ की ओर बढाया।

5 **वर्णाश्रम धर्म मे विश्वास**—पौराणिक सस्कृति मे चारो वर्णों तथा चारो आश्रमो को धार्मिक जीवन का आधार माना गया। उस समय का समाज अपने-अपने कर्त्तव्यो को वर्ण के अनुकूल निर्वाहित करके अपने धर्म को निर्वाहित समझता था। चारो आश्रमो को पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की सिद्धि का आधार माना जाता था। पौराणिक वर्णाश्रम धर्म वैदिकयुगीन वर्णाश्रम धर्म की भाँति विसगतियो से पूर्व होता हुआ भी अधिकांश समाज के धार्मिक जीवन का अग बना हुआ था। इस विषय मे हम पहले ही पौराणिक सस्कृति के स्वरूप के सन्दर्भ मे विचार कर चुके हैं।

6 **ईश्वर का जन-सुलभ स्वरूप**—पुराणो मे ईश्वर के दशावतार का विस्तृत वर्णन ईश्वर के सगुण रूप को प्रतिपादित करता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण गोलोक या मोक्ष के वासी होने के साथ-साथ गोप-ग्वालो के भी मित्र हैं। उनका सानिध्य पाकर गोपियाँ धन्य हो जाती हैं तथा महाभारतयुगीन कृष्ण के विराट् स्वरूप को देखकर दुर्योधन जैसे तनशाहो के हृदय भय के कारण विदीर्ण हो जाते हैं। रामायण के राम शारीरिक गठन तथा रूप-सौन्दर्य के समुद्र होने के कारण जनसाधारण के लिए भक्ति के विषय बनते हैं। जिस निर्गुण ईश्वर को प्राय जन-समाज समझ तक नही पाता है, वही ईश्वर सगुण रूप मे वन्दना और अर्चना का विषय बन जाता है।

ईश्वर के सर्वग्राही स्वरूप के प्रतिपादन के कारण नवधा भक्ति[1] भी पौराणिक धार्मिक जीवन का विशिष्ट अग बनी। उस समय का समाज ईश्वर की कथाओ को श्रद्धापूर्वक सुनने लगा, जिसे श्रवण भक्ति के नाम से पुकारा गया। ईश का गुणगान करना कीर्तन भक्ति के नाम से पुकारा जाने लगा। ईश्वर को याद करना 'स्मरण' भक्ति का स्वरूप कहा जाने लगा। ईश्वर की प्रतिमा की पग-सेवा को 'पाद वन्दनम्' भक्ति कहा गया। पुष्प, पत्र, दुग्ध आदि को ईश-प्रतिमा के ऊपर अर्पित करने को 'अर्चना' भक्ति कहा गया। गायन और मनन के द्वारा ईश्वर का अभिवादन 'वन्दना' भक्ति माना गया। ईश्वर को स्वामी के रूप मे पूजना 'दास्य' ^

1 श्रवण कीतन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्॥ —श्रीमद्भागवत

के शरीर मे रहते हुए भी नित्य बुद्ध एव मुक्त है। जीवन का अस्तित्व आत्मा के ही कारण है। आत्मा के उद्धार के लिए ससार को आध्यात्म की कसौटी पर परखना होगा। जीवन मे शिशु, बाल, किशोर, तरुण, प्रौढ एव वृद्ध नामक छ रूपो मे से गुजरता हुआ आत्म-तत्त्व उक्त सभी तत्त्वो से ऊपर है। वह न तो किसी से प्रभावित होता है और न ही यादृच्छिकृत किसी को प्रभावित करता है उसी आनन्दमय तत्व को जानने के लिए हमे प्रयास करना चाहिए। तत्कालीन समाज मे आत्मा की व्यापकता को महत्व देकर ससार को ईश्वर की लीलाभूमि तक स्वीकार किया गया। विराट् ब्रह्म-स्वरूप ससार की उपासना करना धर्म का अग बन गया। इसी प्रधान धार्मिक जीवन के सन्दर्भ मे ससार को समझने के लिए जीवन के आशावादी एव निराशावादी पहलुओ का विकास हुआ। गीता की सांख्य, योग, वेदान्त आदि दार्शनिक विचारणाएँ यही सिद्ध करती हे कि पौराणिक एव महाकाव्ययुगीन समाज मे जीवन एव जगत् के प्रति एक विशेष धार्मिक दृष्टिकोण सृजित हुआ।

3 जगत् के नैतिक शासन मे आस्था—पुराणो तथा पौराणिक महाकाव्यो ने पौराणिक युग के धार्मिक जीवन की प्राकृतिक न्याय या नैतिक शास्त्र की धारणा से सकलित किया। उस समय यही माना जाता था कि व्यक्ति का जन्म शुभाशुभ सस्कारो को लेकर होता है।[1] सतोगुण की अभिवृद्धि से व्यक्ति तेजस्वी, ज्ञानवान एव बलवान होता है, रजोगुण की वृद्धि के फलस्वरूप व्यक्ति व्यवहारकुशल व ससारासक्त स्वभाव का होता है, तमोगुण के प्रभाव के कारण व्यक्ति मे अज्ञान उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप वह व्यसनो का शिकार बनकर दुरात्मा बनता है। यदि कोई व्यक्ति धनाढ्य है तो वह अपने पूर्व कर्मो के प्रभाव के कारण प्राकृतिक न्याय को प्राप्त करके सुखोपभोग करता है तथा दुबल एव गरीब व्यक्ति अपने पूर्व कर्मो के फलो को भोगता है। इतना होने पर भी हमारा हृदय हमे शुभ कार्यो की ओर अग्रसर करता है। अत हमे वर्तमान स्थिति को पूर्व कर्मो का फल मानकर सतोष करना चाहिए तथा भविष्यत् को सुधारने के लिए शुभ कार्यो मे प्रवृत्त रहना चाहिए। अत पुराण-युगीन धार्मिक जीवन मे नैतिक शासन के प्रति विशिष्ट आस्था थी।

4 पुनर्जन्म तथा मोक्ष की मान्यता—पौराणिक सस्कृति मे जीव का पुन - पुन जन्म लेना तथा जीव की अविद्या मे मुक्ति के सिद्धान्त को धार्मिक जीवन का अग माना गया। जिस प्रकार से व्यक्ति पुराने कपडो को उतारकर नए कपडे धारण कर लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा जीर्ण कलेवर का परित्याग करके नव शरीर को धारण करती है।[2] शुभाशुभ कर्मों मे आसक्त रहने के कारण पुनर्जन्म का शिकार बनना

1 तेषा ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्या प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमाना, पुन ॥ —विष्णुपुराण

2 वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवीन गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयति नवानि देही।

पडता है, अत व्यक्ति को देव-दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त करके सर्वोत्तम पुरुषार्थ-मोक्ष को पाने का प्रयास करना चाहिए। मुमुक्षा होने पर भी व्यक्ति के जीवन मे धर्म की प्रधानता होती चली जाती है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने के कारण उस समय का समाज धर्म की ओर प्रेरित हुआ। धर्म-साधना के जितने भी अष्टांग योग जैसे प्रचलित नियम थे, उन्हे आधारभूत मानकर तत्कालीन समाज का धार्मिक जीवन वैज्ञानिक दर्शनो की ओर प्रवृत्त एव अग्रसर होता चला गया। मोक्ष की धारणा ने उस समय के धार्मिक जीवन को धम की सूक्ष्मताओ की ओर वढाया।

5 वर्णाश्रम धर्म मे विश्वास—पौराणिक सस्कृति मे चारो वर्णों तथा चारो आश्रमो को धार्मिक जीवन का आधार माना गया। उस समय का समाज अपने-अपने कर्त्तव्यो को वर्ण के अनुकूल निर्वाहित करके अपने धर्म को निर्वाहित समझता था। चारो आश्रमो को पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की सिद्धि का आधार माना जाता था। पौराणिक वर्णाश्रम धर्म वैदिकयुगीन वर्णाश्रम धर्म की भाँति विसगतियो से पूर्व होता हुआ भी अधिकाँश समाज के धार्मिक जीवन का अग बना हुआ था। इस विषय मे हम पहले ही पौराणिक सस्कृति के स्वरूप के सन्दर्भ मे विचार कर चुके हैं।

6 ईश्वर का जन-सुलभ स्वरूप—पुराणो मे ईश्वर के दशावतार का विस्तृत वर्णन ईश्वर के सगुण रूप को प्रतिपादित करता है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के श्रीकृष्ण गोलोक या मोक्ष के वासी होने के साथ-साथ गोप-ग्वालो के भी मित्र हैं। उनका सानिध्य पाकर गोपियाँ धन्य हो जाती हैं तथा महाभारतयुगीन कृष्ण के विराट् स्वरूप को देखकर दुर्योधन जैसे तनशाहो के हृदय भय के कारण विदीर्ण हो जाते हैं। रामायण के राम शारीरिक गठन तथा रूप-सौन्दर्य के समुद्र होने के कारण जनसाधारण के लिए भक्ति के विषय वनते हैं। जिस निर्गुण ईश्वर को प्राय जन-समाज समझ तक नही पाता है, वही ईश्वर सगुण रूप मे वन्दना और अर्चना का विषय वन जाता है।

ईश्वर के सर्वग्राही स्वरूप के प्रतिपादन के कारण नवधा भक्ति[1] भी पौराणिक धार्मिक जीवन का विशिष्ट अग वनी। उस समय का समाज ईश्वर की कथाओ को श्रद्धापूर्वक सुनने लगा, जिसे श्रवण भक्ति के नाम से पुकारा गया। ईश का गुणगान करना कीर्तन भक्ति के नाम से पुकारा जाने लगा। ईश्वर को याद करना 'स्मरण' भक्ति का स्वरूप कहा जाने लगा। ईश्वर की प्रतिमा की पग-सेवा की 'पाद वन्दनम्' भक्ति कहा गया। पुष्प, पत्र, दुग्ध आदि को ईश-प्रतिमा के ऊपर अर्पित करने की 'अर्चना' भक्ति कहा गया। गायन और मनन के द्वारा ईश्वर का अभिवदन 'वन्दना' भक्ति माना गया। ईश्वर को स्वामी के रूप मे पूजना 'दास्य' भक्ति का

1 श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्॥ —श्रीमद्भागवत

था। परन्तु ये सभी विवाह दाम्पत्य-सूत्र के उदाहरण नही कहे जा सकते क्योकि अर्जुन तथा भीम जैसे राजकुमार इन सम्बन्धो को आजीवन निर्वाहित करने की कल्पना तक नही कर सके। अत पौराणिक युगीन समाज मे वैवाहिक प्रणाली अनेक रूपो मे विकसित थी।

4 नारियो की स्थिति—पौराणिक समाज मे नारी को वेद पढने का अथवा आत्मसाधना करने का अधिकार मिला हुआ था परन्तु शिक्षा की दृष्टि से नारियो की स्थिति शोचनीय ही थी। कुछ उच्च परिवारो की महिलाएँ ही शिक्षा प्राप्त कर पाती थी। नारी को बहुविवाह का शिकार बनाकर शोपित किया जाता था। एक पत्नी के रहते हुए भी राजा या राजकुमार अन्यत्र अनेक प्रेम-सम्बन्ध स्थापित किया करते थे। नारी को विषय-भोग की सामग्री तक माना जाने लगा था। वेश्याओ की भी कोई कमी नही थी। राजकुलो मे वेश्याओ का रहना प्राय आवश्यक था। परन्तु महाभारत के पात्रो को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि 600 ई पू से लेकर 400 ई पू तक के युग मे भी राजाओ ने स्त्री को मानवी के रूप मे स्वीकार करके उसे सम्मान्य समझने की चेष्टा की। श्री रामचन्द्र का सीता के प्रति अगाध प्रेम नारी के सम्मान का ही सूचक है।

5 अन्धविश्वासो का बोलबाला—पौराणिक साहित्य की कल्पनाओ के कारण समाज मे अनेक अन्धविश्वास प्रचलित हो चुके थे। उस समय का समाज पुराणो एव महाकाव्यो के आधार पर रावण को दश मुखो वाला व्यक्ति, सहस्रबाहु को हजारो भुजाओ वाला वीर पुरुष मानने लगा था। उस समाज मे विकासवाद को भ्रान्त धारणा कहकर उल्टी ही गगा बहाई जा रही थी, सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग के क्रम को सत्य मानकर मानव की प्रगति को झुठलाया जा रहा था। हनुमान जैसा वानर वशी योद्धा एक बन्दर-स्वरूप देवता बन चुका था। राक्षसो के विचित्र रूपो की कल्पनाएँ समाज को पूरी तरह से गुमराह कर चुकी थी। एक ओर वैदिक कर्मकाण्ड समाज के प्रत्येक कार्य को आच्छन्न कर चुका था तथा दूसरी ओर भक्तिमार्ग का वासना-प्रपच समाज को एक निरर्थक ढकोसला बनाए दे रहा था। पण्डितो के उक्ति-वैचित्र्य का फल यही हो रहा था कि समाज व्यग्य को भी वाच्य रूप मे ग्रहण करके कुछ से कुछ समझ बैठा था। अत पुराणो की अतिशयोक्ति-पूर्ण शैली ने पौराणिक साहित्य को जिस रूप मे प्रस्तुत किया, वह केवल दिग्भ्रामक था तथा वामन जैसे राजाओ के ऊपर ईश्वरत्व का आरोप कुछ और ही कमाल दिखा रहा था।

6 वर्गगत सघर्ष—पौराणिक समाज आर्य-अनार्य, सुवर्ण-अवर्ण, कुलीन-अकुलीन वर्गों मे विभक्त था। उस समय काम्बोज, यवन, शकादि के न होने पर भी आर्य और अनार्य पारस्परिक सघर्ष मे रत रहते थे। ब्राह्मण देवता तरह-तरह की युक्तियाँ प्रतिपादित करके शूद्र वर्ण को शोपित करने का सफल प्रयास किया करते थे। भीलो तथा किरातो के प्रति आर्यों का दृष्टिकोण स्वस्थ एव तर्कसगत न था। अर्जुन मे भी श्रेष्ठ धनुर्धर एकलव्य के दक्षिण हस्त का अगूठा विद्वेष के ही कारण

कटवाया गया था। केवल इतना ही नही, अपितु किरातो, नागो तथा भीलो की कन्याओ का वरण करके भी उन्हे दाम्पत्य-सूत्र मे सुबद्ध नही रखा जाता था।

7 शिक्षा का प्रसार—पौराणिक समाज मे शिक्षा के केन्द्रो मे अवश्य वृद्धि हुई। मगध के शासक शिक्षा के प्रसार को महत्त्व देते थे। गीता मे गुरु के महत्त्व को प्रतिपादित करके श्रद्धावान् शिष्य को ज्ञान-प्राप्ति का अधिकारी माना गया है। उस समय के समाज मे शिक्षा के प्रसार के कारण सामाजिक सम्बन्धो मे बहुत कुछ मृदुलता बनी। पौराणिक सस्कृति एव धार्मिक जीवन के सन्दर्भ मे यह तथ्य स्पष्ट हो चुका है।

8 समन्वयात्मकता—पौराणिक समाज मे शैवो-वैष्णवो, आर्यो-अनार्यो के समन्वय के प्रयास भी किए। जहाँ राम को केवट एव निषाद से प्रेम-समन्वय का सच्चा उदाहरण है, वही राजा रामचन्द्र का शूद्रक के प्रति कठोर व्यवहार-समन्वय भजक तथ्य जान पडता है। श्रीकृष्ण का जामवन्ती से परिणय आर्यों और अनार्यों का समन्वयक तथ्य है, परन्तु भीलो के द्वारा कृष्ण के रनिवास को लूटना उक्त समन्वय को परिस्थितियो की देन ही सिद्ध करता है। अत पौराणिक समाज मे परिस्थितिवश जो समन्वय स्थापित हुआ, वह भी मानव सस्कृति के अध्याय मे एक अनुपम देन है।

पौराणिक समाज मे वैदिक समाज की उपेक्षा अनेक कट्टरताएँ प्रवेश पा चुकी थी परन्तु हम पौराणिक समाज को केवल वैदिक समाज का ही विकसित रूप मान सकते हैं। पौराणिक समाज का अध्ययन करने के लिए हमे साहित्य को ही आधार मानकर आगे चलना होता है।

पौराणिक आर्थिक स्थिति

पौराणिक समाज की अर्थव्यवस्था का विकास वैदिक अर्थ-व्यवस्था के आधार पर हुआ, तत्कालीन समाज की आर्थिक स्थिति को जानने के लिए वर्ण-व्यवस्था के आधार पर ही आगे बढा जा सकता है। उस समय के आर्थिक विकास मे न केवल वैश्य वर्ग ने, अपितु समाज के समस्त वर्गों ने यथोचित योगदान किया। अत पौराणिक रीतियो को आधारभूत मानकर विकसित होने वाले समाज की आर्थिक स्थिति मुख्यत निम्न कार्य एव उद्योगो के ऊपर आधारित रही—1 पशुपालन, 2 कृषि, 3 कुटीर उद्योग, 4 व्यापार, 5 आखेट, 6 शिक्षा एव 7 सेवा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पौराणिक काल मे वर्ण-व्यवस्था के प्रतिमान बहुत-कुछ पूर्ववत् बने रहे। अत कृष्ण को गोपाल कहा जाना, बलराम को हलधर कहा जाना पशुपालन एव कृषि को ही महत्त्व देना है। हलोत्सव राजा जनक के समय मे भी मनाया जाता था तथा पौराणिक रचना-काल में भी अत कृषि को सभी प्रकार से महत्त्व दिया गया। इस युग मे फसलो मे भी बहुत कुछ विकास हुआ। अन्य कार्यो की जानकारी के विषय मे भी इसी अध्याय की वर्ण-व्यवस्था तथा वैदिकयुगीन समाज की आर्थिक स्थिति ही द्रष्टव्य है। यथार्थत पौराणिक काल मे अस्त्र-शस्त्रो के निर्माण मे जो भी प्रगति हुई, वह प्राय वैदिकयुग मे उसी

रूप मे थी। इसीलिए पौराणिक काल मे युद्ध के शस्त्र भालो, तलवार, धनुष-बाण आदि ही बने रहे। विज्ञान के विकास के अभाव मे पौराणिक समाज की आर्थिक स्थिति मे किसी प्रकार की कोई विशेष प्रगति नही हुई।

पौराणिक समाज के धर्म, सस्कृति एव अर्थतन्त्र का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समय समाज को वैदिक मर्यादाओ मे बँधकर युगानुकूल सस्कृति को अपनाना पडा, परम्परा-प्रिय होने के कारण कोई विशिष्ट विकास न कर सका। आश्रमव्यवस्था के नियमो का अनुपालन अत्यन्त कठिन होने के कारण तथा परिस्थितियो की अनेकरूपता के फलस्वरूप पौराणिक भक्तिमार्ग अनेक रूपो मे विकसित हुआ। जहाँ वैदिक सस्कृति कर्म और ज्ञान के समन्वय का उल्लेख करती हुई विकसित होती रही, वही पौराणिक सस्कृति भक्ति को प्रधानता देकर विकसित हुई। वस्तुत कर्म की नीरसता तथा ज्ञान की दुराग्रहिता के फलस्वरूप जिस भक्ति-माग का उदय हुआ, वह अपने आप मे अत्यन्त रसल, सरल और सुबोध सिद्ध हुआ। ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी समाज को अवतारवाद के माध्यम से एकीकृत करने का श्रेय पौराणिक सस्कृति को ही है इसीलिए गौतम बुद्ध जैसे वेद एव ईश-विरोधी महापुरुष को ईश्वर का नवाँ अवतार माना गया। 'महाभारत' एव 'रामायण' जैसे पौराणिक महाकाव्यो का परिवर्धन पौराणिक सस्कृति का ही प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करता।

बौद्ध सस्कृति
(Buddhist Culture)

गौतम बुद्ध ने ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे बौद्ध धर्म का जो स्वरूप निर्मित किया, उसी को बौद्ध सस्कृति के रूप मे ग्रहण किया जाता है। यद्यपि 600 ई पू से 400 ई पू के अन्तराल मे बौद्ध धर्म की दो सगीतियाँ सम्पन्न हो चुकी थीं, तथापि बौद्ध धर्म का विकास आठवी तथा नवीं शताब्दी तक अनवरत होता रहा। यहाँ हम मुख्यत बौद्ध धर्म के मूल रूप को प्रस्तुत कर रहे है, जो आगे चलकर बौद्ध दार्शनिको के हाथो मे पडकर सुसस्कृत रूप धारण करता चला गया तथा भिक्षुओ एव भिक्षुणियो के परिवेश मे पहुँच कर स्वत अध पतित होता चला गया। बौद्ध सस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले सिद्धान्त मुख्यत इस प्रकार है—(1) चार आर्य सत्य, (2) क्षणिकवाद (3) विचार-स्वातन्त्र्य, (4) आडम्बरो का विरोध, (5) निर्वाण की मौलिक मान्यता, (6) वसुधैव कुटुम्बकम् तथा (7) वर्णाश्रम धर्म पर प्रहार।

1 चार आर्य सत्य

गौतम बुद्ध ने वैदिक एव पौराणिक मान्यताओ का पर्याप्त विरोध करने पर भी दु खवादी सिद्धान्त को स्वीकार किया। समस्त बौद्ध सस्कृति दु खवाद के ही इर्द-गिर्द चक्कर काटती है। बुद्ध ने दु खो के स्पष्टीकरण तथा दु खावरोधक तत्त्वो के प्रतिपादन हेतु चार आर्य सत्यो को प्रस्तुत किया। चार आर्य सत्य इस प्रकार है— (1) दु ख, (2) दु ख का समुदाय, (3) दु ख-निरोध तथा (4) दु ख निरोधक मार्ग।

(1) दु ख—बुद्ध ने प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर दु ख के स्वरूप को समझा। व्यक्ति का जन्म, वार्धक्य तथा मरण सब दु ख-स्वरूप ही हैं। प्रियो का वियोग शोक का कारण बनता है। बौद्ध पच उपादान स्वरूप स्कन्ध को रूप, वेदना, सज्ञा तथा सस्कार एव विज्ञान के रूप मे दु ख का स्रोत मानते है। वस्तुत समस्त नश्वर जगत्-व्यापार दु ख की प्रतीति कराता है। दु ख की प्रत्यक्षानुभूति का निषेध सम्भव नही है।

(2) दु ख का समुदाय—दु ख की उत्पत्ति का मूल कारण तृष्णा है। प्रत्येक व्यक्ति अनेक सुखो तथा भोगो की ओर प्रवृत्त होता है। यही प्रवृत्ति तृष्णा है। तृष्णा के मूल मे अविद्या का निवास रहता है। अज्ञान के कारण व्यक्ति, व्यक्ति का शत्रु बन जाता है। घोर स्वार्थों की ग्रन्थियाँ अज्ञान के ही कारण विकसित होती हैं। इसीलिए एक वर्ग दूसरे वर्ग से लडता है। राजाओ को तृष्णा-स्वरूप महत्त्वाकांक्षाओ को साकार करने के लिए युद्ध करने पडते हैं। धन की तृष्णा के कारण भाई-भाई के झगडे होते हैं। अधिकार-लिप्सा के कारण निरन्तर सघर्ष चलता रहता है। व्यक्ति पराजित होकर भी विजयैषणा का शिकार बनकर पुन सघषरत होता है। यही समूचा सघर्ष दु खस्वरूप है तथा इसी के पृष्ठक्षेत्र मे तृष्णा और अविद्या का निवास है।

(3) दु ख-निरोध—दु ख को दूर करने के लिए 'दु ख-निरोध' आर्य सत्य को स्वीकार किया है। यदि कारण को हटा दिया जाए तो कार्य का अभाव हो जाता है। अत तृष्णा तथा अविद्या को दूर या निरुद्ध करना ही दु ख निरोध है। यदि व्यक्ति का जन्म ही न जन्म तो जन्म, वार्धक्य तथा मरण जैसे दु खो का स्वयमेव निरोध हो जाता है। दु ख स्वरूप ससार को दु ख निरोध का आश्वासन देना एक आशावादी दृष्टिकोण कहा जा सकता है परन्तु आधुनिक दर्शन के अनुसार बौद्ध सस्कृति का दु ख-निरोध आशावादी न कहकर निराशावादी ही कहा जाएगा।

(4) दु ख-निरोधक मार्ग—बौद्ध धर्म एव सस्कृति मे अष्टाग योग को दु ख-निरोधक पथ माना गया है। अष्टाँग योग का क्रम इस प्रकार है—(1) सम्यक् दृष्टि, (2) सम्यक् सकल्प, (3) सम्यक् वचन, (4) सम्यक् कर्म, (5) सम्यक् जीविका, (6) सम्यक् प्रयत्न, (7) सम्यक् स्मृति तथा (8) सम्यक् समाधि। सम्यक् दृष्टि का सम्बन्ध यथार्थ दर्शन से है। व्यक्ति को अपने जीवन की यात्रा का पथ स्वत निश्चित करना है। अत दु खो से मुक्ति पाने के लिए सम्यक् दृष्टि या दर्शन का होना नितान्त आवश्यक है। दूसरे व्यक्ति को आघात न पहुँचाते हुए अपने विकास के लिए विचार करना ही सम्यक सकल्प कहलाता है। सत्य एव प्रिय भाषण को ही सम्यक् वचन का नाम दिया गया है। सम्यक् वचन के द्वारा अनावश्यक कटुतावर्धक वार्ता से बचा जा सकता है। व्यक्ति को बिना किसी रिश्वत के तथा आनन्दपूर्वक परिश्रम करने से जो कर्मानुभव होता है, वही सम्यक् कर्म का स्वरूप है। परिवार की सपोषिका तथा कलहशून्य आजीविका ही सम्यक् जीविका है। व्यक्ति द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो पवित्र एव उत्साही कदम उठाने

होते है, वही सम्यक् प्रयत्न के नाम से जाने जाते हैं। सदाचार को याद रखना अथवा करणीय एव अकरणीय का स्मरण रखना ही सम्यक् स्मृति है। चित्त की वृत्तियो को रोक कर स्वय को शून्य मे विलीन कर देना ही समाधि है। अत मध्यम मार्ग को ही अष्टांग योग का स्वरूप समझना चाहिए।

बुद्ध ने समस्त कर्म-व्यापार को अष्टांग योग के अन्तर्गत रखकर कर्म की ही मीमांसा की। आचरण की पवित्रता की प्रतिष्ठापना करके समाधि की ओर प्रयाण किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध सस्कृति मे पातजल योग की भाँति अष्टांग योग को प्रस्तुत नही किया गया है।

2 क्षणिकवाद

बौद्ध सस्कृति अनात्मवादी है, किन्तु भौतिकवादी नही। बुद्ध ने आत्मा नामक स्थायी तत्त्व को कभी स्वीकार नही किया। क्षणिकवाद के आधार पर व्यक्ति का हित करने के लिए जो सस्कृति विकसित हुई, उसमे ईश्वर आत्मा जैसे नित्य तत्वो का निषेध करके स्कन्ध, आयतन और धातु नामक तत्वत्रय के आधार पर आगे बढा गया।

पाँच तत्वो—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान को 'स्कन्ध' नाम से जाना जाता है। स्कन्ध, द्वादश आयतन के अन्तर्गत ही गिना जा सकता है, क्योकि बौद्ध दर्शन एव सस्कृति का मूलाधार प्रतीत्य समुत्पाद है,[1] जो द्वादश आयतन का ही स्वरूप है। द्वादश आयतन का प्रारम्भ 'अविद्या' से होता है। पूर्व-जन्म के पाप पुण्य-स्वरूप कर्मों को 'सस्कार' कहा गया है। सस्कारो के वशीभूत रहकर प्राणी गर्भ मे आता है तथा चैतन्य को प्राप्त होता है, जिसे 'विज्ञान' कहते हैं। शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाओ को 'नामरूप' कहा जाता है। छ इन्द्रियो—आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन को 'षडायतन' कहा गया है। विषय-ससर्ग को 'स्पर्श' कहा गया है। सुख दु ख तथा उदासीनता की अनुभूति को 'वेदना' कहा है। वस्तु के अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने की प्रवृत्ति को 'तृष्णा' कहा जाता है। विषय की आसक्ति को 'उपादान' कहा जाता है। विषयाशक्ति के कारण प्राणी का जन्म होता है तथा उसे 'भव' कहा जाता है। भविष्यकालीन जन्म को 'जाति' नाम से जाना जाता है। 'जरामरण' को बारहवाँ आयतन माना गया है।

कुछ विद्वानो ने आयतन के बारह रूपो मे छ इन्द्रियो या 'षडायतन' के साथ उनके छ विषयो—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पष्ट द्रव्य तथा धर्म को गिना है।[2] आयतन के पश्चात् धातु के अठारह रूपो—छ इन्द्रिय, छ इन्द्रिय विषय तथा छ इन्द्रियो और उनके विषयो के सम्पर्कजन्य विज्ञानो को प्रतिपादित किया गया है। यथार्थत ये सभी तत्व केवल 'द्वादशायन' के ही विभिन्न रूप हैं।

1 माध्यमिक वृत्ति पृ 9
2 डॉ रतिभानुसिह नाहर प्राचीन भारत का राजनैतिक एव सांस्कृतिक इतिहास, पृ 148

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध सस्कृति या दर्शन का क्षणिकवाद जहाँ ससार को नश्वर एव दु ख स्वरूप सिद्ध करके समाज को निर्वाण की ओर प्रवृत्त करने वाला है, वही इसका प्रतिपादन वैदिक मान्यताओ से कुछ हटकर किये जाने के कारण वैज्ञानिक नही बन पाया। छ इन्द्रियो की मान्यता न तो वैज्ञानिक है और न ही इन्द्रियो के दमन के स्वरूप को भली-भाँति उजागर करती है। क्षणिकवाद की प्रतिपादना व्यक्ति को आत्मा के साथ क्षणभगुर बताकर निराशावाद को अधिक व्यापक बना देती है। अत बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद दु खवाद की वीणा बजाता हुआ व्यक्ति को दु ख-मुक्ति का सच्चा आश्वासन नही दे पाता। यदि आत्मा भी क्षणिक है तो क्षणिक तत्व-मुक्ति का विषय किस प्रकार बन सकता है? यह समस्या विकट रूप मे खडी हो जाती है। फिर भी क्षणिकवाद वैराग्य की भावना को सपुष्ट करता है।

3 विचार-स्वातन्त्र्य

बौद्ध सस्कृति मे विचार प्रकट करने तथा विचार ग्रहण करने या धारणा निर्मित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। वेद को स्वत प्रमाणभूत मानकर व्यक्ति वैदिक साहित्य की मान्यताओ मे बँध जाता है तथा उसे वैचारिक सस्कार का अवसर नही मिलता। बौद्ध सस्कृतियो मे जिज्ञासा के परितोषार्थ तर्क-वितर्क को विशेष स्थान नही मिला है। फिर भी बौद्ध धर्म को प्राणी के हित मे मानकर उसे ग्रहण करने का अनुमोदन करती है।[1] अत जो तर्क द्वारा सत्य सिद्ध हो जाता है, वही ग्राह्य होता है। बौद्ध धर्म के अभ्युदय के समय जैनधर्म भी विकसित हो रहा था। अत कुछ लोग जैनधर्म की दुहाई देते थे तथा बहुत से लोग वैदिक या सनातन धर्म की। इसलिए बुद्ध ने सत्य को ग्रहण करने के लिए वैचारिक स्वतन्त्रता को यथावश्यक महत्व प्रदान किया।

4 आडम्बरो का विरोध

गौतम बुद्ध ने वैदिक कर्मकाण्ड अथवा ब्राह्मण धर्म के आडम्बरो के विरोध मे बौद्ध सस्कृति को खडा किया था। बौद्धयुगीन समाज मे देवी-देवताओ के नाम आडम्बरो का विविधमुखी प्रचार था। इसीलिए बुद्ध ने अनीश्वरवादी सस्कृति को ही जीव के उद्धार का रास्ता बताया। ईश्वर तथा आत्मा जैसे तत्वो के विषय मे गौतम मौन रहे। बौद्ध सस्कृति मे दस अव्याकृत तत्व हैं—

(क) ससार के विषय मे—	1 क्या ससार नित्य या अमर है?
	2 क्या ससार या लोक अनित्य है?
	3 क्या लोक सान्त है?
	4 क्या लोक अनन्त है?
(ख) जीवात्मा एव शरीर के विषय मे	5 क्या जीव और शरीर एक है?
	6 क्या जीव अन्य तत्व है और शरीर अन्य कोई?

1 अगुत्तर निकाय 3/7/5

(ग) निर्वाण प्राप्त कर लेने के पश्चात्

7 क्या मृत्यु के अनन्तर तथागत या बुद्ध का मुक्त रूप रहता है ?

8 क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत होते भी है या नही ?

9 क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत होते है ?

10 क्या मृत्यु के पश्चात् तथागत होते ही हैं या निश्चयत नही होते ?

यथार्थत बुद्ध ने अनीश्वरवादी सस्कृति मे समस्त रहस्य के ऊपर पर्दा डालने की कोशिश की। यदि निर्वाण को मानकर उसके स्वरूप के विषय मे ही नही जाना गया तो निर्वाण की मान्यता ही असगत है, यह सिद्ध हुआ। फिर भी धर्म और ईश्वर के नाम पर जो आडम्बर प्रचलित थे, उनके विपक्ष मे मौन साधना बहुत कुछ हितकर कहा जा सकता है।

बुद्ध ने अपने समकालीन महापुरुष महावीर की सर्वज्ञता को भी आडम्बर बताया। यदि महावीर सर्वज्ञ है तो वे भिक्षा मांगते समय घरो की पहचान दूसरो के माध्यम से क्यो करते हैं ? यदि वे सर्वशक्तिमान् है तो कुत्ते को डराने के लिए दण्ड क्यो धारण करते हैं ? इसी प्रकार जब गौतम के शिष्यो ने बुद्ध को ईश्वर कहा तो वे भावुकता का परिहार करने के लिए सदैव सचेत रहे। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म तथा श्रमण धर्म के आडम्बरो या भ्रान्तियो को दूर करने के लिए बुद्ध ने वीणा को उठाया था।

5 निर्वाण की मौलिक मान्यता

बुद्ध के निर्वाण को अनन्त और अनुपम शान्ति का धाम न मानकर तृष्णा के बुझने की स्थिति या अवस्था माना। जब साधक के अविद्या रूपी तम-तोम का विनाश हो जाता है तो तृष्णा के अभाव मे सस्कारो का कोष रिक्त हो जाता है तथा जन्म-मरण का बीज समाप्त हो जाता है। गौतम द्वारा मान्य निर्वाण कोई स्थिर शान्ति का तत्त्व न होकर जीव की मुक्ति की द्योतक अवस्था मात्र है। यथार्थत गौतम ने स्थिर तत्त्व की धारणा के खण्डन के लिए ही निर्वाण को ऐसा स्वरूप स्वीकार किया।

6 वसुधैव कुटुम्बकम्

बौद्ध सस्कृति मे समस्त मानव-समुदाय को एक ही परिवार के रूप मे देखा गया है इसीलिए गौतम बुद्ध ने बौद्ध धर्म की दीक्षा का द्वार स्त्रियो और पुरुषो के लिए समानत. अपावृत किया। बुद्ध के हृदय की अपार करुणा ने समस्त ससार को अपने परिवार के रूप मे देखकर अहिंसा तथा सत्य को यथोचित महत्त्व दिया।

7 वर्णाश्रम धर्म पर प्रहार

बुद्ध ने मानव को विभिन्न वर्गों मे विभाजित देखकर व्यापक विचार करके ही वर्णाश्रम धर्म का विरोध किया। ब्राह्मण वर्ग अनेक धार्मिक आडम्बरो की आड

मे जनता का शोषण कर रहा था। शूद्रो का अनवरत शोषण हो रहा था। ऐसी स्थिति मे बुद्ध ने वर्णवादिता पर प्रहार किया तथा आश्रम-धर्म के नियमो को भी शिथिल एव सरल करने पर बल दिया। बुद्ध के श्रेष्ठ प्रयासो के बावजूद समाज की वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव न पडा। हाँ, बुद्ध के प्रयत्नो से जातिवादिता का विष अवश्य कम हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध ने बौद्ध सस्कृति के निर्माण मे वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध-स्वरूप ध्वज का फहराने का प्रयास किया। बौद्ध सस्कृति धर्म सिद्धान्तो की सरलता के कारण, यज्ञवाद के विरोध के फलस्वरूप बुद्ध के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण, समानता की भावना के कारण, जनभाषा पालि के प्रयोग के कारण, प्रचार शैली की रोचकता के आधार पर, मठो तथा विहारो के निर्माण के फलस्वरूप, प्रचारको के उत्साह तथा राज्याश्रय के कारण भारत मे ही नहीं, अपितु एशिया के विशाल भू-भाग पर फैली। बौद्ध सस्कृति की सबसे बडी देन समानता की भावना को लाने मे तथा आडम्बरो का परिहार करने मे है।

बौद्धयुगीन धार्मिक जीवन

बुद्ध के समय बौद्ध सस्कृति ही बौद्ध धर्म-प्रभावित समाज के धार्मिक जीवन का आधार बनी। बौद्ध धर्म सन्यासियो के क्षेत्र मे ही नही, गृहस्थियो के क्षेत्र मे भी प्रसृत हुआ। अत बौद्ध सस्कृति से प्रभावित लोगो का धार्मिक जीवन स्थविरो तथा महासाधको के जीवन के रूप मे साकार देखा जा सकता है। हम बौद्ध सस्कृति के विषय मे विचार करते समय बौद्ध धर्म के विषय मे लगभग सब कुछ कह चुके हैं, अत यहा धार्मिक जीवन के बिन्दुओ का सकेत कर देना ही पर्याप्त होगा—

1 ससार क प्रति विरक्तिपूर्ण दृष्टिकोण, 2 अनीश्वरवादी मान्यता का प्रसार, 3 अष्टांग योग का व्यवहार 4 धार्मिक समानता का दृष्टिकोण, 5 वर्णाश्रम धम का विरोध, 6 अहिंसात्मक दृष्टिकोण तथा 7 कर्म और ज्ञान का समन्वय।

बौद्धयुगीन समाज की स्थिति

बुद्ध के समय का समाज पौराणिक भावनाओ के विरोध मे सुसगठित हुआ। अत उस समय के समाज को निम्नलिखित बिन्दुओ के आधार पर जाना जा सकता है—

1 समाज के वर्गीकरण मे नवीनता, 2 वैवाहिक स्थिति, 3 समाज मे स्त्रियो का स्थान, 4 अस्पृश्यता की कमी, 5 दैनिक जीवन।

1 समाज के वर्गीकरण मे नवीनता—ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे ब्राह्मण धर्म का बोलबाला होने से बुद्ध को वर्ण-व्यवस्था की प्रघोर कट्टरताओ का विरोध करने के लिए विवश होना पडा। बुद्ध ने मुक्ति का द्वार सभी वर्गों के लिए खोला जिसका परिणाम यह हुआ कि सभी वर्गो के व्यक्ति धर्म के समान अधिकारी बने तथा पारस्परिक सहानुभूति का अनुभव करने लगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा

शूद्र नामक चार वर्णों मे विभाजित समाज मानवता को समाज के वर्गीकरण मे एक ठोस आधार मानने लगा। यद्यपि वर्ण तो बने रहे, तथापि विशिष्ट परिवर्तन यही परिलक्षित हुआ कि आम जन-समाज मे यदि कोई उच्च वर्ण का व्यक्ति निम्न वर्ण की किसी कन्या से प्रेम करता था अथवा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता था तो उसकी निन्दा नही की जाती थी। मानव ने मानवता के सूत्र मे बंधने की विशिष्ट पहल करना सीखा।

वर्ण-व्यवस्था मे व्यवसाय की दृष्टि से भी परिवर्तन परिलक्षित हुआ। एक ब्राह्मण व्यापार करने का अधिकारी था। ब्राह्मण क्षत्रिय-वृत्ति को भी अपना सकते थे। वैश्य वर्ण कृषि, दुग्ध व्यवसाय तथा व्यापार को करता हुआ भी उद्योगो को अपनाने मे स्वतन्त्र था। समाज मे उद्योग की दृष्टि से पर्याप्त लोच आ चुकी थी। समाज के औद्योगीकरण की दृष्टि मे उक्त लोच महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

बौद्धयुगीन समाज मे शूद्र वर्ण को शुद्ध शूद्र तथा हीन वर्ग के रूप मे विभाजित देखा जाता है। हीन वर्ग बहेलिया, रथकार, नाई, कुम्भकार, बुनकर, आदि के रूप मे देखा जाता था। जन्म और जातिजन्य अभिमान को दूर करने के लिए बुद्ध के उपदेश समाज के वर्गीकरण मे पर्याप्त नवीनताएँ परिपूरित करने वाले सिद्ध हुए। ब्राह्मण और क्षत्रिय को समान मानने की विशुद्ध परम्परा का श्रीगणेश इसी समाज से शुरू हुआ। जिस समय मे सदाचार को आधारभूत मानकर समाज का वर्गीकरण किया गया, उसे हम पुराण मे नव्य रूप कहे तो तर्क-सगत होगा।

यद्यपि गौतम बुद्ध के धर्म-प्रचार के कारण समाज मे एक नवीन चेतना अवश्य उत्पन्न हुई, तथापि यह कहना असगत होगा कि बौद्धयुगीन समाज पूर्णतया नवीन समाज का दर्शन कर सका। जैसा कि हम पौराणिक सस्कृति के सन्दर्भ मे यह स्पष्ट कर चुके हैं कि उसी युग मे पुराण-धर्म से प्रभावित समाज मे वर्ण व्यवस्था अनेक रूढियो एव कट्टरताओ मे जकड चुकी थी। इसलिए बौद्धयुगीन समाज मे जहाँ एक ओर नवीन समाज की सरचना पर बल दिया जा रहा था वही भिक्षुओ और भिक्षुणियो के समाज मे भी जाति-पाँति का पूरा प्रभाव था। रक्त की पवित्रता के लिए सभी वर्ण सतर्कता-बरत रहे थे। एक ब्राह्मण किसी क्षुद्र या चाण्डाल की छाया पडने पर अपने को दूषित मानकर स्नान करने का उपक्रम करने लगता है।

यथार्थत बुद्धि ने गुणो के आधार पर ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व, क्षत्रिय को क्षत्रियत्व, वैश्य को वैश्यत्व तथा शूद्र को शूद्रत्व का अधिकारी मानकर भी समस्त समाज को निर्वाणोन्मुख करने के लिए वर्ण-व्यवस्था के बन्धनो को अत्यन्त शिथिल कर दिया। बुद्ध के व्यक्तित्व ने समाज की कट्टरताओ से सत्रस्त जनता को समाज मे मानवतावादी चेतना का प्रसार करके एक बार पुन उबार लिया।

2 वैवाहिक स्थिति—बौद्ध धर्म से प्रभावित समाज मे वैवाहिक स्थिति मे भी कुछ लोच अवश्य आई थी। प्राय सभी वर्ण अपने-अपने वर्ण मे वैवाहिक सम्बन्ध सयोजित करते थे। यदि किसी उच्च वर्ण का व्यक्ति निम्न वर्ण की युवती

से विवाह कर लेता था तो उसे निन्दनीय न मानकर धर्मानुकूल भी समझा जाने लगा था। रक्त सम्बन्ध की कट्टरताएँ अब तक प्रचलित थी। एक ओर ऐसा वर्ग था जो वैदिक व्यवस्थाओ को पुरजोर समर्थन दे रहा था तथा दूसरी ओर वैवाहिक स्थिति मे लोच लाने का प्रयास किया जा रहा था। परन्तु उच्च वर्ण के व्यक्ति का निम्न वर्ण की युवती से प्रेम भले ही निन्दनीय न रहा हो, परन्तु सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य मे ऐसा एक भी उदाहरण नही मिलता, जबकि निम्न वर्ण के पुरुष ने उच्च वर्ण की युवती से विवाह-सम्बद्ध बनाया हो। अत बौद्धयुगीन समाज मे वैवाहिक सम्बन्धो की स्थिति मे कोई सन्तोषप्रद सुधार न हुआ।"

3 समाज में स्त्रियो का स्थान—बुद्ध ने स्त्रियो को मोक्ष या निर्वाण पाने का अधिकारी माना। इस प्रकार तो यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार वैदिक एव पौराणिक समाज मे स्त्रियो को मोक्ष का अधिकारी माना जाता था, उसी प्रकार बौद्ध समाज मे भी उन्हे वही अधिकार प्रदान किया गया। बौद्ध समाज मे एक स्त्री भिक्षुणी बनकर निर्वाण की साधना तो कर सकती थी, परन्तु स्त्री वर्ग के ऊपर लगे अकुशो को देखते हुए पुरुष वर्ग की अपेक्षा स्त्रियो को कम आदर ही मिलता था। एक भिक्षुणी बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण करके कई वर्ष तक साधना करने पर भी सद्य दीक्षित भिक्षु के सम्मुख करबद्ध मुद्रा मे खडी होकर सत्कार किया करती थी, परन्तु भिक्षु भिक्षुणी की प्रार्थना करने या सत्कार करने के लिए बाध्य नही था। बौद्ध विहार मे एक भिक्षुणी स्वतन्त्र रूप से किसी भिक्षु से वार्ता नही कर सकती थी, जबकि भिक्षु भिक्षुणियो से बातें करने के लिए स्वतन्त्र थे। यदि इस तथ्य को समालोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि बुद्ध के समाज मे सामाजिक मर्यादाओ का ही ध्यान न रखकर, अपितु मनोवैज्ञानिक प्रतिमानो को ध्यान मे रखकर कार्य किया गया। ऐसा केवल उस समाज मे ही नही, अपितु आज के समाज मे भी बहुत कुछ होता है। इससे हमें यह निष्कर्ष निकालना उचित नही जान पडता कि बुद्ध की दृष्टि मे पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ हीन थी। भिक्षुओ और भिक्षुणियो को सयम रखने का जो प्रावधान था, उसे एक आलोचक मनोवैज्ञानिक स्तर पर आदरणीय ही मानेगा। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भिक्षु भी केवल व्यवस्था की दृष्टि से ही भिक्षुणियो से ही वार्ता करते थे, अनर्गल और अनावश्यक प्रलाप नही करता था। इसीलिए बुद्ध का यह उपदेश 'मा कामरति सन्थव'—अर्थात् काम-वासना मे रत मत होओ, कितना सारगर्भित है?

गौतम बुद्ध स्त्रियो को अपने धर्मसघ मे दीक्षित करके प्रसन्न नही थे। उन्हें अपने धर्म की पावनता की रक्षा सदिग्ध जान पडने लगी थी। इसलिए गौतम ने अनुयायी आनन्द से कहा था—"पर जब स्त्रियो का प्रवेश हो गया है, आनन्द ! धर्म चिरस्थायी न रह सकेगा। जिस प्रकार ऐसे घरो मे जिनमे अधिक स्त्रियाँ और कम पुरुष होते हैं, चोरी विशेष रूप से होती है, कुछ इसी प्रकार की अवस्था

उम सूत्र और विनय की समझनी चाहिए, जिसमे स्त्रियाँ घर का परित्याग करके गृहविहीन जीवन मे प्रवेश करने लग जाती हैं। धर्म चिरस्थायी न रह सकेगा जिस प्रकार धान के खेत पर पाला पड जाय तो वह अधिक नही टिक सकता अथवा जिस प्रकार गन्ने की खेती लाल बीमारी से, जिसमे पौधो मे कीडे लग जाते हैं, मारी जाती है, उसी प्रकार आनन्द ! उस सूत्र और विनय की दशा होती है, जिसमे स्त्रियो को छोडकर गृहविहीन जीवन मे प्रवेश करने का अधिकार मिल जाय फिर भी आनन्द ! मनुष्य जैसे भविष्य को सोचकर जलाशय के लिए बाँध बनवा देता है, जिससे जल बाहर न बहने लग जाय, उसी प्रकार आनन्द भावी के लिए मैंने ये आठ कठोर नियम बना दिए है जिनका पालन भिक्षुणियो के लिए अनिवार्य है, जब तक धर्म है, उन नियमो के पालन मे प्रमाद नही होना चाहिए ।"[1]

बुद्ध गार्यहंस्थ्याश्रम के कार्यो मे व्यस्त स्त्रियो का भी आदर करते थे ।[2] यदि कोई गृहस्थ वैवाहिक वेला मे भिक्षुओ के साथ उन्हे निमन्त्रित करता था तो वे यथासमय उपस्थित होकर वर कन्या को आशीर्वाद दिय करते थे। बौद्ध समाज मे किसी कन्या के हाथ से बने खाने की कोई मनाई नही थी। अत स्त्रियो को आदर देने के लिए बौद्ध समाज रूढियो से ऊपर उठकर मनोवैज्ञानिक स्तर पर कार्य करने की चेष्टा किया करता था। बौद्ध समाज मे स्त्रियो की ऐसी स्थिति को व्यवस्था की दृष्टि से शोचनीय नही कहा जा सकता।

4 **अस्पृश्यता की कमी**—बुद्ध के मानवतावादी सन्देश को पाकर सभी मोक्ष के अधिकारी माने जाने लगे अत छुआछूत की भावना की निराकृति का अवसर उपस्थित हुआ। पौराणिक समाज मे अस्पृश्यता का जो रूप विकसित हुआ, उसी को दूर करने के लिए बुद्ध ने जातिगत समानता का सन्देश फूँका परन्तु उस समय मे पुराण-धर्म से प्रभावित लोग मन्दिरो मे शूद्र का प्रवेश स्वीकार नही करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जो महिलाएँ मन्दिरो मे पूजन के लिए जाती थी, यदि वे मार्ग मे चाण्डाल का दर्शन कर लें तो वे पूजन को स्थगित कर देती थी तथा चाण्डालो को प्रताडना सहन करनी पडती थी। यदि किसी मन्दिर के प्राँगण मे एकत्रित सहभोज के इच्छुक अपने बीच मे किसी चाण्डाल को देख लेते तो वे उसे बुरी तरह से प्रताडित करते थे। ऐसी परिस्थितियो मे जाति-पाँति की भावना को दूर करके ही समाज का संस्कार किया जा सकता था। अत बुद्ध ने स्पृश्यता को ग्राह्य तथा अस्पृश्यता को त्याज्य बताकर समाज को समानता के मञ्च पर खडा करने की चेष्टा की।

5 **दैनिक जीवन**—बौद्धयुगीन समाज मे व्यक्ति का जीवन कुछ कुण्ठाओ से मुक्त देखा जा सकता है। बुद्ध ने शाक्यो और कोलियो के बीच होने वाले रोहिणी नामक नदी के जल-विवाद को लेकर यही शिक्षा दी कि पानी साधारण

1 विनयपिटक (चुल्लवग्ग) 1/1
2 सुत्तवग्ग, 1/4

मूल्य वाला है, जबकि मनुष्य अमूल्य है। अत मानव को अपने दैनिक जीवन को सुखी बनाने के लिए पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। बौद्ध भिक्षुओ तथा भिक्षुणियो का दैनिक जीवन बौद्ध धर्म के नियमो से नियमित रहता था। प्रत्येक व्यक्ति प्रात से लेकर सन्ध्या-पर्यन्त धर्मादिक क्रियाओ से लेकर धर्म-प्रचार तक को अपने दैनिक जीवन का अभिन्न अग मानने के लिए तैयार रहता था।

बुद्ध की शिक्षाओ ने व्यक्ति को इतना प्रभावित कर दिया था कि व्यक्ति दिन-रात निर्वाण-साधना के नियमो को ही अपनी दिनचर्या का विषय मानता था। नियमित आहार तथा नियमित विहार को दैनन्दिनी मे प्रमुख स्थान प्राप्त था। धार्मिक साधना के अतिरिक्त आमोद-प्रमोद को भी महत्त्व दिया जाता था।

बौद्धकालीन समाज पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समाज मे वर्ण-व्यवस्था का विरोध करके जातिगत समानता को स्थापित करने का प्रयास किया। स्त्रियो को केवल सैद्धान्तिक रूप मे ही नही, अपितु बौद्ध सघ मे दीक्षित करके निर्वाण की प्राप्ति के लिए व्यावहारिक अधिकार प्रदान किया। अष्टाँग योग का पालन दैनिक जीवन को स्वस्थ और सुखमय बनाने के लिए जादू का सा काम करता रहा। जहाँ वचन के क्षेत्र मे भी हिंसा का विरोध होता था तथा जहाँ व्यक्ति को दु खी देखकर करुणा का पारावार उद्वेलित हो उठता था, हमे उस समाज की स्थिति को प्रशसनीय ही कहना पडेगा।

बौद्धयुगीन आर्थिक स्थिति

बुद्ध के समाज मे तो आर्थिक दृष्टि से कोई विशेष कदम नही उठा, परन्तु तत्कालीन समाज मे कृषि, पशुपालन, व्यापार तथा उद्योग उसी प्रकार से प्रचलित रहे, जिस प्रकार कि वैदिक तथा पौराणिक समाज मे। यद्यपि आर्थिक सम्पन्नता के लिए वर्णानुकूल कार्य को छोडकर अन्य किसी कार्य को करने की छूट और स्वतन्त्रता थी, परन्तु दीन वर्ग तब भी दीन बना रहा तथा उच्च वर्ग समाज का यथासम्भव शोषण करता रहा। यहाँ हम सांकेतिक रूप मे बौद्धयुगीन समाज का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त समझते है। तत्कालीन अर्थव्यवस्था को निश्चित करने वाले प्रमुख कार्य एव व्यवस्था निम्नलिखित रूपो मे समझे जा सकते हैं—1. कृषि, 2 पशुपालन, 3 व्यापार, 4 उद्योग तथा 5 शिक्षा।

1 कृषि—बुद्धकालीन समाज मे कोलिय तथा शाक्यो के बीच क्षेत्रीय सिंचाई को लेकर रोहिणी नदी का जल-विवाद उठ खडा हुआ था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय सिंचाई को महत्त्व दिया जाता था। नदी के जल को खेतो तक ले जाने की व्यवस्था थी। कृषि मे गेहूँ, धान तथा गन्ने को प्राथमिकता दी जाती थी। बुद्ध की शिक्षाओ मे धान तथा गन्ने की खेती की बीमारियो का उल्लेख होने से यह निश्चित हो जाता है कि बुद्धयुगीन समाज मे खेती को पर्याप्त महत्त्व मिल चुका था।

2 पशुपालन—बौद्धयुगीन समाज मे दुधारू जानवरो को पाला जाता था। पशुग्रो को चराने के लिए हरे-भरे चरागाहो की व्यवस्था रहनी थी। गाय को दूध एव कृपि की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। घाडा, वकरी, भेड ग्रादि जानवरो को क्रमश सवारी एव दूध प्राप्त करने जैसी दृष्टियो से पाला जाता था। पशुपालन की व्यवस्था के विपय मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बौद्धयुगीन समाज मे पशुपालन परम्परागत रूप मे ही रहा।

3 व्यापार—बौद्धयुगीन समाज मे रेशम, मलमल, ग्रस्त्र-शस्त्र, जरी तथा नक्काशी के कार्य से युक्त वस्तुग्रो, ग्रौषधिग्रो, ग्राभूषणो, हाथी दांत से बनी वस्तुग्रो ग्रादि का निर्माण होता था। पडौसी देशो मे भी इन वस्तुग्रो को निर्यात किया जाता था। नौका-सचालन की सुविधा होने के कारण हमारे देश के व्यापारी ग्रनेक देशो मे व्यापार किया करते थे। नदियो ग्रौर समुद्रो मे नौकाग्रो द्वारा यात्रा करके यथा-स्थान चुगी देकर विभिन्न वस्तुग्रो का ग्रायात एव निर्यात किया जाता था। ग्रत बौद्धयुगीन भारत मे व्यापार की विशेप प्रगति न होने पर भी विभिन्न देशो से सम्पर्क ग्रवश्य बढा।

4 उद्योग—उद्योग निम्न वर्गो के हाथो मे ही न होकर उच्च वर्ग की ग्रार्थिक स्थिति को सुधारने मे सहायक सिद्ध होकर विभिन्न रूपो मे विकसित हुग्रा। बौद्ध जातियो मे ग्रठारह प्रकार के उद्योग-धन्धो का वर्णन किया है। डेविड्स ने ग्रठारह उद्योग-धन्धो का क्रम इस प्रकार रखा है—बढई, लुहार, प्रस्तरकार, बुनकर, चर्मकार, कुम्भकार, हाथी-दांत के कारीगर, रगरेज, जौहरी, कछुए, कसाई, वहेलिया, हलवाई नाई, माली नाविक, टोकरी बनाने वाले एव चित्रकार। यथार्थत ये सभी उद्योग-धन्धे वैदिक कालीन समाज से ही प्रचलित थे। ग्रत उद्योग-धन्धो के क्षेत्र मे भी वैज्ञानिक साधनो के ग्रभाव मे कोई विशेष विकास न हो सका।

5 शिक्षा—ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग शिक्षा विभाग मे कार्यरत रहकर ग्रपनी ग्रार्थिक स्थिति को सुदृढ बनाने की चेष्टा करते थे। ब्राह्मण शास्त्रो की तथा क्षत्रिय शस्त्रो की शिक्षा देकर ग्रर्थोपार्जन किया करते थे। क्षत्रिय वर्ग ने भी इस युग मे ग्रन्य ग्रनेक कार्य ग्रपनाकर ग्रपनी ग्रार्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयास किया।

समालोचनात्मक दृष्टि से देखने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धकालीन समाज मे वैदिक समाज की ग्रर्थव्यवस्था का प्रतिदर्श ही विकसित होता रहा। जो व्यवस्था वैदिक युग मे प्रवर्तित हुई थी, उसी के ग्राधार पर भारतीय समाज कई हजार वर्पो तक ग्रागे बढता रहा। विकास की दृष्टि से देखा जाए तो यही कहा जा सकता है कि उन्नीसवी शताब्दी तक भारतवर्ष मे कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन ग्रथ-तन्त्र के रूप मे नही हुग्रा। ग्रत बुद्धयुगीन समाज वैदिक ग्रर्थ-नीतियो के ग्राधार पर ही विकसित हुग्रा।

जैन सस्कृति
(Jain Culture)

वैदिक युगोत्तर सस्कृति के क्षेत्र मे ग्रनीश्वरवादी दर्शन के ग्राधार पर समाज

का परिष्कार करने का श्रेय जैन सस्कृति को भी है। एक ओर पुराण-धर्म का प्रचार हो रहा था तथा दूसरी ओर बौद्ध एव जैन धर्म युगान्तरकारी सस्कृति का प्रचार कर रहे थे। ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर वर्धमान अथवा महावीर ने वासनाओ को जीतने के सिद्धान्त को 'जैन' नाम से पुकारकर जैन सस्कृति का विकास किया। यद्यपि 'जैन' शब्द का अर्थ विजेता या वासनाजयी ही है, तथापि सस्कृति के क्षेत्र मे 'जैन' एक सांस्कृतिक सिद्धान्त का ही वाचक है। जैन सस्कृति को समझने के लिए जैन साहित्य के ऊपर अवलम्बित रहना पडता है। यहाँ हम जैन सस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए निम्न बिन्दुओ का सहारा ले सकते हैं—1 अहिंसा की प्रबलता, 2 त्रिरत्न, 3 विभिन्न व्रत, 4 धर्म एव पाप का स्वरूप, 5 सरल दार्शनिक अनुचिन्तन, 6 गुण प्रधान वर्ण-व्यवस्था का समर्थन तथा 7 जातिगत समानता।

1 अहिंसा की प्रबलता—अहिंसा को चरमोन्नत रूप मे स्थापित करने का श्रेय जैन धर्म को ही है। यद्यपि जैन धर्म के आचार्य प्राचीन काल से ही अहिंसा की दुहाई देते आ रहे थे तथा वैदिक धर्म मे भी अहिंसा के विषय मे बहुत कुछ कहा जा सकता था, परन्तु अहिंसा को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय वर्धमान तथा उनके अनुवर्ती आचार्यों को ही है।

जैन धर्म मे वैदिक कर्मकाण्ड मे होने वाली हिंसा का विरोध किया गया है।[1] मन्त्र की सिद्धि के लिए, देवता को प्रसन्न करने के लिए, यज्ञ को सम्पादित करने के लिए, अतिथि के सत्कार के लिए तथा भोजन तैयार करने मे जो हिंसा की जाती है, उसे अहिंसा कदापि नही कहा जा सकता। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' सिद्धांत का विरोध करने के लिए जैनाचार्यों ने अहिंसा के पावन स्वरूप को कर्मकाण्ड के क्षेत्र मे भी प्रतिष्ठित किया। ऐसी हिंसा के फल को भी पुण्य न बता कर पाप ही बताया गया है।

कार्य मे अरुचि दिखलाने वाला व्यक्ति अथवा प्रमादी जीव भी हिंसक होता है।[2] वह अपने भाव-स्वरूप प्राणो की हिंसा करता है। भावात्मक प्राण के हिंसित होने से चिन्ता का अतिरेक होता है तथा द्रव्यप्राण को भी आघात पहुँचता है। प्राणो के वियोग को हिंसा कहा गया है तथा उससे पापो का अनेकमुखी सचय होता है।

जैन सस्कृति मे मान्य अहिंसा के कारण आर्थिक स्थिति भी प्रभावित हुई। इसके उचित समाधान के लिए जैन सस्कृति एक तर्कसगत मार्ग प्रदर्शित करती है। मनुष्य को समाज मे अस्तित्व बनाए रखने के लिए सघर्ष करना पडता है। इस सघर्ष

1 मन्त्रौषधिदेवतायज्ञातिथि भोजनाधर्थं ,कृताऽपि हिंसा हिंसैवतत्फलमपितीव्रपापसञ्चय एव
—जैनदर्शनसार, पृ 138

2 प्रमत्तो हिंसको, हिंस्या द्रव्यभावस्वभावका ।
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा, तत्फल पापसचय ॥ वही, पृ 138

2 पशुपालन—बौद्धयुगीन समाज मे दुधारू जानवरो को पाला जाता था। पशुओ को चराने के लिए हरे-भरे चरागाहो की व्यवस्था रहती थी। गाय को दूध एव कृषि की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। घोडा, बकरी, भेड आदि जानवरो को क्रमश सवारी एव दूध प्राप्त करने जैसी दृष्टियो से पाला जाता था। पशुपालन की व्यवस्था के विषय मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बौद्धयुगीन समाज मे पशुपालन परम्परागत रूप मे ही रहा।

3. व्यापार—बौद्धयुगीन समाज मे रेशम, मलमल, अस्त्र-शस्त्र, जरी तथा नक्काशी के कार्य से युक्त वस्तुओ, औषधिओ, आभूषणो, हाथी दांत से बनी वस्तुओ आदि का निर्माण होता था। पडौसी देशो मे भी इन वस्तुओ को निर्यात किया जाता था। नौका-सचालन की सुविधा होने के कारण हमारे देश के व्यापारी अनेक देशो मे व्यापार किया करते थे। नदियो और समुद्रो मे नौकाओ द्वारा यात्रा करके यथा-स्थान चुगी देकर विभिन्न वस्तुओ का आयात एव निर्यात किया जाता था। अत बौद्धयुगीन भारत मे व्यापार की विशेष प्रगति न होने पर भी विभिन्न देशो से सम्पर्क अवश्य बढा।

4 उद्योग—उद्योग निम्न वर्गो के हाथो मे ही न होकर उच्च वर्ग की आर्थिक स्थिति को सुधारने मे सहायक सिद्ध होकर विभिन्न रूपो मे विकसित हुआ। बौद्ध जातियो मे अठारह प्रकार के उद्योग-धन्धो का वर्णन किया है। डेविड्स ने अठारह उद्योग-धन्धो का क्रम इस प्रकार रखा है—बढई, लुहार, प्रस्तरकार, बुनकर, चर्मकार, कुम्भकार, हाथी-दांत के कारीगर, रगरेज, जौहरी, कछुए, कसाई, बहेलिया, हलवाई नाई, माली नाविक, टोकरी बनाने वाले एव चित्रकार। यथार्थत ये सभी उद्योग-धन्धे वैदिक कालीन समाज से ही प्रचलित थे। अत उद्योग-धन्धो के क्षेत्र मे भी वैज्ञानिक साधनो के अभाव मे कोई विशेष विकास न हो सका।

5 शिक्षा—ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग शिक्षा विभाग मे कार्यरत रहकर अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ बनाने की चेष्टा करते थे। ब्राह्मण शास्त्रो की तथा क्षत्रिय शस्त्रो की शिक्षा देकर अर्थोपार्जन किया करते थे। क्षत्रिय वर्ग ने भी इस युग मे अन्य अनेक कार्य अपनाकर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने का प्रयास किया।

समालोचनात्मक दृष्टि से देखने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धकालीन समाज मे वैदिक समाज की अर्थव्यवस्था का प्रतिदर्श ही विकसित होता रहा। जो व्यवस्था वैदिक युग मे प्रवर्तित हुई थी, उसी के आधार पर भारतीय समाज कई हजार वर्षो तक आगे बढता रहा। विकास की दृष्टि से देखा जाए तो यही कहा जा सकता है कि उन्नीसवी शताब्दी तक भारतवर्ष मे कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन अर्थ-तन्त्र के रूप मे नही हुआ। अत बुद्धयुगीन समाज वैदिक अर्थ-नीतियो के आधार पर ही विकसित हुआ।

जैन सस्कृति
(Jain Culture)

वैदिक युगोत्तर सस्कृति के क्षेत्र मे अनीश्वरवादी दर्शन के आधार पर समाज

का परिष्कार करने का श्रेय जैन सस्कृति को भी है। एक ओर पुराण-धर्म का प्रचार हो रहा था तथा दूसरी ओर बौद्ध एव जैन धर्म युगान्तरकारी सस्कृति का प्रचार कर रहे थे। ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर वर्धमान अथवा महावीर ने वासनाओ को जीतने के सिद्धान्त को 'जैन' नाम से पुकारकर जैन सस्कृति का विकास किया। यद्यपि 'जैन' शब्द का अर्थ विजेता या वासनाजयी ही है, तथापि सस्कृति के क्षेत्र मे 'जैन' एक सांस्कृतिक सिद्धान्त का ही वाचक है। जैन सस्कृति को समझने के लिए जैन साहित्य के ऊपर अवलम्बित रहना पडता है। यहाँ हम जैन सस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए निम्न बिन्दुओ का सहारा ले सकते है—1 अहिंसा की प्रबलता, 2 त्रिरत्न, 3 विभिन्न व्रत, 4 धर्म एव पाप का स्वरूप, 5 सरल दार्शनिक अनुचिन्तन, 6 गुण प्रधान वर्ण-व्यवस्था का समर्थन तथा 7 जातिगत समानता।

1 अहिंसा की प्रबलता—अहिंसा को चरमोन्नत रूप मे स्थापित करने का श्रेय जैन धर्म को ही है। यद्यपि जैन धर्म के आचार्य प्राचीन काल से ही अहिंसा की दुहाई देते आ रहे थे तथा वैदिक धर्म मे भी अहिंसा के विषय मे बहुत कुछ कहा जा सकता था, परन्तु अहिंसा को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय वर्धमान तथा उनके अनुवर्ती आचार्यों को ही है।

जैन धर्म मे वैदिक कर्मकाण्ड मे होने वाली हिंसा का विरोध किया गया है।[1] मन्त्र की सिद्धि के लिए, देवता को प्रसन्न करने के लिए, यज्ञ को सम्पादित करने के लिए, अतिथि के सत्कार के लिए तथा भोजन तैयार करने मे जो हिंसा की जाती है, उसे अहिंसा कदापि नही कहा जा सकता। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' सिद्धांत का विरोध करने के लिए जैनाचार्यों ने अहिंसा के पावन स्वरूप को कर्मकाण्ड के क्षेत्र मे भी प्रतिष्ठित किया। ऐसी हिंसा के फल को भी पुण्य न बता कर पाप ही बताया गया है।

कार्य मे अरुचि दिखलाने वाला व्यक्ति अथवा प्रमादी जीव भी हिंसक होता है।[2] वह अपने भाव-स्वरूप प्राणो की हिंसा करता है। भावात्मक प्राण के हिंसित होने से चिन्ता का अतिरेक होता है तथा द्रव्यप्राण को भी आघात पहुँचता है। प्राणो के वियोग को हिंसा कहा गया है तथा उससे पापो का अनेकमुखी सचय होता है।

जैन सस्कृति मे मान्य अहिंसा के कारण आर्थिक स्थिति भी प्रभावित हुई। इसके उचित समाधान के लिए जैन सस्कृति एक तर्कसगत मार्ग प्रदर्शित करती है। मनुष्य को समाज मे अस्तित्व बनाए रखने के लिए सघर्ष करना पडता है। इस सघर्ष

1 मन्त्रौषधिदेवतायज्ञातिथि भोजनाद्यर्थं कृताऽपि हिंसा हिंसैवतत्फलमपितीव्रपापसञ्चय एवं
—जैनदर्शनसार, पृ 138

2 प्रमत्तो हिंसको, हिंस्या द्रव्यभावस्वभावका।
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा, तत्फल पापसचय॥ वही, पृ 138

को समुचित रूप देने के लिए हिंसा का दो रूपो—साकल्पिकी तथा असाँकल्पिक मे विभाजित किया गया।[1] मन, वचन तथा कर्म से मच्च्छयाकृत हिंसा साँकल्पिकी हिंसा कहलाती है। साँकल्पिकी हिंसा घोर पाप है। इससे समाज मे अशान्ति तथा अनाचार प्रस्तुत होता है। कार्य की प्रकृतिवश न जानकर की जाने वाली हिंसा असाँकल्पिकी की हिंसा कहलाती है। इस हिंसा के भी तीन भेद माने गए है—आरम्भी, उद्योगी तथा विरोधी। चक्की, चूल्हा, ओखली, झाडू तथा स्नानघर से सम्बद्ध हिंसा आरम्भी हिंसा कहलाती है। अत स्वच्छता रखना मानव का धर्म है। अपने उद्योग को चलाने के लिए न्यायसगत अहिंसक व्यापार को सुरक्षित रखने के लिए जो हिंसा होती है, उसे उद्योगी हिंसा माना जाता है। दूसरे व्यक्ति द्वारा आक्रमण किए जाने पर स्व का तथा स्वजनो की रक्षा के जो हिंसा होती है उसे विरोधी हिंसा माना जाता है। जैन सस्कृति मे साँकल्पिक हिंसा को त्यागने तथा असाँकल्पिकी हिंसा को जीवन-रक्षा के लिए उचित एव उपयोगी ठहराया गया है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि जैन सस्कृति उक्त हिंसा को केवल गृहस्थियो के लिए ही उपयोगी मानती है। इसीलिए विरक्त मुनिजनो को अहिंसा की चरम स्थिति पर पहुँचाने के लिए सभी प्रकार की हिंसा को त्याज्य माना गया है।

जैन सस्कृति मे अहिंसा को समाज मे शान्ति स्थापित करने का सर्वोत्तम एव एक मात्र साधन माना गया है। अहिंसा को धर्म का लक्षण तथा हिंसा को पाप का लक्षण माना गया है।[2] ससार की धात्री अहिंसा जगन्माता है, वह आनन्द की प्रगति का श्रेष्ठ मार्ग है। वही श्रेष्ठ गति है तथा वही अविनाशी लक्ष्मी है।[3] अहिंसा समस्त मगलो को प्रदान करने वाली है। स्वर्गदायिका है, सुखकारी है तथा दु खो की समूल विनाशिका है।[4] अहिंसा से जन्म-मरण के भयकर रोग से मुक्ति मिलती है। अहिंसा एक उत्कृष्ट सजीविनी है तथा स्वर्गपुरी के मार्ग मे पौष्टिक कलेवे के समान है।[5] अहिंसा को इतना महत्त्व देने के कारण जैन धर्म के अनुयायी मुनिजन अपने मुह पर पट्टी बाँध कर अहिंसा की पराकाष्ठा को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। अहिंसा का मृदुल और उज्ज्वल स्वरूप जैन सस्कृति की ही महान् देन है।

2 त्रिरत्न—जैन सस्कृति मे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र को 'त्रिरत्न' के नाम से पुकारा गया है। त्रिरत्न को मोक्ष का मार्ग भी कहा गया है। 'सम्यक दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्ष मार्ग ।' यथार्थ स्थिति को प्राप्त करना ज्ञान की उज्ज्वल स्थिति है, जिसमे कर्म के सभी आवरण भस्मसात् हो जाते हैं। सभी प्रकार के आचरणो, धर्म तथा पापादि की स्थिति का दिग्दर्शन ही सम्यक् दर्शन

1 जैनदर्शनसार, पृ 141
2 वही, पृ 144
3 वही, पृ 144
4 वही, पृ 144
5 वही, पृ 145

है, जिससे व्यक्ति को अपना चरित्र उज्ज्वल बनाने का प्रशस्त पथ प्राप्त होता है, जब व्यक्ति अपने आचरण को दर्शन-सम्मत बना लेता है तो उसे कर्मावरणों से ऊपर उज्ज्वल चरित्र की प्राप्ति होती है। अत जैन सस्कृति मानव को पूर्णत परिष्कृत करने पर बल देती रही है, जो विकासवादी अवसर-प्रक्रिया का एक विशिष्ट अग है।

3 विभिन्न व्रत—जैन सस्कृति मानव-समाज को उत्तम आचरण की ओर प्रेरित करने के लिए तीन प्रकार के व्रतो की प्रतिपादिका रही है। तीन व्रत इस प्रकार है—

1 पच अणुव्रत, 2 गुणव्रत तथा 3 शिक्षणव्रत।

पच अणुव्रत मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को गिना गया है। किसी व्यक्ति को पीडित न करके, जानवरो को यथासम्भव चारा-पानी देकर के, सम्बन्धित व्यक्तियो तथा जीवधारियो से यथोचित् काम लेकर के अहिंसा का पालन किया जाता है। कटु, निन्दनीय एव पापपूर्ण बचनो को छोडकर सत्य वचनो को बोलना एक महाव्रत माना गया है। किसी की वस्तु को न चुराना, असली माल मे नकली माल न मिलाना, यथोचित् तोलना, राजाज्ञा का पालन करना आदि को अस्तेय या अचौर्य की परिधि मे गिना गया है। मन, वचन तथा कर्म से मैथुन का त्याग करना ब्रह्मचर्य माना गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने 'ब्रह्मचर्य' को अणुव्रत के अन्तर्गत नही गिना था परन्तु वर्धमान ने ब्रह्मचर्य को अणुव्रत के रूप मे मानकर जैन सस्कृति को चारित्रिक उज्ज्वलता का विशिष्टाधार प्रदान किया। पाँचवाँ अणुव्रत अपरिग्रह है, जिसका अर्थ है—माया-मोह मे न फँसकर अपनी आवश्यकतानुसार धन का सचय करना। इस अणुव्रत के द्वारा अनावश्यक सचय को हिंसा-स्वरूप माना गया है। जहाँ एक ओर समाज दाने दाने के लिए मुहताज हो रहा हो, वही दूसरी ओर अनाज के भण्डार लाभ-प्राप्ति के लिए भरे पडे हो—उस परिग्रह वृत्ति की जैन सस्कृति निन्दा करती है।

उपर्युक्त पच अणुव्रतो के आधार पर गुणव्रतो को भी निर्धारित किया गया। प्रथम गुणव्रत 'दिग्व्रत' दिशाओ मे मर्यादित भ्रमण करने से सम्बद्ध है, जिससे पर्यटक स्वस्थ रूप से धर्म-प्रचार कर सके तथा भ्रमण का पूरा उपयोग उठा सके। दूसरा अणुव्रत—'अनर्थदण्डवत्' है, जो निरर्थक तथा पाप को उत्पन्न करने वाली वस्तुओ के परित्याग से सम्बद्ध है। तीसरा गुणव्रत—'भोगोपभोग परिमाण' है जो भोग्य पदार्थो की सीमा के निर्धारण से सम्बद्ध है।

जैन सस्कृति ने चार प्रकार के शिक्षाव्रतो का अनुमोदन किया है। प्रथम शिक्षाव्रत 'देशावकाशि' नाम से जाना जाता है, जो अगत्योचित दिशाओ मे भ्रमण करने से सम्बद्ध है। दूसरा शिक्षाव्रत 'सामयिक' है, जो धर्मपरायण होकर चिन्तन करने से सम्बन्धित है। 'प्रोषधो पवास' तीसरा शिक्षाव्रत है, जो यथासमय उपवास

करने का अनुमोदन करता है। 'वैयावृत्य' चतुर्थ शिक्षा व्रत है, जो दान करने तथा पूजाचार से सम्पृक्त माना गया है।

जैन सस्कृति के निमाण मे विभिन्न व्रतो का महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन-दर्शन का सचालन विभिन्न व्रतो के आधार पर ही समझना चाहिए। इन व्रतो ने भारतीय समाज को विशुद्ध आचरण की ओर बढने की प्रेरण दी तथा समाज मे शान्ति स्थापित करने का पुन एक अध्याय प्रारम्भ किया।

4 **धर्म एव पाप का स्वरूप**—जैनधर्म मे विभिन्न व्रतो के आधार पर धर्म के दश लक्षण स्वीकार किए गए हैं। 'उत्तम क्षमा' धर्म का प्रथम लक्षण है, जिसको 'क्रोध' को दूर करने की स्थिति का वाचक माना जाना है। यदि अपराधी को भी अपने प्रभाव से शिक्षा देकर क्षमाकर दिया जाए तो वह रोप को जीतने की स्थिति है तथा वही उत्तम क्षमा है। 'उत्तम मादर्व' धर्म का द्वितीय लक्षण है। इस लक्षण मे अभिमान को दूर करने के कारण चित्त की मृदुलता को महत्व दिया जाता है। 'उत्तम आर्जव' को धर्म का तृतीय लक्षण माना गया है। इस लक्षण मे हृदय की सरलता अर्थात् कुटलिता का त्याग परिगणित किया गया है। आत्मा के शुद्धीकरण को 'उत्तम शौच' कहा है, जो धर्म का चौथा लक्षण है। उत्तम शौच का सम्बन्ध माया मोह से मुक्ति पाने से है। प्रिय, यथार्थ एव मृदु वचनो को 'उत्तम सत्य' कहा गया है। यह धर्म का पाँचवाँ लक्षण है। इन्द्रियो को सयमित करने का नाम 'उत्तम सयम' है। इससे व्यक्ति चित्त की शुद्धि अथवा प्रत्याहार की ओर बढता है। यह धर्म का छठा लक्षण है। धर्म के सातवें लक्षण 'उत्तम तप' मे स्वाध्याय, प्रश्न पूछना, मनन, अभ्यास तथा धर्मोपदेश को विशिष्ट स्थान दिया गया है। प्रायश्चित, विनय, परोपकार, सयमित आहार-विहार तथा ध्यान को भी उत्तम तप की सीमा मे रखा गया है। इससे व्यक्ति को जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त होता है। 'उत्तम अकिंचन' को धर्म का आठवाँ लक्षण माना गया है। उत्तम अकिंचनता का केवल आत्मिक गुणो से सम्बन्ध है। आत्मा के गुण ही व्यक्ति के सर्वस्व हैं। उनमे इतर जो कुछ है, वह व्यक्ति का नही है तथा आत्म-गुण के ही हैं और किसी के नही हैं। यही यथार्थ बोध व्यक्ति को आत्मा के स्वरूप की ओर अग्रसर करता है। इससे व्यक्ति का चरित्र परम उज्ज्वल बनता है। धर्म का व्यक्ति दशक लक्षण 'उत्तम त्याग' है, जिसमे आकर्षक पदार्थों के त्याग के साथ-साथ वासनाओ के त्याग को भी गिना गया है। अत जैन सस्कृति मे धर्म का स्वरूप आचरण को पवित्र बनाने के लिए निर्धारित किया गया है। धर्म के दश लक्षण कुछ भिन्न रूप मे धर्मशास्त्र मे भी गिनाए गए है।[1]

व्यक्ति को अवनति की ओर ले जाने वाले तत्त्वो या पापो को जैनधर्म मुख्यत अठारह रूपो मे स्वीकारी करता है। अठारह पापो का क्रम इस प्रकार है—

1 हिंसा, 2 झूठ, 3 चोरी, 4 मैथुन, 5 परिग्रह, 6 क्रोध 7 मान, 8 माया, 9 लोभ, 10 राग, 11 द्वेष, 12 कलह, 13 दोषारोपण, 14 चुगली,

1 धृतिक्षमादमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम्॥ —मनुस्मृति

15 असयम मे रति और सयम मे अरति, 16 निन्दा, 17 छल-कपट तथा 18 मिथ्या दर्शन या दृष्टि।

जैन सस्कृति उक्त सभी पापो मे परिहार के लिए विभिन्न व्रतो की शिक्षा देकर व्यक्ति और समाज को सांस्कृतिक धरातल पर खडा करने मे योग्य और सक्षम सिद्ध हुई है।

5 सरल दार्शनिक चिन्तन—जैन सस्कृति के स्वरूप को निर्धारण करने म सरल दार्शनिक अनुचिन्तन का भी योगदान रहा है। कर्म के आचरणो की व्याख्या करते समय समस्त कर्म-बन्धनो का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है। उन कर्मो को 'ज्ञानावरणीय कर्म' कहते है, जिनसे सम्यक् ज्ञान पर पर्दा पडा रहने के कारण आत्मा का बोध नही होता। यथार्थ दर्शन के अभाव मे 'दर्शनावरणीय कर्म' होते रहते हैं। जब व्यक्ति विषयाशक्ति के कारण किसी कर्म को करना प्रारम्भ करता है, परन्तु उस कर्म का फल या परिणाम दु खद होता है, तो ऐसे कर्म को 'वेदनीय कर्म' कहते है। ससार मे जीवित रहने के लिए जिन कर्मो को किया जाता है, उन्हे 'आयुकर्म' कहते हैं। जिन कर्मो से मानव का मन स्तर तैयार होता है, उन कर्मो को 'नामकर्म' कहते हैं। जब व्यक्ति अपने कुल या गोत्र के वैभव के लिए कर्म करता है, तो तब उसके कर्म 'गोत्र कर्म कहे जाते हैं। दान, पुण्यादि मे बाधक सिद्ध होने वाले कर्मो को 'अन्तराय कर्म' कहा गया है। आत्मा को वैभव-विभोर या मोहग्रस्त करने के कर्मों को 'मोहनीय कर्म' कहते हैं। अत कर्म का विवरण व्यक्ति को मुक्ति का मार्ग दिखलाने मे उपयोगी कहा जा सकता है।

जैन सस्कृति आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारती है तथा आत्मा ही समस्त आवरणो से मुक्त होकर कैवल्य को प्राप्त होती है। ससार मे ससरण की स्थिति मे आत्मा ही जीव का वाचक बनती है। सांसारिक कार्यों मे रत रहने के कारण जीव को कर्त्ता तथा भोक्ता भी माना गया है। यही जीव एक चैतन्य तत्व के रूप मे उद्भूत होता है और उसे अजर और अमर तक कहा गया है। जीव चेतना स्वरूप होने के कारण सूक्ष्म है। वह जिस शरीर मे निवास करता है, उसी के परिमाण का हो जाता है। जीव को चौदह गुण-स्थानो से सयुक्त माना गया है। ज्यो-ज्यो व्यक्ति आत्मा के यथार्थ स्वरूप की ओर बढता है, त्यो-त्यो वह कैवल्य के निकट चलता चला जाता है। केवल ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जीव कैवल्य का अधिकारी जाता है। जैन दर्शन मे जीव को कैवल्यावस्था मे भी सास्तित्व सिद्ध किया गया है। जीव और निर्वाण का सम्बन्ध बतलाकर जीव के पूर्ण परिष्कार का मार्ग ही जैन सस्कृति की चरम उपलब्धि है।

जैन सस्कृति मे जड प्रकृति को 'अजीव' कहा है। भावात्मक प्रकृति को आस्रव, बन्ध, सवर तथा निर्जरा के रूप मे प्रस्तुत किया है। प्रकृत्यतीत तत्व कैवल्य है। इन सभी तत्वो की विशेष जानकारी इसी पुस्तक मे जैन दर्शन के सन्दर्भ मे प्रस्तुत की गई है। अत यहाँ उनकी पुनरावृत्ति उचित नही है।

जैन सस्कृति मे जीवन–दर्शन के प्रति भी सरल और सुबोध विचार मिलते है। सन्यासियो के लिए कठोर तपश्चर्या के सिद्धान्त कितने सरल रूप मे रखे गए हैं। सन्यासियो के लिए बाईस चीजो को परिषद् या विषय बताकर जेय बताया गया है–(1) क्षुधा, (2) तृषा, (3) शीत, (4) उष्ण, (5) वेशभूषा, (6) याचना, (7) अरति, (8) अलाभ, (9) दशमशकादि, (10) आक्रोश, (11) रोग, (12) मल, (13) तृणस्पर्श, (14) अज्ञान, (15) अदर्शन, (16) प्रज्ञा, (17) सत्कार-पुरस्कार, (18) शय्या, (19) चर्या, (20) वधबन्धन, (21) निषिद्या तथा (22) स्त्री।

अत जैन सस्कृति समाज को शान्त एव अनुशासित रखने के लिए विशेष अनुचिन्तन के आधार पर सफलता की कुञ्जी रखने वाली है।

6 गुणप्रधान वर्णव्यवस्था का समर्थन—जैन धर्म मे वर्णव्यवस्था का मनोवैज्ञानिक स्तर पर समर्थन किया गया है। कोई व्यक्ति आचरण के आधार पर ही किसी कारण किसी विशेष वर्ण का हो सकता है, जन्म के आधार पर नही। ज्ञानोचित् कम के ही कारण कोई व्यक्ति ब्राह्मण होता है, समाज की रक्षा मे तत्पर रहने के कारण कोई व्यक्ति क्षत्रिय होता है, कृषि तथा व्यापार मे निपुण होने के कारण कोई व्यक्ति वैश्य वर्ण का माना जाता है तथा शिल्प कार्य को स्वीकार करने के कारण कोई व्यक्ति शूद्र वर्ण का होता है।[1] यदि कोई व्यक्ति सत्य, शुचिता, तप, शील, ध्यान, स्वाध्याय आदि मे रत रहता है तभी वह उच्च वर्ण को सुशोभित करता है।[2] परन्तु उच्च वर्ण मे उत्पन्न होने पर अधम प्रवृत्ति का व्यक्ति उच्च नही माना जा सकता। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जैन सस्कृति किसी वर्ण को उच्च या निम्न रूप मे स्वीकार नही करती। जैन सस्कृति के आधार पर व्यक्ति के गुण एव आचार ही उसके वर्ण को निश्चित करने वाले होते हैं।

7 जातिगत समानता—जैन धर्म मे सभी जातियो को मानव-जाति के रूप मे एकीकृत किया गया है। मानव, पशु, पक्षी आदि जातियाँ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इत्यादि वर्ण या जातियाँ आचारगत जातियाँ है। जैन धर्म मे ब्राह्मणवाद के इस तर्क का खण्डन किया है कि यदि कोई ब्राह्मण शूद्र का अन्न खाता है तथा शूद्र से सम्पर्क रखता है तो वह इस जन्म मे शूद्रत्व को प्राप्त होता है तथा आगे के जन्म मे कुत्ता बनता है।[3] जातिमात्र से कभी धर्म की उपलब्धि नही होती। जिसमे गुणो की कमी है, वह उच्च जाति का होने पर भी नीच है और जिसमे गुणो की प्रधानता है, वह नीच वर्ण का होने पर भी महान् है।[4] शुभ और अशुभ

1 जैनदर्शनसार, पृ 150
2 वही, पृ 151
3 वही, पृ 152
4 वही, पृ 150

आचरण के भेद के ही कारण जाति भेद की कल्पना की गई है। अत मानव-जाति के विभिन्न रूपो को पृथक जाति नहीं कहा जा सकता।

यथार्थत जैन सस्कृति उच्च और निम्न के भेद को दूर करने के लिए ही विनिर्मित हुई। अत समाज को सस्कारित करने के लिए मानवतावादी जीवन-दर्शन के आधार पर जो भी तत्त्व-प्रतिपादन हुआ, उसी को जैन सस्कृति से प्रभावित होकर जो धार्मिक जीवन वना, हम उसे भी सस्कृति के विवेचन के माध्यम से ही स्पष्ट कर चुके हैं।

जैनयुगीन समाज मे अर्थव्यवस्था के ऊपर बौद्धकालीन तथा पुराणयुगीन समाज एव आर्थिक स्थिति के प्रसग मे प्रकाश डाला जा चुका है। अन्तर केवल इतना ही है कि जैनयुगीन समाज जातिगत समानता को लेकर विकसित हुआ तथा पुराण-प्रेमी समाज वर्ण-व्यवस्था को लेकर। आर्थिक अवस्था की दृष्टि से तत्कालीन समाज मे कोई हेर-फेर नही हुआ। अत 600 ई पू से लेकर 400 ई पू तक के युग के समाज मे अर्थतन्त्र के विषय मे पुनरावृत्ति करना कदापि ठीक नही है।

धर्म की भारतीय अवधारणा
(Indian Conception of Religion)

भारत के मनीषियो ने मानव-समाज को मर्यादित रखने के लिए 'धर्म'[1] नामक तत्त्व का आविर्भाव किया। जो तत्त्व मानव-जीवन मे सदैव धारणीय है, उसी को धर्म कहा गया। जिससे मानव का परम हित हो, वही सत्य है—वही धर्म है।[2] अत भारतीय सस्कृति के आधार पर धर्म का निष्कर्ष निम्न रूप मे प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसका स्वरूप सांस्कृतिक इतिहास के सन्दर्भ मे स्पष्ट किया जा चुका है—

1 धर्म की दार्शनिक अवधारणा
2 धर्म और वर्ण-व्यवस्था
3 धर्म और आश्रम-व्यवस्था
4 धर्म और वैवाहिक स्थिति
5 धर्म और नारी
6 धर्म और अर्थोपार्जन
7 धर्म और कर्त्तव्यपरायणता
8 धर्म और सुखभोग
9 वसुधैव कुटुम्बकम्
10 धर्म और राष्ट्रीयता की भावना
11 समन्वयात्मकता

1 धृतिक्षमादमोऽस्तेय शौच इन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम् ॥ —मनुस्मृति

2 यद भूतहितमत्यन्त एतत्सत्य मत मम ॥ —महाभारत

धर्म के स्वरूप का विवेचन करते समय भारतीय मनीषियो की दृष्टि आध्यात्मिक एव भौतिक पहलुओ पर भली-भाँति टिकी रही। वे दोनो पहेलुओ के सन्तुलन पर सदैव बल देते रहे। भारतीय धर्म ईश्वर के सगुण-निर्गुण रूपो को लेकर इतना विस्तृत हो गया कि समय-समय पर उसमे अनेक आडम्बर प्रविष्ट हो गए। विभिन्न आडम्बरो को दूर करने के लिए बौद्ध तथा जैन धर्मों का उदय हुआ। परिणाम यही हुआ कि भारतीय धर्म ईश्वर को न मानकर भी विभिन्न दुख को दूर करने के लिए पुरुपार्थ-चतुष्टय के आधार पर धर्म के स्वरूप को सयोजित रखते हुए प्रस्तुत हुए। विभिन्न जातियो, परम्पराओ, मत-मतान्तरो के सम्मिश्रण के फलस्वरूप भारतीय धर्म मे समन्वय की भावना का सर्वाधिक महत्त्व बना रहा। निष्कर्पत यही कहना उचित है कि भारतीय धर्म समाज के सर्वांगीण विकास के लिए विशिष्ट अनुशासन को स्थापित रखने मे एक महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाहित करता रहा, जिसकी स्वरूप-साधना मे विभिन्न विद्वानो ने सामयिकता के आधार पर यथासमय परिष्कार भी किया।

7 ऐतिहासिक अवशेषो का इतिहास

(मौर्यकाल से 12वी शताब्दी तक)

(Historical Ruins of Ancient India)

हमारे देश मे सिन्धु घाटी की सभ्यता के परिचायक कुछ अवशेषो के अतिरिक्त मौर्यकाल तक कोई भी नमूना उपलब्ध नही है। अत भारतवर्ष मे ऐतिहासिक तथ्यो को सुरक्षित रखने का कालपरक श्रीगणेश मौर्यकाल से ही हुआ। वस्तुत ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर हिन्दू शासन बारहवी शताब्दी तक बना रहा। इसलिए मौर्यकाल मे अशोक, शुग काल मे पुष्यमित्र, कुषाण काल मे कनिष्क, गुप्तकाल मे समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य आदि राजा तथा तत्पश्चात् हर्ष से लेकर पृथ्वीराज एव जयचन्द जैसे पूर्व मध्यकालीन राजाओ के सरक्षण मे जो भी कलागत उन्नति हुई, उसके अवशेष आज तक सुरक्षित हैं। हम यहाँ प्राचीन भारत के मन्दिरो, स्तूपो, दरीगृहो तथा विभिन्न कलाओ का ऐतिहासिक अवशेषो के रूप में ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से प्रस्तुत कर रहे है।

मौर्ययुगीन कला एव ऐतिहासिक अवशेष

चन्द्रगुप्त मौर्य ने ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी मे मौर्य शासन की स्थापना की। उसका शासन सघर्ष की विभीषिका बना रहा, इसलिए उसके राज्य मे कोई विशिष्ट कला विकसित नही हुई। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के शासन-काल मे भी किसी प्रकार का कलात्मक विकास नही हुआ। अत ऐतिहासिक अवशेषो के आधार पर यही माना जाता है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए अनेक स्तूपो, स्तम्भो, गुफाओ एव आवासीय भवनो का निर्माण कराया। मौर्य काल मे सारनाथ का स्तम्भ तथा साँची का स्तूप नामक उल्लेखनीय ऐतिहासिक कलाकृतियो का अवतरण हुआ।

अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार एव प्रसार के लिए अनेक स्तूपो का निर्माण कराया। जनश्रुति के अनुसार अशोक ने 84,000 स्तूपो का निर्माण कराया था। चीनी यात्री ह्वेनसाँग (छठी-शताब्दी) ने अशोक द्वारा करवाये गए स्तूपो की बडी सख्या का उल्लेख किया है। 2300 वर्ष की अवधि मे स्तूपो का विनष्ट हो जाना स्वाभाविक है परन्तु आज साँची का स्तूप ही ऐतिहासिक अवशेष के रूप मे

अवशिष्ट है। अशोक के शासन काल मे तीस से चालीस तक स्तम्भ भी बनाए गए जिनमे आज सारनाथ का स्तम्भ ही ऐतिहासिक अवशेष के रूप मे विद्यमान है। कला की दृष्टि से ईंटो या पत्थरो से बने हुए ठोस गुम्बदो को स्तूप कहा जाता है। नीचे से मोटे, बीच मे पतले तथा ऊपर से कुछ बडे आकार वाली मीनारनुमा आकृति को स्तम्भ कहा जाता है। गुफाओ मे चित्रो को खुदवाना गुफागत कलाकृति का नमूना होता है। सन्यासियो या धर्म-प्रचारको के लिए जो भवन बनवाए गए, उन्हे मौर्य युग मे आवासीय भवनो के नाम से जाना गया।

सारनाथ

पूर्वी उत्तर प्रदेश मे वाराणसी के निकट सारनाथ नामक स्थान है। इसी स्थान पर सम्राट् अशोक ने 'सारनाथ' नामक स्तम्भ का निर्माण कराया था। ईसा पूर्व तीसरी शती मे निर्मित सारनाथ का स्तम्भ आज जीर्ण-शीर्ण स्थिति मे ऐतिहासिक अवशेप के रूप मे सुरक्षित है। सारनाथ स्तम्भ के निर्माण मे निम्नलिखित कलागत वैशिष्ट्य के दर्शन होते हैं—

1 ध्वज या स्तम्भ का तना बिल्कुल सादा और चिकना है। इसकी चमक देखते ही बनती है।

2 स्तम्भ का अण्ड या गला जो गोलाकार है, अनेक धार्मिक प्रतीको-चक्र, पशु-पक्षी, लता-पुष्पादि से सुसज्जित है। प्रतीको की रचना पृथक्-पृथक् रूप मे दर्शनीय है।

3 सबमे ऊपर स्तम्भ का शीर्ष भाग, जिसमे वृषभ, सिंह, हस्थि तथा अश्व की मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर रूप मे बनी हुई हैं।

4 स्तम्भ का निर्माण एक ही पत्थर से हुआ है। पत्थर की काट-छाँट तथा पालिश को देखकर ऐसा भ्रम होता है कि मानो स्तम्भ का निर्माण धातुओ के सम्मिश्रण से किया गया है। स्तम्भ का निर्माण चुनार के बलुआ पत्थर से किया गया है।

5 स्तम्भ पर पशुओ की जो आकृतियाँ खुदी हुई हैं, उनकी सजीवता प्रशसनीय है। दर्शको को उन्हे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे उनसे वार्ता करने के लिए तैयार हैं। मौर्य युग के कलाकार का प्रकृति से प्रेम इसी रूप मे प्रकट हो जाता है कि कलाकार पशुओ की मूर्तियाँ बनाते समय अपने हृदय को ही अवतीर्ण कर देते थे।

6 स्तम्भ का निर्माण स्थानान्तरणीय कलाकृति के रूप मे हुआ है। मौर्य-युगीन स्तम्भो को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता था, जिसका ज्वलन्त उदाहरण सारनाथ का स्तम्भ है।

7 सारनाथ का स्तम्भ भारतीय सस्कृति के समन्वय का द्योतक है।

सारनाथ स्तम्भ मे प्रतीक-योजना—सारनाथ स्तम्भ के मध्य भाग मे चक्र, पशु-पक्षी, लता-गुल्म आदि चित्रित है। स्तम्भ के शिरोभाग मे सिंह, अश्व, हस्थि

तथा वृषभ की मूर्तियाँ सुसज्जित है। इन सभी प्रतीको के पीछे भारतीय संस्कृति छिपी हुई है, जिसका यहाँ सकेत किया जा रहा है।

स्तम्भ मे चक्र को स्थान देना निरन्तर उन्नति का प्रतीक है। जिस प्रकार से चक्र घूमता रहता है, उसी प्रकार ससार का चक्र जन्म, वृद्धि तथा क्षय के क्रम से सदैव उन्नति की ओर विकसित रहता है। इसी प्रतीकावस्था को प्रकट करने के लिए धर्मशास्त्र मे बताया गया है—'जन्मवृद्धिक्षयं नित्य ससारयति चक्रवत्।' जिस प्रकार से ससार का चक्र सदैव चलता है, परन्तु उसके रहस्य को समझने वाला व्यक्ति जन्म, वृद्धि तथा क्षय जैसी शारीरिक अवस्थाओ के आधार पर वीतराग या तृष्णा-मुक्त होकर धर्म-चक्र की विजय का आदर्श प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार स्तम्भ का चक्र भारतीय सस्कृति की गहनताओ को प्रकट करने के लिए धर्म के राज्य का आदर्श प्रस्तुत करता है।

स्तम्भ मे चित्रित एव मूर्तिमान् पशु-पक्षियो की सजीवता यही सिद्ध करती है कि मानव समुदाय के बीच पशु और पक्षियो का समुदाय विद्यमान रहकर उसे जैविक समुदाय के समन्वय का पाठ पढाता है। 'एकाकी न रमते'—अर्थात् अकेला व्यक्ति आनन्दित नही रह सकता, अत मानव को पशु-पक्षियो के समुदाय को अपने जीवन में यथेष्ठ स्थान देकर समन्वयवादिता को अपनाना चाहिए तथा आनन्द की अनुभूति को विकसित करना चाहिए।

स्तम्भ मे चित्रित लताएँ तथा गुल्म भारतवर्ष की शस्य-श्यामला भूमि की ओर सकेत करते हैं। हमारे देश की वनस्पति सदैव हरी-भरी एव अपार बनी रहे तथा मानव-समुदाय के विकास को द्योतित करती रहे, यही लता-गुल्म के चित्रण मे छिपे प्रतीक का रहस्य है।

सारनाथ का स्तम्भ सिंह, हस्थि, अश्व तथा वृषभ की मूर्तियो से अलकृत है। सिंह वीरता और साहस के प्रतीक के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। हस्थि समृद्धि के प्रतीक के रूप मे प्रस्तुत हुआ है। अश्व कार्य-गति का तथा वृषभ धर्म के प्रतिनिधि या प्रतीक का द्योतक है। वस्तुत यह सब प्रतीक योजना भारतीय सस्कृति के रहस्य को स्पष्ट करने के लिए ही सयोजित की गई है।

सारनाथ का स्तम्भ-लेख—बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए सम्राट् अशोक की सारनाथ के स्तम्भ पर लेख भी उत्कीर्ण कराया, जो इस प्रकार है—"देवाना प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार आदेश देते हैं कि पाटलिपुत्र कोई सघ मे फूट न डाले। जो कोई चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, सघ मे फूट डालेगा उसे सफेद कपडे पहनाकर उस स्थान पर रख दिया जाएगा, जो भिक्षु भिक्षुणियो के योग्य नही है। इस प्रकार हमारा यह आदेश भिक्षु-सघ और भिक्षुणी सघ को सादर बता दिया जाए। देवाना प्रिय' इस प्रकार कहते हैं—इस प्रकार का एक लेख (आपके) ससरण (कार्यालय) मे भेज दिया गया है जिससे कि वह आपको सुगम हो। ऐसा ही एक लेख आप लोग रख छोडें जो उपासको के लिए सुगम हो और ये उपासक प्रत्येक उपवास दिवस पर आएँ, जिससे कि वे इस आदेश को समझ सकें और जब प्रत्येक

महामात्र बारी-बारी से उपवास-दिवसो पर उपवास के लिए आए तब वह भी इस आदेश के मर्म को समझ ले और जहाँ तक आपका अधिकार है वहाँ-वहाँ आप इस आदेश के प्रचार हेतु दौरा करें। इसी प्रकार आप लोग सब दुर्गीकृत नगरो और सब विशयो (प्रान्तो) मे (अपने अधीनस्थ पदाधिकारियो द्वारा) दौरा करवा कर आदेश का प्रचार करवाएँ।"

सारनाथ का पाषाण-स्तम्भ अशोक के स्तम्भो मे अद्वितीय सौन्दर्य-युक्त माना जाता है। मार्शल महोदय ने इस स्तम्भ के सौन्दर्य की प्रशसा करते हुए लिखा है—"सारनाथ का स्तम्भ निश्चयत एक आदर्श प्रतिदर्श या नमूना है, जो ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी की सुविकसित कला का परिचायक है तथा साथ ही यह भी सकेत देता है कि उससे पूर्व अनेक पीढियो की परम्परा मे कलागत विकास हो रहा था।"[1]

यथार्थत सारनाथ का स्तम्भ कलागत सौन्दर्य का साक्षी होकर कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्यो को भी प्रकट करने वाला है, जो प्राचीन भारत के विवादो को निर्मूल करने मे समर्थ है। सारनाथ का स्तम्भ स्थापत्य कला का अद्भुत नमूना है। एक ही पत्थर को काट-छाँटकर कला और सस्कृति के समन्वय का साक्षात् स्वरूप सारनाथ का स्तम्भ सहज रूप मे प्रशसनीय है। सारनाथ का स्तम्भ अशोक के धर्म के सार स्वरूप ही जान पडता है।

मौर्ययुगीन अन्य ऐतिहासिक अवशेष—सम्राट् अशोक ने मध्य प्रदेश मे साँची का स्तूप बनवाया था, जो ईंटो का ही बना हुआ था। गुम्बदाकार इस स्तूप का विकास अशोक के पश्चात् हुआ, जिसका हम आगे वर्णन करेंगे। प्रयाग का स्तम्भ जो पहले कभी कौशाम्बी मे निर्मित किया था, सारनाथ के स्तम्भ के प्रतिदर्श को लेकर ही बनाया गया है। अशोक के स्तम्भो तथा स्तूपो पर एक से ही लेख उत्कीर्ण हैं। अशोक ने अनेक गुहा-गृहो का निर्माण कराया था, जो आज भी नागार्जुन की पहाडियो मे सुरक्षित है। इन दरीगृहो की दीवारें इतनी चिकनी है कि शीशे की दीवार के समान सुन्दर और चमकदार प्रतीत होती है। पर्वतो को काट-काटकर गुहा-गृहो के निर्माण की कला ने गुप्त युग मे अजन्ता और एलोरा की कला को भी प्रभावित किया। ऐसे गुहा-गृहो मे भिक्षु लोग निवास करते थे।

अशोक ने पाटलिपुत्र मे अपना राजप्रासाद बनवाया था, जिसे देखकर पाँचवीं शताब्दी मे आने वाले चीनी यात्री फाह्यान को यहाँ तक कहना पडा कि "यह भवन मानवकृत न होकर देवकृत है। पत्थर चुनकर दीवारें और द्वार बनाए गए हैं। उन पर सुन्दर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के मनुष्य उन्हे नही बना सकते। वे अब तक नए के समान हैं।"

1 "The Sarenath capital on the other hand though by no means a masterpiece, is the product of the most developed out of which the world was cognisant in the Third century B C—the handwork of one who had generations of artistic effort and experience behird him"

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने 84000 स्तूप तथा अनेक गुहा गृहों का निर्माण कराया था परन्तु कालक्रम के फलस्वरूप आज मौर्य युग के कुछ ही ऐतिहासिक अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। इन अवशेषो की कला के विषय मे वी ए स्मिथ ने ठीक ही लिखा है—"निर्माण, स्थानान्तर और स्थापना मौर्ययुगीन शिल्प आचार्यों और शिला तक्षको की बुद्धि एव कुशलता का अद्भुत प्रमाण प्रतिष्ठित करते है।"

शुगयुगीन कला एव ऐतिहासिक अवशेष

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे पुष्यमित्र शुग तथा अग्निमित्र जैसे शुगवशी राजाओ ने मौर्ययुगीन कला को एक नया मोड दिया। 'मौर्ययुगीन कला धर्म-प्रचार के लिए उत्कृष्टता को प्राप्त हुई थी, परन्तु शुगयुगीन कला मे जनता के बौद्धिक, मानसिक तथा सामाजिक जीवन को चित्रित करने का अभूतपूर्व प्रयास किया गया।[1]' शुगयुगीन कला गौतम बुद्ध के विभिन्न रूपो को प्रतीक रूप मे—स्तूप, धर्मचक्र, पदचिह्न तथा छत्र आदि के रूप मे प्रदर्शित करती रही, न कि शारीरिक अवस्था मे। मौर्ययुगीन कला की लकडी तथा ईंटो के स्थान पर पाषाण का प्रयोग भी शुगयुगीन कला की एक उल्लेखनीय विशेषता है। शुगकाल मे भरहुत, बोध गया, तथा साँची कला के केन्द्र रहे। इन तीनो ही स्थानो पर शुगयुगीन राजाओ के स्तूप बने हुए हैं, जिनका ऐतिहासिक अवशेषो के रूप मे वर्णन किया जा रहा है।

भरहुत-स्तूप—भरहुत का स्तूप ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे सम्राट् अशोक ने सामान्य रूप मे निर्मित कराया था। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे शुगवशी राजा पुष्यमित्र ने इस स्तूप को वृहदाकारता प्रदान कराई। आजकल यह ऐतिहासिक अवशेष के रूप मे कलकत्ता के सग्रहालय मे सुरक्षित है। शुगायुग मे भरहुत स्तूप का आकार तो मौर्ययुगीन स्तूप के आकार की भाँति ही रहा, परन्तु इसके चारो ओर 7 फीट ऊँची चहारदीवारी निर्मित की गई। इस चहारदीवारी मे चार तोरण-द्वार निर्मित किए गये, जो स्थापत्य कला के सुन्दर प्रतिदर्श हैं। स्तूप के तोरण-द्वारो पर देवी-देवताओ, सतो तथा यक्षो की मूर्तियाँ धार्मिक भावनाओ और विश्वासो को वेशभूषा तथा शिष्टाचार सम्बन्धी व्यवहारो को सूचित करती हैं। इन मूर्तियो मे सजीवता झलकती है। उनको देखकर दर्शक को भारत के जनसाधारण की मानसिकता की स्पष्ट सूचना मिलती है। प्राचीन भारत के जीवन की आशावादिता ऐसी ही मूर्तियो के अकन से प्रतिविम्बित होती है, जो भारतीय दर्शन के निराशावादी स्वर को तिरोहित करती जान पडती है।

भरहुत स्तूप के तोरण-द्वारो पर पशुओ एव वृक्षो के भी चित्र हैं जो बौद्ध कलाकारो की इस मन स्थिति को सूचित करते है कि वे प्रकृति के कितने अनुरागी

1 "It reflects more of the mind than Mourvan art was capable tradition and culture ideology of doing the larger section of the people"

—*Dr N R Ray*

थे। लताओं और गुल्मों को तोरणों के ऊपर उट्टंकित करने वाले कलाकारों का हृदय उन चित्रों में साकार जान पड़ता है। भरहुत की स्थापत्य कला में कोई नया आकर्षण नहीं जान पड़ता। अनेक मूर्तियाँ एक-दूसरे से असम्बद्ध जान पड़ती हैं तथा उनकी भावशून्यता भी ग्राह्य है।[1] भरहुत के स्तूप के चित्रों को चित्रित करने से पता चलता है कि उस समय मानव-जीवन की आचारगत गहराइयों को देखने का अधिक प्रयास किया जाता था। इस विषय में प्रोफ़ेसर कुमार स्वामी का कथन दर्शनीय है—"भरहुत-स्तूप में चित्रांकन न तो आध्यात्मिक है और न ही नीतिशास्त्रीय, अपितु वह तो मानव-जीवन के समग्र आचार का प्रदर्शक है।" इस स्तूप को शुंगयुगीन सिद्ध करने में 'सुगन रजे' उट्टंकित पदबन्ध सहायक सिद्ध हुआ है। 'सुगन रजे'—अर्थात् शुंगों के राज्य में ही इस स्तूप का निर्माण हुआ। अतः भरहुत ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का एक ऐसा ऐतिहासिक अवशेष है जो मानव-जीवन के आचार और कला-प्रेम का परिचायक है।

बोध गया का स्तूप—बिहार प्रान्त के गया नामक स्थान पर ही बोध गया स्तूप निर्मित कराया गया था। बोध गया का स्तूप भी भरहुत के स्तूप की भाँति शुंगयुग में बनवाया गया। इसकी चहारदीवारी आज तक सुरक्षित है। इस स्तूप की स्थापत्य मूर्तियों में भावशून्यता के स्थान पर भाव-प्रवणता है। भरहुत की स्थापत्य कला में सामूहिक चित्रों की प्रधानता थी जो कि बोध गया के स्तूप में दिखलाई नहीं पड़ती। इस स्तूप के ऊपर जो कुछ भी उट्टंकित है, उससे कथानक की सांगोपांगता स्पष्ट नहीं होती।

साँची का स्तूप—सम्राट् अशोक ने ही साँची का स्तूप बनवाया था, जिसका विस्तार शुंगयुगीन राजाओं ने कराया। मौर्ययुगीन स्तूप साधारण कोटि के होते थे। वे ईंटों के बने होते थे। कच्ची ईंटें विशेष माप—16" × 10" × 3" की होती थीं। स्तूप की बाहरी सतह के ऊपर मोटा प्लास्टर कर दिया जाता था और फिर उसके ऊपर आकर्षक रंग कर दिया जाता था। स्तूप के ऊपर कभी-कभी पत्थर की बनी हुई छत्रयष्टि स्थापित की जाती थी। कभी-कभी तो स्तूप को तोरणों तथा पताकाओं से सुसज्जित किया जाता था। स्तूप के चारों ओर धर्म की दृष्टि से प्रदक्षिणा-पथ भी निर्मित किया जाता था। शुंगयुगीन स्तूपों के धर्म के स्थान पर आचरण की प्रधानता को स्थान दिया गया तथा स्तूपों को विशालाकार भी बनाया गया। साँची में अशोक का स्तूप छोटे आकार का था, परन्तु शुंगकाल में इसका आकार 54 फीट ऊँचा तथा 120 फीट के व्यास का हो गया था। स्तूप के चारों ओर 16 फीट ऊँचा एक चबूतरा भी बनवाया गया। इस चबूतरे के ऊपर चढ़ने के लिए दक्षिण की ओर सीढ़ियाँ बनाई गईं। स्तूप के ऊपर वर्गाकार वेदी की स्थापना की गई। इस वेदी में 9-9 फीट के स्तम्भ हैं जो दो-दो फीट की दूरी पर खड़े हुए

1 "The meticulous core to play in the scenes, and are with which the details are exhence w th any expression" —*Dr S K Saraswati*

है। इन स्तम्भो को जोडने वाले लम्ववत् तीन-तीन डण्डे की चौड़ाई दो फीट की है दो डण्डो के बीच मे पौने चार इन्च का फासला है। स्तूप के ऊपरी भाग में स्थित वेदी के भीतर एक आधारपृष्ठिका बनाई गई है जिसके ऊपर छत्रयष्टि को खड़ा किया है। वेदी की विशालता को प्रभावोत्पादकता का केन्द्र कहा जा सकता है।

सॉंची-स्तूप मे चार तोरण हैं। प्रत्येक तोरण सीधे खड़े दो-दो स्तम्भो के ऊपर बना है। तोरण स्तम्भ की ऊँचाई 15 फीट की है। सॉंची स्तूप की कला अनेक परम्परागत विशेषताओ से परिपूर्ण दिखलाई पडती है। मौर्य युग मे लकडी की निर्माण-प्रणाली थी, जो शु गकाल मे पत्थर के ऊपर प्रयुक्त कर दी गई। अत लकडी को जोडने की भाँति पत्थरो को जोडकर सॉंची का स्तूप एक नये रूप मे निर्मित किया गया। फिर भी सॉंची का स्तूप वास्तुकला की दृष्टि से उच्च कोटि का नही है।[1] स्तूप के ऊपर जो स्थापत्य की मूर्तियाँ नियोजित की गई हैं वे उच्च कोटि की है। द्वारो के ऊपर मूर्तियो के माध्यम से जो अलकरण हुआ है, वह दर्शनीय है। पशु-पक्षियो, लता-गुल्मो, यक्ष-यक्षणियो आदि की पूर्ति प्राणवत्ता को लिए हुए है, जो तत्कालीन कलाकारो के प्रकृति-प्रेम को अभिव्यजित करती है।

सॉंची का स्तूप साम्प्रदायिकता अथवा धार्मिकता का परिचायक नही है। इसमे बौद्ध धर्म के कथानक अवश्य मिलते है, परन्तु वे गौण है। इस स्तूप मे जिस वनस्पति का चित्रण हुआ है, शहर के जिस वातावरण को सजीव किया गया है तथा ग्रामीण जीवन की जो सरलता तथा सरसता चित्रित हुई है, उसे सामाजिकता का अवतरण ही कहा जा सकता है। भरहुत के स्तूप मे मानवो की वेशभूषा मे एक कसाव तथा कठोरता का आभास मिलता है, परन्तु सॉंची का स्तूप वस्त्रो एव आभूषणो की स्वाभाविकता को स्पष्ट करता है। जहाँ भी वेशभूषा का प्रदशन हुआ है, वहाँ चुन्नटो और सिलवटो के प्रयोग से शरीर को अधिक सजीव बनाने की चेष्टा की गई है। स्त्री-पुरुषो की मूर्तियाँ मानो बातें करती हुई जान पडती हैं। श्रृ गार रस को उज्ज्वल तथा दर्शनीय रूप प्रदान किया गया है। शारीरिक गठन मॉंसलता को लिये होने पर भी वासना को उद्दीप्त करने वाला सिद्ध नही किया जा सकता।

सॉंची-स्तूप की मूर्तियो मे किसी कथानक को कहने की शक्ति परिपूरित की गई है। मूर्तियाँ अपने अगो के माध्यम से किसी घटना की ओर सकेत करती जान पडती हैं। मूर्ति स्थापना की ऊर्ध्वाकार एव क्षितिजाकार योजना के कारण मूर्ति विशेष तथा अग विशेष को अधिक प्रभावशाली बना दिया गया है। बैशम महोदय ने इस स्तूप-कला की प्रशसा करते हुए ठीक ही लिखा है—"भारतीय स्थापत्य कला मे मूर्तियो की सज्जा उल्लेखनीय है तथा अग-विशेष की सज्जा ताजगी और आकर्षण से परिपूर्ण है।"[2]

1 "The Sanchi gateways are perhaps more noteworthy for their carved ornamentation than their architecture"
—*Basham*

2 'The finish, on the other hand is remarkably good, and the carvings are among the most fresh and vigorous prouducts of the Indian sculpture"

सांची के स्तूप के चारो तोरण एक ही समय मे निर्मित नही हुए परन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पहले तथा चौथे तोरण के निर्माण-काल मे बहुत वर्षो का अन्तर नही है। यथार्थत सांची का स्तूप शु गयुगीन कला का उसी प्रकार अद्वितीय उदाहरण है, जिस प्रकार मौर्ययुगीन कला का सारनाथ।

उपर्युक्त स्तूपो के अतिरिक्त शु गकाल के कुछ अन्य ऐतिहासिक अवशेष भी प्राप्त हुए हैं जिनमे विदिशा का गरुडध्वज, भाजा का चैत्य एव विहार, अजन्ता का नवाँ चैत्य मन्दिर, नासिक तथा कार्ले के चैत्य तथा मथुरा की अनेक यक्षो एव यक्षरिणयो की मूर्तियाँ। अत शु गयुगीन ऐतिहासिक अवशेष अपने अभिलेखो तथा कला-प्रदर्शन के कारण एक ओर ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करते है तथा दूसरी ओर कला की प्रगति को सूचित करते हैं। इसीलिए शु गयुगीन कला को भारतीय कला के विकास का दूसरा अध्याय मानना चाहिए।

कुषाणयुगीन कला एव ऐतिहासिक अवशेष

ईसा की प्रथम शताब्दी मे बौद्ध धर्म के सरक्षक कुषाणवशी सम्राट् कनिष्क ने कला को विशेष महत्त्व दिया। बौद्ध धर्म का हीनयान सम्प्रदाय गौतम बुद्ध को महत्त्व देकर भी उनकी मूर्तियो को महत्त्व प्रदान नही करता था। हीनयान सम्प्रदाय मे आवश्यकतानुसार धर्मचक्र, घोडे, छत्र, सिंहासन तथा चरण-पादुकाओ, आदि को प्रदर्शित करके बुद्ध का अस्तित्व स्पष्ट कर दिया जाता था। परन्तु कनिष्क के समय तक महायान सम्प्रदाय का विकास हो चुका था। अत कनिष्क ने पेशावर, तक्षशिला तथा मथुरा आदि नगरो को कला के केन्द्रो के रूप मे महत्त्व दिया। पेशावर और तक्षशिला मे गौतम बुद्ध की मूर्तियाँ बनी, जिन्हे गान्धार कला के अन्तर्गत माना जाता है तथा मथुरा कला-केन्द्र मे बनी बुद्ध की मूर्तियो को मथुरा कला के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। कनिष्क ने अपनी राजधानी पुरुषपुर मे 400 फीट ऊँचा 13 मजिलो का एक टावर बनवाया था। इसी को 11वी शताब्दी मे अलबरूनी ने कनिष्क चैत्य के नाम से अभिहित किया। वस्तुत कनिष्क ने बौद्ध विहारो के अतिरिक्त बुद्ध मूर्तियो को विशेष महत्त्व दिया, जो आज तक अनेक सग्रहालयो मे प्रतिदर्श के रूप मे सुरक्षित हैं।

गान्धार कला—गान्धार प्रदेश या अफगानिस्तान के क्षेत्र मे जो कुषाणयुगीन कला बुद्ध-मूर्तियो मे सन्निहित है, उसे ही गान्धार कला कहा जाता है। यह हम पहले ही उल्लेख कर चुके है कि गान्धार कला का विकास महायान सम्प्रदाय के अस्तित्व के कारण हुआ। कनिष्क के शासन-काल मे महात्मा बुद्ध की मूर्तियो का निर्माण करना धर्म-प्रचार का साधन समझा जाने लगा। अत उस समय जो मूर्तियाँ बनी उन्हे विषय की दृष्टि से भारतीय कला की दृष्टि मे यूनानी कहना अधिक उपयुक्त जान पडता है। मूर्तियो का विषय महात्मा बुद्ध का जन्म, सम्बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्तन, तथा परिनिर्वाण से सम्बन्धित रहा है। कला की दृष्टि से महात्मा बुद्ध की ध्यान-मुद्रा तथा अभय-मुद्रा भी भारतीय ही हैं क्योकि महात्मा बुद्ध ध्यानावस्था के ही कारण समाधि को सिद्ध कर सके तथा बोधि-सत्व

को प्राप्त कर सके। इसी प्रकार गौतम बुद्ध ने ससार के उद्धार के लिए यथार्थ ज्ञान का उपदेश दिया, वही यथार्थ ज्ञान उनकी अभय मुद्रा के रूप मे या एक हाथ को कुछ ऊपर उठाए जाने की स्थिति मे स्पष्ट किया गया है। गौतम बुद्ध को ईश्वरत्व रूप मे प्रदर्शित करने वाली मूर्तियाँ भी भारतीय कला का ही उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। महात्मा बुद्ध की मूर्ति के मुख्य-भाग के चारो ओर प्रभा-मण्डल प्रदर्शित किया गया है, जो भारतीय दर्शन की छाया का सूचक है।[1]

भारतीय विषय को चित्रित करते समय यूनानी कला का प्रभाव गान्धार कला के ऊपर दर्शनीय है। बुद्ध तो भारतीय सस्कृति के स्तम्भ है, परन्तु उनका आकार-प्रकार यूनानी देवता अपोलो जैसा दिया गया है, जो यूनानी कला का परिचायक है। बुद्ध के शरीर पर जो वस्त्र और आभूषण है, वे भी विदेशी है। बुद्ध की मूर्तियाँ मोटे वस्त्रो से ढकी हैं। अधिकांश मूर्तियाँ बुद्ध के पुष्ट शरीर को प्रदर्शित करती हैं। मूर्तियो मे बुद्ध के होट मोटे हैं तथा आँखें दूर तक खिची हुई हैं। बुद्ध के शीश के ऊपर उष्णीष या जूडा भी दिखाया गया है और कभी-कभी वे सिहासन पर आसीन दिखाए गए हैं। बुद्ध के पैरो मे चप्पलो का होना विदेशी प्रभाव ही है। गान्धार कला की बुद्ध-मूर्तियो मे सन्यासी बुद्ध के केश बडे-बडे तथा अलकृत दिखाए गए है, जिनमे यह स्पष्ट हो जाता है कि यूनानी कला के प्रदर्शन की चकाचौध मे कलाकार बुद्ध की सन्यासी मुद्रा को विस्मृत कर बैठे है। बुद्ध ने सन्यासी हो जाने पर केशो को मुडवा दिया था तथा आभूषणो को उतार दिया था। गान्धार कला के प्रभाव मे निर्मित बुद्ध मूर्तियाँ मे न तो आध्यात्मिक गहराइयाँ है और न ही विश्व-कल्याण की प्रभावशीलता। बुद्ध की मुख-मुद्रा मे या तो इतनी कठोरता का निवास हो गया है कि बुद्ध कठोरता के अवतार जान पडते हैं अथवा वे इतने भावुक दिखलाई पडते है कि उनकी भावुकता स्त्री-स्तम्भ भावुकता ही कही जा सकती है। बुद्ध के शरीर के ऊपर अनावश्यक साज-सज्जा आडम्बर ही जान पडती है, जिसके फलस्वरूप न तो बुद्ध का दिव्य व्यक्तित्व ही चित्रित किया जा सका है, और न ही भावनाओ की कलात्मक अभिव्यक्ति हो सकी है।[2] अत गान्धार-कलाकारो ने बुद्ध के शारीरिक सौन्दर्य तथा बौद्धिकता पर विशेष बल दिया है, वे आध्यात्मिकता तथा भौतिकता को तो प्राय भुला ही बैठे है।[3]

निष्कर्षत गान्धार-कला के अन्तर्गत निर्मित मूर्तियो की निम्नलिखित विशेषताएँ है–

1 ये मूर्तियाँ स्लेटी पत्थर की हैं। परवर्ती मूर्तियाँ चूना, प्लास्टर तथा धातु की भी हैं।

1 "न तस्य रोगो न जरा न मृत्य प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम्।" —श्वेताश्वतरोपनिषद

2 The relicks representing scenes from the life of the master, inspite of their minute details have the appearance of mechanical reproductions, lacking all the spontaneity " —*Dr S K Saraswati*

3 To the Greek man s beauty and intellect were everything The vision of the Indian was bounded by the immortal rather than the mortal "—*Marshal*

2 गान्धार-कला की मूर्तियो के विषय भारतीय है ।
3 गान्धार-कला मे भारतीय तथा यूनानी कला का सम्मिश्रण है ।
4 गान्धार-कला मे यूनानी शैली की प्रधानता है ।
5 गान्धार-कला की मूर्तियो मे विषयानुकूलता का अभाव है ।
6 इन मूर्तियो मे धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी विशेष स्थान नही है ।
7 गान्धार-कला की मूर्तियो मे आध्यात्म की अपेक्षा भौतिकता की प्रधानता है ।
8 गान्धार-कला को इण्डोग्रीक कला के नाम से भी जाना जाता है ।

मथुरा-कला—कनिष्क के शासनकाल मे मथुरा-कला का अभ्युदय विशुद्ध भारतीय कला के रूप मे हुआ । उत्तर प्रदेश के जनपद मथुरा मे इसका विकास होने के कारण इस कला को मथुरा-कला नाम दिया गया । प्रारम्भ मे वैदेशिक इतिहासविदो ने मथुरा-कला का उद्भव और उद्गम गान्धार-कला के प्रभाव से ही माना । परन्तु अब विषय एव कला का अनुशीलन हो जाने के उपरान्त यह निश्चित हो गया कि मथुरा-कला की मूर्तियाँ गान्धार-कला के प्रभाव से शून्य हैं । मथुरा-कला को जन्म देने का श्रेय भरहुत तथा साँची की कलाओ को है । मथुरा-कला का जन्म मथुरा के देशी कलाकारो के मानस मे सयोजित बुद्ध की विभिन्न भगिलाओ के कारण हुआ, जिन्हे सुसज्जित करने की प्रेरणा साँची और भरहुत की कलाओ से मिली । अनेक विद्वानो ने मथुरा-कला का अस्तित्व गान्धार-कला के जन्म से पूर्व ही स्वीकार किया है ।[1] कालान्तर मे मथुरा-कला के ऊपर गान्धार-कला का यत्किंचित् प्रभाव भी अवश्य पड़ा ।

मथुरा-कला के अन्तर्गत निर्मित मूर्तियो मे गौतम बुद्ध के जीवन की सात घटनाओ को प्रदर्शित किया गया है । सातो घटनाएँ इस प्रकार है—1 बुद्ध का जन्म, 2 बुद्ध को बोधि-तत्त्व की प्राप्ति, 3 धर्म प्रचार, 4 महापरिनिर्वाण, 5 इन्द्र को भगवान बुद्ध का दर्शन, 6 बुद्ध द्वारा त्रयत्रिंश स्वर्ग से माता को ज्ञान देकर वापस आना तथा 7 लोकपालो द्वारा बुद्ध को भिक्षापात्र अर्पित करना । पहले चारो मूर्ति-भेद गान्धार-कला मे भी मूर्तिमान् किए गए है । पिछले तीनो भेदो मे ब्राह्मण धर्म की छाप दिखलाई पडती है क्योकि पौराणिक या ब्राह्मण धर्म मे ईश्वर को सभी देवताओ से श्रेष्ठ माना गया है । इन्द्र, वरुण कुबेर आदि राजा भगवान की उसी प्रकार से सेवा करते हैं, जिस प्रकार सेवक स्वामी की । इन्द्रादि देवता भगवान के दर्शन करके स्वय को कृतकृत्य मानते है । इसीलिए इन्द्र को भगवान बुद्ध के समक्ष ईश-दिदृक्षु के रूप मे प्रस्तुत किया गया है । बुद्ध की माता महामाया से भेंट भी पौराणिक धारणा को ही सूचित करती है कि तैंतीस देवताओ के निवास

1 "The latest opinion indeed, is that the earliest Buddha's image of the Mathura school were pre-gandharan, and that the latter's history runs parallel to and independent of the main Current of Indian Art"
—*Cristmas*

स्वर्ग मे अवतार प्रवेश कर सकते है। बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, इन्द्र तथा प्रजापति से युक्त भूमि को स्वर्ग कहा गया है। बुद्ध को लोकपालो द्वारा भिक्षापात्र अर्पित करने के पीछे भी पौराणिक धारणा ही काम करती जान पड रही है।

मथुरा की मूर्तियाँ माँसलता और विशालता के लिए प्रसिद्ध है। मथुरा-कला की मूर्तियो मे बुद्ध के मूछें नही दिखाई गई है, जिसे हम अवतारवादी भारतीय कला एव सस्कृति का ही प्रभाव कह सकते हैं। मथुरा की कुषाणकालीन मूर्तियो मे बुद्ध के दाहिने कन्धे पर वस्त्र दिखलाई नही पडता। दक्षिण हस्त कुछ ऊपर को उठा हुआ दिखाया गया है, जो अभय मुद्रा का प्रदर्शक है। बुद्ध को बोधि-तत्त्व प्राप्त करते हुए चित्र मे आध्यात्मिकता परिपूर्ण जान पडती है। मथुरा की बुद्ध-मूर्तियो मे सिहासनासीनता की प्रधानता रही है। इस कला मे बुद्ध की मुख-मुद्रा प्रभामण्डल से आवृत है, जो गान्धार-कला से इस बिन्दु पर भिन्न है कि मथुरा की मूर्तियो का प्रभामण्डल किनारे की ओर वृत्ताकार चिह्नो से सुशोभित किया गया है।

मथुरा-कला पर साँची तथा भरहुत की कलाओ का प्रभाव रहा है, यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। साँची और भरहुत की कलाकृतियो मे प्राकृतिक प्रेम की प्रधानता तथा आध्यात्मिकता का बोलबाला जान पडता है, जबकि मथुरा की कला मे यक्षणियो की प्रतिमाओ मे इन्द्रियपरकता की प्रधानता है। हाँ, मथुरा की कला का आकर्षण भौतिक क्षेत्र मे भी उतना ही चमत्कारपूर्ण है, जितना कि आध्यात्मिक क्षेत्र मे। निष्कर्षत मथुरा-कला की निम्नलिखित विशेषताएँ है—

1 मथुरा की मूर्तियाँ लाल बलुए पत्थर की बनी हैं।

2 गान्धार-कला की भाँति मथुरा-कला की मूर्तियो के बुद्ध के मुख के चारो ओर प्रभा-मण्डल है, परन्तु वह गान्धार-कला की अपेक्षा अधिक आकर्षक है।

3 महात्मा बुद्ध मुण्डित शीश तथा दाढी-मूछ विहीन दिखाए गए है।

4 प्रतिमाओ मे आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकता की प्रधानता है।

5 महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ सिहासनासीन भी है तथा खडी मुद्रा मे भी।

6 मूर्तियो का एक कन्धा ढका है तथा दूसरा खुला।

7 यक्षो तथा यक्षणियो की मूर्तियो मे कामुकता का अतिरेक है।

8 मूर्तियो के वस्त्र प्राय शरीर से चिपटे हुए हैं।

गान्धार कला तथा मथुरा-कला से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुषाणयुगीन मूर्तियाँ ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध धर्म के सम्मिश्रण एव स्वदेशी एव विदेशी कला के समन्वय के युग की देन हैं। धार्मिक सहिष्णुता का वह युग निश्चयत कला को प्रोत्साहित करने वाला सिद्ध हुआ। गान्धार-कला तथा मथुरा-कला कनिष्क के शासन की सस्कृति को प्रकट करने के लिए ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करती हैं। कुषाण युग की कला को समझने के लिए आज विभिन्न सग्रहालयो मे गान्धार-कला तथा मथुरा-कला की मूर्तियाँ देखी जा सकती है। कुषाणयुगीन कला का विकास धर्म और कला दोनो के विवर्धन हेतु हुआ। आज कुषाणयुगीन चैत्य या बौद्ध

2 गान्धार-कला की मूर्तियो के विषय भारतीय है ।
3 गान्धार-कला मे भारतीय तथा यूनानी कला का सम्मिश्रण है ।
4 गान्धार-कला मे यूनानी शैली की प्रधानता है ।
5 गान्धार-कला की मूर्तियो मे विषयानुकूलता का अभाव है ।
6 इन मूर्तियो मे धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी विशेष स्थान नही है।
7 गान्धार-कला की मूर्तियो मे आध्यात्म की अपेक्षा भौतिकता की प्रधानता है ।
8 गान्धार-कला को इण्डोग्रीक कला के नाम से भी जाना जाता है ।

मथुरा-कला—कनिष्क के शासनकाल मे मथुरा-कला का अभ्युदय विशुद्ध भारतीय कला के रूप मे हुआ । उत्तर प्रदेश के जनपद मथुरा मे इसका विकास होने के कारण इस कला को मथुरा-कला नाम दिया गया । प्रारम्भ मे वैदेशिक इतिहासविदो ने मथुरा-कला का उद्भव और उद्गम गान्धार-कला के प्रभाव से ही माना । परन्तु अब विषय एव कला का अनुशीलन हो जाने के उपरान्त यह निश्चित हो गया कि मथुरा-कला की मूर्तियाँ गान्धार-कला के प्रभाव से शून्य हैं । मथुरा-कला को जन्म देने का श्रेय भरहुत तथा साँची की कलाओ को है । मथुरा-कला का जन्म मथुरा के देशी कलाकारो के मानस मे सयोजित बुद्ध की विभिन्न भगिलाओ के कारण हुआ, जिन्हे सुसज्जित करने की प्रेरणा साँची और भरहुत की कलाओ से मिली । अनेक विद्वानो ने मथुरा-कला का अस्तित्व गान्धार-कला के जन्म से पूर्व ही स्वीकार किया है ।[1] कालान्तर मे मथुरा-कला के ऊपर गान्धार-कला का यत्किंचित् प्रभाव भी अवश्य पड़ा ।

मथुरा-कला के अन्तर्गत निर्मित मूर्तियो मे गौतम बुद्ध के जीवन की सात घटनाओ को प्रदर्शित किया गया है । सातो घटनाएँ इस प्रकार हैं—1 बुद्ध का जन्म, 2 बुद्ध को बोधि-तत्त्व की प्राप्ति, 3 धर्म प्रचार, 4 महापरिनिर्वाण, 5 इन्द्र को भगवान बुद्ध का दर्शन, 6 बुद्ध द्वारा त्रयत्रिंश स्वर्ग से माता को ज्ञान देकर वापस आना तथा 7 लोकपालो द्वारा बुद्ध को भिक्षापात्र अर्पित करना । पहले चारो मूर्ति-भेद गान्धार-कला मे भी मूर्तिमान् किए गए है । पिछले तीनो भेदो मे ब्राह्मण धर्म की छाप दिखलाई पडती है क्योकि पौराणिक या ब्राह्मण धर्म मे ईश्वर को सभी देवताओ से श्रेष्ठ माना गया है । इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि राजा भगवान की उसी प्रकार से सेवा करते हैं, जिस प्रकार सेवक स्वामी की । इन्द्रादि देवता भगवान के दर्शन करके स्वय को कृतकृत्य मानते है । इसीलिए इन्द्र को भगवान बुद्ध के समक्ष ईश-दिदृक्षु के रूप मे प्रस्तुत किया गया है । बुद्ध की माता महामाया से भेंट भी पौराणिक धारणा को ही सूचित करती है कि तैंतीस देवताओ के निवास

1 "The latest opinion indeed is that the earliest Buddha's image of the Mathura school were pre-gandharan and that the latter's history runs parallel to and independent of the main Current of Indian Art"

—*Cristmas*

स्वर्ग में अवतार प्रवेश कर सकते हैं। बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, इन्द्र तथा प्रजापति से युक्त भूमि को स्वर्ग कहा गया है। बुद्ध को लोकपालों द्वारा भिक्षापात्र अर्पित करने के पीछे भी पौराणिक धारणा ही काम करती जान पड़ रही है।

मथुरा की मूर्तियाँ मांसलता और विशालता के लिए प्रसिद्ध हैं। मथुरा-कला की मूर्तियों में बुद्ध के मूछें नहीं दिखाई गई हैं, जिसे हम अवतारवादी भारतीय कला एवं संस्कृति का ही प्रभाव कह सकते हैं। मथुरा की कुषाणकालीन मूर्तियों में बुद्ध के दाहिने कन्धे पर वस्त्र दिखलाई नहीं पड़ता। दक्षिण हस्त कुछ ऊपर को उठा हुआ दिखाया गया है, जो अभय मुद्रा का प्रदर्शक है। बुद्ध को बोधि-तत्त्व प्राप्त करते हुए चित्र में आध्यात्मिकता परिपूर्ण जान पड़ती है। मथुरा की बुद्ध-मूर्तियों में सिंहासनासीनता की प्रधानता रही है। इस कला में बुद्ध की मुख-मुद्रा प्रभामण्डल से आवृत है, जो गान्धार-कला में इस बिन्दु पर भिन्न है कि मथुरा की मूर्तियों का प्रभामण्डल किनारे की ओर वृत्ताकार चिह्नों से सुशोभित किया गया है।

मथुरा-कला पर साँची तथा भरहुत की कलाओं का प्रभाव रहा है, यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। साँची और भरहुत की कलाकृतियों में प्राकृतिक प्रेम की प्रधानता तथा आध्यात्मिकता का बोलबाला जान पड़ता है, जबकि मथुरा की कला में यक्षिणियों की प्रतिमाओं में इन्द्रियपरकता की प्रधानता है। हाँ, मथुरा की कला का आकर्षण भौतिक क्षेत्र में भी उतना ही चमत्कारपूर्ण है, जितना कि आध्यात्मिक क्षेत्र में। निष्कर्षत मथुरा-कला की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

1 मथुरा की मूर्तियाँ लाल बलुए पत्थर की बनी हैं।

2 गान्धार-कला की भाँति मथुरा-कला की मूर्तियों के बुद्ध के मुख के चारों ओर प्रभा-मण्डल है, परन्तु वह गान्धार-कला की अपेक्षा अधिक आकर्षक है।

3 महात्मा बुद्ध मुण्डित शीश तथा दाढ़ी-मूछ विहीन दिखाए गए हैं।

4 प्रतिमाओं में आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकता की प्रधानता है।

5 महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ सिंहासनासीन भी हैं तथा खड़ी मुद्रा में भी।

6 मूर्तियों का एक कन्धा ढका है तथा दूसरा खुला।

7 यक्षों तथा यक्षिणियों की मूर्तियों में कामुकता का अतिरेक है।

8 मूर्तियों के वस्त्र प्राय शरीर से चिपटे हुए हैं।

गान्धार कला तथा मथुरा-कला से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुषाणयुगीन मूर्तियाँ ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध धर्म के सम्मिश्रण एवं स्वदेशी एवं विदेशी कला के समन्वय के युग की देन हैं। धार्मिक सहिष्णुता का वह युग निश्चयत कला को प्रोत्साहित करने वाला सिद्ध हुआ। गान्धार-कला तथा मथुरा-कला कनिष्क के शासन की संस्कृति को प्रकट करने के लिए ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करती हैं। कुषाण युग की कला को समझने के लिए आज विभिन्न संग्रहालयों में गान्धार-कला तथा मथुरा-कला की मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं। कुषाणयुगीन कला का विकास धर्म और कला दोनों के विवर्धन हेतु हुआ। आज कुषाणयुगीन चैत्य या बौद्ध

विहार नो अनुपलब्ध है परन्तु उस युग की मूर्तियाँ ऐतिहासिक अवशेषो की पूर्ति करती हैं ।

गुप्तयुगीन कला एवं ऐतिहासिक अवशेष

भारतवर्ष के इतिहास मे गुप्तयुगीन कला को कला का स्वर्ण-युग माना जाता है । चौथी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के मध्य तक गुप्तकालीन कला का विकास होता रहा । समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य तथा स्कन्दगुप्त के शासनकाल मे कला के क्षेत्र मे विशेष प्रगति हुई । गुप्तवशी राजाओ ने धर्म-निरपेक्षता को अपनाया, जिसका प्रभाव तत्कालीन कला पर पडा । विष्णु, शिव, बुद्ध तथा महावीर से सम्बद्ध मन्दिर एव मूर्तियो का निर्माण हुआ । गुप्तयुगीन कला को माध्यम बनाकर तत्कालीन ऐतिहासिक अवशेषो को निम्नलिखित रूप मे स्पष्ट किया जा सकता है—1 वास्तुकला, 2 मूर्तिकला, 3 चित्रकला 4 मुद्रा-निर्माण-कला ।

1 वास्तुकला—वास्तुकला के अन्तर्गत स्तूप, चैत्य, दरीगृह, मन्दिर, भवन मठ आदि के निर्माण को गिना जाता है । गुप्तकाल मे अनेक भव्य भवनो का निर्माण हुआ था, परन्तु ऐतिहासिक अवशेष के रूप मे आज केवल जबलपुर जिले के तिगवा नामक स्थान मे विष्णु मन्दिर, नागौर मे भूमरा का शिव मन्दिर, बोध गया के बौद्ध मन्दिर, झाँसी जिले मे देवगढ का मन्दिर, ग्वालियर मे भिलसा के निकट उदयगिरि की गुफा इत्यादि ।

गुप्तकालीन वास्तुकला मे पत्थर और ईंटो को प्रयोग मे लिया गया है । गुप्तकाल से पूर्व भवन-निर्माण मे बाँस तथा लकडी का प्रयोग किया जाता था, जिससे कि भवन जल्दी ही विनष्ट हो जाता था । परन्तु गुप्तयुगीन वास्तुकला मे पत्थरो तथा ईंटो के प्रयोग का आज यह फल प्राप्त है कि तद्युगीन अनेक मन्दिर ऐतिहासिक अवशेषो के रूप मे प्राप्त है । निष्कर्षत गुप्तयुगीन कला की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(i) मन्दिरो के निर्माण मे ईंटो तथा पत्थरो का प्रयोग हुआ है ।

(ii) मन्दिरो मे मेहराब को जो स्थान मिला है, वह भारतीय कला का प्राचीनतम नमूना है ।

2 मूर्तिकला—गुप्तकालीन मूर्तिकला कुषाणयुगीन मूर्तिकला से भी उन्नत मानी जाती हैं । कुषाणयुग मे गान्धार-कला तथा मथुरा-कला का प्रादुर्भाव एव विकास हुआ था, परन्तु उन दोनो ही कलाओ मे भौतिकता एव आध्यात्मिकता का असतुलन रहा । गुप्तकाल मे इसी अभाव की विशेषत पूर्ति की गई । आज मथुरा के सग्रहालय मे गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमा सुरक्षित है । यह कलावशेष बुद्ध के शारीरिक सतुलन के साथ-साथ मानसिक सतुलन को भी व्यक्त करता है । समझा जाता है कि गुप्तकालीन मूर्तियो मे अनुशासन, स्नेह, सतुलन, मुस्कान आदि भावो एव अनुभावो का समन्वय स्थापित कर दिया गया है । गुप्तयुगीन सारनाथ की बुद्ध प्रतिमा उक्त सतुलन का श्रेष्ठ उदाहरण है । उदयगिरि की विशाल वराह मूर्ति सूर्य, दुर्गा, स्वामी-कार्तिकेय तथा अन्य देवी-देवताओ की मूर्तियाँ भी आध्यात्मिक

सतुलन को ही व्यक्त करती है। अत गुप्तयुगीन मूर्तिकला की निष्कर्षत निम्न-लिखित विशेपताएँ हैं—

(i) गुप्तकालीन मूर्ति-कला विदेशी प्रभाव से मुक्त हो चुकी थी।

(ii) गुप्तयुग की मूर्तियों मे भौतिकता और आध्यात्मिकता का सतुलन मिलता है।

(iii) गुप्तकालीन मूर्तियो की सुन्दरता एव भाव प्रवणता विपयानुकूल रही है।

(iv) गुप्तकालीन मूर्ति कला के विपय समूची भारतीय सस्कृति का प्रतिनिधित्व करते है।

(v) गुप्तयुगीन मूर्ति-कला मे धार्मिकता की प्रधानता है।

3 चित्रकला—गुप्तयुगीन चित्रकला का सर्वोत्तम नमूना अजन्ता और वाघ की चित्रकारी है। अजन्ता महाराष्ट्र मे औरगावाद के समीप एक कन्दरा के रूप मे भित्तिचित्रो के माध्यम से चित्रकला का अद्वितीय नमूना है। वाघ मालवा के अन्तर्गत है, जो अजन्ता की भाँति भित्तिचित्रो को समाहित किए हुए है।

अजन्ता के मन्दिर चट्टानो को काटकर बनाए गए हैं। उनके अन्तर्गत भित्तियो को सममिति करके चित्रकारी की गई है। इन दीवारो के ऊपर नाटकीय वातावरण चित्रित कर दिया गया है। अनेक राजकुमार राजकीय कार्यों को करते दिखाए गए हैं। साधुगण भारतीय सस्कृति को प्रकट करते हुए जान पडते है। योद्धा अपने देश की रक्षा के लिए युद्धोन्मत्त दिखाए गए है। सामान्य नर-नारी सामाजिक समृद्धि को सूचित करते हुए चित्रित किए गए है।

अजन्ता की कन्दराओ की भित्तियो के ऊपर वन्दरो, हाथियो, हरिणो तथा मृगशावको को सुन्दर रूप मे चित्रित किया गया है। वन्यो एव पक्षियो को देखने से पता चलता है कि हमारे प्राचीन समाज मे पशु-पक्षियो की सृष्टि-समुदाय का अभिन्न अग माना जाता था। तद्युगीन कलकारो, दार्शनिको, साहित्यकारो तथा विचारको को समूची सृष्टि से बडा प्रेम था। अजन्ता की दीवारो पर अनेक उद्यानो तथा सरोवरो का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। ऐसे चित्रो को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अजन्ता गुफा के स्तम्भो तथा दीवारो पर एक विशाल नाटक होता जान पडता है।[1]

अजन्ता के चित्रो के विपय अत्यन्त विस्तृत हैं। कही स्वर्ग के दूत आकाश मे घूमते हैं तो कही गौतम बुद्ध का समग्र जीवन-चरित्र चित्रित है। बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध चित्रों में 'महाभिनिष्क्रमण' का चित्र सर्वाधिक आकर्षक है। इस चित्र ने एक ओर भौतिकता वैभव को सयोजित किए हुए दिखलाई गई है तथा दूसरी ओर आध्यात्म-सत्य दिव्य ज्योति के रूप मे प्रकट किया सा जान पडता है। भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच मे खडे बुद्ध का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक और प्रेरणास्पद

1 'The walls and pillars of the Ajanta caves constitute the back-screen of vast drama'

जान पडता है। इस ऐतिहासिक चित्र मे जो कल्पना साकार हुई है, उसके विषय मे भगिनी निवेदिता ने ठीक ही लिखा है—'यह चित्र सम्भवत भगवान् बुद्ध का सबसे महान् कल्पनात्मक चित्रण, है जिसे ससार ने आज तक उत्पन्न किया है। ऐसी अद्विनीय कल्पना पुन उत्पन्न नही की जा सकती।"

अजन्ता की भित्ति पर चित्रित मरणासन्न राजकुमारी का चित्र दर्शको को प्रभावित किए विना नही रहता। इस चित्र की भावाभिव्यक्ति इतनी मार्मिक है कि मरणासन्न राजकुमारी की करुण गाथा उससे स्वत स्पष्ट हो जाती है। इस चित्र मे करुणा और भावावेश का अद्भुत समन्वय है। इसी प्रकार से किसी स्थान पर जुलूसो के चित्र दर्शनो को दग करते हैं तो कही माता और पुत्र के विचित्र सम्बन्ध विस्मय के विषय बनते हैं।

अजन्ता के चित्र भारतीय मानवपरक दृष्टिकोण को साकार करते हैं इसीलिए इस कला को भारत की सर्वोत्तम कला भी कहा गया है। अजन्ता के चित्रकार अनेक भावो के भेदो के ज्ञाता थे। वे किसी भी भावावस्था को सहज रूप मे चित्रित करना जानते थे। अनेक चित्रो मे स्वाभाविकता, लालित्य एव चेतना की अभिव्यजना का अद्भुत सामञ्जस्य है। अजन्ता के चित्रो मे जो शारीरिक सतुलन दिखलाई पडता है, उसमे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकालीन वीरो के शरीर सुगठित थे। उन चित्रो मे प्रतिभा एव भावना के अभूतपूर्व सामञ्जस्य को देखकर आज के चित्रकार भी विस्मय विमुग्ध हो जाते है।

अजन्ता के सन्दर्भ मे यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यह गुफा चौथी शताब्दी मे वाकाटक वश के राजाओ के शासन-काल मे ही बननी शुरू हो गई थी। अजन्ता की चैत्य गुफाएँ वाकाटक काल की देन है। इसकी विहार गुफा क्रमांक 16 को राजा हरिषेण के मन्त्री वराहदेव ने निर्मित कराई थी। इस गुफा मे एक विशाल भवन है, जिसकी लम्बाई 66 फीट, चौडाई 65 फीट तथा ऊँचाई 50 फीट है।

अजन्ता की गुफा की चित्रकारी ने एक ओर धर्म का प्रचार करने मे सहयोग प्रदान किया था तथा दूसरी ओर वह कलात्मक विकास मे अत्यन्त प्रशसनीय योगदान देने वाली सिद्ध हुई है। सारांशत अजन्ता की चित्रकला की निम्नलिखित विशेषताएँ है—

(i) अजन्ता की चित्रकला एक लम्बे समय की देन है।
(ii) अजन्ता की चित्रकला विभिन्न विषय से सम्बद्ध रही है।
(iii) इस गुफा की चित्रकला मे अश्लीलता के लिए स्थान नही है।
(iv) इन गुफाओ की दीवारो के चित्रो मे सभी धर्मों को समाहित किया गया है।
(v) अजन्ता के चित्र सामयिक परिस्थितियो के परिचायक हैं।
(vi) अजन्ता के चित्रो मे भारतीय सस्कृति मूर्तिमान दिखलाई पडती है।

4. मुद्रा-निर्माण-कला—गुप्त सम्राटो के शासन-काल मे स्वर्ण मुद्राओ का प्रचलन था। गुप्तकालीन सिक्को से पता चलता है कि उस समय गायन, वादन

तथा नृत्य कलाओं के प्रति जनता की अत्यधिक रुचि थी। गुप्त राजाओं की प्रशस्ति भी स्वर्ण-मुद्राओं पर उत्कीर्ण मिलती है। अप्रतिरथो विजित्य क्षिति सुचरितै दिव जयति' अर्थात् जो पृथ्वी को शौर्य से जीतकर अपने उज्ज्वल चरित्र से स्वर्ग को भी जीतते हैं—ऐसे गुप्तवंशी शासक हैं। गुप्तयुगीन मुद्राओं का कलात्मक सौन्दर्य देखते ही बनता है। आज समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कई सिक्के ऐतिहासिक अवशेष के रूप में प्राप्त हैं।

पूर्वमध्यकालीन कला एवं ऐतिहासिक अवशेष

गुप्तकालीन कला छठी शताब्दी तक विकसित रही अतः इतिहास में उसके परवर्ती युग को पूर्वमध्यकाल कहा गया है। पूर्वमध्यकालीन कला सातवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक विशेषतः विकसित रही। यहाँ हमारा लक्ष्य तत्कालीन कला एवं ऐतिहासिक अवशेषों को क्रमशः स्पष्ट करने का है।

सातवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का युग भारतीय संस्कृति के समन्वय का युग रहा। इस युग में हिन्दू धर्म का बोलबाला रहा तथा जिसका परिणाम कला पर भी पड़ा। इस युग में मुसलमानों के आक्रमणों के फलस्वरूप अनेक ऐतिहासिक कलाकृतियों को विनष्ट भी कर दिया गया। भारत के कुछ राजाओं ने इस युग में भारत से बाहर भी औपनिवेशिक स्तर पर कला का विकास किया। पूर्वमध्ययुगीन कला में गुप्तकालीन कला से पृथक् शैली को अपनाया गया। वस्तुतः पूर्वमध्यकाल में विशिष्ट शिल्पशास्त्र का निर्माण हो चुका था। शिल्पशास्त्र के नियमों के अनुसार ही मूर्तियों की लम्बाई, चौड़ाई तथा मोटाई निर्धारित की जाती थी। इस शिल्पशास्त्र के आधार पर ही मन्दिरों तथा स्तूपों का निर्माण किया जाता था। इस समय में आर्य एवं द्रविड़ कला-शैलियाँ सम्मिलित होकर भी कलागत चमत्कार प्रदर्शित करने लगी थी। उड़ीसा शैली इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उत्तरी भारत में मन्दिरों के निर्माण में खुजराहो शैली का भी विकास किया गया। गुफाओं के निर्माण में ऐलोरा तथा एलीफेंटा जैसी गुफा-निर्माण कला को प्रदर्शित किया गया। यहाँ हम कलाओं के समन्वय को प्रस्तुत करने वाले प्रसिद्ध ऐतिहासिक अवशेषों को स्पष्ट कर रहे हैं। प्रमुख ऐतिहासिक अवशेष इस प्रकार हैं खुजराहो, भुवनेश्वर के मन्दिर, एलोरा, एलीफेंटा, बारोबुदूर तथा अंगकोरवाट के मन्दिर तथा कुछ विशिष्ट मूर्तियाँ।

खुजराहो—खुजराहो मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले में एक ऐतिहासिक अवशेष के रूप में प्रसिद्ध है। खुजराहो एक विशिष्ट शैली के रूप में भी प्रसिद्ध है। इस शैली का विकास खुजराहो में ही हुआ, इसलिए इसे खुजराहो शैली के नाम से जाना जाता है। कण्डरिया महादेव का मन्दिर भूमि में गहराई तक खोदकर बनाया गया है। इस मन्दिर के निर्माण में खुजराहो शैली का यथार्थ रूप प्रकट हुआ है। इस मन्दिर में स्तम्भों की रचना सममिति में दिखलाई पड़ती है। स्तम्भों को कलात्मक रूप में सुसज्जित किया गया है। ये सभी स्तम्भ मजबूत पत्थरों के बने हुये हैं। इस मन्दिर के तीनों कमरे स्तम्भों पर ही बने हुए हैं। सभी कमरों के ऊपर वृत्ताकार

गुम्बद निर्मित किए है। गुम्बदो के निर्माण से मन्दिरो की शोभा शतगुणित हो गई है। वृत्ताकार गुम्बदो के भीतर कमल बने हुए है। गुम्बदो के भीतर कमलो को देखने से भारतीय सस्कृति का वह रूप साकार हो जाता है, जिसमे योगदर्शन के आधार पर मानव के शिरोभाग मे सहस्रदल कमल की आकृति खीची गई है। गर्भगृह के ऊपर चौकोर शिखर का निर्माण है। यह चौकोर शिखर उस युग की आर्य शैली की देन है। इसमे मध्य शिखर के नीचे शिखराकार गुम्बद प्रधान शिखर के चारो ओर बने हुए हैं। प्रधान शिखर सबसे ऊपर निकला हुआ है। इस शिखर की यह विशेषता है कि इसमे कलश के स्थान पर सुन्दर-सुन्दर पत्थर सुसज्जित किए गए हैं। इन पत्थरो की कटाई-छटाई की शोभा देखते ही बनती है। शिखर के ऊपर जो पच्चीकारी की गई है वह भी कम दर्शनीय नही है।

खुजराहो के मन्दिर बहुत ऊँचे नही हैं। इन मन्दिरो मे हवा और रोशनी का विशेष प्रबन्ध रखा गया है। दीवारो मे गहरे-गहरे ताख निर्मित किए गए हैं, जिनमे देवी-देवताओ की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। खजराहो शैली भारतीय सस्कृति के समन्वित रूप को प्रकाशित करती है। इसीलिए, शिव, विष्णु, देवी आदि के मन्दिरो के साथ-साथ जैन मन्दिरो को भी प्रधानता दी गई है।'

खुजराहो की मूर्तियो को देखने से पता चलता है कि उस समय शकर, विष्णु तथा गणेश को पुराणो की भव्य कल्पना के आधार पर सुन्दर स्वरूप प्रदान किया जा चुका था। विष्णु को चतुर्भुज दिखाया है तथा शकर को तीन नेत्रो से विभूषित किया गया है। देवी को सिंह के ऊपर आसीन दिखाया गया है। अत इन मन्दिरो के दर्शन से जहाँ एक ओर खुजराहो शैली का साक्षात्कार होता है, वही दूसरी ओर मन्दिर भगवद्भक्ति को उद्दीप्त करने मे भी पूर्णत समर्थ है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि खुजराहो शैली जहाँ एक ओर भगवद्भक्ति को सूचित करती है, वही वह दूसरी ओर ऐसे चित्रो को भी प्रस्तुत करने वाली सिद्ध हुई है कि जिन्हे कला का उन्मुक्त और मर्यादाहीन स्वरूप कह सकते है। ऐसा लगता है कि आठवी-नवी शताब्दी मे सिद्ध-सम्प्रदाय के विकास के फलस्वरूप यौनाचार इतना प्रबल हो गया था कि धर्म मे उसे दर्शन का कवच चढाकर विशिष्ट रूप मे ग्रहण कर लिया गया था। खुजराहो के नग्न चित्रो को देखने से पता चला है कि उस समय आचार्य भरत द्वारा मान्य शृंगार रस की उज्ज्वलता तथा दर्शनीयता तिरोहित हो चुकी थी।

खुजराहो के मन्दिरो पर आर्य शैली का भी विशिष्ट प्रभाव पडा है। आर्य शैली के मन्दिरो मे प्राय ईंटो का अधिक प्रयोग होता था। गुम्बज के एक सिरे पर एक वर्गाकार पत्थर लगा रहता था, जो खुजराहो के मन्दिरो की मूर्ति-पूजा के दृष्टिकोण से बनाया जाता था। अत खुजराहो एक विशिष्ट शैली के रूप मे विकसित होने पर भी आर्य शैली से अत्यधिक प्रभावित है।

भुवनेश्वर के मन्दिर—उडीसा मे भुवनेश्वर के मन्दिर उडीसा शैली के प्रभाव को परिलक्षित करते हैं। पूर्वमध्यकाल में उडीसा शैली का विकास हुआ, जो आर्य और द्रविड़ शैलियो का समन्वित स्वरूप है। द्रविड शैली मे एक ही विशाल पत्थर को काटकर गुफा का निर्माण किया जाता था। निर्मित गुफा मे जो ऊँचा

भाग होता था, उसे मन्दिर कहा जाता था। आर्य शैली मे मन्दिरो का निर्माण ऊँचे चबूतरो के ऊपर होता था। उडीसा शैली म प्रस्तर की काट-छाँट को विशेष महत्त्व देकर द्रविड शैली का अनुकरण किया गया तथा मन्दिर के शिखर के निर्माण मे आर्यशैली की अनुकृति की गयी।) इन दोनो तत्त्वो के अतिरिक्त उडीसा शैली का विकास एक सर्वथा नवीन रूप में भी हुआ। शिखर के निर्माण मे विशेष प्रकार के प्रस्तरो को समायोजित किया गया। उडीसा शैली के मन्दिरो मे शिखरो के अन्तिम भाग मे शेर की आकृति चित्रित रहती है। शेर की मूर्ति के पश्चात् आमलक का विशाल पत्थर जडा रहता है। उडीसा शैली के मन्दिरो में अलकारिता का विशेष रूप दृष्टव्य रहा है। मन्दिरो की विशालता का अलग ही चमत्कार होता है। उडीसा शैली के अवशेषो मे लिंगराज का मन्दिर तथा कोणार्क का सूर्य मन्दिर विशेषत उल्लेखनीय है। कोणार्क के मन्दिर मे सूर्य को एक कोण विशेष से देखने की कला समायोजित की गई है।

एलोरा—महाराष्ट्र मे औरंगाबाद के निकट एलोरा की गुफायें आज भी प्राप्त होती हैं। एलोरा की गुफा कला की एक विधि अथवा शैली के रूप मे प्रसिद्ध है। इसमे एक कमरा खुदाई के माध्यम से जमीन के अन्दर निर्मित किया जाता था तथा उस कक्ष मे वैदिक धर्म तथा जैन धर्म की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थी। इस गुफा मे बरामदे को भी स्थान दिया जाता था तथा अन्त मे एक कोठरी निर्मित की जाती थी। एलोरा का कैलाश मन्दिर एक ऐतिहासिक अवशेष के रूप मे प्रसिद्ध है। एलोरा कला पर आर्य शैली और द्रविड शैली के प्रभाव के साथ-साथ चित्रकला के रूप मे अजन्ता की चित्रकला का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। कैलाश मन्दिर पहाडी को काटकर बनाया गया है, जो प्रारम्भिक रूप मे द्रविड शैली के आधार पर ही निर्मित हुआ है। मन्दिर का भाग आर्य शैली की सूचना देता है तथा चित्रकारी अजन्ता की चित्रकला का स्मरण दिलाने लगती है।

एलोरा की मूर्तियो मे पौराणिक सस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है। समझा जाता है कि ये मूर्तियाँ अवतारवाद, भक्ति-भावना तथा अहिंसा को विशेषत सूचित करने वाली है। दशावतार तथा चौबीस तीर्थंकरो के चित्र उपदेश देते प्रतीत होते हैं। एलोरा कला मे विभिन्न शैलियो का समावेश होने से एक विचित्र आकर्षण उत्पन्न हो गया है। एलोरा को हम विशुद्ध भारतीय कला कह सकते हैं। इसके विस्तार के लिए अजन्ता कला का वर्णन देखने योग्य है।

एलीफेंटा—महाराष्ट्र मे बम्बई के निकट एलीफेंटा की गुफा एक ऐतिहासिक अवशेष के रूप मे विद्यमान है। यह भी एक गुफा-निर्माण की कला है। इस कला मे चट्टान को काटकर मन्दिर बनाते समय शिव की प्रतिमाएँ भी काटकर ही बना दी जाती है। इस गुफा को हम ब्राह्मण गुफा या वैदिक धर्म की गुफा कह सकते हैं। यह गुफा एक सुन्दर मन्दिर के रूप मे बनी हुई है। इसका ढाँचा अत्यन्त रमणीक होता है। पच्चीकारी की बारीकियाँ इस कला मे दर्शनीय हैं। एलीफेंटा की गुफाओ मे शिव की प्रतिमाओ का सौन्दर्य दर्शनीय है। एलीफेंटा गुफा की कीर्ति का केन्द्र उसकी प्रतिमाएँ ही हैं। आदिनाथ शिव की योग-साधना का चमत्कार, नटराज का

गुम्बद निर्मित किए है। गुम्बदो के निर्माण से मन्दिरो की शोभा शतगुणित हो गई है। वृत्ताकार गुम्बदो के भीतर कमल बने हुए हैं। गुम्बदो के भीतर कमलो को देखने से भारतीय संस्कृति का वह रूप साकार हो जाता है, जिसमे योगदर्शन के आधार पर मानव के शिरोभाग मे सहस्रदल कमल की आकृति खींची गई है। गर्भगृह के ऊपर चौकोर शिखर का निर्माण है। यह चौकोर शिखर उस युग की प्राय शैली की देन है। इसमे मध्य शिखर के नीचे शिवगाकार गुम्बद प्रधान शिखर के चारो ओर बने हुए है। प्रधान शिखर सबसे ऊपर निकला हुआ है। इस शिखर की यह विशेषता है कि इसमे कलश के स्थान पर सुन्दर-सुन्दर पत्थर सुसज्जित किए गए हैं। इन पत्थरो की कटाई-छटाई की शोभा देखते ही बनती है। शिखर के ऊपर जो पच्चीकारी की गई है वह भी कम दर्शनीय नही है।

खजुराहो के मन्दिर बहुत ऊँचे नही है। इन मन्दिरो मे हवा और रोशनी का विशेष प्रबन्ध रखा गया है। दीवारो मे गहरे-गहरे ताख निर्मित किए गए है, जिनमे देवी-देवताओ की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित है। खजुराहो शैली भारतीय संस्कृति के समन्वित रूप को प्रकाशित करती है। इसीलिए, शिव, विष्णु, देवी आदि के मन्दिरो के साथ-साथ जैन मन्दिरो को भी प्रधानता दी गई है।

खजुराहो की मूर्तियो को देखने से पता चलता है कि उस समय शकर, विष्णु तथा गणेश को पुराणो की भव्य कल्पना के आधार पर सुन्दर स्वरूप प्रदान किया जा चुका था। विष्णु को चतुर्भुज दिखाया है तथा शकर को तीन नेत्रो से विभूषित किया गया है। देवी को सिंह के ऊपर आसीन दिखाया गया है। अत इन मन्दिरो के दर्शन से जहाँ एक ओर खजुराहो शैली का साक्षात्कार होता है, वही दूसरी ओर मन्दिर भगवद्भक्ति को उद्दीप्त करने मे भी पूर्णत समर्थ है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि खजुराहो शैली जहाँ एक ओर भगवद्भक्ति को सूचित करती है, वही वह दूसरी ओर ऐसे चित्रो को भी प्रस्तुत करने वाली सिद्ध हुई है कि जिन्हे कला का उन्मुक्त और मर्यादाहीन स्वरूप कह सकते है। ऐसा लगता है कि आठवी-नवी शताब्दी मे सिद्ध-सम्प्रदाय के विकास के फलस्वरूप यौनाचार इतना प्रबल हो गया था कि धर्म मे उसे दर्शन का कवच चढाकर विशिष्ट रूप मे ग्रहण कर लिया गया था। खजुराहो के नग्न चित्रो को देखने से पता चला है कि उस समय आचार्य भरत द्वारा मान्य शृंगार रस की उज्ज्वलता तथा दर्शनीयता तिरोहित हो चुकी थी।

खजुराहो के मन्दिरो पर आर्य शैली का भी विशिष्ट प्रभाव पडा है। आर्य शैली के मन्दिरो मे प्राय ईंटो का अधिक प्रयोग होता था। गुम्बज के एक सिरे पर एक वर्गाकार पत्थर लगा रहता था, जो खजुराहो के मन्दिरो की मूर्ति-पूजा के दृष्टिकोण से बनाया जाता था। अत खजुराहो एक विशिष्ट शैली के रूप मे विकसित होने पर भी आर्य शैली से अत्यधिक प्रभावित है।

भुवनेश्वर के मन्दिर—उडीसा मे भुवनेश्वर के मन्दिर उडीसा शैली के प्रभाव को परिलक्षित करते हैं। पूर्वमध्यकाल मे उडीसा शैली का विकास हुआ, जो आर्य और द्रविड शैलियो का समन्वित स्वरूप है। द्रविड शैली मे एक ही विशाल पत्थर को काटकर गुफा का निर्माण किया जाता था। निर्मित गुफा मे जो ऊँचा

भाग होता था, उसे मन्दिर कहा जाता था। आर्य शैली मे मन्दिरों का निर्माण ऊँचे चबूतरो के ऊपर होता था। उडीसा शैली म प्रस्तर की काट-छांट को विशेष महत्त्व देकर द्रविड शैली का अनुकरण किया गया तथा मन्दिर के शिखर के निर्माण में आर्यशैली की अनुकृति की गयी।) इन दोनो तत्त्वो के अतिरिक्त उडीसा शैली का विकास एक सर्वथा नवीन रूप में भी हुआ। शिखर के निर्माण मे विशेष प्रकार के प्रस्तरो को समायोजित किया गया। उडीसा शैली के मन्दिरो मे शिखरो के अन्तिम भाग मे शेर की आकृति चित्रित रहती है। शेर की मूर्ति के पश्चात् आमलक का विशाल पत्थर जडा रहता है। उडीसा शैली के मन्दिरो मे अलंकारिता का विशेष रूप दृष्टव्य रहा है। मन्दिरो की विशालता का अलग ही चमत्कार होता है। उडीसा शैली के अवशेषो मे लिंगराज का मन्दिर तथा कोणार्क का सूर्य मन्दिर विशेषत उल्लेखनीय है। कोणार्क के मन्दिर मे सूर्य को एक कोण विशेष से देखने की कला समायोजित की गई है।

एलोरा—महाराष्ट्र मे औरंगाबाद के निकट एलोरा की गुफायें आज भी प्राप्त होती हैं। एलोरा की गुफा कला की एक विधि अथवा शैली के रूप में प्रसिद्ध है। इसमे एक कमरा खुदाई के माध्यम से जमीन के अन्दर निर्मित किया जाता था तथा उस कक्ष मे वैदिक धर्म तथा जैन धर्म की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थी। इस गुफा मे बरामदे को भी स्थान दिया जाता था तथा अन्त में एक कोठरी निर्मित की जाती थी। एलोरा का कैलाश मन्दिर एक ऐतिहासिक अवशेष के रूप मे प्रसिद्ध है। एलोरा कला पर आर्य शैली और द्रविड शैली के प्रभाव के साथ-साथ चित्रकला के रूप मे अजन्ता की चित्रकला का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। कैलाश मन्दिर पहाडी को काटकर बनाया गया है, जो प्रारम्भिक रूप मे द्रविड शैली के आधार पर ही निर्मित हुआ है। मन्दिर का भाग आर्य शैली की सूचना देता है तथा चित्रकारी अजन्ता की चित्रकला का स्मरण दिलाने लगती है।

एलोरा की मूर्तियो मे पौराणिक संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है। समझा जाता है कि ये मूर्तियाँ अवतारवाद, भक्ति-भावना तथा अहिंसा को विशेषत सूचित करने वाली है। दशावतार तथा चौबीस तीर्थंकरो के चित्र उपदेश देते प्रतीत होते हैं। एलोरा कला मे विभिन्न शैलियो का समावेश होने से एक विचित्र आकर्षण उत्पन्न हो गया है। एलोरा को हम विशुद्ध भारतीय कला कह सकते हैं। इसके विस्तार के लिए अजन्ता कला का वर्णन देखने योग्य है।

एलीफेंटा—महाराष्ट्र में बम्बई के निकट एलीफेंटा की गुफा एक ऐतिहासिक अवशेष के रूप में विद्यमान है। यह भी एक गुफा-निर्माण की कला है। इस कला मे चट्टान को काटकर मन्दिर बनाते समय शिव की प्रतिमाएँ भी काटकर ही बना दी जाती है। इस गुफा को हम ब्राह्मण गुफा या वैदिक धर्म की गुफा कह सकते हैं। यह गुफा एक सुन्दर मन्दिर के रूप मे बनी हुई है। इसका ढाँचा अत्यन्त रमणीक होता है। पच्चीकारी की बारीकियाँ इस कला मे दर्शनीय हैं। एलीफेंटा की गुफाओ मे शिव की प्रतिमाओ का सौन्दर्य दर्शनीय है। एलीफेंटा गुफा की कीर्ति का केन्द्र उसकी प्रतिमाएँ ही हैं। आदिनाथ शिव की योग-साधना का चमत्कार, नटराज का

स्वरूप तथा शिव-सम्बन्धी ग्रन्य कथाग्रो को एलीफेंटा गुफा-निर्माण-कला मे चित्रो या प्रतिमाग्रो के माध्यम से स्थान दिया गया ह ।

वारोवुदूर तथा ग्रगाकोरवाट के मन्दिर—सातवी शताब्दी से लेकर वारहवी शताब्दी तक जावा ग्रौर कम्बुज भारतीय उपनिवेश के रूप मे प्रसिद्ध हो चुके थे जिसका हम पहले ही ग्रध्ययन कर चुके है। पूर्वी द्वीप-समूह मे जावा के माध्यम भाग मे वारोवुदर के मन्दिर देखते ही बनते है। वारोवुदूर के स्तूप-मन्दिर बौद्ध सम्प्रदाय के हैं तथा मन्दिर शैव मत के हैं। इन मन्दिरो को ससार के ग्राश्चर्यों मे गिना जाता है। वारोवुदूर का प्रधान मन्दिर सात मन्जिला है। इसमे प्रतिष्ठित मूर्तियो की सख्या काफी वडी है तथा उन मूर्तियो की चौडाई भी काफी है। यदि इन मूर्तियो को धरातल पर पक्तिवद्ध किया जाय तो उनकी चौडाई 400 फीट की होगी तथा लम्वाई साढे चार किलोमीटर की। शैवराज दक्ष के शिव मन्दिरो मे शिव की मूर्तियो के साथ-साथ रामायण तथा महाभारत की कथाएँ मूर्तियो के माध्यम से चित्रित की गई हैं।

कम्पूचिया (कम्बुज) मे यशोवर्मा ने यशोधरपुर नामक नगर की स्थापना की थी, जिसे ग्राज ग्रगरकोट थोम बोलते हैं। ग्रगरकोट थोम तथा ग्रगरकोट मे जो मन्दिर बने, वे वारहवी शताब्दी के है। इन दोनो ही स्थानो के मन्दिर एक से है। उनकी वनावट तथा मूर्ति-कला के चातुर्य ग्रौर सौन्दर्य को देखकर दर्शक दांतो तले ग्रगुली दवा लेते हैं। राम के जन्म से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की कथा इन मन्दिरो मे मूर्तियो के माध्यम से चित्रित की गई है। डेढ कि मी लम्वे तथा इतने ही चौडे इस मन्दिर मे शिवचरित भी मूर्तियो के माध्यम से चित्रित है। कालीदास के 'कुमारसभव' महाकाव्य के चित्र यहाँ दर्शनीय है। इस मन्दिर की दुर्गमता इसके विशाल प्राचीर से स्पष्ट होती है तथा ग्रनेक प्रांगणो से भी। इसकी सीढियो का विस्तार भी देखने योग्य है।

मूर्ति-निर्माण—पूर्वमध्यकाल मे शैव, शाक्त जैसे मतो के उदय के कारण मूर्ति-कला को एक नई दिशा मिली। ग्यारहवी शताब्दी की दशावतार की मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमे मत्स्य, कूर्म वाराह तथा कल्कि ग्रादि की प्रतिमाएँ एक-एक करके दूसरी मूर्तियो के ऊपर स्थित है। इस युग मे ग्रवतारो की सख्या चौबीस हो जाने के कारण विष्णु के चौबीस रूपो की मूर्तियाँ निर्मित की गई। विष्णु की मूर्तियो मे गरुड को भी स्थान मिला है। विष्णु प्राय शख, चक्र, गदा तथा पद्म के साथ चित्रित किए गए हैं। विष्णु का चतुर्भुज रूप तथा ब्रह्मा का चतुर्मुखी रूप भी इस युग मे मूर्तिमान् किया गया है।

शिव की मूर्तियो मे नटराज शकर, उमा-महेश्वर, रुद्र, सदाशिव जैसे रूप प्राप्त हुए हैं। शिव के ग्रतिरिक्त कार्तिकेय तथा गणेश के रूप भी मूर्तिमान् मिलते हैं। देवी की मूर्तियाँ, बौद्ध एव जैन धर्म से सम्बद्ध मूर्तियो का भी इस युग मे निर्माण हुग्रा। यथार्थत इस युग मे मूर्तियो के निर्माण मे प्रस्तर, कांसा, ताम्बा तथा मिट्टी का प्रयोग किया गया।

भारत के औपनिवेशिक एवं साँस्कृतिक विस्तार का इतिहास

(Colonial and Cultural Expansion of India)

भारत की सस्कृति 4000 ई पू भी सिन्धु घाटी की सभ्यता के रूप मे विकसित थी। वैदिक युग मे आर्यों की पर्यटन-प्रवृत्ति के फलस्वरूप भारत की सस्कृति विभिन्न जातियो के सस्कारो को समन्वित करके विकसित हुई, जिसके फलस्वरूप आर्यों मे अपनी सस्कृति का प्रचार-प्रसार करने की अभिरुचि और भी अधिक विवर्धित हुई। जब आर्यों के सस्कृति प्रचारक विदेशो मे भी सांस्कृतिक प्रचार हेतु रहने लगे तथा विभिन्न देशो मे अपनी सुस्कृति के प्रचारार्थ धर्मशाखाएँ भी प्रवर्तित की तो उसी स्थिति को उपनिवेशवाद रूप मे जाना गया। अत जो-जो देश भारतीय सस्कृति को सम्मान देने लगे तथा उसकी प्रचारणा हेतु प्रचारको को सुविधाएँ दी, वे देश ही भारत के सांस्कृतिक उपनिवेश कहे जाते हैं तथा उन्ही देशो मे भारतीय सस्कृति का विस्तार हुआ। भारतीय साहित्य को अनूदित कराकर तथा भारतीय कला को आधारभूत मानकर स्तूपो, मन्दिरो तथा सरोवरो का निर्माण कराकर भी विभिन्न देशो ने भारतीय सस्कृति के विस्तारगत प्रभाव को स्वीकार किया। प्राचीन भारत के शक्तिशाली राजाओ ने भारत के समीपवर्ती देशो मे शासन स्थापित करके उन्हे अपना उपनिवेश बनाकर सांस्कृतिक विस्तार का आधार बनाया। अत सांस्कृतिक प्रचार तथा उपनिवेशवाद का अटूट सम्बन्ध है या ये दोनो अन्योन्याश्रित हैं।

भारतवर्ष के मौर्ययुगीन तथा गुप्तयुगीन राजाओ ने भारतीय सस्कृतिक के प्रचार मे विशिष्ट योगदान दिया। भारतीय समाज की धर्म-कल्याण की प्रवृत्ति ने हमारे प्राचीन राजाओ को उपनिवेशवाद के आधार पर सांस्कृतिक प्रचार की ओर उन्मुख किया। वैदिक युग से ही समूचे विश्व के वातावरण को शान्तिमय देखने की परिकल्पनाएँ चल रही थी, जिनके आधार पर विश्व-समाज को सुसस्कृत बनाने का

1 एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व-स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा ॥ —मनुस्मृति

दृढ निश्चय करके भारतीय प्रचारक अनवरत कार्य करते रहे। भारतवासियो को इस बात का गर्व और गौरव भी अनुभूत होता रहा कि उन्होंने विश्व को विद्या की ज्योति से आलोकित किया है तथा सस्कृति का सूर्य चमकाकर देशो-दिशाओ को धवलित किया है।

सर्वजनहिताय तथा सर्वजनसुखाय की भावना ने भारत के मनीषियो के हृदय को इतना द्रवीभूत कर डाला कि वे पूरे विश्व मे शान्ति की स्थापना के लिए द्युलोक को शान्तिमय देखने की कल्पना कर उठे। उन्होंने अन्तरिक्ष को शान्त देखना चाहा। पृथ्वी को शान्ति की धात्री के रूप मे देखने की विराट् कल्पना की अगाध जलाशयो को शान्ति के धाम के रूप मे देखना चाहा। विश्व के सभी देवताओ को शान्ति की स्थापना मे सहायक मानने का विचार किया। सम्पूर्ण सृष्टि मे व्याप्त ब्रह्म को शान्तिमय देखने का विचार रखा। सब कुछ शान्ति सकलित हो, यह भावना ही इतनी व्यापक बनी कि वैदिक युग का सांस्कृतिक समाज अपनी सस्कृति के प्रचार हेतु विश्व मे जहाँ भी सस्कृति का प्रचार कर सकता था, प्रचारार्थ जुट गया। वेद की सर्वकल्याणकारी भावना[1] तथा सहयोग ने भारतीय सस्कृति को प्रधानता का रूप प्रदान करके उसे मानव-सस्कृति बना दिया।

बौद्ध एव जैन सस्कृतियो के उदय से प्रचारको के बडे-बडे जत्थे यथासमय वैदिशिक यात्रा करके सांस्कृतिक प्रचार के लिए निकल पडे। सस्कृति के प्रचारार्थ बुद्ध ने प्रचारको को यह उपदेश भी दिया—"भिक्षुओ! एक-एक भिन्न-भिन्न दिशाओ को जाओ दो-एक ही देश को न जाओ और तथागत देखे सत्य का प्रचार करो, इस सत्य का जो आरम्भ मे कल्याणकारी है, मध्य मे कल्याणकार है, अन्त मे कल्याणकारी है, उसका बहुजनहिताय बहुजनसुखाय प्रचार करो।"[2]

भारतीय वेदान्त, ज्योतिष नाटक, गणित, राजनीति तथा विज्ञान का भी प्रचार दूर-दूर देशो मे हुआ। इस सांस्कृतिक प्रचार के कारण भारत ने चीन से छपाई या मुद्रण की कला सीखी तथा ग्रीक एव अरबो से भेंट कर दर्शन एव गणित जैसी विद्याओ का विकास किया। भारतीय सस्कृति के प्रचार के फलस्वरूप जो देश भारत के उपनिवेश बने तथा जिनमे भारतीय सस्कृति को महत्त्व दिया गया, वे अग्रलिखित है—लका, दक्षिण पूर्वी एशिया, पश्चिमी एशिया, मध्य एशिया, चीन, तिब्बत और नेपाल एव तोकिन व अफगानिस्तान आदि।

भारत के औपनिवेशिक एवम् सांस्कृतिक विस्तार के प्राचीन उल्लेख

अनेक प्राचीन साक्ष्य विदेशो मे भारतीयो की यात्रा, उपनिवेश-स्थापना और

1 द्यौ शान्तिरन्तरिक्ष शान्ति पृथिवीशान्तिराप शान्तिरोषधय शान्ति।
वनस्पतय शान्तिर्विश्वेदेवा शान्तिब्रह्मशान्ति सर्वशान्ति।
शान्तिरेव शान्ति सा मा शान्तिरेधि।। —यजुर्वेद 36/18

2 तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/1/1

सांस्कृतिक प्रचार का उल्लेख करते हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण उल्लेखों का वर्णन डॉ वी सी पाण्डेय ने निम्नानुसार किया है—

(1) जातक—इनमे अनेक स्थलो पर भारतीयो की सामुद्रिक यात्राओं के वर्णन है। अनेक स्थलो पर विदेशो के नाम भी मिलते है।

(2) अर्थशास्त्र—इनमे भारत और विदेशो के पारस्परिक सम्बन्ध के अनेक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है।

(3) निद्देस—इस बौद्ध ग्रन्थ मे सनुदास की सुवर्ण-भूमि-यात्रा का बड़ा मनोरंजक वर्णन है।

(4) पेरिप्लस—इसमें भारत के अनेक महत्त्वपूर्ण बन्दरगाहों का उल्लेख है। ये विदेशी व्यापार के केन्द्र थे।

(5) टालमी—यह लेखक भारत, मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा आदि के अनेक बन्दरगाहों का उल्लेख करता है।

(6) महाकाव्य—रामायण और महाभारत मे अनेक विदेशो, उनकी सामग्री और भारत के साथ होने वाले उनके व्यापार के महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं।

(7) मिलिन्द प्रश्न—यह बौद्ध ग्रन्थ भी भारत और विदेशो के बीच विद्यमान सम्पर्क के अनेक साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

(8) अग्नि पुराण—यह जम्बूद्वीप (भारत) के साथ-साथ द्वीपान्तर (वृहत्तर भारत के द्वीपो) का उल्लेख करता है।

(9) प्रयाग-प्रशस्ति—समुद्रगुप्त के इस अभिलेख मे सिंहल आदि 'सर्वद्वीपो' का उल्लेख है। सम्भवत ये दक्षिणी-पूर्वी एशिया के द्वीप थे।

(10) फाह्यान और ह्वेनसाग—इनके विवरणो से स्पष्ट हो जाता है कि मध्य एशिया और दक्षिणी पूर्वी एशिया भारतीय संस्कृति के गढ थे।

(11) मसूदी—10वी शताब्दी का यह अरब लेखक कहता है कि भारतवर्ष जबकि (जावा) तक था।

(12) विदेशी सामग्री—मध्य एशिया एवं दक्षिणी-पूर्वी एशिया मे अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियो, अभिलेखो, मन्दिरो, स्तूपो आदि की प्राप्ति हुई है। इनसे वृहत्तर भारत मे भारतीय संस्कृति के प्रसार के ज्वलन्त प्रमाण उपलब्ध होते है।

इन साक्ष्यो से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वृहत्तर भारत की स्थापना 200 ई॰ तक हो चुकी थी।

लंका

भारतवर्ष के दक्षिण मे हिन्दमहासागर मे स्थित देश लंका है। प्राचीनकाल मे लंका को सिंहलद्वीप भी कहा जाता था। पौराणिक काल मे भारतीयो का लंका से पर्याप्त सम्पर्क स्थापित हो चुका था। कई शताब्दी ईसा पूर्व में अयोध्या के राजा श्री रामचन्द्र ने भारत की शक्तियो को एकीकृत करके लंका के राजा रावण को परास्त किया था। रावण के अनुज विभीषण को आर्य संस्कृति का अनुयायी

बनाकर लका का राजा बना दिया था तभी से लका को भारत के उपनिवेश के रूप मे माना जाने लगा था।[1]

ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी मे बौद्ध सस्कृति के विकास के कारण भारत और लका के बीच पुन सम्पर्क स्थापित हुए। बौद्ध साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि विजय नामक राजकुमार अपने पिता का राज्य छोडकर लका के लिए रवाना हुआ। सैकडो जहाजो को लेकर समुद्री तूफानो का सामना करके वह लका मे पहुँचा। कालान्तर मे उसका लकाधिपति की कन्या से विवाह हुआ तथा वही रहकर विजय ने अपनी कूटनीति के बल से लका के ऊपर अधिकार कर लिया। लका मे शासन स्थापित करके लका को भारत का उपनिवेश बना दिया गया। इतिहास के आधार पर यह माना जाता है कि जिस दिन भगवान बुद्ध ने कुशीनगर मे निर्वाण प्राप्त किया था, उसी दिन राजकुमार विजय ने लका पर अधिकार किया था। अत लका मे बौद्ध सस्कृति का प्रचार पाँचवी शती ई पू मे ही हो चुका था।

लका से भारत का विशिष्ट सम्पर्क सम्राट् अशोक के शासनकाल मे हुआ। अशोक ने तीसरी शती ई पू मे तृतीय बौद्ध सगीति को आमन्त्रित किया। इस सगीति के अधिवेशन के तुरन्त पश्चात् विदेशो मे सस्कृति-प्रचार करने के लिए प्रचारको की सूची बनाई गई। लका मे सद्धर्म का प्रचार करने के लिए अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री सघमित्रा को चुना गया। स्वय अशोक ने ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह मे महेन्द्र और सघमित्रा को लका जाने वाले जहाज मे बिठाया। महेन्द्र अपने साथ बोधिवृक्ष की शाखा या टहनी भी ले गया। उसी की शाखाएँ-प्रशाखाएँ आज लका की भूमि पर बौद्ध वृक्ष के रूप मे झूमती जान पडती हैं। अशोक के समय मे बौद्ध धर्म का जो प्रचार लका मे हुआ, उसके विषय मे अनेक ऐतिहासिक प्रमाण विद्यमान हैं। पहले तो कलिंग युद्ध के पश्चात् अशोक ने बौद्ध धर्म को जो आदर दिया था, उसे सब भली-भाँति जानते हैं। दूसरा प्रमाण यह है कि बौद्ध धर्म की तीसरी सगीति का कार्यभार स्वय अशोक ने ही सम्भाला था, जो आज तक बौद्ध साहित्य मे सुरक्षित है। अत लका मे अशोक के शासन-काल मे सांस्कृतिक प्रचार-प्रसार का कार्य तेजी से हुआ।

चौथी शताब्दी मे गुप्तवशी सम्राट् समुद्रगुप्त ने लका के राजा मेघवर्ण से राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित किये। गुप्तकालीन कला ने लका की कला को अनेक रूपो मे प्रभावित किया। लका-स्थित सिगरिया की दीवारो पर चित्रित चित्र अजन्ता के गुहागृहो के चित्रो के प्रभाव को लेकर ही बने हैं। दसवी-ग्यारहवी शती मे चोल नरेश राजराज प्रथम ने कई हजार द्वीपो के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। इनमे लक्ष्यदीव तथा मालदीव भी थे। चोलराज ने लका के उत्तरी भाग पर भी अधिकार किया तथा लका को सास्कृतिक उपनिवेश का स्वरूप प्रदान किया। इसी प्रकार से तेरहवी शताब्दी मे पाड्यराज महावर्मन कुलशेखर ने लका को

1 -- रामायण, उत्तरकाण्ड

जीना । ऐसे ही-कतिपय उदाहरणो के अतिरिक्त भारतीय राजाओ ने लका पर राज करने का कोई प्रयास नही किया ।

प्राचीन काल मे लका चीन के समुद्री मार्ग पर पडता था । बर्मा तथा पूर्वी-द्वीप समूह की ओर जलयानो का प्रस्थान भी लका होकर ही होता था । पाँचवी शताब्दी मे प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान भारत का ऐतिहासिक भ्रमण करके लका और जावा के मार्ग से चीन की ओर प्रत्यावर्तित हुआ था । दक्षिणी भारत की लिपि को बर्मा के विद्वानो ने भी अपनाया जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लका से बर्मा जाने वाले बौद्ध विद्वानो ने ही भारतीय लिपि का प्रचार बर्मा मे किया था ।

लका मे बौद्ध धर्म अब भी विद्यमान है । बौद्ध साहित्य के अनगिनत ग्रन्थ लका मे सुरक्षित रखे गये है । गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि-गणना के विषय मे लका के वाह्य साक्ष्यो तथा अन्त साक्ष्यो से भी मदद मिली है । लका स्थित अनुराधपुर के मठ मे गौतम बुद्ध का एक दाँत आज भी सुरक्षित है । इसी प्रकार बौद्ध जातको, दीपवश तथा महावश की कृतियो को अभी तक सुरक्षित रखकर लका ने अपने आपको भारतीय सस्कृति का अनुयायी सिद्ध किया है । अत राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टियो से लका भारत का उपनिवेश रहा है । इसका सबसे बडा प्रमाण तो यह है कि भारत का बौद्ध धर्म भारत से निर्वासित होकर लका जैसे समीपस्थ देशो मे प्रचलित रहा ।

दक्षिण पूर्वी एशिया

जिसे आज इन्डोनेशिया कहा जाता है, उसी का हिन्दी भाषागत नाम हिन्द-एशिया है । दक्षिण पूर्वी एशिया मे बर्मा, मलाया, स्याम तथा पूर्वी द्वीप समूह को गिना जाता है । प्राचीन भारत मे इसी भू-भाग को सुवर्णभूमि के नाम से पुकारा जाता था । ई पू तीसरी शताब्दी मे सम्राट् अशोक ने शोण तथा उत्तर नामक दो बौद्ध भिक्षुओ को, सुवर्णभूमि के लिए भेजा था ।

दक्षिणी पूर्वी एशिया मे जब बौद्ध धर्म का प्रचार बढा तो बौद्ध जातको मे सुवर्ण भूमि के विभिन्न द्वीपो को अनेक नामो से पुकारा जाने लगा । सुमात्रा को सुवर्णद्वीप कहा गया, जावा को यवद्वीप के नाम से जाना गया । विभिन्न छोटे-छोटे द्वीपो को शखद्वीप, ताम्रद्वीप, कर्पूरद्वीप, नारिकेला द्वीप, लवगद्वीप आदि नामो से पुकारा जाने लगा । बगाल के ताम्रलिप्ति (मिदनापुर जिला) बन्दरगाह से बर्मा होकर मालाया या मलय प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह की यात्राएँ व्यापार और सांस्कृतिक दृष्टियो से की जाती थी ।

ईसा पूर्व प्रथम तथा दूसरी शती मे शको, आभीरो तथा गुर्जरो के आक्रमण हुए । शको को भारत के वीरो से निरन्तर लोहा लेना पडा तथा उसी सघर्ष के फलस्वरूप अनेक शक नौकाओ के माध्यम से गुजरात के काठियावाड से होकर समुद्री यात्रा करते हुए दक्षिणी पूर्वी एशिया मे पहुँचे । ये शक दक्षिणी पूर्वी एशिया मे जाकर विशेष सांस्कृतिक प्रचार तो न कर सके, परन्तु उनके वहाँ पहुँचने से

विभिन्न जानियो का समन्वय हुआ तथा बौद्ध सस्कृति के आधार पर सॉस्कृतिक समन्वय का मार्ग भी खुला। पाँचवी शताब्दी के प्रारम्भ मे शकारि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शको के राष्ट्रो— मालवा, गुजरात तथा सौराष्ट्र पर अधिकार कर लिया और शको को भारतभूमि से बाहर जाने के लिए बाध्य कर दिया। पाँचवी शताब्दी तक शक भारतीय सस्कृति को बहुत कुछ अपना चुके थे। अत इस बार उन्होने जहाजो के माध्यम से जावा, सुमात्रा आदि द्वीपो मे पहुँचकर सस्कृत भाषा मे पल्लवित भारतीय सस्कृति को प्रचारित किया।/ इतिहास के आधार पर यह प्रमाणित है कि शकराज रुद्रदामन ने दूसरी शताब्दी मे अपने राज्य का विस्तार करके सस्कृत भाषा तथा भारतीय सस्कृति को पर्याप्त महत्त्व दिया था। रुद्रमान का शिलालेख भारतीय भाषा एव सस्कृति का ही परिचायक है। अत शको ने दक्षिणी पूर्वी एशिया मे बसकर भारतीय सस्कृति के प्रसार मे योगदान दिया।

सम्पूर्ण दक्षिणी पूर्वी एशिया के इतिहास से पता चलता है कि भारतवासियो ने वहाँ राजनीतिक गढ स्थापित किये थे। बर्मा की ख्यातो तथा ऐतिहासिक ग्रन्थो से पता चलता है कि कपिलवस्तु के शाक्यो का राजपुत्र अभिराज अपनी सेना के साथ बर्मा पहुँचा तथा सक्स्ति (तगौग) को राजधानी बनाकर उधर ही राज्य करने लगा। इरावती नदी की घाटी मे बसा तगौग आज तक अभिराज के शासन की सूचना देता है। यह अभिराज बुद्ध के जन्म से कई सौ वर्ष पूर्व बर्मा या ब्रह्मदेश मे राज कर चुका था। बर्मा का ब्रह्मदेश नाम ही यह सिद्ध करता है कि भारतीय भाषा सस्कृत का वहाँ बोलबाला रहा, जिससे देश का नाम सस्कृत भाषा मे रखा गया।

दक्षिणी पूर्वी एशिया के कुछ छोटे-छोटे अन्य देश भी भारतीय सस्कृति के प्रचार-प्रसार की कहानी को अपनी ख्यातो के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। प्राचीन भारत मे जिसे कम्बुज कहते थे, उसे आज कम्बोडिया या कम्पूचिया कहते हैं। प्रथम शताब्दी मे कौडिन्य नामक हिन्दू राजा ने वहाँ राज्य स्थापित किया। कम्बुज के मूल निवासी बर्बर थे। कौडिन्य के शासन-काल मे ही वहाँ सभ्यता की पहली किरण पहुँची। वहाँ के निवासी वस्त्र धारण करने लगे। कौडिन्य के राजकुल ने कम्बुज मे लगभग सौ वर्ष तक राज्य किया। उसके पश्चात् लगभग 200 ई मे कम्बुज की जनता द्वारा निर्वाचित सेनापति फान-चे-मान ने कम्बुज का शासन-सूत्र सम्भाला। उसने अपने राज्य का विस्तार करके वहाँ की जनता को सस्कृति के सूर्य के आलोक से परिचित कराना चाहा। 'फान' शब्द वर्मन् शब्द का ही अपभ्रश है, जो यही सूचित करता है कि किसी भारतीय नाम के आधार पर ही तन्नोक्त राजा का नामकरण हुआ। फान-चे-मान के अनुवर्ती राजाओ के नाम के पूर्व भी यही शब्द जुडा हुआ है, जो सस्कृत भाषा तथा भारतीय सस्कृति का ही परिचायक है। इसी वश के दूसरे राजा फान-चान ने अपने दूत चीन मे भेजे तथा भारत से भी प्रगाढ सम्बन्ध स्थापित किये। मलाया (मलय), स्याम (श्याम) आदि देश भी दक्षिणी पूर्वी एशिया मे अपने नामो के आधार पर भारतीय सस्कृति को ही सूचित करते हैं।

मलय प्रायद्वीप से नीचे की ओर पूर्वी द्वीप समूह का विस्तार है। पूर्वी द्वीप समूह मे सुमात्रा, जावा, बालि तथा बोर्नियो द्वीप अधिक ख्याति प्राप्त है। प्राचीन काल म सुमात्रा को सुवर्णद्वीप कहते थे तथा जावा को यवद्वीप। सुमात्रा और जावा का भारतीयकरण ईसवी सन् के आरम्भ मे ही आरम्भ हो गया था। पहले तो भारतीय सस्कृति के प्रचारक ही उधर सांस्कृतिक प्रचार कर रहे थे परन्तु पाँचवी शताब्दी मे जावा और सुमात्रा मे हिन्दू राज्य स्थापित हुआ तथा उसकी राजधानी श्रीविजय बनी। उक्त दोनो ही द्वीपो म बौद्ध धर्म तथा शैव मत का प्रचार था। यहाँ के मठ और मन्दिर मुख्यत पाँचवीं शताब्दी मे निर्मित हुए। सातवी शताब्दी सुमात्रा और जावा मे हिन्दू शैलेन्द्र राजवश की राजस्थापना हुई। बारहवी शताब्दी तक मुसलमानो के आक्रमणो का सामना करते हुए अनेक हिन्दू राजा कथित द्वीपो मे राज करते हुए भारतीय सस्कृति को प्रोत्साहन देते रहे। नवम् शताब्दी मे राजा दक्ष ने जावा मे शैव मन्दिरो का निर्माण कराकर भारतीय सस्कृति को प्रचारित किया।

जावा से सटा हुआ बाली द्वीप है। इस द्वीप मे अनेक हिन्दू मन्दिरो को देखकर तथा वहाँ की सस्कृति मे देवी-देवताओ की पूजा-प्रथा को देखकर यह निश्चय हो जाता है कि जावा द्वीप कभी भारत का सांस्कृतिक एव राजनीतिक उपनिवेश रहा है। बाली द्वीप के धार्मिक जीवन पर आज भी पुराण-प्रथित धर्म का प्रभाव है।

बोर्नियो द्वीप मे ईसवी सन् के आरम्भ में ही भारतीय सस्कृति का प्रचार शुरू हो गया था। तीसरी-चौथी शताब्दी मे तो वहाँ हिन्दू-राज्य की स्थापना हो चुकी थी। चौथी शताब्दी के राजा मूलवर्मा को यूप बनवाये तथा शिलालेख उत्कीर्ण कराये, उनकी सस्कृत भाषा भारतीय सस्कृति के प्रचार की स्पष्ट सूचना है।

दक्षिणी पूर्वी एशिया के विस्तृत भू-भाग पर हिन्दुओ का राजा तथा सांस्कृतिक प्रचार उक्त भूभाग को भारत का उपनिवेश सिद्ध करना है। कालान्तर मे मुसलमानो के आगमन और अधिकार के फलस्वरूप दक्षिणी पूर्वी एशिया की अधिकांश जनसख्या मुसलमान हो गई। आज भी वहाँ मुसलमानो का बहुमत है।

पश्चिमी एशिया

सीरिया, इस्रायल, ईरान, ईराक, अरब तथा अफगानिस्तान को पश्चिमी एशिया के अन्तर्गत गिना जाता है। प्राचीन भारत मे पश्चिमी एशिया को शाकद्वीप कहा जाता था। सीरिया का प्राचीन नाम असीरिया या असुर था। प्रसिद्ध इतिहासकार अलबेरूनी का कहना है कि भारत की सस्कृति बौद्ध युग मे खुरासान, ईरान, ईराक, मासुल और सीरिया तक फैली हुई थी। सीरियायी ग्रन्थकार जेनब ने लिखा है कि पश्चिमी एशिया में फरात नदी के ऊपरी भाग मे तथा वान झील के पश्चिमी क्षेत्र में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी मे भारतीय उपनिवेश था। वहाँ उनके दो मन्दिर थे, जिनमे क्रमश 18 और 22 फीट ऊँची देव प्रतिमाएँ

प्रतिष्ठित थी। 304 ई मे उन्ही प्रतिमाग्रो को ग्रेगरी ने नष्ट किया, जिसका भारतवासियो ने प्रबल विरोध किया था पश्चिमी एशिया मे बौद्ध धर्म का इतना प्रभाव बढा कि जब वहाँ ईसाई धर्म का बालबाला हुग्रा तब भी गौतम बुद्ध को सन्त जोजाफत के नाम से ज ना जाना रहा। ईसाई धम मे सन्यास प्रतिष्ठा भी भारतीय सस्कृति के प्रभाव को परिलक्षित करती है।

प्राचीन काल मे अफगानिस्तान को गन्धर्वदेश कहते थे। पश्चिमी एशिया तथा मध्य एशिया को जोडने के लिए अफगानिस्तान का विशेष महत्त्व था। इसका सस्कृत नाम तथा गन्धर्व जानि भारतीय सस्कृति के ही परिचायक चिह्न हैं।

भारतीय दर्शन, चिकित्सा तथा ज्योतिष का पश्चिमी एशिया के साहित्य पर विशेष प्रभाव पडा। तीसरी शताब्दी मे ससानी राजा शापूर प्रथम ने भारतीय साहित्य के सिद्धान्तो का अपने देश के साहित्य मे स्थान दिया एव दिलाया। सीस्तान के दलदल मे बौद्ध विहार के भग्नावशेष भी यही सिद्ध करते हैं कि पश्चिमी एशिया में भारतीय सस्कृति का प्रचार रहा है।

मध्य एशिया

आधुनिक चीन का पश्चमी भाग, अफगानिस्तान का उत्तरी भाग तथा सोवियत सघ का दक्षिणी भाग मध्य एशिया के नाम से प्रसिद्ध रहा है। प्रथम शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी तक मध्य एशिया मे बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। ईसा की पहली शताब्दी मे सम्राट कनिष्क ने बौद्ध धर्म की चौथी सगीति का अधिवेशन बुलाया था जिसके फलस्वरूप मध्य एशिया मे बौद्ध धर्म का अपेक्षाकृत अधिक प्रचार हुग्रा। तीसरी शताब्दी मे तो बाख्त्री को भारतीय भूमि तथा ग्रामू नदी को बौद्धो और ब्राह्मणो की नदी माना जाने लगा था। थ्यानशान कुनलुन, पामीर, लेपनूर के दलदल तथा गोबी के रेगिस्तानी क्षेत्र मे भारतीयो का पर्याप्त आवागमन रहा तथा वहाँ भारतीय सस्कृति के प्रचार को सूचित करने वाले अवशेष भी यदा-कदा प्राप्त हुए। चीन के कान्सू प्रान्त मे, जहाँ कभी हूणो का निवास था, अनेक दरीगृह बौद्धो के चित्रो से लिखित एव मण्डित प्राप्त हुए है।

मध्य एशिया मे शैलदेश (काशगर), चोकक्क (यारकन्द), खोतान (खुत्तन) आदि भारतीय उपनिवेश रहे है। इन स्थानो पर अनेक बौद्ध मठ एव विहार प्राप्त हुए है। दीवारो के ऊपर लिखे चित्र तथा ब्राह्मी लिपि यही स्पष्ट करती है कि प्राचीन काल मे मध्य एशिया मे पर्याप्त भारतीय धर्म-प्रचार रहा।

आधुनिक कुचा को प्राचीन युग मे 'कुची' नाम से पुकारा जाता था। वहाँ भारत के सुवर्णपुष्प, हरिपुष्प, हरदेव नामक राजाग्रो ने राज्य किया। कूचा मे अनेक बौद्ध विहार भी मिले हैं। मध्य एशिया के कडा शहर को अग्निदेश के नाम से पुकारा जाता था। इन्द्रार्जुन तथा चन्द्रार्जुन जैसे राजाग्रो ने अग्निदेश पर राज्य किया। वहाँ कुबेर, गणेश, शकर आदि की मूर्तियाँ मिली हैं जो वैदिक धम का परिचायक हैं। वहाँ बौद्ध धर्म का प्रबल प्रचार हुग्रा।

मध्य एशिया मे संस्कृत और पालि भाषाओं मे सुरक्षित भारतीय साहित्य के अंश भी मिले है। प्रथम शताब्दी मे अश्वघोष नामक महाकवि ने 'शारिपुत्र प्रकरण' नामक रूपक की रचना की थी जिसके अंश मध्य एशिया मे प्राप्त हुए है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अश्वघोष बौद्ध था तथा उसने संस्कृत मे काव्य-रचना की थी। बौद्ध धर्म के महान् ग्रन्थ 'धम्मपद' के अंश भी मध्य एशिया मे प्राप्त हुए हैं। ऐसे तथ्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्य एशिया मे भारतीय संस्कृति का पर्याप्त प्रचार रहा।

चीन

ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे भारत के उत्तरी भाग मे अवस्थित चीन देश से भारत के प्रगाढ सम्बन्ध बनने शुरू हो गए थे। महाभारत, मनुस्मृति तथा अर्थशास्त्र जैसे ग्रन्थो मे चीन का उल्लेख हुआ है। अत चीन से भारत का सम्पर्क ईसापूर्व मे ही हो चुका था। चीन के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध जल और थल दोनो ही मार्गो से हुआ। इतिहास के आधार पर चीन जाने के तीन मार्ग थे— पहला अफगानिस्तान तथा हिन्दूकुश होकर बलख की ओर जाता था दूसरा मार्ग बर्मा या ब्रह्मदेश से होकर चीन के दक्षिणी प्रान्तो की ओर जाता था। तीसरा मार्ग जल से होकर था, जो पूर्वी द्वीप समूह के निकट से होकर जाता था। पाँचवी शताब्दी मे चीनी यात्री फाह्यान जल मार्ग से ही चीन लौटा था। मैसूर मे ईसा पूर्व दूसरी शती का एक चीनी सिक्का मिला है, जो भारत और चीन के सम्पर्क को सूचित करता है।

ईसा पूर्व प्रथम शती मे हान सम्राट मिगत्ती ने विशिष्ट स्वप्न देखा तथा उसी के फलस्वरूप अपने दूतो को भारत भेजा तभी भारत से बौद्ध भिक्षु धमरत तथा काश्यप मातग चीन गए और उन्होने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। ईसा पूर्व 65 मे उक्त भिक्षुओ ने चीनी भाषा को सीखना शुरू कर दिया तथा बौद्ध धर्म को प्रतिष्ठित करने के लिए बौद्ध साहित्य को चीनी भाषा मे अनूदित किया। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि, जब मध्य एशिया मे बौद्ध धर्म काफी पहले ही पूर्व तीसरी शताब्दी तक ही हो चुका था तो चीन मे भी बौद्ध धर्म काफी पहले ही पहुँच चुका होगा। मध्य एशिया से बौद्ध भिक्षु चीन की ओर पहले ही प्रयाण कर चुके होगे।

चीनी सस्कृति भी बहुत प्राचीन रही है। जब चीन मे बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ तो चीन के विद्वानो ने चीनी सभ्यता एव सस्कृति की अपेक्षा बौद्ध सस्कृति को अधिक सुबोध एव सस्कृत माना। तीसरी और चौथी शताब्दी मे चीन मे अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण हुआ, जिनके फलस्वरूप भारतीय सस्कृति की महिमा को समझकर फाह्यान, ह्युएनसाँग तथा इत्सिग जैसे चीनी यात्रियो ने भारत की यात्रा करके भारतीय सस्कृति के मर्म को समझने की चेष्टा की।

चीन मे कागज और मुद्रण-यन्त्र का आविष्कार होने के कारण बौद्ध धर्म के प्रचार मे चार चाँद लग गए। बौद्ध ग्रन्थो में छिपी दिव्य ज्योति को जनता

ग्रन्थो के माध्यम से प्राप्त करना चाहती थी परन्तु पुस्तके हाथ से लिखी जाती थी, जो अत्यन्त श्रमपूर्ण होने के कारण अति व्ययसाध्य सिद्ध होती थी। तत्कालीन गरीब जनता उन पुस्तको को खरीदने के लिए पैसा नही जुटा पाती थी। अत वैज्ञानिक मुद्रण यन्त्रो के आविष्कार के फलस्वरूप धम-साहित्य की पुस्तको के भण्डार मुद्रित हो गए तथा बौद्ध धम का प्रचार प्रचारको के प्रचार की अपेक्षा कही अधिक होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि जो मुद्रण का आविष्कार चीन मे हुआ था तथा जिसे कोरिया और जापान ने अधिक वैज्ञानिक बनाया था वह प्रचारको के हाथो पूरे विश्व मे फैल गया। विविधमुखी साहित्यिक ग्रन्थो के साथ-साथ प्रचारको ने बारूद का भी विदेशो मे परिचय कराया, जिसकी आविष्कारक भूमि चीन ही थी। अत चीन मे सांस्कृतिक प्रचार-प्रसार वैदिक काल से लेकर गुप्तकाल तक अनवरत गति से चला तथा तत्पश्चात् प्रचार-काय धर्म-काय के रूप मे स्थानीय स्तर पर ही पर्याप्त एव उपयोगी माना जाने लगा।

तिब्बत और नेपाल

भारतवर्ष के उत्तरी भाग मे तिब्बत तथा नेपाल देश स्थित है। कई शताब्दी ईसा पूर्व मे तिब्बत मे वैदिक धर्म का प्रचार था उस समय तिब्बत को 'त्रिविष्टप' नाम से पुकारा जाता था। 'तिब्बत' शब्द त्रिविष्टप शब्द का ही अपभ्रंश है। पुराणो मे वैदिक सस्कृत के समन्वय की कहानी ने तिब्बत सस्कृति की ओर स्पष्ट सकेत किया है। पुराणो मे तीन देवता—ब्रह्मा, विष्णु तथा शकर प्रमुख हैं। शकर वृषभवाहन कहलाते है। तिब्बत मे याक की सवारी की जाती है अत सभ्यता के आधार पर शकर का निवास तिब्बत मे ही माना जा सकता है। ज्ञानमार्गी शकर के साथ वैदिक सस्कृति के उन्नायक विष्णु और दक्षादि को समझौता करना पडा।[1] इसीलिए वेदो मे कर्मकाण्ड के साथ-साथ ज्ञानमार्ग की भी सांकेतिक प्रचुरता देखने को मिलती है।

तिब्बत के सांकेतिक सम्बन्ध रखने वाले देशो मे भारत और चीन अग्रणी माने जाते हैं। चौथी-पाँचवी शताब्दी से ही तिब्बत के लामा चीन की राजधानी मे अभिषिक्त होते रहे हैं। यह इस बात का स्पष्ट सकेत है कि प्राचीन काल से ही तिब्बत के ऊपर चीन की प्रभुता अधिक रही है। बीच-बीच मे तिब्बत स्वतन्त्र भी हुआ है, परन्तु आज भी तिब्बत के ऊपर चीन का ही प्रभुत्व है। धर्म और सस्कृति के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भारत और चीन दोनो ने ही तिब्बत मे धर्म प्रचार किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ईसा-पूर्व मे ही चीन मे भारतीय बौद्ध प्रचारक पहुँच चुके थे। अत चीन मे धर्म-प्रचार हो जाने के कारण वहाँ के प्रचारक तिब्बत मे भी सांस्कृतिक प्रचार करने लगे। इधर भारत से भी धर्म-प्रचारक तिब्बत मे प्रवेश कर गए तथा उसका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म के मठ दुर्गम गुफाओं मे बनने लगे तथा बौद्ध साहित्य को तिब्बती भाषा मे अनूदित किया जाने

1 रुद्र सहिता, यज्ञ विध्वस प्रकरण

लगा। सप्तम शताब्दी मे तो चीन मे ब्राह्मी लिपि का भी प्रचार हो गया। बारहवी शताब्दी बख्तियार के आक्रमण के फलस्वरूप बिहार के नालन्दा विश्वविद्यालय को भारी क्षति पहुँचाई गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि अनेक बौद्ध भिक्षु भारत से तिब्बत की ओर प्रस्थान कर गए। उन भिक्षुओ ने तिब्बत पहुँचकर वहाँ भारतीय सस्कृति को और भी अधिक विशद् एव व्यापक बनाने मे योगदान दिया। आज भी तिब्बत मे बौद्ध धर्म जनधर्म है तथा उसे राष्ट्रीय धर्म कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। अत तिब्बत को भारत का सांस्कृतिक उपनिवेश भी कहा जा सकता है।

भारत के पडोसी नेपाल का पुराना नाम 'नयपाल' रहा होगा—यह एक भाषावैज्ञानिक सत्य है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे सम्राट् अशोक से भेंट करने के लिए नेपाल नरेश अपनी पुत्री चारुमती तथा अपने दामाद देवपाल क्षत्रिय के साथ आया था। समझा जाता है कि उस समय नेपाल ने भारत की अधीनता स्वीकार करली थी, चौथी शताब्दी मे नेपाल को समुद्रगुप्त के सीमान्त राज्यो मे गिना जाता था। नेपाल की राजवशावली को देखने से पता चलता है कि वहाँ किरातो, आभीरो, सोमवशियो तथा सूर्यवशियो के राज रहे हैं। इतिहास के आधार पर नेपाल छठी शताब्दी के अन्त मे तिरहुत (बिहार) के प्रभाव मे आया तथा लिच्छिवी क्षत्रिय राजा शिवदेव का मन्त्री ठाकुरी अंशुवर्मन् वहाँ का स्वामी बन बैठा। ठाकुरी राजकुल का शासन वहाँ कुछ काल ही स्थापित रह सका। बारहवी शती मे तिरहुत के नामदेव ने उसे जीत लिया और अन्त मे अठारहवी शती मे गोरखो ने। तदन्तर नेपाल अग्रेजो के प्रभाव मे आया।

नेपाल मे बौद्ध धर्म तथा पुराण धर्म (वैदिक धर्म) दोनो का ही प्रचार हुआ। सम्राट् अशोक के समय जो भिक्षु-चीन, तिब्बत तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया मे गए उन्ही के साथ बौद्ध भिक्षुओ ने नेपाल मे भी प्रवेश किया। वहाँ धीरे-धीरे तान्त्रिक महायान सफल हो गया परन्तु पीछे से शैव मत के प्रचार ने नेपाल से बौद्ध धर्म को उखाड फैंका गया। वहाँ हिन्दू देवी-देवताओ का यथेष्ठ प्रचार हुआ। नेपाल की राजधानी काठमाडू मे शिव का मन्दिर शैव मत का ही प्रतीक है। नेपाल की जनता मे शिव देवता के प्रति बडी भक्ति रही है, जिसका उल्लेख नेपाली धर्म साहित्य मे भरा पडा है। नेपाल मे शिव को पशुपतिनाथ भी कहा गया है, जो शैव मत के प्रचार का ही द्योतक है। नेपाल की सस्कृति मे यज्ञवाद, मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद जैसे तत्वो को देखकर यही कहना पडता है कि नेपाल प्राचीन काल मे भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक उपनिवेश रहा है।

उपर्युक्त देशो के अतिरिक्त भारतीय सस्कृति का विस्तार जापान, मगोलिया, तोंकिन जैसे अनेक देशो मे हुआ। यदि हम पुराणो का अनुशीलन करें तो आज के इतिहास से उसका तालमेल बैठाने पर पता चलता है कि भारतीय सस्कृति नाग सस्कृति तथा मय सस्कृति के रूपो मे दक्षिणी अमेरिका तथा उत्तरी अमेरिका—अर्थात् नई दुनिया मे भी फैली हुई थी। वैदिक एव पौराणिक काल मे भारत का अफ्रीका महाद्वीप से भी अत्यधिक सम्बन्ध रहा था। अत प्राचीनकाल से ही

ग्रन्थो के माध्यम से प्राप्त करना चाहती थी परन्तु पुस्तके हाथ से लिखी जाती थी, जो अत्यन्त श्रमपूर्ण होने के कारण अति व्ययसाध्य सिद्ध होती थी। तत्कालीन गरीब जनता उन पुस्तको को खरीदने के लिए पैसा नही जुटा पाती थी। अत वैज्ञानिक मुद्रण यन्त्रो के आविष्कार के फलस्वरूप धर्म-साहित्य की पुस्तको के भण्डार मुद्रित हो गए तथा बौद्ध धर्म का प्रचार प्रचारको के प्रचार की अपेक्षा कही अधिक होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि जो मुद्रण का आविष्कार चीन मे हुआ था तथा जिसे कोरिया और जापान ने अधिक वैज्ञानिक बनाया था वह प्रचारको के हाथो पूरे विश्व मे फैल गया। विविधमुखी साहित्यिक ग्रन्थो के साथ-साथ प्रचारको ने बारूद का भी विदेशो मे परिचय कराया, जिसकी आविष्कारक भूमि चीन ही थी। अत चीन मे सांस्कृतिक प्रचार-प्रसार वैदिक काल से लेकर गुप्तकाल तक अनवरत गति से चला तथा तत्पश्चात् प्रचार-कार्य धर्म-कार्य के रूप मे स्थानीय स्तर पर ही पर्याप्त एव उपयोगी माना जाने लगा।

तिब्बत और नेपाल

भारतवर्ष के उत्तरी भाग मे तिब्बत तथा नेपाल देश स्थित है। कई शताब्दी ईसा पूर्व मे तिब्बत मे वैदिक धर्म का प्रचार था उस समय तिब्बत को 'त्रिविष्टप' नाम से पुकारा जाता था। 'तिब्बत' शब्द त्रिविष्टप शब्द का ही अपभ्रश है। पुराणो मे वैदिक सस्कृत के समन्वय की कहानी ने तिब्बत सस्कृति की ओर स्पष्ट सकेत किया है। पुराणो मे तीन देवता—ब्रह्मा, विष्णु तथा शकर प्रमुख हैं। शकर वृषभवाहन कहलाते है। तिब्बत मे याक की सवारी की जाती है अत. सम्यता के आधार पर शकर का निवास तिब्बत मे ही माना जा सकता है। ज्ञानमार्गी शकर के साथ वैदिक सस्कृति के उन्नायक विष्णु और दक्षादि को समझौता करना पडा।[1] इसीलिए वेदो मे कर्मकाण्ड के साथ-साथ ज्ञानमार्ग की भी सांकेतिक प्रचुरता देखने को मिलती है।

तिब्बत के सांकेतिक सम्बन्ध रखने वाले देशो मे भारत और चीन अग्रणी माने जाते हैं। चौथी-पाँचवी शताब्दी से ही तिब्बत के लामा चीन की राजधानी मे अभिषिक्त होते रहे है। यह इस बात का स्पष्ट सकेत है कि प्राचीन काल से ही तिब्बत के ऊपर चीन की प्रभुता अधिक रही है। बीच-बीच मे तिब्बत स्वतन्त्र भी हुआ है, परन्तु आज भी तिब्बत के ऊपर चीन का ही प्रभुत्व है। धर्म और सस्कृति के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भारत और चीन दोनो ने ही तिब्बत मे धर्म प्रचार किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ईसा-पूर्व मे ही चीन मे भारतीय बौद्ध प्रचारक पहुँच चुके थे। अत चीन मे धर्म-प्रचार हो जाने के कारण वहाँ के प्रचारक तिब्बत मे भी सांस्कृतिक प्रचार करने लगे। इधर भारत से भी धर्म-प्रचारक तिब्बत मे प्रवेश कर गए तथा उसका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म के मठ दुर्गम गुफाओं मे बनने लगे तथा बौद्ध साहित्य को तिब्बती भाषा मे अनूदित किया जाने

1 रुद्र सहिता, यज्ञ विध्वस प्रकरण

भारतीय राजा एव धर्म प्रचारक विश्व को आर्य बनाने का स्वप्न देखते रहे हैं—'कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।'

जब तक भारत की राजनीति और सस्कृति मे सजीवता थी तब तक यहाँ की जनता मे उत्साह और कष्ट सहन करने की क्षमता थी और अपनी राजनीति और सस्कृति के प्रसार की लालसा । बहुत प्राचीन काल से लेकर ग्यारहवी-बारहवी शती तक यह प्रक्रिया चलती रही । ब्राह्मण और बौद्ध दोनो ही सस्कृति-धाराएँ भारत से प्रवाहित होकर प्राय सम्पूर्ण एशिया और भूमध्य सागर के तट के यूरोपीय और अफ्रीकी देशो तक पहुँची थी । इस प्रक्रिया को पहला धक्का अरबो के उदय से लगा । उन्होने क्रमश अरब सागर (पश्चिम पयोधि) का सारा व्यापार भारतीयो के हाथ से छीन लिया और हिन्द महासागर मे भी भारतीयो से प्रतियोगिता शुरू की । बारहवी शती के अन्त में बडे वेग से तुर्को का आक्रमण भारत पर शुरू हुआ । इससे भारत के राजनीतिक जीवन का विघटन हुआ और धीरे-धीरे भारत के बडे भाग पर इस्लामी-सत्ता स्थापित हो गई । जब तक भारत मे भारतीयो का राज्य था, उनके उपनिवेश बाहर के देशो मे लहराते रहे, परन्तु भारत अपने मूल आधार और प्रेरणा के नष्ट हो जाने पर वे सूखने लगे । पिछले दिनो मे हिन्द एशिया के भारतीय उपनिवेश श्री-विजय और जावा आदि आपस मे व्यापारिक और राजनीतिक प्रतियोगिता के कारण लडने लगे और एक-दूसरे को दुर्बल बनाने लगे । अब भारत की मूल-भूमि से इन उपनिवेशो को सैनिक अथवा राजनीतिक सहायता नही मिल सकती थी । हिन्दचीन मे उत्तर की मगोल जातियो के सामने जो भारतीय राज्यो की एक दीवार थी, वह टूट गई और मगोल जाति के लोग बहुत बडी सख्या मे दक्षिण की तरफ चले आए । मध्य-प्रायद्वीप और मलयद्वीपपुज मे अरब लोग पहले व्यापारी के रूप मे गए थे । भारतीय राज्यो के विघटन और भारत मे इस्लामी-सत्ता स्थापित होने के बाद वहाँ पर अबो ने अपनी नीति बदली । उन्होने धर्म-प्रचार और विजयी का बाना धारण किया । दक्षिण के दुर्बल भारतीय उपनिवेशो मे इस्लामी राजनीति और धर्म की सत्ता स्थापित हो गई परन्तु आज भी इन उपनिवेशो मे भारतीय राजनीति और सस्कृति के अनेक चिन्ह पाए जाते हैं । वहाँ के जन-जीवन पर भारतीयता की छाप है ।[1]

———

1 डॉ राजबली पाण्डेय प्राचीन भारत, पृ 459-460

-

प्रश्नावली

(University Questions)

अध्याय–1 (प्राचीन भारत का साहित्यिक एव सांस्कृतिक इतिहास एक परिचय)

1 प्राचीन भारत के साहित्यिक एव सांस्कृतिक इतिहास पर एक परिचयात्मक लेख लिखिए।

2 प्राचीन भारत (3000 ई पूर्व से 1783 ई तक) के साहित्यिक एव सांस्कृतिक इतिहास की प्रमुख धाराओ का अवलोकन कीजिए।

अध्याय–2 (वैदिक साहित्य–सहिताएँ ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एव सूत्र-ग्रन्थ)

3 वेदो के काल पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। (1981)

4 अथर्ववेद का समीक्षात्मक परिचय दीजिए। (1982)

5 वैदिक साहित्य का पूर्वापर सम्बन्ध वर्ण्य विषय की दृष्टि से बताते हुए निर्देश कीजिए कि किस वेद से कौन ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् प्रवर्तित हैं। (1979)

6 ऋग्वेद के काल के विषय मे भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो द्वारा प्रस्तुत विभिन्न मतो का निरूपण कीजिए। (1983)

7 यजुर्वेद के वर्ण्य विषय पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए। (1984)

8 सहिता साहित्य का सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत कीजिए।

9 सामवेद की विषय-वस्तु पर प्रकाश डालिए।

10 वेदो के वर्ण्य विषय पर प्रकाश डालिए।

11 ब्राह्मण के ग्रन्थो की विषय-वस्तु तथा महत्त्व का विवेचन कीजिए। (1981)

12 ब्राह्मण ग्रन्थो की सामान्य विशेषताएँ बताते हुए किसी एक ब्राह्मण ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का विवेचन कीजिए। (1983)

13 आरण्यक-ग्रन्थो की विषय-वस्तु तथा महत्त्व का विवेचन कीजिए। (1982)

14 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा प्रमुख उपनिषद् ग्रन्थो का नामोल्लेख करते हुए वैदिक साहित्य मे उपनिषद् ग्रन्थो के महत्त्व पर प्रकाश डालिए। (1983)

15 "उपनिषदो मे वैदिक चिन्तन उत्कर्ष बिन्दु को प्राप्त होता है" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

16 उपनिषद् शब्द का अर्थ बतलाते हुए प्रमुख उपनिषदो पर सक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

17 उपनिषदो की शिक्षाओ का विवेचन कीजिए। (1984)

18 आरण्यक और ब्राह्मण मे क्या अन्तर है ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

19 सूत्र का स्वरूप विवेचन करें तथा सूत्र साहित्य (वेदांगीय) पर निबन्ध लिखें।

20 वैदिक वाङ्मय 'सूत्र ग्रन्थो' का महत्त्व प्रतिपादित कीजिए। (1984)

21 सूत्र-साहित्य पर टिप्पणी लिखिए। (1984)

22 निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—
यजुर्वेद सहिता, अथर्ववेद सहिता, आरण्यक।

अध्याय–3 (पौराणिक साहित्य)

23 पुराणो के महत्व का विवेचन कीजिए। (1980)

24 'पुराण' शब्द का अर्थ बतलाइए एव पुराणो के विषय और शैली पर समीक्षात्मक टिप्पणी लिखिए। (1983)

25 'पुराण' शब्द का अर्थ बताते हुए, पुराणो का महत्व बताइए एव भारतीय सस्कृति मे उनका स्थान निर्धारित कीजिए। (1981)

26 "इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत"—कथन की सार्थकता बताइए। (1982)

27 पुराणों का वर्गीकरण कीजिए।

28 पुराणो के लक्षणो पर प्रकाश डालिए।

29 महाभारत के सम्बन्ध मे—"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" उक्ति की व्याख्या कीजिए। (1984)

30 रामायण और महाभारत की उपजीव्यता किन विशेषताओ पर आधारित है ? सोदाहरण विवेचन कीजिए।

अध्याय–4 (आधुनिक साहित्य)

31 आधुनिक सस्कृत साहित्य पर एक लेख लिखिए।

32 आधुनिक सस्कृत साहित्य की विशेषताओ का उल्लेख कीजिए। (1980)

33 आधुनिक सस्कृत-साहित्य की प्रणोत्री किसी महिला के साहित्यिक योगदान पर व्यक्त कीजिए। (1983)

34 किसी एक आधुनिक जीवित सस्कृत कवि के व्यक्तित्व एव कृतित्व पर अपने विचार प्रकट कीजिए। (1982)

35 आधुनिक साहित्य की प्रमुख विशेषताओं को दर्शाइये ।

36 श्री ऋषिकेश भट्टाचार्य के विषय मे आप क्या जानते हैं ? विस्तार से लिखिए । (1981)

37 अम्बिकादत्त व्यास अथवा श्रीधर भास्कर वर्णेकर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर अपने विचार प्रकट कीजिए । (1981)

38 राजस्थान-प्रान्त के संस्कृत उपन्यास लेखकों का उल्लेख करते हुए किसी एक उपन्यास की समीक्षा कीजिए । (1984)

अध्याय -5 (शास्त्रीय साहित्य)

39 भारतीय आस्तिक षड्दर्शनों पर टिप्पणी लिखिए । (1981)

40 दार्शनिक साहित्य के विकास का विवरण दशवीं शती की रचनाओं को लेकर कीजिए । (1979)

41 "आस्तिक और नास्तिक दर्शनों मे भेद स्पष्ट नही है ।" समझाइए ।

42 "भारतीय दर्शन निराशावादी है ।" इस कथन की समीक्षा कीजिए ।

43 सांख्य दर्शन की व्युत्पत्ति एव विकास पर प्रकाश डालिए । (1978)

44 न्याय दर्शन की उत्पत्ति एव विकास पर प्रकाश डालिए । (1978)

45 निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए— (1980)
वेदान्त दर्शन, चार्वाक दर्शन ।

46 बौद्ध दर्शन के विषय मे एक निबन्ध लिखिए ।

47 जैन दर्शन पर एक निबन्ध लिखिए ।

48 प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक साहित्य का उल्लेख करते हुए आयुर्वेद के विकास पर टिप्पणी लिखिए । (1979)

49 रस-सिद्धान्त पर लघु निबन्ध लिखिए और संस्कृत आलोचना मे इसकी उपयोग विधि समझाइये । (1977)

50 संस्कृत काव्यशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तो पर निबन्ध लिखिए ।

51 धर्मशास्त्र के ऐतिहासिक विकास पर एक निबन्ध लिखिए ।

52 'मनुस्मृति' पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए । (1980)

53 अर्थशास्त्र के इतिहास मे कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भूमिका का वर्णन कीजिए ।

54 निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए—
रीति सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय वक्रोक्ति जीवित, ध्वनि सम्प्रदाय ।

55 निम्नलिखित पर प्रकाश डालिए—
गणितशास्त्र, तन्त्र साहित्य, भारतीय ज्योतिष ।

56 "अलंकार शास्त्र का मूल भारत का नाट्यशास्त्र है ।" इस कथन की समीक्षा कीजिए । (1979)

57 किन्ही दो पर सक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए— (1981)

(क) कौटिल्य अर्थशास्त्र

(ख) याज्ञवल्क्य स्मृति

(ग) आर्यभट्ट

(घ) तन्त्र साहित्य

58 किन्ही दो विषयो पर सक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए— (1982)

(अ) शिक्षा-ग्रन्थ

(आ) शतपथ ब्राह्मण

(इ) कठोपनिषद्

(ई) अग्निपुराण

(उ) पण्डिता क्षमाराव

(ऊ) प्राचीन वैज्ञानिक साहित्य

59 निम्नांकित विपयो मे से किन्ही दो विषयो पर टिप्पणियां लिखिए—(1983)

(i) मनुस्मृति

(ii) सुश्रुतसहिता

(iii) निरुक्त,

(iv) कौटिल्य का अर्थशास्त्र

(v) एक आधुनिक सस्कृति-काव्य का परिचय

(vi) तन्त्र-साहित्य

60 निम्नांकित विषयो मे से किन्ही दो पर टिप्पणियां लिखिए— (1984)

(क) याज्ञवल्क्यस्मृति"

(ख) मीमांसा दर्शन के प्रमुख भाष्यकार

(ग) अर्थशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ

(घ) चरकसहिता

(ङ) आनन्दवर्धनाचार्य

(च) आर्यभट्ट

(छ) भट्ट मथुरानाथ शास्त्री का सस्कृत साहित्य को वरदान ।

अध्याय–6 (प्राचीन भारत का सास्कृतिक इतिहास)

61 वैदिक युग की शिक्षा पद्धति का विवेचन करते हुए प्राचीन शिक्षण-सस्थाओं का परिचय प्रस्तुत कीजिए । (1984)

62 वैदिक युग की शिक्षा-व्यवस्था पर प्रकाश डालिए । (1981)

63 वैदिक वाड्मय के अनुसर तत्कालीन सामाजिक एव आर्थिक स्थिति पर टिप्पणी लिखिए ।

64 वैदिक-युगीन गृहस्थ धर्म का विवेचन कीजिए । (1980)

65 वैदिक काल मे वर्ण-व्यवस्था का विकास कैसे हुआ ? "शूद्रो की स्थिति अच्छी थी ।" इस कथन की समीक्षा कीजिए । (1979)

66 ऋग्वेदकालीन धार्मिक जीवन का उल्लेख कीजिए। (1980)

67 ऋग्वेदकालीन संस्कृति पर प्रकाश डालिए।

68 उत्तर-वैदिकयुगीन संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

69 पौराणिक संस्कृति पर निबन्ध लिखिए।

70 बौद्ध संस्कृति का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

71 जैन संस्कृति पर प्रकाश डालिए।

72 धर्म की भारतीय अवधारणा क्या है ? (1977)

73 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

1 वर्ण-व्यवस्था, 2 आश्रम-व्यवस्था, 3 पौराणिक एवं महाकाव्ययुगीन धार्मिक जीवन, 4 चार आर्य सत्य, 5 क्षणिकवाद, 6 बौद्ध-युगीन स्थिति, 7. अहिंसा 8 त्रिरत्न, 9 स्याद्वाद।

अध्याय–7 (ऐतिहासिक अवशेषों का इतिहास)

74 निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए — (1978)

गान्धार कला, मथुरा कला, साँची का स्तूप, खुजराहो, सारनाथ, अजन्ता, एलोरा, गुप्तयुगीन कला।

75 गुप्तकालीन कला-विकास का विवरण प्रस्तुत कीजिए। (1982)

76 निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणियाँ लिखिए— (1981)

(क) अजन्ता की गुफाएँ
(ख) एलोरा की गुफाएँ
(ग) सारनाथ का स्तूप
(घ) गान्धार शैली
(ङ) गुप्तकालीन मूर्तिकला

77 किन्हीं दो पर टिप्पणियाँ लिखिए— (1984)

(क) गुप्तकालीन कीर्ति-स्तम्भ
(ख) एलोरा की गुफाएँ
(ग) मौर्यकालीन अवशेष
(घ) सारनाथ

अध्याय–8 (भारत के औपनिवेशिक एवं सांस्कृतिक विस्तार का इतिहास)

78 प्राचीन काल में भारत के बाहर भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रभाव का वर्णन कीजिए। (1983)

79 भारत से बाहर के उत्तर-पूर्वी देशों में बौद्ध-धर्म के प्रचार-प्रसार पर अपने विचार प्रकट कीजिए। (1981)

80 दक्षिण-पूर्व एशिया में भारत के औपनिवेशिक तथा सांस्कृतिक प्रसार का विवरण दीजिए। (1982)

81 भारतीय धर्म का विदेशो मे किस प्रकार प्रसार हुआ ? (1979)

82 निम्नलिखित मे से भारतीय सस्कृति के विस्तार पर सक्षिप्त निबन्ध लिखिए—
चीन, दक्षिण पूर्वी एशिया । (1978)

अन्य महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ

83 निम्नांकित विषयो मे से किसी एक विषय पर सस्कृत भाषा मे टिप्पणी लिखिए— (1982)

(क) भारत दार्शनिक विचारधारा
(ख) वराहमिहिर
(ग) कोई एक अलकार शास्त्री और उसका ग्रन्थ
(घ) स्मृति साहित्य
(ङ) वैदिककालीन राजनीतिक दशा ।

84 निम्नलिखित विषयो मे से किन्ही दो पर टिप्पणियाँ लिखिए— (1983)

(अ) अजन्ता की गुफाएँ
(आ) तक्षशिला
(इ) प्राचीन भारत मे गणराज्य
(ई) साँची का स्तूप
(उ) प्राचीन भारत मे मनोरजन के साधन
(ऊ) गान्धार-कला ।